व्यंग्य यात्रा

सार्थक व्यंग्य की रचनात्मक त्रैमासिकी

वर्ष : 5 अंक : 17

अक्टूबर-दिसंबर 2008

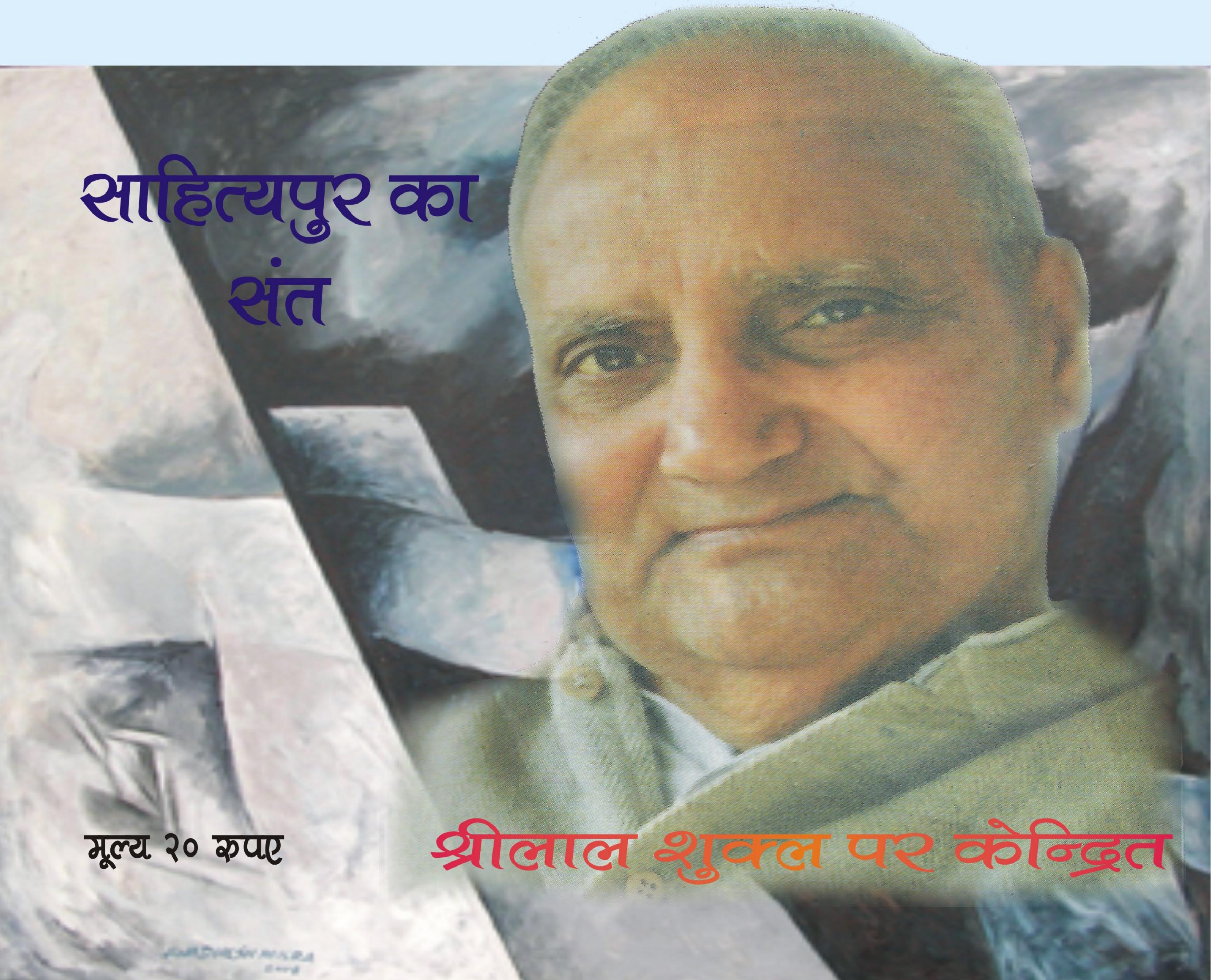

इंदिरा नगर में एक दिन 12 दिसंबर 2008

साक्षात्कार की तैयारी

पहले नाश्ता कीजिए (बहू संग डंडा)

आप चाय पी सकते हैं (और कुछ नहीं)

बहू साधना शुक्ल के अच्छे पापा साक्षात्कार के लिए तैयार

आइए गोपाल जी और शेरजंग गर्ग जी

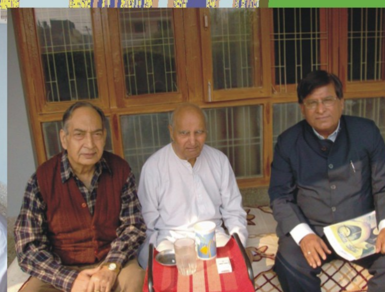
प्रेम जनमेजय चित्र खींचना छोड़ श्रीलाल जी और गोपाल जी के साथ

शाबाश! 'व्यंग्य यात्रा' अच्छी निकल रही है

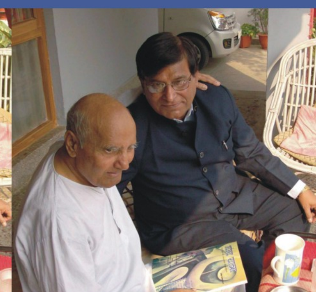
मैं ठीक कह रहा हूं न गोपाल जी

कमला गोइन्का फाउंडेशन सम्मान-2008

स्नेहलता गोइन्का व्यंग्यभूषण सम्मान-2008 से प्रेम जनमेजय को सम्मानित करते सर्वश्री श्याम गोइन्का, विश्वनाथ सचदेव एवं वेद राही

एक लाख की राशि प्रदान करते सर्वश्री श्याम गोइन्का एवं विश्वनाथ सचदेव

अपनी बात कहते प्रेम जनमेजय

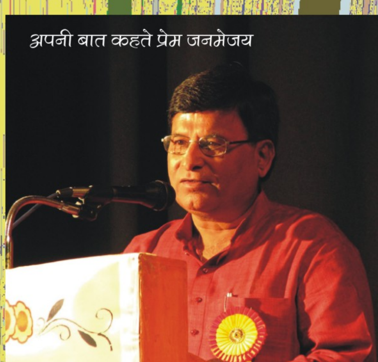

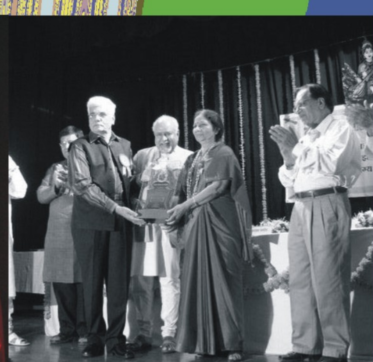
रत्नीदेवी गोइन्का वाग्देवी सम्मान-2008 से श्रीमती सूर्यबाला को सम्मानित करते श्याम गोइन्का एवं अन्य

सारस्वत सम्मान से श्री नरेंद्र कोहली को सम्मानित करते श्याम गोइन्का एवं सूर्यबाला

अट्टहास सम्मान एवं गोष्ठी-2008

अट्टहास शिखर सम्मान से सम्मानित गोविंद व्यास एवं युवा सम्मान से सम्मानित सुभाषचंदर के साथ सर्वश्री कप्तान सिंह, अनूप श्रीवास्तव, गोपाल चतुर्वेदी, अशोक चक्रधर आदि

'व्यंग्य का धर्म और मर्म' पर चर्चा गोष्ठी में दाएं से- प्रेम जनमेजय, गिरीश पांडे, सूर्यकुमार पांडेय, अशोक चक्रधर, गोपाल चतुर्वेदी एवं शेरजंग गर्ग

व्यंग्य यात्रा

सार्थक व्यंग्य की
रचनात्मक त्रैमासिकी

अक्टूबर-दिसंबर 2008
वर्ष-5 अंक-17

एक अंक : 20 रुपए
पांच अंक : सौ रुपए
(डाक व्यय 5 रुपए प्रति अंक अतिरिक्त)
विदेशों में : दो डॉलर प्रति अंक

सहयोग राशि 'व्यंग्य यात्रा' के नाम से ही भेजने का कष्ट करें। दिल्ली से बाहर के चेक पर बीस रुपए अतिरिक्त जोडें।

'केन्द्रीय हिंदी संस्थान', आगरा से आर्थिक सहयोग प्राप्त।

संपादक
प्रेम जनमेजय

संपर्क
73, साक्षर अपार्टमेंट्स, ए-3 पश्चिम विहार
नई दिल्ली-110063
फोन : 011-25264227, 09811154440
फैक्स : 011-25264227
ई-मेल : vyangya@yahoo.com

मुख्यपृष्ठ एवं रेखांकन
अवधेश मिश्रा

सहयोगी संपादक
रमेश तिवारी

प्रबंध सहयोग/लेजर टाइपसैटिंग

रामविलास शास्त्री
4, शॉपिंग कॉम्प्लैक्स दयाल बाग
सूरजकुंड, फरीदाबाद (हरियाणा)
09911077754, 0129-4092514

'व्यंग्य यात्रा' में प्रकाशित लेखकों के विचार उनके अपने हैं। विवादास्पद मामले दिल्ली न्यायालय के अधीन होंगे। संपादन एवं संचालन पूर्णत: अवैतनिक और अव्यावसायिक।

श्रीलाल शुक्ल पर केन्द्रित

अनुक्रम

आरंभ 2-3

आप चंदन घिसें 4- 7
'पहल' की एक और पहल - प्रेम जनमेजय 9

पाथेय 10- 14
श्रीलाल शुक्ल - मेरे व्यंग्य लेखन का ऐतिहासिक क्षण
श्रीलाल शुक्ल - व्यंग्य की स्वीकार्यता बढ़ रही है
श्रीलाल शुक्ल - मेरे जीवन का सुखी दिन
रवींद्रनाथ त्यागी - राग दरबारी एक उत्कृष्ट कलाकृति

'राग दरबारी' का पुनर्पाठ 15-24
नित्यानंद तिवारी - 'राग दरबारी' को नए टेक्स्ट की तरह देखना होगा
निर्मला जैन - इक्कीसवीं सदी में रागदरबारी
ज्ञान चतुर्वेदी - एक महान उपन्यास का पक्ष और विपक्ष

साक्षात श्रीलाल शुक्ल 25-36
व्यंग्य की टैरेटरी बढ़ी है- श्रीलाल शुक्ल
श्रीलाल शुक्ल से गोपाल चतुर्वेदी, शेरजंग गर्ग, ज्ञान चतुर्वेदी एवं प्रेम जनमेजय की बातचीत- प्रस्तुति प्रेम जनमेजय
आओ बैठ लें कुछ क्षण - प्रेम जनमेजय

टूटती हुई सीमाएं 37-66
कृष्णदत्त पालीवाल - अज्ञेय की कृतियों का पाठ चुनौती देता है
मुरली मनोहर प्रसाद सिंह- हिंदी की भाषाई संस्कृति और . . .
भारत भारद्वाज - जीवन और लेखन की संधि-रेखा
सुवास कुमार - व्यंग्यलेखों का 'ललित' विस्तार
लालचंद राम - आलोचक के रूप में श्रीलाल शुक्ल
भगवानदास एन. कहार - . . .व्यंग्य में निरुपित शैली-शिल्पगत सौंदर्य

'राग दरबारी' का राग-विराग 67-100
खगेन्द्र ठाकुर - राग दरबारी बनाम पलायन संगीत
राजेश जोशी - एक कवि की नोटबुक 'राग दरबारी'
हरि मोहन - 'राग दरबारी' देश दशा का राग
सूर्यबाला - 'राग दरबारी' अंदाज़े बयां और. . .
अरमेन्द्र कुमार श्रीवास्तव - व्यंग्यात्मक भाषा. . .
सत्यकेतु सांकृत - शैक्षणिक परिसर का सुनामी
रतन कुमार पांडेय - राग दरबारी : भुनभुनाहट की कृति
रीता - ग्राम्य जीवन के यथार्थ का ऐतिहासिक दस्तावेज
तेजपाल चौधरी - राग दरबारी में उपमान योजना
सुरेश कांत - शिक्षा क्षेत्र की दुर्दशा का व्यंग्य
संतोष खरे - 'राग दरबारी' फलक के विभिन्न कोण
रमेश सोबती - 'राग दरबारी' और मूल्यबोध
अनुराग वाजपेयी - राग दरबारी : मेरे विचार
आशा जोशी - भाषा की जादूगरी

कुछ महत्वपूर्ण पड़ाव 101-132
हरजेन्द्र चौधरी - बिस्रामपुर का संत
जवाहर चौधरी - 'सूनी घाटी का सूरज' में राग दरबारी के बीज
निर्मला एस. मौर्य - . . .'इस उम्र में' : सामाजिक सरोकार
देवशंकर नवीन - आत्मविज्ञापन से निर्लिप्त लेखक
बलराज पांडेय - दलित जीवन का संदर्भ. . .
विनोद शाही - व्यंग्य-बोध का भारतीय रूपकार और श्रीलाल शुक्ल
अरविंद विद्रोही - आक्रोशित संवेदना के व्यंग्य लेखक
वीरेन्द्र मोहन - श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास
रमेश तिवारी - श्रीलाल शुक्ल की रचना-दृष्टि
राधा दीक्षित - यहां से वहां
उमाकांत - . . . जायजा और जायका
सूर्यकांत त्रिपाठी - 'अंगद का पांव' में प्रयुक्त विशेषणों की पार्श्वच्छवियां

कुछ रंग, कुछ राग 133-166
कन्हैयालाल नंदन - मेरा लाड़ला व्यंग्यकार
रामशरन जोशी - एक अनूठे काव्यकार के सत्य कुछ क्षण
गंगाप्रसाद विमल - . . .मेरे परिचय का इतिहास : प्रथम खण्ड
गोपाल चतुर्वेदी - साहित्य के आदर्श पुरुष
कमलेश अवस्थी - राग कोमल : श्री श्रीलाल शुक्ल
शेरजंग गर्ग - श्रीलाल शुक्ल की यादों का खजाना
अशोक चक्रधर - बाहर निकला तो धूप मेरे अंदर थी
दामोदर दत्त दीक्षित - मेरे चचेरे मामा
अलका पाठक - गौरव से गुदगुदायमान
विनोद साव - . . .कुछ जमीन से कुछ हवा से
तेजेन्द्र शर्मा - हिंदी व्यंग्य के कोलम्बस- श्रीलाल शुक्ल
अनूप श्रीवास्तव - क्या लिखूं, कैसे बताऊं?
साधना शुक्ल - गुणों के धनी पापा
अशोक आनंद - एक पाठक का प्रशंसा पत्र
ललित लालित्य - दो मुलाकातों में श्रीलाल जी
अरविंद तिवारी - एक मीठी डांट
कृष्णकांत एकलव्य - एक प्रभावी साहित्यिक व्यक्तित्व
रामविलास शास्त्री - खजुराहों की बारीक नक्काशी

जीवन ही जीवन - संकलन- रामविलास शास्त्री 167 -175

श्रीलाल शुक्ल का पुस्तक संसार 176-181

समाचार 182-190

पुस्तक समीक्षा 191
विविध सरोकारों वाली पैनी व्यंग्य रचनाएं- माधप हांडा

धार्मपाल सिंघल और बलदेव सिंह बद्दन की पुस्तकें 192

आरंभ

सामयिक जीवन में ऐसे संतों की कमी नहीं है जो आपका सार-सार गह लेते हैं और थोथा आपको पकड़ा देते हैं। ये दीगर बात है कि ऐसे संतो का दावा होता है कि वे आपको जीवन का सार दे रहे हैं और आपके कल्याण के लिए थोथा स्वयं ग्रहण कर रहे हैं। ये संत पुरुष हर काम में सिद्ध पाए जाते हैं। ऐसे सिद्ध पुरुष जीवन में स्वार्थ से लेकर परमार्थ तक, सब सिद्ध करते है। जैसे हमारे आधुनिक संत भक्तों को माया से दूर रहने की शिक्षा दे स्वयं मायापति हो रहे हैं वैसे ही ये सिद्ध-पुरुष, कबीर की उलटबांसियों का सदुपयोग करते हैं और सिद्ध करते हैं कि ये 'सीधीबांसी' है। साहित्य में भी ऐसे संतों की कमी नहीं है जो गर्दिश के दिनों का ग्लैमरस वर्णन कर, सिद्ध करते हैं कि ये सिद्ध-पुरुष शिव की तरह आपके 'कल्याण' के लिए विषपान कर रहे हैं। ये सिद्ध पुरुष आज पूरी व्यवस्था में ढकोसलाई जीवन के प्रगति-पथ पर है। श्रीलाल शुक्ल को हम्बग से चिढ़ है। और जानता हूं कि स्वयं को संत कहलाने से भी उनको चिढ़ ही होगी क्योंकि संतई आजकल व्यवसाय हो गई है। इसलिए वे संतो की परंपरागत छवि, मदिरा-व्यसन से दूर, को भी वे तोड़ते हैं। ये दीगर बात है कि हिंदी साहित्य के रामाश्रयी संतों को श्रीलाल जी की इस छवि की चर्चा करने में इतना आनंद आता है जितना श्रीलाल जी को तीन पैग में नहीं आता होगा। ऐसा ही आनंद इन संतों ने परसाई, कमलेश्वर आदि के चरित्र-चित्रण में प्राप्त किया है। व्यंग्य लेखन के अपने शैशवकाल में जब मैं ये चरित्र-चित्रण सुनता तो मेरे बालमन पर भी ये प्रभाव पड़ता कि ये लोग बहुत बुरे लोग हैं। पर धीरे-धीरे अध्ययन ने सीमित दृष्टिकोण को कुछ व्यापक किया। ऐसे में सरदार पूरन सिंह का निबंध, 'आचरण की सभ्यता' मुझ अल्पज्ञानी के बहुत काम आया। उसमें सरदार पूरन सिंह सभ्य आचरण को परिभाषा में बांधने के लिए एक उदाहरण देते हैं- दो मल्लाह हैं। एक प्रतिदिन मंदिर जाता है, पूजा-अर्चना करता है और खानपान में शुद्ध है। और दूसरा स्त्रैण है, शराब पीता है आदि आदि। पर जब नाव मंझधार में पड़ती है तो पहला सबको नाव में छोड़कर अपनी जान बचाकर भाग जाता है और दूसरा नाव- यात्रिओं की जान बचाने के लिए अपनी जान दे देता है। सरदार पूरन सिंह प्रश्न करते हैं कि सभ्य आचरण किसका है? मैं उनके उत्तर से सहमत हूं और मुझे परसाई, कमलेश्वर और श्रीलाल शुक्ल इसलिए अच्छे लगते हैं क्योंकि उनका लेखन मुझे अच्छा लगता है। अपने समकालीनों के चरित्र के बारे में तो मैं जान सकता हूं पर दो सौ साल पहले के रचनाकारों के चरित्र के बारे में मैं क्या जानूंगा? रचना का चारित्रिक गुण ही तो उसकी गुणवत्ता को तय करता है।

श्रीलाल शुक्ल के साहित्य और व्यवहार ने एक संत की तरह मुझे अपनी बेबाक राय दी है। श्रीलाल जी से तो मेरा संपर्क एक संयोग ही था और उस संपर्क से पहले मैं उनके लेखन से चमत्कृत ही था। श्रीयुत् श्रीकृष्ण के 'पराग प्रकाशन' के लिए बीसवीं शताब्दीः व्यंग्य' का संपादन करते हुए मैंने श्रीलाल जी से उनकी एक रचना का आग्रह किया। वे दिल्ली अपने शेख सराय वाले घर में आए हुए थे और उन्होंने मुझे मिलने के लिए बुलाया। 'राग दरबारी' के लेखक से पहली बार मिलना मेरे लिए सुंदर स्वप्न-सा ही था। मैं लगभग अवाक् उनके कहे को सुन रहा था। (ये मेरे अति निम्न मध्यवर्गीय जीवन परिवेश जनित हीन भावना का परिणाम है कि अपने से श्रेष्ठ के सामने जाते ही मेरा आधा बल उसके पास चला जाता है और मस्तिष्क जैसे शून्य हो जाता है, अवाक् की स्थिति आ जाती है। बहुत परिश्रम से मैं अपने आपको इस स्थिति से निकाल पाता रहा हूं। चार वर्ष तक विदेश में विदेश मंत्रालय के सहयोगियों के साथ रहने पर अब स्थिति कुछ भिन्न हो गई है।) श्रीलाल जी ने बताया कि वे नेशनल बुक ट्रस्ट के लिए हिंदी हास्य व्यंग्य संकलन का संपादन कर रहे हैं, पर काम बहुत समय ले रहा है, यदि मैं उनकी इसमें सहायता करूं तो उन्हें प्रसन्नता होगी। श्रीलाल जी के साथ काम करना मेरे लिए सौभाग्य था, चाहे बेगार ही क्यों न हो। पर वो बेगार नहीं थी- मेरे हां कहने पर उन्होंने तत्काल कहा कि वे नेशनल बुक ट्रस्ट को इस विषय में पत्र लिख देंगे और मैं उनके साथ दूसरे संपादक के रूप में रहूंगा। इस संत स्वभाव ने मुझे प्रभावित किया और एक ऐसा सत्संग दिया जिसने साहित्य और जीवन की समझ दी। हास्य-व्यंग्य सकलन की तैयारी के दौरान श्रीलाल जी से बहुत मुलाकातें हुई जिनके कारण मैं जान पाया कि नामवर सिंह ने कुछ उत्कृष्ट व्यंग्य लिखे हैं, कि गोपालप्रसाद व्यास ने कविता की अपेक्षा गद्य में अच्छी रचनाएं लिखी हैं कि जहां कुछ लोग अपने लिए विवाद क्रिएट करते हैं वहां श्रीलाल जी विवाद से दूर रहना पसंद करते हैं वरना संकलन तैयार करते समय उनके पास अनेक ऐसे अवसर थे परंतु उन्होंने मुझे भी विवाद से दूर रहने की सलाह दी, कि. . .ऐसे 'कि' बहुत हैं और जो एक लंबे आलेख का विषय हैं और इन सबको आधार बनाकर मैंने उन पर आलेख भी लिखा, परंतु अंक के विशाल आकार ग्रहण करने तथा इस अंक में बहुत अधिक संपादकीय दखल के कारण इस लेख को रोक लिया। इसे अगले अंक में या कहीं और. . .

संक्षेप में कहूं तो। धीरे-धीरे मैं श्रीलाल जी करीब आया, उनके साथ रसरंजनमय कुछ शामें भी व्यतीत कीं। साहित्य के प्रति उनकी गहरी समझ ओर अध्ययनशील व्यक्तित्व से मैंने बहुत कुछ सीखा। वे बहुत सजग हैं और हम्बग से चिढ़ के कारण वे लाग लपेट में विश्वास नहीं करते हैं। वे बातचीत में बहुत जल्दी अपनी आत्मीयता को सक्रिय कर देते हैं। अपने लेखकीय व्यक्तित्व की एकरूपता को वे तोड़ते रहे हैं। ऐसे में जब अधिकांश साहित्यकार स्वयं को एक फ्रेम में बंधे होता देख प्रसन्न होते हैं वे अपनी अगली कृति में अपने पिछले फ्रेम को तोड़ते दिखाई देते हैं। वे अपनी रचनाओं के माध्यम से वर्तमान व्यवस्था की विसंगतियों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रश्नचिह्न लगाते हैं। उनका लेखन एक चुनौती प्रस्तुत करता है। आप उन पर कुछ भी सतही कहकर किनारा नहीं कह सकते हैं। वे विनम्र हैं पर ऐसी संतई विनम्रता नहीं कि आप इसे

उनकी कमजोरी मान लें।

मुझे विश्वास है कि श्रीलाल जी पर 'व्यंग्य यात्रा' का प्रस्तुत अंक उनके साहित्यिक और व्यैक्तिक पक्ष के कुछ और आयाम प्रस्तुत कर पाएगा।

उन सबका आभार जिन्होंने इस विशेषांक के लिए आपनी शुभकामनाएं दीं, आश्वासन दिए तथा रचनात्मक सहयोग दिया। विशेष रूप से उन सब का आभार जिन्होंने मेरे अनुरोध की रक्षा की और 'व्यंग्य यात्रा' के लिए विशेष रूप से लिखा। किसी लघु पत्रिका के लिए अग्रज लेखकों से विशेष रूप से लिखवाना और वो भी श्रीलाल जी पर, जिनपर पहले भी बहुत कुछ लिखा जा रहा है, एक कठिन कार्य था और इस कठिन कार्य को सरल बनाने के लिए 'व्यंग्य यात्रा' सभी के रचनात्मक सहयोग को प्रणाम करती है।

बस एक ही खेद रहा। श्रीलाल जी के अस्सीवें जन्मदिन पर आयोजित कार्यक्रम में श्रीलाल जी पर केंद्रित 'जीवन ही जीवन' का प्रकाशन हुआ था और उससे पहले अखिलेश ने उन पर केंद्रित एक सार्थक विशेषांक निकाला था। श्रीलाल जी पर केंद्रित दोनों प्रकाशनों को देखकर मुझे लगा था कि इसमें व्यंग्य की टैरेटरी के, जिसके बारे में श्रीलाल जी का कहना है कि उसका विस्तार हुआ है, लेखक नहीं थे। बहुत मन था कि इस विस्तार पा रही टैरेटरी के लेखकों के विचार भी हिंदी के पाठक वर्ग तक, संकलित रूप में पहुंचे, पर मैं अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो पाया। कुछ ही व्यंग्य लेखकों का सहयोग मिल पाया। लगता है कि अभी 'व्यंग्य यात्रा' इस योग्य नहीं हुई है कि कुछ विशिष्ट रचनाकारों का सहयोग पा सके। पर संतुष्टि है कि जो उपलब्ध हुआ वह संतोषजनक है।

पिछले चार-पांच महीने मैंने इस विशेषांक को जीया है। अनेक रचनाकारों को फोन द्वारा परेशान भी किया है, पर मेरा मन था कि भरती का अंक न निकाला जाए, कुछ हो जो सार्थक हो। अब कितना सार्थक हुआ, ये तो आप जैसे सुधी पाठक ही बताएंगे। ये मुगालता तो कभी पाला नहीं है कि जो हमने किया उसके बाद पूर्णविराम लग गया है। 'पूर्ण' के बारे में लगातार अपूर्ण चर्चाएं चलती ही रहती हैं। श्रीलाल जी के बारे कहने को बहुत कुछ था और जो अब तक कहा गया उसमें कुछ छूट गया था, उसी छूट का तो परिणाम है ये अंक। अब जो इसमें से छूटेगा, उसका परिणाम होगा और कोई अंक। अंक निकालने की प्रक्रिया में रचनाकारों से मिले उत्साह ने, उस उत्साह ने जिसके कारण अंक की काया भी विशाल हो गई, मुझे 'व्यंग्य यात्रा' को सतत करने की ताकत दी है। मेरे बार-बार के अनुरोध के कारण तो बड़े भाई गंगाप्रसाद विमल ने मुझे पठान तक की संज्ञा दे दी, जो अपने स्वार्थ के लिए आपका तब तक पीछा नहीं छोड़ता है जब तक अपना 'मूल' नहीं पा लेता है। इस पठानी प्रक्रिया के कारण अंक निकालने में विलम्ब हुआ और कुछ मोर्चों पर ये पठान दूसरों की टरकाऊ पठानी ताकत के सामने अशक्त रहा। अच्छी रचनाओं की प्रतीक्षा करने की संपादकीय अतृप्त भूख, दूसरे पर संपादकीय अंकुश लगाने वाली प्रवृत्ति स्वयं पर अंकुश नहीं लगा पाती है। बेहतर को और बेहतर करने की आकांक्षा इस अतृप्त भूख को जन्म देती है। द्रौपदी के चीर की तरह बढ़ते इस अंक के कारण मुझे लगने लगा कि कहीं मैं किसी महाभारत में न फंस जाऊं। अपनी अतृप्त भूख पर अंकुश लगाया और पठानी आग्रह पर विराम लग दिया। इसके बावजूद अंक विलम्ब से निकालने का दाग मुझ पर लगने को तैयार खड़ा था और मैं हर बार की तरह क्षमा याचना की शर्मिंदगी मुद्रा में। इस शर्मींदगी का जिक्र मैंने आदरणीय नित्यानंद तिवारी से किया तो उनकी इस बात ने बहुत बल दिया कि हर अच्छे काम में देर हो ही जाती है। समय से अंक निकालने की त्वरा में कैसा भी अंक निकालने से अच्छा है देर से अच्छा अंक निकाला जाए। संभवत: इसलिए ही कहा जाता है कि देर आए दुरुस्त आए। पर यहां मैं साफ कर देना चाहता हूं कि इस देर आए दुरुस्त आए की बात को सिद्ध करने के लिए मैंने देरी नहीं की है और न ही ये मुगालता पाला है कि देर होने से यह अंक दुरुस्त हुआ होगा।

भिक्षाम् देहि...आभार

यह आप सब की शुभकामनाओं का परिणाम है कि अपने पैरों पर खड़े रहने का इसे आधार मिल रहा है। आप सबने सहयोग के जिस हाथ को आगे बढ़ाया था, अब उसके साथ और हाथ जुड़ गए हैं। 'व्यंग्य यात्रा' परिवार आप सबसे मिल आर्थिक सहयोग का अभार प्रकट करता है। आप सब हैं- आशा रावत, अतुल चतुर्वेदी, कुलदीप अहूजा गिरिराजशरण अग्रवाल, गोपाल चतुर्वेदी, प्रमोद ताम्बट, बागी चाचा, मधुसूदन पाटिल, सूर्यबाला, रमेशचंद्र खरे, राजेंद्र निशेष, रामबहादुर चौधरी 'चंदन', यश गोयल।

इस अंक की सामग्री के लिए मैंने अखिलेश द्वारा संपादित 'तद्भव', नामवर सिंह द्वारा संपादित 'जीवन ही जीवन' तथा नामवर सिंह और सुशील सिद्धार्थ द्वारा संपादित 'संचयिता' का सदुपयोग किया है और इसके लिए मैं इन सबका आभारी हूं।

इस आयोजन में श्रीलाल जी के सहयोग को भूला नहीं जा सकता है। अपनी अस्वस्थता के बावजूद उन्होंने सभी प्रकार के वांछित आग्रह को स्वीकार किया और अपना आशीर्वाद दिया।

मैंने हिंदी-व्यंग्य की अग्रज पीढ़ी-परसाई, जोशी, शुक्ल और रवींद्रनाथ त्यागी से बहुत कुछ सीखा है और पत्रिका के संपादक के रूप में मैं यह अपना कर्तव्य मानता हूं कि इन पर केंद्रित बातचीत की जाए। रवीन्द्रनाथ त्यागी पर केंद्रित अंक प्रकाशित हो चुका है तथा श्रीलाल जी के बाद शरद जोशी पर अंक निकालने का मन है। पिछले वर्ष अगस्त सूरज प्रकाश के यहां, मुम्बई में, आयोजित एक गोष्ठी में जिसमे पुष्पा भारती, नेहा शरद, विश्वनाथ, यज्ञ शर्मा, धीरेंद्र अस्थाना, हरीश पाठक, राजम पिल्ले, सूर्यबाला, राजेंद्र गुप्ता आदि उपस्थित थे, मैंने अपने इस मन का जिक्र किया तो सबने भरपूर रचनात्मक सहयोग का आश्वासन मिला।

और अंत में 'व्यंग्य यात्रा' अपने सहयात्री श्रीराम ठाकुर 'दादा' का जो अब हमारे बीच नहीं हैं, श्रद्धापूर्वक स्मरण करती है।

आप चंदन घिसें

कांतिकुमार जैन, मकरोनिया

'व्यंग्य यात्रा' का हर अंक मूल्यवान होता है। मुझे लगता है कि 'व्यंग्य यात्रा' व्यंग्य को सार्थक और युग संगत बनाने की दिशा में बड़ा कार्य कर रही है।

श्रीलाल जी मेरे प्रिय लेखक हैं। उनकी 'राग दरबारी' को हिंदी के उपन्यासों में बड़ा महत्वपूर्ण मानता हूं, हिंदी क्षेत्र के बदलते समाज को समझने के लिए गोदान, मैला आंचल और राग दरबारी तीन पड़ाव हैं पर उन पर लिखने के लिए जो मशगूल और समय चाहिए वह इधर मेरे पास नहीं है। मैं बहुत से दूसरे कामों में डूबा हुआ हूं। फिर उम्र का प्रश्न है। आप मेरी असमर्थता के लिए मुझे क्षमा के योग्य समझेंगे।

कमला प्रसाद, भोपाल

पत्र मिला था। देरी हो गई उत्तर में। दरअसल व्यस्त भी रहा। कुछ स्वास्थ्य में गड़बड़ है तो काम भी जमकर नहीं हो पाता। लगातार बैठक नहीं होती। दो ऑपरेशन हुए फिर भी तकलीफ है। यात्राएं भी कम कर रहा हूं। व्यंग्य यात्रा के लिए श्रीलाल शुक्ल पर लेख मांगा था। हम लोगों को परस्पर सहयोगी तो होना ही है। आगे कुछ बनेगा तो भेजूंगा। दूसरे अंक के लिए। अन्यथा न लेंगे।

रवीन्द्र कालिया, नई दिल्ली

जानकर अत्यंत हर्ष हुआ कि व्यंग्य यात्रा का अक्टूबर-दिसंबर 2008 अंक श्रीलाल शुक्ल पर केंद्रित होगा। मैं वर्षों से श्रीलाल जी को उनके जन्मदिवस 31 दिसंबर को बधाई देता चला आ रहा हूं। श्रीलाल जी पर मैं अब तक दो संस्मरण लिख चुका हूं। पहला संस्मरण, संडेमेल में छपा था और अब मेरी पुस्तक 'सर्जना' के सहयात्री में संलग्न है। दूसरा संस्मरण तद्भव में प्रकाशित हुआ था। आप मुनासिब समझें तो इन्हीं में से कोई संस्मरण प्रकाशित कर लें। बातों को दोहराने का मेरा कोई इरादा नहीं है।

संजीव, नई दिल्ली

मैं इधर आर्थराइटिस से बुरी तरह आक्रांत हूं। इसी सिलसिले में बाहर जाना पड़ सकता है। वैसे अगर इस बीच लिखने की स्थिति में रहा तो 15 नवंबर तक श्रीलाल जी पर कोई सामग्री मैं आपको भेज दूंगा।

गोपाल राय

आपका 19.10.08 का पत्र मिला, धन्यवाद। काश! मैं व्यंग्य यात्रा के लिए कुछ लिख पाता। मैंने अपनी जिंदगी का शेष समय हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन को सौंप दिया है। इसलिए आजकल पत्रिकाओं के लिए कुछ भी नहीं लिख रहा हूं। कृपया अन्यथा न लेंगे। आशा है, सानंद हैं।

श्रीकांत चौधरी, दमोह

तुम्हें एक लाख का पुरस्कार मिलना कोई विशेष घटना नहीं क्योंकि यह तुम्हारी मेहनत लगन और योग्यता का प्रतिफल है। भारत के समस्त साहित्यकारों की पुरस्कार और रायल्टी से प्राप्त धनराशि इतनी नहीं होती जितनी कि एक क्रिकेटर को जूते, शेंपू, टूथपेस्ट के विज्ञापन करने में मिल जाती है।

श्री श्रीलाल शुक्ल जी पर व्यंग्य यात्रा का अंक निकालना एक अत्यंत श्रम साध्य, दुष्कर और बेहद महत्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य है, व्यंग्यकारों के लिए समर्पित यह पत्रिका भविष्य में इस रूप में भी इतिहास में अपना नाम दर्ज कराएगी क्योंकि संभवत: हिंदी साहित्य में इस तरह के निरंतर विशेषांक अपना अभिन्न ऐतिहासिक महत्व रखते हैं। प्रसंगवश यह कि कॉलेज के दिनों में और मेरे कुछ साथी जो रंगमंच के क्षेत्र में बहुत सक्रिय थे, वार्षिक 'स्नेह सम्मेलन' में कुछ नई प्रस्तुति देना चाहते थे, परसाई जी की 'रानी नागफनी की कहानी' के एक भाग का मंचन कर चुके थे। व्यंग्य लेखक कथाकार श्री सुबोध श्रीवास्तव, डॉ. रमाकांत श्रीवास्तव और स्व. व्यंग्य कवि श्री दिनकर सोनवलकर ने मुझे कहा कि श्रीकांत तुम श्रीलाल जी का 'राग दरबारी' अवश्य पढ़ना। तुम्हारे चिंतन-मनन का फलक व्यापक होगा। उन दिनों साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिलने से राग दरबारी भयंकर चर्चा में था। मैंने खूब पढ़ा और ठान ली कि इसके ग्रामीण परिवेश में शिक्षा व्यवस्था की दुर्दशा, विसंगतियों को लेकर किसी एक चेप्टर का नाट्य रूपांतर कर मंचन किया जाए। श्रीलाल जी की अनुमति लेना भी शराफत का तकाजा था। उम्मीद कम थी कि वे अनुमति देंगे। खैर, पत्र लिखा तो उनका जवाब आया। अप्रत्याशित था जवाब। ठीक-ठीक तो अब याद नहीं पर उन्होंने उपन्यास की प्रशंसा पर यह लिखा कि आगे आप लोगों की प्रेरणा से और भी बेहतर लिखूंगा और यह भी लिखा था कि इस उपन्यास के अंश का मंचन आप लोग कर रहे हैं। बहुत खुशी की बात है परंतु यह इतना सरल सहज नहीं होगा। उस परिवेश को मंच पर साकार करना और अभिव्यक्ति देने में आप लोग किसी वरिष्ठ अनुभवी रंगकर्मी का सहयोग लें तो बेहतर होगा। मेरी शुभकामनाएं आपके साथ हैं। ऐसा कुछ उन्होंने हमें लिखा। हम सब मित्र बड़े गदगद हुए पर अंतिम परिणाम यही रहा कि अंतत: नाट्य रूपांतर पर ही मतैक्य नहीं हुआ, कॉलेज के हमारे प्रोफेसर भी बोले कि कठिन होगा और अगर आपने अपने मन से संवाद या घटना जोड़ेंगे तो यह लेखक के साथ बेईमानी होगी। अंतत: मंचन करना एक सपना ही रह गया।

व्यंग्य यात्रा नियमित हो, द्वैमासिक हो ऐसी मेरी व अन्य सभी की हार्दिक इच्छा है।

मां पर तुम्हारा संस्मरण लेख पढ़ा, जो हर उस शख्स को विचलित करने को काफी है जिसकी मां अब नहीं है। कृष्णदत्त पालीवाल जी के लेख पर मेरी संक्षिप्त टिप्पणी तो छाप देते जो अपने पत्र में मैंने लिखी थी। सोच रहा हूं कि अपना दो चार लाख का बीमा करा लूं और वारिस 'व्यंग्य यात्रा' संपादक मंडल को बना दूं। मरने की

संभावनाएं प्रबल हैं ही, सो व्यंग्य यात्रा नियमित हो जाएगी। क्या ख्याल है?

अरविंद विद्रोही

सर्वप्रथम गोइन्का फाउंडेशन द्वारा स्थापित 'स्नेहलता गोइन्का' व्यंग्य भूषण पुरस्कार 2008 आपको प्रदान किया गया, यह 'विदूषक' परिवार के लिए अति हर्ष का विषय है।

'मां को याद करते हुए' पढ़ते-पढ़ते मां की स्मृति में खोते चला गया और अनजाने आंखों से टप-टप आंसू टपकते जा रहे थे। 'मां' सचमुच मां होती है। मां के स्नेह, प्यार, दुलार को कभी भुलाया नहीं जा सकता। मां कठिन-से-कठिन समय में वह अपनी संतान के लिए जो त्याग करती है उस त्याग का मूल्य कभी चुकाया नहीं जा सकता।

मां की स्मृति की चर्चा एक सार्थक चर्चा है। उन पर इस चर्चा को खारिज कर दिया जाए तो साहित्य के लिए कुछ नहीं बचेगा। चाहे वह उपभोक्तावादी संरक्षकों के लिए महत्वपूर्ण भले न हो।

हरिशंकर परसाई- टिटहरी कभी नहीं हारती, कांतिकुमार जैन कई एक बार पढ़ गया और एक साहित्य साधक की सम्पूर्ण साधना के आलोक में जो सादगी, संघर्ष, वैचारिक संघर्ष की जिस चेतना से मुझे साक्षात्कार हुआ है वह मेरे लिए धरोहर थाती है। व्यंग्य में ईमानदारी की आवश्यकता है- रामशरण जोशी से बातचीत (प्रेम जनमेजय) जो साहित्य सृजन के लिए दिया है वह काफी महत्वपूर्ण है तथा इन साक्षात्कारों से बहुत कुछ सोचने समझने और कर्त्तव्यपथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है।

कृष्णकांत 'एकलव्य'

'व्यंग्य यात्रा' अप्रैल-सितंबर 2008 अंक प्राप्त हुआ। आभारी हूं। 'व्यंग्य यात्रा' के पग-पग पर आपके श्रम और समर्पण के कुछ ऐसे शिला-लेख भी अंकित हो रहे हैं जो व्यंग्य-साहित्य की ऐतिहासिक धरोहर के रूप में याद किए जाएंगे। 'पाथेय', 'चिंता', 'त्रिकोणीय' से लेकर गद्य-पद्य की स्तरीय रचनाओं सहित विविध उपयोगी स्तम्भों के विस्तृत फलक तक फैली पत्रिका व्यंग्य-रचनाधर्मियों और प्रबुद्ध पाठकों के मन और मस्तिष्क की अनिवार्य आवश्यकता बन चुकी है।

इस अंक के 'पाथेय' में श्री कांतिकुमार जैन और भाई हरीश नवल ने व्यंग्य पुरोधा हरिशंकर परसाई जी की विरल जीवन-शैली, उनकी 'प्रैक्टिकल-सोच' संघर्ष और चिंतन, सहित उनके विराट-व्यक्तित्व की विनम्रता, उदारता और नए लेखकों के प्रति उनकी आत्मीयता के अनेक अछूते संदर्भों को उजागर किया है। 'चिंता' में श्री रामशरण जोशी के साथ आपकी अंतरंग वार्ता, समकालीन व्यंग्यकारों के लिए एक घूमता आइना है, जो लेखन में व्यक्तित्व की पारदर्शिता और अभिव्यक्ति के स्तर पर सच्चाई-ईमानदारी का संदेश देता है।

'त्रिकोणीय' में आप की 'संपादकीय' टिप्पणी, अग्रज श्री शेरजंग गर्ग और प्रदीप जी के समीक्षा आलेख में बड़ी शिद्दत से भाई सुभाष चंदर जी की कृति 'हिंदी व्यंग्य का इतिहास' के 'पाजिटिव-निगेटिव' दोनों बिंदुओं पर विस्तृत विवेचना की गयी है। मुझे लगता है कि और कुछ कहना शेष नहीं रह जाता। ऐसे ऐतिहासिक प्रयासों की खरी-आलोचना करके अप्रिय सत्याभिव्यक्ति का अपयश भागी भला कौन बनना चाहेगा? और यह भी कि आपकी संपादकीय टिप्पणी 'ऐसे ऐतिहासिक महत्व की कृतियों में, समकालीन पहले अपने नाम देखते हैं, नाम छूट गया तो कृति दो कौड़ी की', उद्धृत यह अकाट्य-सत्य, नाम छूटे मेरे जैसे समकालीन व्यंग्य के अनेक बातूनी-दावेदारों के मुंह पर ऐसी लगाम कस दी है कि सुभाष चंदर जी का यह सुकृत्य सर-माथे पर। फिर भी इतिहास को सही दिशा देने के लिए इस व्यंग्य इतिहास कृति पर व्यापक-विमर्श की आवश्यकता है। सुभाष जी की तरह जल्दबाजी में कुछ और रेखांकित करना उचित नहीं प्रतीत होता।

राजेन्द्र जोशी, भोपाल

व्यंग्य यात्रा निरंतर शिखर की ओर निर्बाध गति से अग्रसर हो रही है। बधाई। पत्रिका निश्चित ही व्यंग्य विधा के सकारात्मक स्वरूप की पहचान के रूप में साहित्य जगत में स्थापित हो चुकी है। सामाजिक सरोकारों, नैतिक मूल्यों में आ रही गिरावटों, राजनैतिक छल-छंदों और भौतिकवादी वर्तमान युग की विडम्बनाओं पर स्थापित रचनाकारों की कलम से लिखे गए लेखों के संकलन और संपादन में आपके कौशल ने इस पत्रिका को पत्रिकाओं की भीड़ से अलग ही बेबाक पहचान दी है।

कैलाश मण्डलेकर, खण्डवा

स्मृतिशेष ममतामयी मां की स्मृतियों पर केंद्रित आपका अग्रलेख इस दृष्टि से विचारणीय है कि महानगरीय यांत्रिकता के बीच भी कौटुम्बिकता जीवंत रहती है तथा बुद्धिवाद की एक सीमा है एवं 'मां' नामक संज्ञा इस सबसे ऊपर है। इस बहुत बड़ी क्षति के बीच आपको व्यंग्य भूषण पुरस्कार के लिए बधाई। विलम्ब भले ही हुआ पर इस चयन से व्यंग्य के समस्त पाठकों और लेखकों को खुशी होगी। प्रकारांतर से यह एक विधा का सम्मान है। उस विधा का जिसे साहित्य में वर्षों तक शूद्र माना गया। इस लखटकिया पुरस्कार से निश्चय ही व्यंग्य लेखकों का कद भी बढ़ा है। मैं, कामना करता हूं कि विसंगतियों और विरोधाभासों से जूझने वाली आपकी कलम यशस्वी हो तथा उसकी निरंतरता बनी रहे।

परसाई जी वसुधा के संपादन के दौरान जिन संघर्षों से दो-चार होते रहे तथा वसुधा को निरंतरता देते रहे, उस सबको प्रख्यात भाषाविद तथा विद्वान लेखक डॉ. कांतिकुमार जैन ने बहुत शाइस्तगी से उकेरा है। टिटहरी के प्रतीक के जरिए, कांतिकुमार जी, परसाई की उस जिजीविषा एवं युयुत्सा को सामने लाते हैं जिसके चलते वे तमाम विरोधी स्थितियों में भी एक पत्रिका को गतिशीलता देते रहे। उस दौर की 'वसुधा' आज के अनेक संपादकों के लिए एक प्रेरणाप्रद अभियान है।

रामशरण जोशी का साक्षात्कार एवं सुभाषचंदर की कृति 'हिंदी व्यंग्य का इतिहास' पर

हंस नवंबर, 2008, दिल्ली

प्रेम जनमेजय जिस निष्ठा के साथ यह पत्रिका निकालते हैं, उनकी तारीफ की जानी चाहिए। लेकिन एक बात। नए व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई की तरह व्यंग्य लिखने की तैयारी नहीं करते हैं। मुझे लगता है, परसाई जी के बाद हिंदी में व्यंग्य लेखन का वह पैनापन है। हमें यह देखने की जरूरत है कि परसाई क्यों और कैसे बड़े व्यंग्य लेखन को स्वीकृति भी दिलाई।

-भारत भारद्वाज

बहुत उत्तम सामग्री प्रस्तुत की है। श्रीकांत चौधरी का कामरेड पठनीय है। जवाहर चौधरी, रोमेश जोशी, श्यामसुंदर घोष, कैलासचंद्र, मधुसूदन आदि के व्यंग्य लेख बढ़िया हैं।

डॉ. गंगाप्रसाद बरसैंया

आपके द्वारा प्रदत्त 'व्यंग्य यात्रा' का अंक 15-16 आद्यन्त पढ़ा। 'मां को याद करते हुए' से लेखक समाचार स्तंभ तक बड़ा समर्थ अंक है। वैविध्य भी। चाहे परसाई जी संबंधी संस्मरण हो या रामशरण जोशी से बातचीत। जोशी जी का यह कथन– 'सब विचारधाराओं की सीमाएं उजागर हो चुकी हैं।' गंभीरता से सोचने–विचारने का आह्वान करता है। अब कोई भी विचारधारा बेदाग और पूरी तरह ईमानदार तथा आश्वस्तकारी नहीं है। सभी में अवसरपरस्ती व्याप्त है। सभी में मुखौटेबाजी है। पूंजीवाद सभी संस्कारों–आदर्शों को रौंद रहा है।

सुभाष चन्दर के 'हिंदी व्यंग्य का इतिहास' पुस्तक के बारे में समीक्षाएं पढ़कर उसे प्राप्त कर पढ़ने की जिज्ञासा बढ़ी है। निश्चित रूप से व्यंग्य की दिशा में एक महत्वपूर्ण कार्य है। अभी ऐसी पुस्तक देखने में नहीं आई थी।

अंक में संग्रहित बहुवर्णी व्यंग्यों में अधिकांश अच्छे हैं किंतु कुछ अति सामान्य भी। विसंगतियों के इस युग में व्यंग्य खूब फल–फूल रहा है। समय की कसौटी पर कितना टिक पाएगा, यह समय ही बताएगा। कविताओं, ग़ज़लों में भी उसका पर्याप्त असर है।

समीक्षाओं को भी आपने पर्याप्त स्थान दिया है, भले वे संक्षिप्त हों। साहित्यिक जगत की गतिविधियों की पर्याप्त जानकारी समाचार स्तंभ से हो जाती है। कहने का आशय यह है कि 'व्यंग्य यात्रा' साहित्य जगत की अच्छी पत्रिका है, इसमें दो मत नहीं। प्रूफ की अशुद्धियां जरूर अखरती हैं।

'भिक्षाम् देहि. . .' का आग्रह मुझे अच्छा नहीं लगा। सहयोग अन्य प्रकार से भी मांगा जा सकता है। भिक्षाटन तो योगियों–विरक्तियों के लिए है, सांसारिक सरोकारों से जुड़े लोगों के लिए नहीं। यद्यपि कबीर ने कहा था– 'मर जाऊं मागूं नहीं अपने तन के काज।' पर स्वारथ के कारने मोहिन आवत लाज।' साहित्य–सेवा भी 'पर स्वारथ' के लिए ही है। मालवीय जी ने भी 'भिक्षा' का उपयोग किया था। व्यंग्य यात्रा के लिए भिक्षाटन ठीक नहीं। रहीम ने तो मांगने वालों और मांगने पर भी न देने वालों की अच्छी खबर ली है। रहिमन वे नर मर चुके. . .।

डॉ. रामकुमार रामरिया, नैनपुर

बहुत व्यग्र था कि अप्रैल–सितंबर की 'व्यंग्य यात्रा' का रथ या कहूं कि हाथी इधर से नहीं गुजरा। तभी रथ आया। हाथी इसलिए नहीं कहूंगा कि सभी ओर से 'समग्र साहित्यिक पत्रिका' हो चुकी इस व्यंग्य यात्रा को प्रशंसा ही मिल रही है। (सभी वर्ग के सभी विचारधारा के समस्त 'सर्वसमर्थ' साहित्यकारों को आप यथासंभव समेटकर चल रहे हैं। साधुवाद।) जबकि हाथी जब चलता है, तब कुछ एक हजार प्राणी वफादारी से भौंकते हैं। रथ को तो समर्थन ही मिलता है।

हरिशंकर परसाई पर केंद्रित आलेख / संस्मरण 'टिटहरी कभी नहीं हारती' (डॉ. कांतिकुमार जैन) बेहद प्रेरणास्पद है। एक अभियान की जद्दोजहद का जो खाका उन्होंने खींचा, वह जीवंत है। यह लेख इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि कोई यूं ही कालजयी नहीं होता। मुझे वह क्षण अब भी याद है जब बातचीत करते–करते अंधेरा हो गया था, मैं उठकर बिजली का स्विच दबाना चाहता था। वे (श्रद्धेय परसाई जी) पलंग पर थे और छड़ी उनके सिरहाने। पांव से अशक्त होने के बाद मैं उनसे पहली बार उनके निवास पर मिल रहा था। उन्होंने मेरे स्विच तक पहुंचने के पहले ही छड़ी से स्विच दबा दिया। उस दिन रोशनी सिर्फ उस कमरे में नहीं फैली थी, मेरे अंदर भी जगमगाई थी। परसाई कभी दूसरों पर निर्भर नहीं रहे, कोई ताकत उन्हें 'विकलांग' नहीं कर सकी।

श्याम सखा 'श्याम', रोहतक

'मां' को याद करते हुए' आपने याद के जख्म को हरा कर दिया पर यह जख्म टीसता नहीं है। सुख देता है। मेरी आपकी या दो मांओं की कथा–व्यथा यकसां है। मैं एम.बी.बी.एस. के अंतिम वर्ष में वर्ष 1969। मां लगभग 62-63 वर्ष की रहीं होंगी। पढ़ी–लिखी थीं पर सरल सहज इतनी की न जानने वाले अनपढ़ ही समझ लेते थे। उन्हें भूख लगनी बंद हो गई थी। मैं हस्पताल ले गया। डॉ. उर्मिला कपूर, स्त्री रोग की प्रोफेसर बड़ी सुंदर ठसकदार महिला–अविवाहित थीं। विद्यार्थियों की आइडल भी थी। (अब वृंदावन में साध्वी– अचानक नौकरी छोड़ चली गई थीं, 25 वर्ष बाद उनके दर्शन वृंदावन में हुए), ने वज्रपात किया। मां को सर्वाइकल कैंसर है मैं फर्श पर बैठ गया। उस समय कैंसर उपचार था ही कहां? डॉ. कपूर ने हाथ पकड़ उठाया, कहा हिम्मत नहीं हारते। मेरी क्लासमेट डॉ. उर्मिल शर्मा, बंबई में इस पर काम कर रही है। आजकल 3 महीने हेतु एम्स (ए.आई. आई.एम.एस.) में आई है। उन्हें दिखलाओ। फिर एम्स में भीड़–भाड़, थोड़ा डॉक्टर होना काम आया। डॉ. उर्मिल ने कहा रेडियम थेरेपी से अच्छे रिजल्ट आ रहे हैं पर अभी शुरुआत है इस ट्रीटमेंट विधि की। कहो आजमाएं– मरता क्या न करता, हामी भर दी। उस समय रेडियम नीडल्स योनि में रखकर बाहर से सी देते थे। यूरिन हेतु नलकी लगाकर 48-72 घंटे मरीज को लिटाए रखा जाता था। असहनीय पीड़ा व डॉ. उर्मिल शर्मा के पुरुष सहयोगियों के सम्मुख मां की लज्जा? पर सह गई मां, अभी इलाज चल रहा था। यानी इस तरह की 5-6 सीटिंग्स होनी थी। इसी बीच बड़े भाई जो एयरफोर्स में ऑफिसर थे, का दुर्घटना में देहांत मां–पिता और मुझे तोड़कर रख गया। भाभी का दुख तो बयान से बाहर है। तीन छोटे–छोटे बच्चे। मेरी नौकरी यूएसए–कनाडा दोनों जगह से आ गई। मन कैरियर व मां के बीच झूलने लगा– अंततः मां के प्यार की ही जीत हुई। वहां जाना छोड़ पहले कॉलेज मेडिकल रोहतक में रजिस्ट्रार फिर पिछड़े कस्बे गोहाना में नर्सिंग होम - मां मेरे साथ–साथ 15 साल जीं पर रेडियम की डोज अधिक होने से यूरिन ब्लेडर व गुदा सिकुड़ गए। 24 घंटे में 50 बार बाथरूम वगैरह, पर हिम्मत वाली थी मुस्कराती रही अंत तक। मेरी धर्मपत्नी ने उनकी सेवा आठ साल की, हम हनीमून पर भी नहीं गए। मां को छोड़ कैसे जाते। मैंने नहीं पर पत्नी ने मेरा मातृऋण प्रसन्नता, धैर्य से चुकाया। अब मैं उसका ऋणी हूं।

डॉ. रघुनंदन चिले, दमोह

'आरंभ' पढ़ा। आपकी माता जी के निधन के बारे में जानकारी मिली। बहुत दुख हुआ।

इसे शोक व्यक्त करने की औपचारिकता न मानें। व्यक्ति कितना बड़ा ही क्यों न हो जाए वह अपनी मां के लिए वही बाल-सुलभ क्रीड़ाओं वाला बालक ही होता है। बालक के लिए मां मुनव्वर राणा के शब्दों में आदर्श आइना होती है। मीरा सीकरी का यह कथन 'मां मर जाती है पर वो हृदय के किसी कोने में सदा जिंदा रहती है। उसकी उपस्थिति जिंदगीभर बनी रहती है।' प्रामाणिक है। मैं इसका गवाह हूं। आपने मुझे भी मेरी मां की याद दिला दी। मां को खोने का आपका दुख अभी ताजा है। मेरी मां को गये तो बरसों हो गए हैं। उनकी याद गाहे-बगाहे किश्तों में आकर मुझे भिगो जाया करती थी। पर आपका अग्रलेख पढ़ा तो पूरा अंतस् उनकी याद में भीग गया। मेरी मां भी अपढ़ थीं। पर वे भी आपकी मां की तरह ही संस्कारों से गढ़ी हुई थीं। उन्हें अनेक भजन कण्ठस्थ थे। नवरात्रि में वे बड़ी तन्मयता से 'जस' गाया करती थीं। मुझे साहित्यानुराग उन्हीं से मिला है।

एक शायर ने कहा है– **दर्दे-सिर के वास्ते चंदन लगाना है मुफीद, इसको घिसना और मलना, दर्दे-सिर यह भी हो है।**

पर व्यंग्य यात्रा में छपना है तो दर्दे-सिर को 'आ बैल मुझे मार' की शैली में आमंत्रित तो करना ही पड़ेगा। घिसना पड़ेगा चंदन।

आपकी 'भिखमंगी-विनम्रता' (भिक्षाम् देहि . . . आभार) काबिले तारीफ है। ऊपर से आपने बिहारी का दोहा पेलकर इस तारीफ में एक चांद और लगा दिया है। माफ करें, मैं मितव्ययी हूं चार चांद लगाने की अनावश्यक उदारता नहीं दिखा सकता। परिणामस्वरूप मुझ जैसा व्यक्ति भी पसीजने की कगार पर है।

व्यंग्य यात्रा जारी है। जारी भी रहना चाहिए। कितनी ही प्रतिकूलताएं हों पर व्यंग्य यात्रा जारी रहे। खाद-पानी का बंदोबस्त तो आपने आप होता रहता है। आप व्यंग्य की 'चोंच' संभाले रहें, 'चुग्गे' मिलते रहेंगे।

ओमप्रकाश सोनी, पिपरिया

'मां को याद करते हुए' पढ़ा। मुझे, आपके एक-एक शब्द में मां के बिछोह की पीड़ा का अहसास हो रहा था। जब कभी मां की बात होती है, सभी मां और उनका ममत्व मुझे एक जैसा ही लगता है।

मेरी विनम्र शृद्धांजलि–

'नश्वर तन बिदा हुआ मां, अनश्वर तेरा सुमरन है,
अश्रुपूर्ण नयनों से मां, अब तुम्हें हमारा नेह नमन है।

तेज राम शर्मा, शिमला

व्यंग्य केन्द्रित आप एक बड़ी और बहुत ही महत्वपूर्ण पत्रिका निकाल रहे हैं। चयन, छपाई, गेट-अप, साइज, सज्जा सब कुछ उत्कृष्ट है, हार्दिक बधाई।

अनूप सेठी, मुंबई

दिन-ब-दिन मेरी धारणा पुष्ट होती जा रही है कि अब लेखक होने के लिए संपादक होना अनिवार्य होगा। पहले यह था कि सिर्फ लेखक ही पढ़ते हैं, पाठक तो गायब हैं। अब और तरक्की हो गई है। कोई पढ़े न पढ़े, मैं छापूंगा ओर बांटूंगा। घर फूंक तमाशा देखूंगा। इस बात को आप व्यक्तिगत आलोचना न मानिए। आपकी पत्रिका तो बहुत अच्छी है और भीख मांगने के आपके अंदाज ने तो खुश ही कर दिया। उम्मीद है जिनकी जेब भारी हो वे भी खुश होंगे और जेब ढीली करेंगे। व्यंग्य यात्रा चलती रहे।

श्रीराम ठाकुर 'दादा' रहे नहीं

एक जनवरी 2009 की सुबह मोबाइल बजा, स्क्रीन पर रमेश सैनी का नाम था। मन ने प्रतिक्रिया दी- नववर्ष की शुभकामनाओं के लिए फोन होगा। पर जब कान पर फोन लगाया और उधर से अति पीड़ित स्वर में रमेश ने जब ये कहा, 'प्रेम भाई, एक दुखद सूचना है, दादा नहीं रहे।' विश्वास नहीं हुआ। मेरे लिए ये समाचार आकस्मिक ही नहीं अनापेक्षित भी था क्योंकि मैं ये नहीं जानता था कि पिछले दिनों दादा बीमारी से जूझ रहे थे और उसके इलाज के लिए ही दिल्ली एम्स में आ रहे थे। दादा के फोन अक्सर आ जाते थे और 'व्यंग्य यात्रा' के स्वास्थ्य के प्रति उनकी जेनुइन चिंता अभिव्यक्त होती।

अपने निरंतर परिश्रम और लगन के कारण उन्होंने हिंदी साहित्य में एक पहचान बनाई। उनका व्यवहार सभी के प्रति मित्रवत रहा।

उनका जन्म 28 जनवरी 1946 को बारंगी, जिला होशंगाबाद में हुआ था और 28 दिसम्बर 2008 को उन्होंने नश्वर देह त्याग दी। श्री रामठाकुर 'दादा' एम. ए., पी-एच. डी. और हिन्दी सहित्यरत्न थे। अनेक पत्रिकाओं का सम्पादन कर चुके 'दादा' की रचनाएं विगत 40 वर्षों से समाचार पत्र-पत्रिकाओं, आकाशवाणी, दूरदर्शन, डायनामिक मीडिया, सिटी केबल पर प्रकाशित-प्रसारित होती रही हैं।

उनकी विभिन्न विधाओं में लिखी गई पुस्तकें हैं– दादा के छक्के, अभिमन्यु का सत्ता व्यूह, ऐसा भी होता है, पच्चीस घंटे, सृजन परिवेश, मेरी प्रतिनिधि व्यंग्य रचनाएं, प से पर्स, पिल्ला और पति, दादा की रेल यात्रा, अफसर को नहीं दोष गुसांई, स्वातंत्र्योत्तर संस्कृत काव्य में हास्य व्यंग्य, आत्म परिवेश, दांत दिखाने के, मेरी प्रिय छब्बीस कहानियां, मेरी एक सौ इक्कीस लघुकथाएं, बात पते की, मेरी इक्यावन रचनाएं जो पाठकों को अपनी ओर खींचती रही हैं।

उन्हें अनेक पुरस्कारों एवं सम्मानों से अलंकृत किए जाने का सिलसिला बदस्तूर जारी रहा। इन्हें प्राप्त होने वाले पुरस्कारों एवं सम्मानों में मध्य प्रदेश साहित्य परिषद का पद्मलाल पुन्नालाल बख्शी पुरस्कार, मध्य प्रदेश साहित्य हिन्दी साहित्य सम्मेलन का बागीश्वरी पुरस्कार, मध्य प्रदेश लेखक संघ का पुष्कर जोशी सम्मान, सृजन सम्मान संस्था रायपुर का लघुकथा गौरव सम्मान, अखिल भारतीय अम्बिका प्रसाद दिव्य स्मृति रजत अलंकरण प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं।

व्यंग्य यात्रा परिवार की विनम्र शृद्धांजलि।

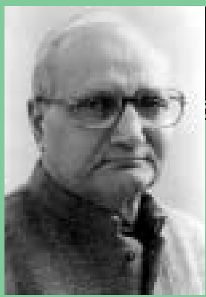

राजकमल प्रकाशन से श्रीलाल शुक्ल की पुस्तकें

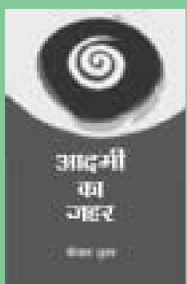

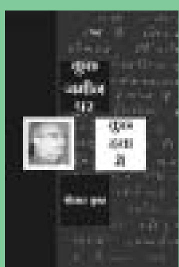

उपन्यास

सूनी घाटी का सूरज/ 95
राग दरबारी/ 450
आदमी का जहर/ 125
सीमाएँ टूटती हैं/ 150
मकान/ 150
पहला पड़ाव/ 250
बिस्रामपुर का संत/ 200

कहानी संग्रह

सुरक्षा तथा अन्य कहानियाँ/ 95
इस उम्र में/ 125

व्यंग्य

अंगद का पाँव/ 75
यहाँ से वहाँ/ 60
उमरावनगर में कुछ दिन/ 75
कुछ जमीन पर कुछ हवा में/ 195
आओ बैठ लें कुछ देर/150
अगली शताब्दी का शहर/
जहालत के 50 वर्ष/ 395

आलोचना

कुछ साहित्य चर्चा भी/ 350

संचयन

श्रीलाल शुक्ल संचयिता/ 550

कथाकार अखिलेश के सम्पादन में
श्रीलाल जी के कृतित्व और व्यक्तित्व पर एक सम्पूर्ण पुस्तक

श्रीलाल शुक्ल की दुनिया

मूल्य : 250

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-2 • फोन : 23274463, 23288769 • फैक्स : 011-23278144
info@rajkamalprakashan.com • www.rajkamalprakashan.com • **HEIP LINE :** 09313621104

पहल की एक और पहल

श्रीलाल शुक्ल पर 'व्यंग्य यात्रा' के अंक की योजना बनी तो उसमें रचनात्मक सहयोग के लिए जिन रचनाकारों को पत्र के द्वारा अनुरोध किया, उनमें ज्ञानरंजन जी भी थे। ज्ञानरंजन ने चाहे, जबलपुर में मेरे मित्र और उनके प्रशंसक, रमेश सैनी की मार्फत भेजे मेरे अनेक अनुरोध आश्वासन में बदले पर पत्रिका के 'स्वास्थ्य' के बारे में उनकी शुभकामना और चिंता बराबर मुझ तक पहुंचती रही है। संक्षिप्त ही सही, वह संवाद बनाने में यकीन रखते हैं। इस बार भी श्रीलाल शुक्ल पर केंद्रित अंक के लिए मैंने 10 अक्टूबर को जो पत्र भेजा, उसका उत्तर 29 अक्टूबर कें कार्ड से आया– प्रियवर, आपका पत्र मिला। रमेश सैनी बराबर अंक दे रहे हैं। आपकी अकेली पत्रिका है जो व्यंग्य संसार का भरपूर परिचय देती है। अभी 'पहल' को वाइन्ड अप करने में बहुत व्यस्त हैं। तीन महीने। 'पहल 90' अंतिम अंक होगा जो सप्ताह भर में भेजा जाएगा। आपको शुभकामनाएं। ज्ञानरंजन'

'पहल' को वइन्ड अप करने की घोषणा मेरे लिए अविश्वसनीय थी। मुझे कोई कारण समझ नहीं आ रहा था। हर वस्तु में विसंगति ढूंढने वाली मेरी मनोवृत्ति ने कहा– कहीं ये किसी राजनीतिज्ञ का फैसला तो नहीं है जो अपने सन्यास की घोषणा करता है और अपने 'हितचिंतकों' की मांग पर वापस ले लेता है। ज्ञानरंजन के पास संसाधनों को जुटाने कमी नहीं होनी चाहिए, हां उन्हें जुटाने के लिए प्रयत्न अवश्य करने पड़ते होंगे। 'पहल' जैसे विचारप्रधान, सामग्री-वैविध्य से युक्त विशाल अंक निकालना किसी अकेले के बूते में नहीं है। 'पहल' ने निरंतर विचारप्रधान सामग्री दी है और साहित्य के एक सतत जागरुक प्रहरी का काम किया है। 'पहल 90' अंक मिला तो उसमें भी समापन संपादकीय जैसा कोई आलेख नहीं था और न ही बड़े-बड़े दावे, शिकायती पुलिंदा या फिर भविष्य की सुनहरी योजनाओं का बड़बोलापन। पिछले पैंतीस वर्षों से अपनी लेखकीय प्राथमिकताओं को पार्श्व में रख, अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता को आकार देने तथा सार्थक साहित्य चर्चा का सशक्त मंच प्रदान करने में अपने कीमती समय और लेखकीय ऊर्जा के हनन का मूल्य, एक संपादक, 'पहल' जैसे विशाल एवं सशक्त मंच का अपनी शहीदी के प्रदर्शन के लिए सदुपयोग तो कर ही सकता था। पर ऐसा कुछ नहीं मिला तो विश्वास दृढ़ हुआ कि 'पहल' बंद होने की घोषणा . . .। पर 'राष्ट्रीय सहारा' में भाई ज्ञानरंजन के साक्षात्कार ने कुछ कहा–

'पहल' बंद करने की घोषणा के बाद मुझे पता चला कि हमारे समय में 'पहल' की बहुत बड़ी भूमिका थी। तरह-तरह के लोगों द्वारा तरह-तरह के प्रस्ताव के सहयोग प्रस्ताव आने लगे, लेकिन दिलचस्प बात यह है कि पिछले 35 वर्षों तक, जब से 'पहल' निकल रही थी, इसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं थी। किसी काम को लेकर मौन और उसके बंद होते ही चिंता, हमारे दोहरे चरित्र का परिचायक है। यह विडंबना ही है कि 'पहल' को लेकर चिंता जाहिर करने वाले अधिकांश लोगों ने 35 साल तक इसकी कोई तारीफ नहीं की। इस दोहरे रवैये के कारण ही हिंदी समाज में अच्छे काम के लिए लगातार जगह सिकुड़ती जा रही है।'

समझ आया कि 'पहल' के बंद होने के व्यक्तिगत कारण नहीं हैं अपितु व्यवस्थाजनित कारण हैं। दोहरा रवैया हमारे पूरी व्यवस्था में अपने पैर फैला चुका है और इसी दोहरे रवैये पर व्यंग्यकार प्रहार करता है। (ये दीगर बात है कि ज्ञानरंजन ने सप्रयत्न 'पहल' में व्यंग्य नामक 'अछूत-कन्या' को स्थान नहीं दिया। संभवतः ज्ञानरंजन की भी वही सोच है जिसके तहत व्यंग्य को फनीथिंग एवं शूद्र मानने वालों के विरुद्ध संर्घषरत परसाई ने घोषणा कर डाली कि उन्होंने निबंध कहानियां आदि ही लिखीं, व्यंग्य नहीं।) पर 'पहल' के प्रति ये दोहरा रवैया रखने वाले कितने लोग हैं? हम क्यों ऋणात्मक सोच वाले व्यक्तित्वों को ही

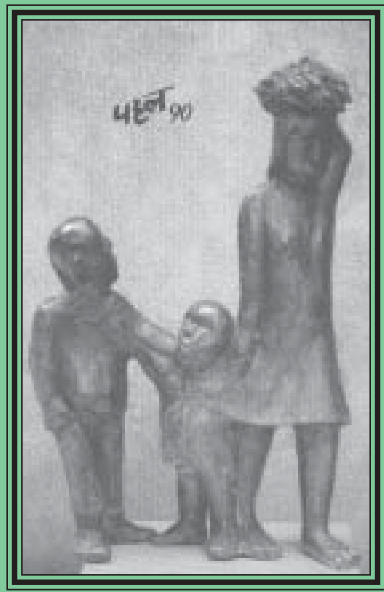

तरजीह देते हैं? हम कयों नहीं 'पहल' के उन प्रशंसकों को देखते जिनका पिछले 35 वर्ष में निरंतर विकास हुआ है। पहल ने एक सार्थक साहित्य का एक अघोषित आंदोलन चलाया और युवा रचनाकारों को सार्थक साहित्य की समझ दी। 'पहल' ने युवा पीढ़ी को भटकने से बचाया है और वर्तमान व्यवस्था के दोहरेपन को समझने की प्रगतिशील सोच दी है। 'पहल 90' में प्रकाशित राजेश रेड्डी की गज़ल का शेर है–

ज़िंदगी अपनी करिश्मा या करामत ही तो है।

देखते क्यूं हो करामात को छोटा करके

'व्यंग्य यात्रा' निकालते हुए मैंने भी अनुभव किया है कि लघु पत्रिका निकालना एकला चलो की प्रक्रिया है जिसमे मौखिक आश्वासन बिन मांगे मिलते हैं और इसके दायित्व को पूरी तरह से निभाते हुए अपने लेखकीय पक्ष को बैक सीट पर रखना पड़ता है तथा न लिख पाने की पीड़ा को लगातार झेलना पड़ता है। यदि ज्ञानरंजन को उनके लेखकीय हिस्से ने 'पहल' को वाइन्ड अप करने के लिए प्रेरित किया है तो बेहतर है और देर सबेर यह 'पहल' संपादक बने हर लेखक को करनी चाहिए।

– प्रेम जनमेजय

श्रीलाल शुक्ल

मेरे व्यंग्य-लेखन का एक ऐतिहासिक क्षण

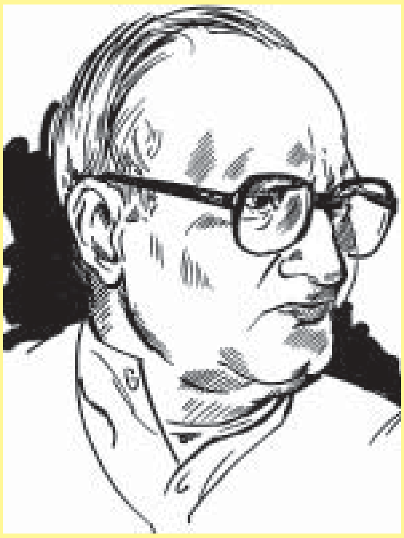

1945 की बात है। तब तक विश्वविद्यालयों में विद्यार्थी के देखते ही उसे लफंगा मानने का चलन नहीं हुआ था। ऐसे प्रोफेसर काफी संख्या में थे जो लड़कों को 'जेंटिलमैन' कहकर संबोधित करते थे, यही नहीं, उन्हें ऐसा समझते भी थे।

मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में था। वातावरण सब प्रकार से विद्यार्थी को जेंटिलमैन बना डालने का था। हमारे छात्रावासों के मीटिंग हॉल में योग्य और विशिष्टता पाने वाले विद्यार्थियों की वार्षिक सूचियां टंगी हुई थीं। ये आई.सी.एस. में, पी.सी.एस. में, इसमें, उसमें- किसी भी तुक की सरकारी नौकरी की परीक्षा में सफल होने वालों की सूचियां थीं। हम किसी-न-किसी दिन इन्हीं सूचियों में टंगने की उम्मीद बांधे चुपचाप किताबें पढ़ते रहते, उससे भी ज्यादा चुप होकर खेलते और छात्रावास के पुरातनकालीन शौचालयों, गंध भरे, लगभग गंदे भोजनालयों और बिना पानी के गुसलखानों में आते-जाते हुए अपने को जैंटिलमैन बनाए रखने की कला सीखते।

मेस और रेलवे-बोर्ड की भाषा में- संडास तो जैसे-तैसे चल जाते, क्योंकि वे जैसे-तैसे अपने उद्देश्य की पूर्ति कर देते थे, पर बिना पानी का गुसलखाना कहां तक सहा जाता? शायद पानी का दबाव कम था। जो भी हो, नल से बूंद-बूंद पानी टपकता था। गुसलखाने के आगे 'क्यू' लगता था, पर 'क्यू' का कोई नियम जरूरी न था। नहाने वालों की भीड़ में दंगे की स्थिति पैदा हो जाती थी। इसी स्थिति ने कुछ नेता पैदा किए। नेताओं ने नहाने की व्यवस्था में सुधार करना चाहा। तब तक हम सीख गए थे कि किसी भी सुधार के लिए धुंआधार आंदोलन करना ही एकमात्र तरीका है। हम आंदोलन पर उतर आए।

सिर्फ़ बाथरूमी चप्पल और पैजामे पहने हुए, हाथ में तौलिया और साबुन लिए नंगे बदन जवांमर्दों का एक जत्था हमारे छात्रावास से बाहर निकला। जुलूस की शक्ल में हम वाइस चांसलर डॉ. अमरनाथ झा के बंगले की ओर बढ़े। आसपास के छात्रावासों के लड़के भी हमारे दुख से दुखित होकर जिस्म के कपड़े उतार-उतारकर, तौलिया झटकारते हुए, जुलूस में शामिल हो गए। 'इन्कलाब जिंदाबाद' का वातावरण बन गया। 'लोटे-लोटे की झनकार, सारे बाथरूम बेकार' के नारों से खुद हमारे ही दिमाग गूंज उठे।

इस मौके पर प्रयाण-गीत के लिए मैंने एक कविता लिखी थी, जिसे यहां दोहराना ही इस टिप्पणी का असली उद्देश्य है।

यह कविता उस ज़माने के प्रसिद्ध प्रयाण गीत–

खिदमते हिंद में जो कि मर जाएंगे
नाम दुनिया में अपना भी कर जाएंगे

की तर्ज पर लिखी गई थी और इस प्रकार थी–

हम बिना बाथरूम के मर जाएंगे।
नाम दुनिया में अपना भी कर जाएंगे।
यह न पूछो कि मरकर किधर जाएंगे,
होगा पानी जिधर, बस उधर जाएंगे।
जून में हम नहाकर थे घर से चले,
अब नहाएंगे फिर जब कि घर जाएंगे।
यह हमारा वतन भी अरब हो गया,
आज हम भी खलीफा के घर जाएंगे!
. . . आदि-आदि।

यह मेरी पहली व्यंग्य-रचना थी। पता नहीं, उस 'करुण-करुण मसृण-मसृण वाले जमाने में जबकि ज्यादातर मैं खुद उसी वृत्ति का शिकार था– मैं यह प्रयाण-गीत कैसे लिख ले गया। जो भी हो, इसका नतीजा जरूर निकला कि लगभग दस साल बाद मैंने जब व्यंग्य लिखना शुरू किया तो मुझमें यह आत्म-विश्वास था कि मैं दस साल की सीनियरिटी का व्यंग्य-लेखक हूं और दूसरों की तरह किसी भी पोच बात को सीनियरिटी के सहारे चला सकता हूं।

खैर, अपने व्यंग्य-लेखन के बारे में इतना तो मैंने लगे हाथ-यूं ही बता दिया। जहां तक बाथरूमों की बात है, खलीफा– डॉ. झा ने हमारे आंदोलन को सफल बनाने में बड़ी मदद की। आज की तरह विद्यार्थियों के जुलूस को देखते ही उन्होंने पुलिस नहीं बुलाई, गोली नहीं चलवाई, प्रेस के लिए तकरीर नहीं दी, इसे अपनी इज्जत का सवाल नहीं बनाया। सिर्फ़ दो-एक छोटे-छोटे वाक्यों में जुलूस के सनकीपन का हवाला देते हुए उन्होंने आश्वासन दिया कि ठीक ढंग के नए बाथरूमों की व्यवस्था हो जाएगी। यही नहीं– आज आपको ऐसी बात सुनकर अचंभा भले ही हो– उन्होंने अपना आश्वासन जल्दी ही पूरा भी कर दिया।

(धर्मयुग, 1963 से साभार)

व्यंग्यश्री-1999 श्रीलाल शुक्ल का वक्तव्य

व्यंग्य की स्वीकार्यता बढ़ रही है

सबसे पहले तो मैं पंडित गोपालप्रसाद व्यास जी को उनके जन्मदिन पर उनका अभिनंदन करना चाहता हूं। ईश्वर से यही कामना करता हूं कि वह उन्हें स्वस्थ रखे और व्यास जी शतायु हों। यह एक औपचारिकता मात्र होगी, मगर यह सत्य है कि मेरे विषय में जो बातें कही गईं और अभी जो सम्मान मुझे दिया गया वह मुझे अभिभूत कर रहा है। खास तौर से उन मित्रों के द्वारा व्यक्त किए गए उद्‌गार जो कि मेरे बहुत ही अंतरंग घनिष्ठ मित्रों में से हैं और सामान्यत: हम लोग एक-दूसरे के बारे में इतनी अच्छी बातें करते नहीं हैं। यह मेरे लिए प्रोत्साहन, उत्साहवर्धक अवसर है, लेकिन उसके साथ-साथ एक जिम्मेदारी भी लादता है कि शायद इसके बाद भूले से भी कोई कमजोर कृति लिखने की हिम्मत अब नहीं पड़ेगी। मैं हृदय से आप लोगों को धन्यवाद देता हूं और कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं कि आपने मुझे इस सम्मान के योग्य पाया और यहां आने का अवसर दिया। इस सम्मान को मैंने व्यास जी के आशीर्वाद के रूप में ग्रहण किया है।

यह बात सही है कि मैं (जैसे कि रवीन्द्र वर्मा अभी आपको बता रहे थे) एक व्यंग्य लेखक या व्यंग्य का प्रयोग मेरे साहित्य का एक पक्ष मात्र है, वह संपूर्ण साहित्य नहीं। और हो भी नहीं सकता। अभी हमारे युवा मित्र हरीश नवल जी ने व्यंग्य की विधा का या उसके प्रयोग का व्यंग्य को हास्य के साथ जोड़ने की प्रकृति के संबंध में महत्वपूर्ण बातें कहीं। अब उनमें जाने का अवसर नहीं है। मगर इतना निवेदन करना चाहूंगा कि अगर हास्य-व्यंग्य ये शब्द हिन्दी में प्रयुक्त किया जाता है तो ये भारतीय परंपरा के ही अनुसार है। जिस रूप में ज्यूलर से शुरू होकर के 19वीं शताब्दी तक यूरोपीय साहित्य में व्यंग्य का प्रयोग होता रहा है।

व्यंग्यश्री सम्मान के अवसर पर श्रीलाल शुक्ल और गोपाल प्रसाद व्यास

जिस जोन में, उपविधा में स्वार्टीस में गंगनटाजूल के लेखक ने व्यंग्य लिखा पाश्चात्य साहित्य में। यह परम्परा हमारे भारतीय साहित्य में नहीं थी। कहने का तात्पर्य यह था कि वो अभिधा एवं लक्षणा से अलग जाकर के शैली के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। जिसमें वक्रोक्ति भी होगी, अन्योक्ति भी होगी, ध्वनि की विशिष्टता भी होगी। उसे हमारे यहां व्यंग्य के रूप में जाना जाता है। भाण जैसे संस्कृत के जो नाटक हुआ करते थे, एकनिष्ठ नाटक वास्तव में पाश्चात्य में उनको व्यंग्य नहीं कहते। वह भी भारतीय परंपरा में गंभीर बात परिहास के रूप में कहने वाली बात ही कहा गया है। उसमें और भी कई बातें कही गई हैं। मगर हम लोगों की परंपरा में इस प्रकार का अंतर नहीं किया गया है, जिस प्रकार पाश्चात्य देशों में किया गया है।

अगर ऊब न रहे हों तो एक बात और कह दूं। पाश्चात्य देशों में भी खास तरीके से अंग्रेजी में भी व्यंग्य का जो 18वीं या 19वीं शताब्दी का गौरव था, वह समाप्त हो चला। एक धारणा यह बन गई कि इसके बाद अब कोई व्यंग्य लिखने वाला रह नहीं गया। हालत यह हो गई कि जो अभिधात्मक प्रकृतिवादी लेखन था यथार्थ के बाहुल्य के कारण शैली अपने आप बदली और व्यंग्य के जो बहुत से उपादान उसको स्वतंत्रता देते थे, वे सब उपादान सामान्य लेखन में अपने आप समाहित हो गए। इस समय जो बहुत से हमारे मशहूर लेखक हैं सलमान रुश्दी, गुंटर ग्रसिया, क्राल बेलो आप इनके उपन्यास पढ़ेंगे आप सोचते रहेंगे कि उन्हें व्यंग्य के उपन्यास कहें या मुख्यधारा के उपन्यास। मनोहर श्याम जोशी को श्रेणीबद्ध करने की कठिनाई अभी हरीश नवल जी ने बताई। वह यही कठिनाई है कि जो सामान्य प्रकृतवादी यथावत चित्रण कर देने वाला लेखन था, अब नाकाफी हो चुका है। और व्यंग्य के जितने अधिक व्यक्ति विषयक उपादान थे वह सामान्य लेखन ने हथिया लिए हैं। इसीलिए धर्मवीर साहब, धूमिल की कविताएं आप सोचेंगे कि यह व्यंग्य की कविताएं हैं अथवा सामान्य कविताएं। उसी प्रकार से आप उपन्यासों में देखिए मनोहर श्याम जोशी की 'कसप' जैसी गंभीर प्रेम कहानी, 'हरिया हरक्युलिस की हैरानी', 'कुरू-कुरू स्वाहा', 'ट-टा प्रोफेसर' या ममता कालिया का 'बेघर' जिसमें बड़े परिवार की विड़म्बना की कथा है, ये सब धीरे-धीरे सामान्य उपन्यास अभिधात्मक लेखन की प्रक्रिया से होकर 'डिवाइस' का प्रयोग कर रहे हैं, जिसका प्रयोग व्यंग्य लेखक किया करते थे। व्यंग्य लेखन की जो टेरिटरी थी उसके ऊपर दूसरे लेखन वालों ने धीरे-धीरे कब्जा कर लिया। यह खतरे की बात नहीं है। यह व्यंग्य की विस्तृता का परिचायक है। इस प्रकार से जो कविता, कहानियों के द्वारा व्यंग्य पर कब्जा किया जा रहा है, उससे हमें कोई खतरा नहीं है, बल्कि हमें तो इससे प्रसिद्धि मिल रही है। व्यंग्य के इलाकों पर कब्जा किया जा रहा है तो इसकी स्वीकार्यता बढ़ रही है।

मैं पुन: कृतज्ञ हूं कि आपने मुझे यहां आने का अवसर दिया।

सौ

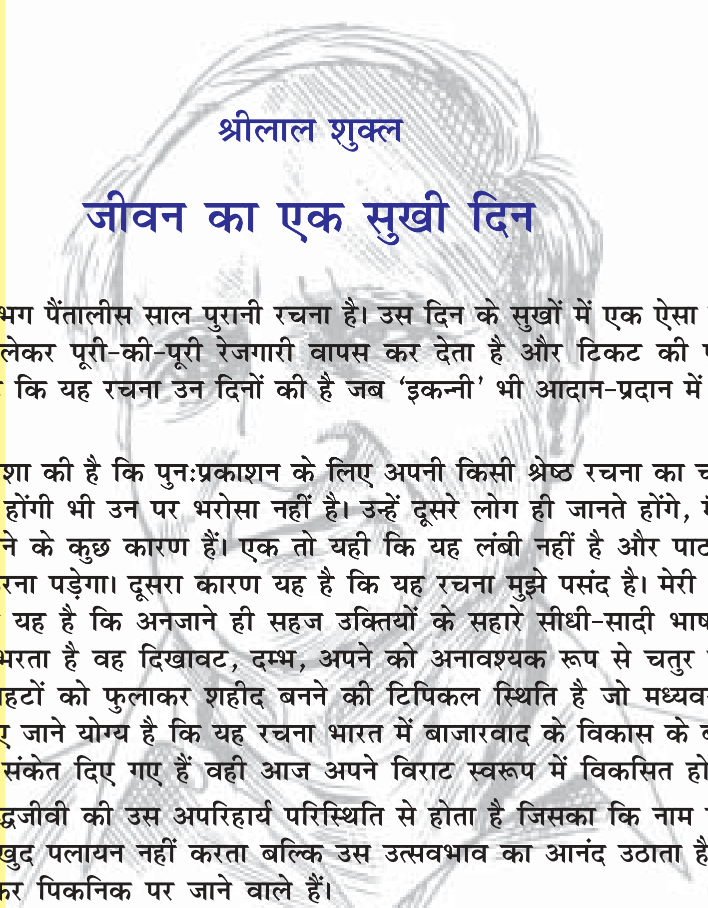

श्रीलाल शुक्ल

जीवन का एक सुखी दिन

जीवन का एक सुखी दिन लगभग पैंतालीस साल पुरानी रचना है। उस दिन के सुखों में एक ऐसा ही सुख है जिसमें बस कंडक्टर एक रुपए का नोट लेकर पूरी-की-पूरी रेजगारी वापस कर देता है और टिकट की पुश्त पर 'इकन्नी' का बकाया नहीं लिखता। जाहिर है कि यह रचना उन दिनों की है जब 'इकन्नी' भी आदान-प्रदान में एक महत्वपूर्ण सिक्के की भूमिका निभाती थी।

संपादक महोदय ने मुझसे प्रत्याशा की है कि पुन:प्रकाशन के लिए अपनी किसी श्रेष्ठ रचना का चयन कर दूं। मेरी श्रेष्ठ रचनाएं बहुत कम हैं और जो होंगी भी उन पर भरोसा नहीं है। उन्हें दूसरे लोग ही जानते होंगे, मैं उतना विश्वासपूर्वक नहीं। फिर भी, यह रचना चुनने के कुछ कारण हैं। एक तो यही कि यह लंबी नहीं है और पाठक के लिए इसे पढ़ते हुए अधिक समय नष्ट नहीं करना पड़ेगा। दूसरा कारण यह है कि यह रचना मुझे पसंद है। मेरी अपेक्षाकृत कम खराब रचनाओं में से है। तीसरी बात यह है कि अनजाने ही सहज उक्तियों के सहारे सीधी-सादी भाषा में एक मध्यमवर्गीय व्यक्ति का इसमें जो चरित्र उभरता है वह दिखावट, दम्भ, अपने को अनावश्यक रूप से चतुर मानने की प्रवृत्ति और जीवन की छोटी-छोटी झुंझलाहटों को फुलाकर शहीद बनने की टिपिकल स्थिति है जो मध्यवर्गीय चरित्र की अपनी विशेषता है। यह भी लक्ष्य किए जाने योग्य है कि यह रचना भारत में बाजारवाद के विकास के बहुत पहले की है और मध्यवर्गीय चरित्र के प्रति जो संकेत दिए गए हैं वही आज अपने विराट स्वरूप में विकसित हो रहे हैं।

रचना का अंत एक स्वल्प बुद्धिजीवी की उस अपरिहार्य परिस्थिति से होता है जिसका कि नाम पागलपन है। फर्क यह है कि यहां हमारा मुख्य पात्र खुद पलायन नहीं करता बल्कि उस उत्सवभाव का आनंद उठाता है कि उसके दूसरे मित्र अगले दिन उसे अकेला छोड़कर पिकनिक पर जाने वाले हैं।

यह तो सरसरी तौर पर मेरी अपनी प्रतिक्रियाएं हैं। पाठक अगर चाहें तो इस रचना में इस तरह की कई और बहुत सी खूबियां खोज सकते हैं। और, अंत में यह निष्कर्ष तो स्पष्ट है ही कि इन सब छोटी-छोटी कृपाओं के लिए ईश्वर को धन्यवाद– गॉड मे बी थैंक फॉर स्माल मर्सीज़।

सवेरे नहा–धोकर मैंने लांड्री से धुलकर आई हुई कमीज और पतलून पहनने को निकाली और ताज्जुब के साथ देखा, उनका कोई भी बटन टूटा नहीं है। तभी एक कोने में रखे हुए जूतों पर निगाह पड़ी, पुरानी आदत के मुताबिक आज के दिन नौकर ने उन पर काली पॉलिश लालवाले ब्रुश से नहीं की थी। जूते पर सही ब्रुश का प्रयोग हुआ था। मन–ही–मन मैंने कहा, यह मेरे जीवन का एक सुखी दिन होगा।

कॉलेज जाने के लिए बस पर चढ़ा और एक रुपए का नोट कंडक्टर के हाथ में दे दिया। जितनी रेजगारी मिलनी थी, उसने वह पूरी–की–पूरी वापस कर दी। टिकट की पुश्त पर इकन्नी का प्रोनोट नहीं लिखा। सीट पर मेरी बगल में कोई महिला नहीं बैठी थी, इसलिए फिल्मी रोमांस की कमज़ोरी से फुर्सत पाकर मैं आराम से पैर फैलाकर बैठ गया। मेरे पड़ोस में एक साहब आज का अखबार पढ़ रहे थे। मुझे उसकी ओर ताकता हुआ पाकर उन्होंने ऊपरवाला पन्ना मेरी ओर बढ़ा दिया। अखबार में मैंने देखा, न उस दिन किसी विदेशी ने हिन्दुस्तान को तरक्की की सनद दी थी, न प्रधानमंत्री की कोई स्पीच ही आई थी। अब मैं इत्मीनान से बिना ऊबे हुए अखबार पढ़ने लगा।

रेलवे–क्रॉसिंग पर रेलवे के प्वाइंटमैन ने बस को आता हुआ देखकर भी फाटक खुला रहने दिया। बस बिना रुके हुए ऐसी आसानी से फाटक पार कर गई मानो ऐसा रोज ही हुआ करता हो। कॉलेज के पास बस के रुकते ही मैं बिना किसी को धकेले, बिना किसी के घुटनों से टकराए, बिना 'थैंक्यू' और 'सॉरी' कहे नीचे उतर आया। स्टैंड पर एक चाटवाला मुझे मिला तो जरूर, पर उसने न तो मेरी ओर देखा ही और न मुझे फुसलाने वाली आवाज़ में गरमागरम चाट की आवाज़ ही लगाई।

दिनभर कॉलेज में बड़ा सुख रहा। लड़कों को यूरोप–यात्रा पर एक सीधा–सादा लेख पढ़ाया। दूसरे दर्जे में सदाचार की महिमा समझाई। न तो उन्हें कोई प्रेम–गीत ही पढ़ाना पड़ा, न किसी हास्य–व्यंग्यपूर्ण उक्ति का अर्थ समझाना पड़ा। खाली घंटे में मेरी कोई भी छात्रा अपनी किसी भाव–प्रधान कहानी या कविता में संशोधन कराने नहीं आई। किसी चापलूस छात्रों ने मेरी किसी असफल रचना की प्रशंसा नहीं की। किसी लेक्चरार ने विद्यार्थियों के सामने मुझे 'अमां यार' कहकर नहीं पुकारा। मेरे एक प्रतिद्वंद्वी लेक्चरार के कमरे में कुछ विद्यार्थी क्रांति के नारे लगाते बाहर निकल आए। स्टाफ–रूम में प्रिंसिपल के बारे में खूब गंदे–गंदे किस्से, बिना अपनी ओर से कुछ कहे ही, फोकट

में सुनने को मिल गए।

शाम को घर वापस आने के पहले एक मित्र एक बड़े रेस्तरां में चाय पिलाने ले गए, पर बातें उन्होंने मुझे ही करने दीं। खुद ज्यादातर चुप रहे। रेस्तरां के सामने रिक्शेवाले को पैसे देने के लिए मैंने अपनी जेबें टटोलीं, मेरी जेब से दस रुपए का नोट निकला, पर मित्र की जेब से पहले ही एक अठन्नी निकल आई। रेस्तरां के भीतर भी मुझे कोई उलझन नहीं हुई। वेटर का हुलिया बड़े लंबे-चौड़े रोबदार बुजुर्ग का न था। वह दुबला-पतला था और नौसिखिया-सा दिखता था। पड़ोस की मेजों पर न कुछ मसखरे नौजवान थे, न फैशनेबल लड़कियां थीं, न हंसी के ठहाके थे, न कोई मुझे घूर रहा था, न कोई मेरे बारे में कानाफूसी कर रहा था। रेस्तरां में भीड़ न थी पर इतने लोग थे कि काउंटर के पीछे से मैनेजर सिर्फ हमीं को नहीं, औरों को भी देख रहा था। हमारे चलने के पहले पास की मेज पर दो गंभीर चेहरे वाले आदमी आ गए और जब मैंने आपसी बातचीत में 'एक्ज़िस्टेंशिएलिज़्म' का अनावश्यक ज़िक्र किया, तब उन लोगों ने निगाह उठाकर मेरी ओर देखा था। रेस्तरां के बाहर आने पर मेरा एक परिचित बीमा-एजेंट सड़क के दूसरी ओर जाता हुआ दीख पड़ा, पर उसने मुझे देखा नहीं। इसके बाद अचानक ही मुझे तीन परिचित आदमी मिल गए। उन्होंने नमस्कार किया और उसका जवाब पाया। मेरे मित्र को कोई परिचित आदमी नहीं मिला।

घर वापस आकर मैंने श्रीमती जी से सिनेमा चलने का प्रस्ताव किया पर उन्होंने क्षमा मांगी और कहा कि उन्हें लेडीज़ क्लब जाना है। इसलिए मैं पूर्व निश्चय के अनुसार अपने एक मित्र के साथ सिनेमा देखने चला गया। सिनेमा का टिकट खिड़की पर ही मिला और असली कीमत पर मिला। पंखे के नीचे सीट मिल गई। सिनेमा शुरू होने के पहले साबुन, तेल और वनस्पति घी के विज्ञापनवाली फिल्में नहीं दिखाई गईं। पास की सीट से किसी ने सिगरेट के धुएं की फूंक मेरे मुंह पर नहीं मारी। पीछे बैठनेवालों में किसी ने अपने पैर मेरी सीट पर नहीं टेके। अंधेरे में किसी ने मेरा अंगूठा नहीं कुचला। हीरो की मुसीबत पर किसी पड़ोसी ने सिसकारी नहीं भरी। हिंदी की फ़िल्म थी, फिर भी वह अठारह रील पूरी करने के पहले ही खत्म हो गई। सिनेमा से बाहर आने पर कई रिक्शेवालों ने मिलकर मुझ पर हमला नहीं किया। रिक्शा करने पर मजबूर हुए बिना ही मैं पैदल वापस लौट आया। रात में सुनसान सड़क पर मेरे पैदल चलने पर भी कोई साइकिलवाला मुझसे नहीं टकराया, किसी मोटरवाले ने मुझे गाली नहीं दी, किसी पुलिसवाले ने मेरा चालान नहीं किया।

घर आकर खाना खाने बैठा तो उस वक़्त रुपए की कमी पर कोई घरेलू बातचीत नहीं हुई। नौकर पर गुस्सा नहीं आया। बातचीत के दौरान मैं श्रीमतीजी से साहित्य-चर्चा करता रहा, यानी अपने साथ के साहित्यकारों को कोसता रहा। वे दिलचस्पी से मेरी बातें सुनती रहीं और मेरे टुच्चेपन को नहीं भांप पाईं।

घर के चारों ओर शांति थी। किसी भी कमरे में बिना मतलब बल्ब नहीं जल रहा था, न बिना वजह किसी नल का पानी बह रहा था, न दरवाज़े पर कोई मेहमान पुकार रहा था, न रसोईघर में किसी प्लेट के टूटने की आवाज़ हो रही थी, न रेडियो पर कोई कवि सम्मेलन आ रहा था, न पड़ोस में लाउडस्पीकर लगाकर कीर्तन हो रहा था। और सबसे बड़ी बात यह कि कल आनेवाला दिन इतवार था, उस दिन मेरे सभी उत्साही मित्र शहर से कहीं दूर, पिकनिक पर चले जाने वाले थे।

बी-2251, इंदिरा नगर
लखनऊ-226016

हरिशंकर परसाई का साहित्य बड़ा विशाल है। उनके साहित्य का एक वृहत् भाग अनेक पत्रिकाओं में समय-समय पर किए गए स्तंभ-लेखन का है जिसमें स्थायी मूल्यवत्ता की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। परसाई जी में व्यंग्य-क्षमता के साथ ही सामाजिक चेतना और आधुनिकता का बोध बेहद शक्तिशाली था। यही कारण है कि उनके चिंतनपरक गंभीर लेखन में विषयबहुलता और सोद्देश्यता की दृष्टि से पर्याप्त प्रौढ़ता है। फंतासी, लोककथा, अन्योक्ति और अनेक शिल्पगत तंत्रों के प्रयोग से वे किसी भी कोण से पाठक की चेतना को झकझोर सकते हैं। उन्हीं के लेखन का कदाचित् यह फल है कि व्यंग्य छिटपुट वाग्विलास न रहकर हिंदी में एक सशक्त और नियमित लेखन-प्रक्रिया बन गया। उनके व्यंग्य में असंतोष का मुख्य आधार आज की राजनीतिक और सामाजिक मूल्यहीनता है जिसके प्रति उनकी दृष्टि एक ऐसे कलाकार की है जो विपन्नों, वंचितों और संघर्षशील वर्गों के प्रति स्पष्ट रूप से प्रतिबद्ध है। आधुनिक साहित्य में अगर हिंदी व्यंग्य की स्वतंत्र पहचान बनी है तो उसका अधिकांश श्रेय परसाई को ही है।

शरद जोशी का लेखन अत्यंत मोहक और वैविध्यपूर्ण है। उसमें हास्य-व्यंग्य की विभाजक सीमाएं क्षीण हो जाती हैं और दोनों तत्वों के मिश्रण का वहां बड़ा आकर्षक परिणाम प्रकट होता है। उनका भी अधिकांश लेखन पत्र-पत्रिकाओं के नियमित स्तंभों से जुड़ा रहा है। उन्होंने बोलचाल की जिस विशिष्ट शैली का प्रयोग किया है वह गंभीर चिंतन को भी हलके-फुलके ढंग से व्यक्त करने की क्षमता रखती है। शरद जोशी के लेखन की एक विशिष्टता यह भी है कि वे व्यंग्य और हास्य के चिरन्तन और शास्त्रीय अंतर को अपने सहज स्वभाव से मिटाते नज़र आते हैं। उनका परिहास-भाव व्यंग्य को कुंठित नहीं करता, वरन् बड़ी सहजतापूर्वक एक भयानक सामाजिक परिस्थिति से हमारा सीधा साक्षात्कार करता है। इस प्रकार जहां शरद जोशी ने एक ओर हास्य और व्यंग्य की रूढ़ सीमाओं को तोड़कर उन्हें नज़दीक लाने का असंभव कार्य किया, वहीं उन्होंने साहित्य की लिखित और वाचिक परंपरा को उसी तरह एकात्म बनाने की उपलब्धि अर्जित की जो शताब्दियों से कबीर, तुलसी, सूर आदि के साथ जुड़ी है।

रवीन्द्रनाथ त्यागी का हास्य-व्यंग्य-लेखन अपने ढंग का है। उस पर पूर्ववर्ती और समकालीन लेखकों का कोई स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित की और उसके आधार पर अपना लेखन-तंत्र विकसित किया है। उनकी कलात्मक अभिरुचियां परिष्कृत और साहित्य का अध्ययन. . . व्यंग्य सुशिक्षित प्रतिक्रिया की मांग करता है।

- श्रीलाल शुक्ल

रवीन्द्रनाथ त्यागी

राग दरबारी एक उत्कृष्ट कलाकृति

मैं उन बेवकूफों में से हूं जो राग दरबारी नाम की किताब की तारीफ उन दिनों भी करते थे जब कि उसे साहित्य अकादमी का पुरस्कार नहीं प्राप्त हुआ था। सारे प्रयाग में उपेंद्रनाथ अश्क और मैं-शायद दो ऐसे व्यक्ति थे जो हर नदी नाले पर इस किताब की तारीफ के पुल बांधते थे। हमारी इन हरकतों से कुछ लोग काफी दुखी थे। दूधनाथ सिंह को इस बात का बड़ा दुख था कि इतनी अच्छी किताब एक सरकारी अफसर क्यों लिख गया? एक और गुरू थे जो अपने शिष्य को अपने से आगे बढ़ता देख शोक की अग्नि में बड़ी शराफत और संयम के साथ जले जा रहे थे। काफी हाउस में एक समयसिद्ध लेखक पूछ रहे थे कि यह राग दरबारी क्या वस्तु है? जब उन्हें सूचना दी गई कि यह एक उपन्यास है जिसे श्रीलाल शुक्ल ने लिखा है तो वे पूछने लगे कि ये श्रीलाल शुक्ल कौन है? इसके बाद श्रीपतराय ने 'कथा' में इसकी काफी परिश्रम के साथ बुराई की और इसे भयंकर ऊब का महाग्रन्थ घोषित किया। सरकार का निकम्मापन देखिए कि इस सबके बावजूद इसे अकादमी पुरस्कार दे दिया गया।

राग दरबारी एक विचित्र प्रकार की पुस्तक है। यह उपन्यास भी है, कथा सरित्सागर भी है और अकबर बीरबल विनोद भी है। यह एक गांव की कथा है जिसके माध्यम से आप देश के बाकी हिस्सों का भी अंदाजा लगाते हैं। जैसा कि रूप्पन बाबू फरमाते हैं, सारे देश में यह शिवपालगंज ही तो फैला हुआ है।

एक महानगर के पास बसे इस गांव में आप रंगनाथ नाम के एक व्यक्ति के साथ प्रवेश करते हैं। रंगनाथ बुद्धिजीवी है। वह प्रत्येक पढ़े लिखे भारतीय की तरह अपने से असंबद्ध घटना को घटना ही की तरह देखता है और बाद में उसे भूल जाता है। उसकी बुद्धि उसे आत्मतोष देती है, बहस करने की तमीज सिखाती है, दूसरों को क्या करना चाहिये और क्या न करना चाहिए-इस पर भाषण कराती है और इस संदर्भ के मामले में उनकी अपनी क्या जिम्मेदारी है– इस बेहूदा विचार से उसको कोसों दूर रखती है।

गांव के नेता एक वैद्यजी हैं। वे पगड़ी बांधते हैं, मुंछें रखते हैं, भंग छानते हैं, पैसा गबन करते हैं, बोलचाल में शुद्ध शास्त्रीय हिन्दी का प्रयोग करते हैं और सारा काम करटक और दमनक की तरह नीति से करते हैं। वे किसी को नाखुश नहीं करते, किसी का अपमान नहीं करते, सारा काम कायदे कानून से करते हैं मगर कुछ इत्तेफाक ऐसा है कि जो कुछ करते हैं वह हरामीपन और कमीनगी से भरा होता है। वे आधुनिक नेतागीरी के साक्षात प्रतीक हैं। इसके बाद सिर्फ यह कहना बचता है कि खुदा हर जगह अपने गधों को जलेबियां खिला रहा है और हर एक शाख पर एक-न-एक उल्लू बैठा जरूर है। वैद्यजी के कारण वह सारी राजनीति उस गांव में खेली जा रही है जिसके कारण बड़े-बड़े निगम और आयोग उठते हैं और गिरते हैं। वही दांवपेंच और पैंतरेबाजी जो और जगह लोगों को मंत्री बनाती है वह यहां कच्चे माल के रूप में इफरात से फैली पड़ी है।

गांव की इसी राजनीति का चित्रण एक इंटर कॉलेज के माध्यम से करना इस पुस्तक की प्रमुख कथावस्तु है। मगर जरूरी चीज कथावस्तु नहीं है-लेखक के बड़े लक्ष्य के सामने वह गौण हो जाती है। अपने पात्रों के माध्यम से वह जिस तरह सारी स्थिति का पर्दाफाश करता है वह साहित्य में एक बड़ी उपलब्धि है।

कथावस्तु और लक्ष्य वगैरहा को छोड़ भी दें तो भी राग दरबारी अपने में एक उत्कृष्ट कृति है। वह हिन्दी हास्य-व्यंग्य का पहिला क्लासिक है। फसानए आजाद की तरह वह हर वाक्य में एक लतीफा छिपाए है, फर्क इतना है कि फसानए आजाद में हास्य ज्यादा है और राग दरबारी में व्यंग्य ज्यादा। जहां तक शिल्प और भाषा वगैरहा का प्रश्न है, यह काफी संयमित और सुगठित गद्य का नमूना पेश करती है। हिन्दी गद्य में इतना अनुशासन बहुत कम देखने को मिलता है। कितनी काट-छांट श्रीलाल ने की होगी– इसका अंदाजा लगाना कठिन है।

अगर किताब में कुछ कमियां न बताई गईं तो आप लोग मेरी नीयत पर शक करेंगे। किताब में कुछ खामियां भी हैं। पहिली बात तो यह कि पुस्तक एकदम निराशावादी है। सारे गांव में लंगड़ के अलावा कोई और ईमानदार इंसान नहीं है और लंगड़ जो है वह 'दो नगरों की कथा' में स्वेटर बुनने वाली स्त्री की तरह पार्श्व में हमेशा रोता ही रहता है। सब कुछ होने के बावजूद गांव में या शहर में शराफत बची ही न हो-यह कम से कम मैं नहीं मान सकता क्योंकि मैं खुद अपने को भी काफी शरीफ इंसान समझता हूं। प्रकाशचंद्रगुप्त ने एक बार मुझसे राग दरबारी की तुलना में मिसमेयो की मदर इंडिया का नाम लिया था जिसे गांधी जी ने ड्रेन इंसपेक्टर की रिपोर्ट करार किया था। दूसरी कमी है किताब में मलमूत्र का इतना ज्यादा प्रयोग। श्रीलाल ने इस दिशाकर्म में कुछ अति की है जिसके बारे में सुमित्रानन्दन पन्त भी एक दिन दबी जुबान में मुझसे कुछ कह रहे थे। किताब में हर पेज पर कहीं कोई तीतर लड़ाने की मुद्रा में बैठा है, कहीं कोई पतलून खोल कर पानी गिरा रहा है, या ठोस द्रव और गैस का उत्पादन कर रहा है। इस संदर्भ में श्रीलाल कहते हैं कि सच्चा हिन्दुस्तानी वही है जो कहीं भी पान खाने का इंतजाम कर ले और कहीं भी पेशाब करने की जगह ढूंढ़ ले। पुस्तक की तीसरी कमी है कि वह इन्टर कॉलेज के छोटे कैनवास पर जरूरत से ज्यादा घूमती है। दरबार का एक छोटा टुकड़ा ही किताब में पकड़ा गया, हालांकि उस पर ही पूरा राग बन गया। आखिरी कमी किताब की यह है कि हम लोगों के रहते श्रीलाल शुक्ल को इतनी अच्छी किताब लिखने का कोई हक नहीं था। एक बात शायद यह भी कहने लायक है कि राजनीति में दांवपेंचों की पकड़ में वे परसाई से पीछे पड़ते हैं।

अशोक त्यागी, 7908 डी.एल.एफ
फेज-4, गुड़गांव-122002

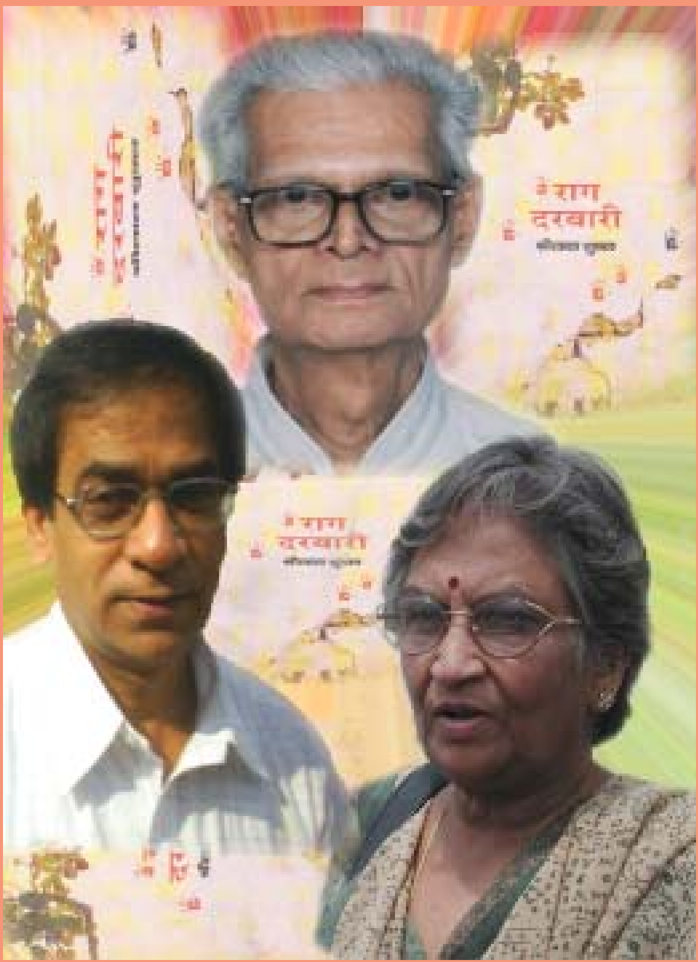

'राग दरबारी' का पुनर्पाठ

श्रीलाल जी पर केंद्रित 'व्यंग्य यात्रा' का अंक निकालने की जब ठानी, तो एक बार पुन: उनकी रचनाओं का पाठ आरंभ किया। सबसे पहले 'राग दरबारी' को हाथ में लिया। 'राग दरबारी' ने हिंदी साहित्य के बहुत बड़े पाठक वर्ग को प्रभावित किया है और आज भी यह कृति प्रभावित कर रही है। पक्ष-विपक्ष में जितना इस कृति के बारे में लिखा गया है उतना श्रीलाल जी की किसी अन्य कृति के बारे में नहीं लिखा गया। इस अंक के लिए भी अधिकांश लेख इस कृति के बारे में ही मिले।

'राग दरबारी' के २००७ के संस्करण में श्रीलाल जी ने प्रस्तावना में लिखा है- 'राग दरबारी' की प्रासंगिकता पर साक्षात्कारों में मुझसे बार-बार पूछा गया है। यह सही है कि गांवों की राजनीति का जो स्वरूप यहां चित्रित हुआ है, वह आज के राष्ट्रव्यापी और मुख्यत: मध्यम और उच्च वर्गों के भ्रष्टाचार और तिकड़म को देखते हुए बहुत अदना जान पड़ता है और लगता है कि लेखक अपनी शक्ति कुछ गंवारों के ऊपर जाया कर रहा है। पर जैसे-जैसे उच्चस्तरीय वर्ग में गबन, धोखाधड़ी, भ्रष्टाचार और वंशवाद अपनी जड़ें मजबूत करता जाता है, वैसे-वैसे आज से चालीस वर्ष पहले का यह उपन्यास और ज्यादा प्रासंगिक होता जा रहा है।' कैसे और क्यों प्रासंगिक हो रहा है इसकी पड़ताल आवश्यक है और आवश्यकता है इस कृति के पुनर्पाठ की। आदरणीय नित्यानंद तिवारी ने इसके क्राफ्ट आदि को लेकर अनेक प्रश्नचिह्न लगाए थे और इसकी विषय वस्तु को घटनाओं का जंजाल तक कह डाला था। नित्यानंद जी सही अर्थों में प्रगतिशील दृष्टि के आलोचक हैं। मेरा संपादकीय मन उनसे इस विषय पर लिखवाने की निरंतर चुनौती दे रहा था। यह नित्यानंद तिवारी का बड़प्पन है कि मेरे बार-बार के अनुरोध को उन्होंने स्वीकार किया और यह कहते हुए कि आपने मुझसे लिखवा ही लिया, आलेख लिख दिया। मुझे नहीं लगता है कि 'राग दरबारी' को किसी आलोचक ने इस दृष्टि से देखा है।

आदरणीया प्रो. निर्मला जैन ने सदा मेरे अनुरोध की रक्षा की है। अपने छात्रों को कुछ सक्रिय एवं सार्थक करता देख उन्हें अच्छा लगता है और सहयोग के लिए वे निरंतर तैयार रहती हैं। वे श्रीलाल जी पर पहले भी लिख चुकी हैं, ऐसे में 'महान' आलोचकीय अंदाज में कह सकती थीं कि उसी में से कुछ ले लो। पर उन्होंने परिश्रम से, 'राग दरबारी' की इक्कीसवीं सदी में प्रासंगिकता, पर अपने बेबाक विचार प्रकट किए हैं। उनका यह कथन सोचने को बाध्य करता है- 'अगर शुक्ल जी एक और 'राग दरबारी' लिखते तो क्या उन्हें 'पलायन-संगीत' लिखने की जरूरत महसूस होती? यथार्थ तो अब रंगनाथ का पीछा नहीं कर रहा। वह तो रंगनाथ के सामने खड़ा है।'

प्रिय मित्र डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी 'व्यंग्य यात्रा' के जन्म से ही उसे अपना सशक्त हाथ देने के लिए सदा तत्पर रहे हैं। श्रीलाल जी पर अंक निकालने की योजना मैंने जब उनके सामने रखी तो उन्होंने तत्काल ही, मेरे औपचारिक निमंत्रण की प्रतीक्षा किए बिना बता दिया कि वे क्या लिखेंगे। क्या लिखेंगे को जब वे स्पष्ट कर रहे थे तो लग रहा था कि जैसे वे कब से इस विषय पर लिखना चाह रहे थे। एक लेखक के रूप में ज्ञान ने अंतत: अपनी जेनुइन, अभिलाषा को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है- मेरी अपनी राय, शिकायत तथा अभिलाषा बस एक ही रही कि श्रीलाल जी ने ऐसे ही और भी उपन्यास क्यों नहीं लिखे? वे अपने सर्वश्रेष्ठ काम से विमुख होकर वैसे उपन्यास या कहानियां क्यों लिखते रह गए जैसे उनसे कम प्रतिभाशाली भी लिख चुके हैं या लिख रहे हैं? काश कि श्रीलाल शुक्ल ने स्वयं ही 'राग दरबारी' की परंपरा के कुछ और उपन्यास लिख दिए होते। फिर वे उन्हें व्यंग्य उपन्यास कहते, न कहते, यह उनकी मर्जी थी।'

–संपादक

नित्यानंद तिवारी

'राग दरबारी' को नए टेक्स्ट की तरह देखना पड़ेगा

लगभग तीस वर्ष पहले मैंने 'राग दरबारी' का एक विश्लेषण किया था। मेरे विश्लेषण का तौर-तरीका यथार्थवादी ढांचे के भीतर था। उसमें भाषा और वास्तविकता के बीच संबंध होता है। व्यंग्य वास्तविकता के विद्रूप को उभारने वाली एक शैलीगत विशेषता है। तब मैंने पाया था कि 'व्यंग्य' का अतिरंजित उपयोग इस उपन्यास को वास्तविकता से अलग एक स्वाद-रुचि देता है। लेकिन अब मैं 'राग दरबारी' के साक्ष्य पर ही कह सकता हूं कि ये जो व्यंग्य है वह विद्रूप से अधिक 'रियलिटी' और 'वर्चुअल रियलिटी' का फर्क सामने ले आता है। उपन्यास के आठवें खंड में लिखा गया है कि शिवपालगंज में एकाएक लेक्चरों का मौसम आ गया है। लेक्चर बहुत ज्यादा होते हैं और उससे लोगों का मनोरंजन होता है। 'कभी- कभी लगता था कि यह आदमी अपने कथन के प्रति सचमुच ईमानदार है। ऐसा संदेह होते ही लेक्चर गाढ़ा और फीका बन जाता था और उसका असर श्रोताओं के हाजमे के खिलाफ पड़ता था।' (उदाहरण के लिए 'मैला आंचल' में जब नेता भाषण देता है कि 'जमीन उसकी जो उसे जोते' तो श्रोताओं को लेक्चर और वास्तविकता के बीच संबंध और रुचि पैदा होती है। शब्द लेक्चर और वास्तविकता के बीच संबंध धीरे-धीरे छिटकते लेकिन 'प्रभावी' होते चले गए और एक प्रतिवास्तविकता उभरती चली गई। यह यथार्थवादी विमर्श से आगे की घटना है। 'राग दरबारी' का व्यंग्य और उसमें निहित अतिरंजना, 'रियलिटी' और 'वर्चुअल रियलिटी' का फर्क सामने लाता है। पूरे के पूरे 'राग दरबारी' में यह जो कहने का नैरेटिव पैटर्न है, खाली व्यंग्य से पूरा नहीं पड़ता है। साठ-पैंसठ के बाद जो हमारी राजनीतिक स्थितियां हैं उनमें नेताओं के भाषण वास्तविक संदर्भों से छिटके हैं। टेक्स्ट और उसकी भाषा यदि संदर्भों से छिटकती है तो ये साफ हो जाता है कि यह निर्मिति नई है। इसलिए मुझे लगता है कि यथार्थवादी ढांचा 'राग दरबारी' के मूल्यांकन में पर्याप्त नहीं। इसके लिए मैं फिर 'राग दरबारी' और 'मैला आंचल' की तुलना करना चाहता हूं। 'मैला आंचल' में बावनदास जो है वो गांधीवादी,आदर्शवादी ढांचे में है। यह प्रेमचंद का यथार्थ हो सकता था, लेकिन जब रेणु लिखते हैं (तो लिखते वे भी यथार्थवादी ढांचे में हैं) तो बावनदास रिडिक्यूलस हो जाता है, पराजित होता है। 'मैला आंचल' में जिस तरह गांधीवाद रिडिक्यूलस होता है, उसी तरह 'राग दरबारी' में यथार्थवादी चरित्र रिडिक्यूलस हो सकता है। जैसे गंवई रिक्शेवाला है, उसे रिडिक्यूल करता है शहरी रिक्शेवाला। यह फर्क मुझे दिखाई देता है। सब जानते हैं जीवन ऐसे तथ्यों से घिरा हुआ है। जो समाजिक, न्यायिक, प्रशासनिक और तमाम व्यवस्थागत प्रतिमानों या किसी मानवीय धारणा से भावित या योग्य हुए बिना ताकतवर बन गए हैं। ताकत के इस नए विकसित तथ्य में एक छिपा हुआ पक्ष-प्रतिपक्ष है- जो मानवीय-अमानवीय या सही-गलत के बीच का नहीं है- वह ताकत और ताकत के बीच का है। वही सर्वाधिक प्रभावी और व्यावहारिक है। सिर्फ साहित्यिक पाठ है जो इस छिपे जाल को उघाड़ता है- बाकी संस्थाएं उदासीन, अयोग्य या क्षीण प्रभावी हो चुकी हैं। 'राग दरबारी' का व्यंग्य और अतिरंजनाएं इसी अर्थ में अब सिर्फ शैली भर न होकर निरूपण की पद्धति जैसा काम करती हैं। ऐसी स्थिति में 'राग दरबारी' पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। उसे परखने के भिन्न तौर-तरीके हो सकते हैं।

मैं 'राग दरबारी' के आठवें खंड के संदर्भ में कहना चाहता हूं कि इसमें विकास की चिंता है। सभी जो भाषण दिए जाते हैं उनमें शिवपालगंज के विकास की चिंता है। विकास किस चीज से हो रहा है- लेक्चर और विज्ञापन से। विकास की यह चिंता सरकारी दबाव या किसी अदृश्य दबाव के कारण है। इस चिंता में विकास और उसके प्रति जो सक्रियता है उसमें कोई संबंध नही है। ठीक उसी तरह जैसे विज्ञापन न केवल अतिरंजित होता है अपितु विज्ञापित वस्तु की वास्तविकता की पूरी जिम्मेदारी भी नहीं लेता है। यानी गैर जिम्मेदारी और अतिरंजना उभरी हुई है और ये तभी प्रभावी होती है जब समाज और राजनीति का अवमूल्यन होता है। तो समाज और राजनीति का अवमूल्यन करते हुए किसी अतिरिक्त को पाना, जैसे आज की एक शब्दावली है, टारगेट। कोई टेक्स्ट टारगेट करता है। टारगेट यानि लक्ष्य-क्षेत्र या निशाना। 'राग दरबारी' में भाषण के या विज्ञापनों के लक्ष्य-क्षेत्र या निशाना तो अलग है, टारगेट है पैसे की कमाई या फिर ताकत की कमाई। समाज और राजनीति तो एक बहाना है। इससे दफ्तरों में और ताकत के संस्थानों में एक संस्कृति पैदा होती है जिनका कोई संबंध उन बातों से नहीं होता जिनके लिए वे बने हैं। राजनीतिक संस्थान अथवा दूसरे संस्थान इसलिए बने हैं कि मनुष्य के लिए वे कुछ करें, लेकिन समाज और मनुष्य बीच में से अनुपस्थित है। ऐसे में विज्ञापन की, ताकत की, दफ्तर आदि की एक संस्कृति पैदा हो जाती है। तो बिना मनुष्य और समाज की चिंता के एक टारगेट साध लिया जाता है। यह एक नया यथार्थ है और इस यथार्थ को उभारने में यथार्थवादी ढांचा बहुत कारगर नहीं था, 'राग दरबारी' का ढांचा ज्यादा समर्थ है। 'राग दरबारी' के आठवें अध्याय के आरंभ मे ही जो बयान

आता है– 'शिवपालगंज गांव था, पर वह शहर से नज़दीक और सड़क के किनारे था। इसलिए बड़े–बड़े नेताओं और अफसरों को वहां तक आने में कोई सैद्धांतिक एतराज़ नहीं हो सकता था।' यहां पर कोई न कोई अफसर रहता था इसलिए खाने–पीने का भी सुभीता हो जाता था। चीको साहब की लड़की भी ब्याही हुई है। अफसर जो था वो बहुत तमीजदार था, सुसंस्कृत। यानी उसके यहां खाने में कोई परेशानी नहीं है, 'ईमानदारी' को कोई खतरा नहीं है। जबकि जो जनता थी उसकी धारणा थी कि अफसर बेईमान है। अफसर की तमीज जनविचार और समाज के अनुकूल नहीं है जबकि नेताओं को उसमें एक खास संस्कृति दिखाई पड़ती है। ऐसे में लगता है कि जनविचार और समाज से अलग संस्कृति का कोई स्रोत है, जो अफसर में प्रगट होता है। इससे ये भी प्रगट होता है कि जो जनविचार और समाज है नेताओं के भाषण और उनके टारगेट एरिया के लिए बाधारूप है और अफसर की तमीज, उसकी सुसंस्कृति उनके अनुकूल पड़ती है। ठीक उसी तरह से जैसे उदारीकरण की अर्थव्यवस्था वाली विचारधारा है उसमें राष्ट्र, राज्य, इतिहास और सामाजिक जिम्मेदारी ग्लोबल ग्रोथ के लिए बाधारूप मानी जाती है। बिना इतिहास के लोकल और ग्लोबल किसी एक टारगेट के लिए एक साथ हो जाते हैं और राज्य पीछे छूट जाता है। आप देख ही रहे हैं कि सारी दुनिया में ये हो रहा है। हम जानते हैं कि उदारीकण वाली व्यवस्था के लिए इलाके महत्वपूर्ण हैं राज्य महत्वपूर्ण नहीं है। जैसे बिना उत्पादन की प्रक्रिया से जुड़े मुनाफा कमाया जा सकता है, उसी तरह का ये एक कांस्ट्रक्ट है और आज इस कांस्ट्रक्ट को व्यक्त करने के लिए 'राग दरबारी' की जो भाषा–शैली है वो ज्यादा महत्वपूर्ण हो सकती है।

व्यंग्य में अतिरंजनाएं तो होती ही हैं, पर 'राग दरबारी' की जो भाषिक अतिरंजनाएं हैं वे एक कहानी कहती हैं और उसमें न जाने कितनी असंबद्ध चीजें किसी कनैक्शन से जुड़ी हुई हैं। इस बात को समझने के लिए मैं फिर 'मैला आंचल' का उदाहरण लेना चाहता हूं। अस्पताल जब बन रहा है, गांव के दोनों ग्रुपों में प्रतिस्पर्द्धा डाल दी जाती है। गांव वाले श्रमदान कर रहे हैं। मजदूर लोग कहते हैं कि हमारा आधे दिन का वेतन दे दिया जाए जिससे हमारा खाना–पीना भी चलता रहे और हम श्रमदान भी करते रहें। यह मांग तो जायज है। लेकिन सुमरितदास तहसीलदार को समझाता है कि इसमें कुछ 'कनक्सन' है, ये अपने आपसे नहीं कह रहे हैं, इन लोगों को तो बहकाया गया है। तहसीलदार का गुस्सा थोड़ा शांत हो जाता है। इसमें वास्तविकता वही है जो मजदूर कहते हैं– उनकी थोड़ी मजदूरी भी मिल जाए, वो श्रमदान भी कर ले और अस्पताल भी बन जाए। मजदूरों की मांग में और अस्पताल के बनने में संबंध है, वास्तविक संबंध है, लेकिन सुमरितदास जब 'कनक्सन' कहता है तो उसमें गांव का जातिवादी समीकरण डाल देता है, जो वास्तविक नहीं है लेकिन प्रभावी हो जाता है। ठीक इसी तरह से पूरे 'राग दरबारी' की अतिरंजना यही काम कर रही है कि जो वास्तविक नहीं है वो कैसे प्रभावी हो जाता है। इसका एक और उदाहरण है, जो मैं पहले भी दे चुका हूं। बिड़ला की फैक्टरियों में 1978–79 में हड़ताल हुई थी और बिड़ला ने गीता का संदर्भ देते हुए कहा कि हमारे लोग अपनी परंपरा को जानते ही नहीं हैं, हमारी परंपरा तो कर्मण्येवाधिकारस्ते की है, मा फलेषु कदाचन की है लेकिन अब तो लोग फल ही फल चाहते हैं। और उनके इस बयान के बाद, पता नहीं कैसे, वो हड़ताल टूट भी गई थी। अब आप देखिए गीता, परंपरा, हड़ताल, मजदूर, चालबाजी सब एक साथ जुड़े हुए हैं, जबकि गीता का चालबाजी से क्या मतलब है? गीता का हड़ताल से क्या मतलब है? गीता का मजदूर की मांगों से क्या मतलब है? लेकिन ये पूंजीपतियों के प्रतिनिधि बिड़ला ने इसे एक टेक्स्ट में बदल दिया और अपना टारगेट एरिया पा लिया। ये जो पैटर्न आया है इसमें वास्तविकता और प्रतिभासित वास्तविकता को समझना मुश्किल हो गया है। इसलिए 'राग दरबारी' की जो अतिरंजनाएं हैं तब व्यंग्यात्मक लगती थीं अब व्यंग्यात्मक से अधिक वास्तविक लगती हैं। ये अतिरंजनाएं इस अतिरिक्त को जैसे प्रकाशित करती हैं और वो बहुत प्रभावी लगता है।

मैंने आरंभ में कहा था कि 'राग दरबारी' के विश्लेषण के लिए जो मैंने आठवां खंड चुना है उसमें दो ही बातें प्रमुख हैं– विकास और विज्ञापन। विकास पर मैं चर्चा कर चुका। 'राग दरबारी' के आठवें खंड से विज्ञापन के संदर्भ में ये अंश देखिए– वैसे सबसे ज़्यादा ज़ोर–शोरवाले विज्ञापन, खेती के लिए नहीं, मलेरिया के बारे में थे। जगह–जगह मकानों की दीवारों पर गेरू से लिखा गया था कि' मलेरिया को खत्म करने में हमारी मदद करो, मच्छरों को समाप्त हो जाने दो।' यहां ये मानकर भी चला गया था कि किसान गाय–भैंस की तरह मच्छर भी पालने को उत्सुक हैं और उन्हें मारने के पहले किसानों का हृदय–परिवर्तन करना पड़ेगा। हृदय–परिवर्तन के लिए रौब की जरूरत है, रोब के लिए अंग्रेजी की जरूरत है– इस भारतीय तर्क–पद्धति के हिसाब से मच्छर मारने और मलेरिया–उन्मूलन में सहायता करने की सभी अपीलें प्रायः अंग्रेजी में लिखी गई थीं। इसलिए प्रायः सभी लोगों ने इनको कविता के रूप में नहीं चित्रकला के रूप में स्वीकार किया था और गेरू से दीवार रंगनेवालों को मनमानी अंग्रेजी लिखने की छूट दे दी थी। दीवारें रंगती जाती थीं, मच्छर मरते जाते थे।'

इसमें किस तरह से खूब सारी चीजें एक दूसरे से संबद्ध हैं, संबद्ध शब्द ठीक नहीं है, रेणु ने जिसे 'कनक्सन' कहा है वो ज्यादा सटीक है, तो इन सबका 'कनक्सन' देखिए– हृदय परिवर्तन का एक गांधीवादी कांसेप्ट है, अंग्रेजी और रोब का जो सामाजिक संदर्भ है, उस इलाके के निरक्षर गांव वालों के लिए अंग्रेजी मात्र चित्र हैं। गांव वालों के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग जो उनके लिए चित्र है। हमारी शिक्षा का माध्यम और हमारे बोलने के माध्यम में कितना फर्क है। ये सभी बातें एक दूसरे के 'कनक्सन' में दिखाई देती हैं। अब ये वाक्य देखिए– दीवारें रंगती जाती थीं और मच्छर मरते जाते थे। दीवारों के रंगने और मच्छर के मरने में कोई संबंध नहीं है लेकिन प्रशासनिक कार्रवाई का टारगेट एरिया पूरा हो रहा है। ये जो वर्णन

का पूरा पैटर्न है वो 'राग दरबारी' में आद्यंत विद्यमान है। इसलिए 'राग दरबारी' को एक नए टेक्स्ट की तरह हमको देखना पड़ेगा।

मैं पुनः 'मैला आंचल' के माध्यम से अपनी बात कहना चाहूंगा। 'मैला आंचल' में जो स्थानीयता है वो पिछड़े सामाजिक वर्ग को विकास की धारा में लाने के लिए चुना गया है। स्वाधीनता के बाद नेहरू ने दो कार्यक्रम चलाए- एक तो एस.सी., एस.टी. के आरक्षण का और दूसरे विकास की धारा से जो पिछड़े इलाके हैं वहां भारी उद्योग लगाने का। जो पिछड़ा समाज और पिछड़ा दुनिया कर रही है और इसका दोहन करना चाहती है। विकास की राष्ट्रीय धारणा या सामाजिक विकास की धारणा से वह जुड़ी हुई नहीं है बल्कि जो स्थानीयता है उसका कॉरपोरेट दुनिया में किस तरह उपयोग हो सकता है, इसके लिए इस्तेमाल की जाती है। इसलिए जैसे सिंगूर है या और तमाम जगह हैं, पिछड़े इलाके में उनका उपयोग उसी तरह हो रहा है जैसी हैवी इंडस्ट्री नेहरू ने लगाई थी? या इनके कॉरपोरेट निहितार्थ राष्ट्रीयता से अधिक और अलग हैं। सामाजिक विकास होता है या नहीं होता है इसमें दरबारी' में जो शिवपालगंज है वहां, अभी मैंने विज्ञापन का जो उदाहरण दिया, वो सिद्ध करता है कि विज्ञापन कितनी बड़ी शक्ति हो सकता है। वो सारी चीजें जो कॉरपोरेट जगत के हित में हों उसका वर्णन 'राग दरबारी' में है। अभी जो मैंने उदाहरण दिया, उसमें देखें कि अनेक तरह के विचारधारात्मक निरूपक उसमें हैं। 'राग दरबारी' का टेक्स्ट, चरित्र और परिस्थिति जो उपन्यास निर्माण में मुख्य भूमिका निभाते हैं, उनसे वो अलग होने लगता है। स्वतंत्र इस मायने में, जैसे आज भी हम किसी

राग दरबारी 'यथार्थवादी' रीडिंग की पद्धति को कहां-कहां और कितना डिसरप्ट करता है यह देखना हो तो राग दरबारी की वैसी रीडिंग करके देखें जैसी कि यथार्थवादी पद्धति मांग किया करती है। पढ़ते-पढ़ते पहले तो हम उस भाषा से परेशान होंगे जो बार-बार 'अश्लील' और 'जुगुप्सा' पैदा करने वाली लगेगी। यथार्थवादी रीडिंग शुरू कर पाएंगे तो बहुत जल्दी यथार्थ के समांतर प्रतीक ढूंढ़ेंगे। दबा दिये गये या दबाये जाने योग्य कर दिये गये, हाशिये पर धकेल दिये गए शिवपालगंजीय यथार्थ में हमें बार-बार विकास की व्यर्थता नजर आने लगेगी तो हम इसे कुल मिलाकर 'व्यंग्य' कह कर छुट्टी पा लेंगे। हम रंगनाथ और लंगड़ के पक्ष में यथार्थ पढ़ना चाहेंगे। हम कहेंगे कि देखिये सारा समाज बेईमान है। संघर्ष करने वाले दो हैं लंगड़ और रंगनाथ। लंगड़ मिसिल की नकल प्राप्त करने के लिये धर्मयुद्ध ठाने हैं और रंगनाथ खन्ना साहब के पक्ष में न्याय को झुकाना चाहता है। लंगड़ को नकल नहीं मिलती क्योंकि वह कायदे से नकल लेना चाहता है और दूसरी तरफ खन्ना साहब को जाना पड़ता है। अंत में रंगनाथ के न्यायबोध पर प्रिंसिपल टिप्पणी करता है: 'बाबू रंगनाथ! तुम्हारे विचार बहुत ऊंचे हैं पर कुल मिलाकर उससे यही साबित होता है कि तुम गधे हो।' (329-330)। व्यंजकों के लगातार 'रिवर्स' और उल्टी चाल को न समझ कर हम कहेंगे कि यथार्थ का ऐसा घनघोर चित्र लेखक ने प्रस्तुत किया, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि न्याय सर्वत्र पराजित होता है, अन्यायी विजयी होता है! ऐसा हम तब कहेंगे जब हम 'राग दरबारी' और उसके लेखक श्रीलाल शुक्ल के प्रति थोड़े 'टैक्टीकल' और 'सदय' होंगे। यदि हमने 'क्रिटिकल रीयलिज्म' से आगे 'समाजवादी यथार्थवाद' में छलांग लगायी (यों इन दिनों यह छलांग कम लगती दिखती है। यह तब ज्यादा चलन में थी जब समाजवाद था) तो हम कहेंगे: 'किंतु लेखक के पास देने को कोई दिश नहीं है। वह रास्ता नहीं दिखाता है। भ्रष्टाचार, अवसरवाद, दांवपेंचों के आगे साधारण मजदूर-किसान किस तरह संघर्ष करते हैं, यह प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिए यह एक 'प्रकृतवादी' किस्म का, अति यथार्थवादी किस्म का उपन्यास है। यह हमें आशा का संदेश नहीं देता। अंततः निराश-हताश करता है। इत्यादि-इत्यादि।

यथार्थवादी रीडिंग हमें अंततः यहीं ला सकती है कि हम हर बार 'टैक्स्ट' से ऐसी संजीवनी बूटी की तलाश करें जो सुंघाते ही हमें ठीक कर दे। 'आस्था' की, भविष्य की किरण की चाह इसीलिए है कि उक्त रीडिंग के पीछे विकास के मार्ग को 'समस्याहीन' ही मानकर चला जाता है। अगर राग दरबारी में लंगड़ अदालत के वकील का सर फोड़ देता, यदि खन्ना मास्टर प्रिंसिपल का 'भरत मिलाप' करा देते तो यह 'रीडिंग' एकदम प्रगतिशील हो सकती थी। राग दरबारी में यह किया जा सकता था लेकिन क्या वाकई? जी नहीं यह असंभव था। शिवपालगंज के सत्ता पाठ में ऐसे मैलोड्रामा की गुंजाइश शुरू से ही नहीं है इसीलिए राग दरबारी हमारी बुर्जुआ भावुकता की पैरोडी करता चलता है। पैरोडी मैलोड्रामा का खात्मा करती है। श्रीलाल को पढ़ने के बाद तमाम मैलोड्रामा मूर्खता नजर आते हैं।

– सुधीश पचौरी

इलाका है उसको राष्ट्र के विकास की मुख्य धारा में जोड़ने के लिए उसका स्वरूप निर्मित हुआ। आगे चलकर जो स्थानीयताएं हैं, अंचल के स्थान पर मैं स्थानीयता शब्द का प्रयोग करूंगा, उनका प्रयोग कौन कर रहा है। स्थानीयताओं का इस्तेमाल कॉरपोरेट उनकी विशेष रुचि नहीं है, वो बाई प्रोडेक्ट हो सकता है लेकिन टारगेट ऐरिया नहीं है। ऐसी हालत में जो कॉरपोरेट हित है, उनमें स्थानीयता का उपयोग कैसे किया जा सकता है ये अधिक महत्वपूर्ण हो गया है। 'मैला आंचल' तो उसको नहीं लेता लेकिन 'राग सरकार से ये उम्मीद नहीं कर सकते कि वह जनता या गरीब लोगों की जिम्मेदारी नहीं लेगी। भले वो जिम्मेदारी को न निभाए पर उसमें ये साहस नहीं कि वह कहे कि जिम्मेदारी नहीं लेती, लेकिन जो कॉरपोरेट ताकतें हैं वो ये जिम्मेदारी लेने के लिए

तैयार नहीं है। 'राग दरबारी' में ऐसा पैटर्न है जो दिखाता है कि ऐसी ताकतें विकसित हो रही हैं जो जनता और समाज की जिम्मेदारी लिए बगैर ताकत हासिल कर सकती हैं और इसके साथ-साथ वो एक नई संस्कृति का विकास भी कर सकती हैं। जनता और समाज की जिम्मेदारी लिए बगैर कोई संस्कृति उत्पन्न हो जाए, ये तो अभूतपूर्व है।

ये किसका कथन है मुझे याद नहीं आ रहा है- पर्सनल इज़ पोलिटिकल। क्या राजनीति कभी समाज की चिंता के बगैर बनी है? नहीं बनी। पर अब बिना सामाजिक हुए आदमी पोलिटिकल हो सकता है। जो निजी है, ग्लोबल है वो पोलिटिकल हो जाएगा। निजी को मैं स्पष्ट कर दूं, निजी से मेरा अर्थ निहितार्थ है। निहितार्थ की रक्षा करना पोलिटिकल है और समाज की जिम्मेदारी लेना पोलिटिकल नहीं रह गया है। इस तरह के जो कांस्ट्रक्ट्स हमें दिखाई पड़ते हैं वो 'राग दरबारी' में मिलने लगते हैं और इस दृष्टि से वो महत्वपूर्ण है। आठवें खंड के इस अंश को देखिए- 'वहां के छोटे-मोटे अफसरों में कोई-न कोई ऐसा निकल ही आता था जिसके ठाठ-बाट देखकर वहां वाले उसे परले सिरे का बेईमान समझते, पर जिसे देखकर ये बाहरी लोग आपस में कहते, कितना तमीजदार है। बहुत बड़े खानदान का लड़का है। देखो न, इसे चीको साहब की लड़की ब्याही है। इसलिए भूख लगने पर अपनी ईमानदारी को खतरे में डाले बिना वे लोग वहां खाना भी खा सकते थे। कारण जो भी रहा हो, उस मौसम में शिवपालगंज में जननायकों और जनसेवकों का आना-जाना ज़ोर से शुरू हुआ था। उन सबको शिवपालगंज के विकास की चिंता थी और नतीजा यह होता था कि वे लेक्चर देते थे।'

अब आप ये देखिए कि श्रीलाल जी कहते हैं कि कारण चाहे जो कुछ हो लेकिन नेता लोग आते थे और लेक्चर देते थे। अब या तो चुनाव आसन्न हो या फिर कोई मौसमी फौरी उकसाव हो जिससे शिवपालगंज के विकास का मुद्दा बना था, अपने वास्तविक कारणों से नहीं बना था। यहां कारण के प्रति उदासीनता है। विकास किन कारणों से होना चाहिए, वो हैं ही नहीं और इसलिए सही कार्यक्रम न होकर लेक्चर दिए जाते हैं। इसलिए गहराई से अपरिचय है, तात्कालिक निहितार्थ है, कार्य की जगह शब्द हैं। स्वाधीनता के बाद यह विकास की कहानी है। यह कहानी नेहरू के समय में आरंभ हुई थी और उनकी मृत्यु के बाद तेजी से उभरने लगी थी। विकास की इस कहानी की पहचान हमको 'राग दरबारी' में मिलती है। जैसे ही हम इस कहानी को पहचान लेते हैं, वैसे ही लगने लगता है कि लैक्चर नशे की खुराक में बदल जाता है। कार्यक्रम विज्ञापन में तब्दील हो जाते हैं। और उसकी विज्ञापनी तस्वीरें दिखाई जाने लगती हैं। इस तरह से हम देखते हैं कि नेहरू की मृत्यु के बाद भारतीय समाज, राजनीति, प्रशासन आदि की कहानी जो विकसित हुई है, उसका पूरा रूपक ये उपन्यास देता है और इस मायने में मैंने जो पहले विश्लेषण किया था, उससे अलग विश्लेषण की मांग करता है।

लेखक जो होता है वो अनजाने स्रोतों से वास्तविकता को सोख लेता है। श्रीलाल जी ने भी उन स्रोतों से वास्तविकता को सोख लिया है और इस मायने में लगता है कि 'राग दरबारी', 'मैला आंचल' से, कथा कहने का भिन्न परिदृश्य और योग्यता लेकर सामने आता है। ये बहुत बड़ी बात है और प्रेम जी आपके उकसाने से मैंने 'राग दरबारी' के बारे में यह बात सोची, वरना तो मैंने छोड़ ही दिया था।

मैं व्यंग्य या अतिरंजना को यथार्थ उभारने का एक 'टूल' नहीं मानता हूं बल्कि ये एक ऐसा मॉडल है जो पूरे के पूरे इस दौर को और आज तक के इस दौर को परिभाषित कर सकता है।

मैं एक बात के लिए और सचेत करना चाहता हूं कि बहुत से लोग इसे पोस्ट मार्डन टेक्स्ट मानकर ये कह सकते हैं कि 'राग दरबारी' के टेक्स्ट में शब्द और अर्थ की स्वायत्ता है। जब भाषा और उसके कांस्ट्रक्ट स्वायत्ता पा लेते हैं तब उसकी चेतनाओं से उनका अलगाव होता है और पूरा टेक्स्ट अपने आप में स्वायत्त और स्वतंत्र हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहूं कि लेखक और पाठक, दोनों की जो ऐतिहासिक दुनिया है उससे टेक्स्ट अलग होता है। ये पोस्ट माडर्न टेक्स्ट की एक धारणा है। मैं कहना ये चाहता हूं कि 'राग दरबारी' का टेक्स्ट इतना स्वतंत्र और स्वाधीन नहीं है। उसके सारे पैटर्न ऐतिहासिक स्तर पर हमारी सारी सामाजिक गतिविधियां क्वालीफाई होता है। 'राग दरबारी' का टेक्स्ट अपनी आंतरिक दुनिया में कैद नहीं है। वह बाहर का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक संदर्भ है, जिसको बाहरी एक्सप्लनेशन कहते हैं, टेक्स्ट बाहर की सामाजिक, आर्थिक स्थिति आदि जो है, उससे टूटा हुआ नहीं है, एकदम अलग नहीं है कि उसे हम पोस्ट मार्डन टेक्स्ट कह दें। मैं यह मानता हूं कि जो साहित्यिक संरचनाएं होती हैं, समाज में अपने कार्यफलन के साथ परस्पर संबद्ध होती हैं। 'राग दरबारी' में जो उपन्यास का पाठ है, वो अपनी ताकत उन्हीं ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक संदर्भों से पाता है जिनको पोस्ट माडर्निस्ट कहते हैं कि वह इनसे अलग है। एक फ्रेंच सोसियालिजिस्ट हैं, पॉल रोजोनिव हैं, पोस्ट माडर्निस्ट हैं, का कहना है कि पोस्ट माडर्निस्ट एटीट्यूड समाज में लोगों को अनिश्चय के साथ कम्फर्टेबल बनाते हैं। इसका मतलब ये है कि कुछ ऐसी ताकतें हैं जो मौके के मुताबिक फिसलनें पैदा करती रहें। जैसी तमाम फिसलनें आजकल पैदा हो रही हैं। उन फिसलनों के प्रति आप कम्फर्टेबल रहें कि ये तो होता ही रहता है। आप उनसे लड़ाई न कीजिए, उनके सामने दूसरा ढांचा न रखिए, आप इन फिसलनों में जीना सीखिए। 'राग दरबारी' का जो टेक्स्ट है, वो हमें वहां नहीं ले जाता है, वो हमें कहीं न कहीं संकेत देता है मोर्चों का। फिसलनों के प्रति हम कम्फर्टेबल होकर जीएं- ये 'राग दरबारी' का संदेश नहीं है।

पोस्ट माडर्निस्ट तरीकों का लेखक जाने अनजाने प्रयोग तो करता है पर जो पोस्ट माडर्निस्ट टारगेट हैं, उस टारगेट को वो मोरचे में बदलता है। इस उपन्यास में, मनुष्य के लिए न्याय के मोरचे खुलने चाहिए, ये संकेत मिलता है।

सी-1 न्यू मुलतान नगर, दिल्ली- 110056

निर्मला जैन

इक्कीसवीं सदी में 'राग दरबारी'

'राग दरबारी' के प्रकाशन का इकतालीसवां वर्ष चल रहा है। प्रकाशन के अगले ही वर्ष इस पर साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला। तब से अब तक इसके दर्जनों संस्करण और पुनर्मुद्रण हो जाना, उपन्यास की पठनीयता का प्रमाण है। प्रकाशन होते ही जिन सुविज्ञात समीक्षक ने 'अपठित रह जाने को ही इसकी नियति' घोषित कर दिया था, उनकी भविष्यवाणी को झुठलाते हुए यह नयी सज-धज के साथ सिर उठाए फिर खड़ा हो गया। जोकि यह तथ्य गौरतलब है कि प्रकाशक ने पहले संस्करण (1968) के बाद सीधे ग्यारहवें संस्करण (1992), उसके बाद नौवीं आवृत्ति (2004) और फिर बारहवें संस्करण (2007) का ब्योरा यथास्थान छापा है। साफ नहीं होता कि ग्यारहवें संस्करण के बाद उलटी गिनती क्यों शुरू हो गयी? यह 'नौवीं आवृत्ति' क्या बला है? 'आवृत्ति' और 'संस्करण' में क्या फर्क है? जरूर यह प्रकाशन व्यवसाय का कुछ ऐसा गोरखधंधा होगा जिसे गर चाहें तो आज के कोई 'रंगनाथ' अपने शोध का विषय बना लें। क्योंकि शोध के विषयों पर भी अब कोई रोक-टोक नहीं, कोई नियंत्रण नहीं। मुक्त बाजार में सब मुक्त है। सर्व तंत्र स्वंतत्र।

'राग दरबारी' के रचनाकाल से चालीस वर्षों के बीच यथार्थ का चेहरा, इतना बदल गया है कि बकौल शुक्ल जी अब 'छोटी-छोटी चिकोटी कारगर नहीं होगी।' कुछ वर्ष पहले अखिलेश से अपनी एक बातचीत में उन्होंने कहा था– 'जब तक समाज के प्रति आपकी व्यापक प्रतिक्रिया न हो, इन छोटी रचनाओं के माध्यम से, चिकोटी काटने से कोई खास बात नहीं बनती। व्यंग्य लिखना है तो छोटी-छोटी चिकोटी कारगर नहीं होगी और इस स्थिति में 'राग दरबारी' की अवधारणा हुई।'

क्या यह महज संयोग है कि श्रीलाल जी ने 'राग दरबारी' के बाद बड़ी चिकोटी काटनी बंद कर दी? क्या 40-50 साल की उम्र के बाद ऐसी चिकोटी काटने की ताब, नहीं रहती? धैर्य चुक जाता है? या जरूरत महसूस नहीं होती? नहीं ऐसा कुछ नहीं होता। कलम के धनी श्रीलाल जी के संदर्भ में तो बिल्कुल नहीं। पर जिस बारीक चिमटी से वे यथार्थ के भीतर की विडम्बनाओं, विद्रूपों को पकड़ते हैं, दरअसल कागज पर उतारने से पहले ही अब वे 'वही नहीं रहते, कुछ का कुछ हो जाते हैं– 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश'– 'प्रकृति' नहीं 'संस्कृति'। इसलिए अब 'संस्कृति' नहीं 'अप-संस्कृति', चिंता (या चिंतन) के केन्द्र में है। 'रंगनाथ' अब खद्दर नहीं जीन्स पहनते हैं। सड़क के किनारे खड़े होकर अब वे किसी ट्रक वाले से बिनती की मुद्रा में 'लिफ्ट' नहीं मांगते। मनचाही दिशा की तरफ अंगूठा दिखाकर साधिकार 'हिच हाइक' करते हैं। हो सकता है उनके कंधे पर एक अदद झोला हो– गांधीवादी नहीं क्रांतिकारी तर्ज का। यह भी मुमकिन है कि दूसरे हाथ से वे कान में मोबाइल लगाए किसी से बोल बतिया रहे हों। खुदा न खास्ता अगर ट्रक वाले ने लिफ्ट न दी, तो रंगनाथ जी की वाचिक प्रतिक्रिया में किस फिल्म के किस डॉयलाग का उपयोग किया जायगा, इसके लिए श्रीलाल जी को नए सिरे से जानकारी बढ़ानी होगी।

बारीकियों में जाने की उनकी क्षमता अद्‌भुत है। 'राग दरबारी' के एक प्रसंग में उन्होंने अलग-अलग वर्गों की 'हंसी' और 'ठहाकों' के अंतर का दिलचस्प ब्यौरा प्रस्तुत किया है। पर इधर ठहाकों की किस्म में भी इजाफा हो गया है। यह किस्म रोज गांव से शहर तक हर घर के किसी कमरे में दूरदर्शन के पर्दे पर सुनायी पड़ती है– बात पर ठहाका, बेबात पर ठहाका, मुंह फाड़कर ठहाका, आंख मिचमिचाकर ठहाका, उछल-कूद कर ठहाका, लोट-पोट कर ठहाका, खीसें निपोर कर ठहाका, आवाज के साथ शारीरिक मुद्राओं से ठहाका, ठहाका नवजोत सिद्धू ब्रांड, ठहाका शेखर सुमन ब्रांड, वगैरह, वगैरह। काश शुक्ल जी एक बार फिर इन रंगारंग ठहाकों पर चिकोटी काटते।

महज व्यंग्य नहीं है 'राग दरबारी'। उसे वैसा कहना या उस रूप में समझना (या न समझना) उसे कमतर करके देखना है। तथाकथित व्यंग्य तो उस कारुणिक विद्रूप को उजागर करने की, ग्राह्य और सह्य बनाने की भगिंमा भर है। ट्रैजिक का कॉमिक परिधान–एक जीवंत रूपक जो बाहर हाथ सहार दे, भीतर मारे चोट। याद नहीं आता कि कोई पूरा-का-पूरा उपन्यास, वह भी दीर्घाकार, इस शैली में लिखा गया हो। अवधी से खाड़ी बोली तक, लोकोक्तियों-मुहावरों से गालियों तक, गंवई घरेलू बोली से बाजार, और शासन-प्रशासन तक, भाषा का विस्तार तो है ही, एकरेखीय भाषा में उन्होंने ऐसी अर्थगर्भिता पैदा कर दी है जो बिना दिक्कत भीतर तक उतर जाती है। 'आज का दिन अड़तालीस घंटे का है', या 'और तुम हम पर गांधीगीरी ठांस रहे हो', जैसे वाक्य किसी व्याख्या की दरकार नहीं रखते। जिस 'गांधीगीरी' को 'लगे रहो मुन्ना भाई' जैसी फिल्म ने नए सिरे से जनता की जबान पर चढ़ाया उसे यह अर्थव्यंजना शुक्ल जी चालीस साल पहले दे चुके थे। एक मायने में 'राग दरबारी', स्वाधीनता के बाद एक 'नए भारत' की उम्मीद के नाउम्मीदी में बदलने का वृहदाख्यान है। यह ग्राम कथा भर नहीं है। भारत की अधिकांश आबादी तब भी, और अब भी गांवों में बसती है– 'अहा ग्राम जीवन भी क्या है' के रोमान के भंग हो जाने के बावजूद। पर ग्रामीण जीवन के यथार्थ को अब मीडिया ने घर-घर पहुंचा दिया है, सुना और दिखा दिया है। जो बच

रहता है, उसे भी पांचसाला चुनावों के दौरान, बहुसंख्यक चैनलों के रिपोर्टर और कैमरे, छोटे पर्दे पर ला खड़ा कर देते हैं। यथार्थ की परिवर्तनगामिता को कैमरे की जद में ले आने की घोर प्रतिस्पर्धा मची है। सबके निशाने पर बाजार है। वहां नाम भी है और नांवा भी। दोनों चक्रायमाण हैं। आप नाम से नांवा पैदा कर सकते हैं और नांवे के बल पर नाम कमा सकते हैं। जरूरत पड़ने पर मुंह पर लगी कालिख धो सकते हैं।

अगर शुक्ल जी एक और 'राग दरबारी' लिखते तो क्या उन्हें 'पलायन-संगीत' लिखने की जरूरत महसूस होती? यथार्थ तो अब रंगनाथ का पीछा नहीं कर रहा। वह तो रंगनाथ के सामने खड़ा है। कीचड़ से बचने के लिए न कोई जगह छोड़ने की जरूरत है, न उसे देखने के लिए कहीं जाने की। कीचड़ ने तो साम्राज्य-विस्तार कर लिया है। अब देहात के महासागर में धंसने के लिए शहर छोड़ना भी जरूरी नहीं है। महासागर ने खुद आगे बढ़कर शहरों को अपनी गिरफ्त में ले लिया है। हर बड़े शहर में अगर फ्लाईओवर हैं, सब-वे हैं, सड़कें चौड़ी की जा रही हैं, और अब मेट्रो के जाल बिछाए जा रहे हैं, तो उनके 'लाल डोरे' की बस्तियां अपनी जगह हैं और झुग्गी, झोंपड़ियां अपनी जगह। हर अप-मार्केट कॉलोनी में रातभर आवारा कुत्ते भौंकते हैं। पालतू कुत्तों की कीमती नस्लें, अपने मालिकों के अंग्रेजी कमांड पर खुली सड़कों और दूसरों के घरों की अगल-बगल हाजत रफा करती नजर आती हैं।

लंगोटधारी पहलवानों के लिए अब शिवपालगंज जाने की जरूरत नहीं है। अगर पहलवानी के करतब की लालसा हो तो शहरों के अखाड़े फिर आबाद हो गए हैं। क्योंकि कुश्ती अब मार्केटेबल हो गई है। उसके बल पर अंतर्राष्ट्रीय ख्याति और अर्थोपार्जन की संभावनाएं पैदा हो चली हैं। वह अब गंवई लोगों का स्वास्थ्य बनाने-बढ़ाने का शौक भर नहीं रहा। एम.जी. रोड से गुड़गांव आते हुए आयानगर और गुड़गांव के संधिस्थल के बाएं हाथ पर वर्षों एक अखाड़े का बोर्ड लटका रहा। अहाता बहुत बड़ा नहीं है। उसके एक छोर पर एक कमरा बना है। भूले-भटके कभी उसके सूनेपन के बीच एकाध आकृति नजर आ जाती थी। लगता यही था कि बोर्ड को जगह पर कब्जा बनाए रखने की गरज से हटाया नहीं गया है। कुछ दिन पहले अचानक, अखाड़े की मिट्टी से शरीर को मलकर खम ठोंकते पहलवानों की टोली नजर आयी और फिर यह क्रम बना रहने लगा। आयानगर और उससे पहले घिटोरनी ग्राम क्षेत्र में दिल्ली शहर का बाजार प्रवेश कर चुका था और आयानगर नाम के गांव ने गुड़गांव के तथाकथित मिलेनियम सिटी में अपने कदम रख दिए थे।

यह स्थिति कमोबेश पूरे भारत की है। बाजार की संभावनाओं के हिसाब से ग्रामीण इलाकों का चेहरा-मोहरा ही नहीं, जीवन-शैली, मानसिक बनावट सबमें भारी परिवर्तन हुआ है। गांव-गांव में स्कूल खुल गए हैं। वहां अब बड़ी संख्या में बच्चे यूनिफॉर्म में स्कूल जाते नजर आते हैं। मिट्टी के खपरैल छाए घरों की जगह पक्के मकानों ने ले ली है। सबसे बड़ी बात यह कि पिछड़ी और दलित कही जाने वाली जातियों की स्थिति में बहुत सुधार हुआ है। उनमें आत्मविश्वास बढ़ा है।

आज के शिवपालगंज को अगर देखना हो तो, शायद शहर के आसपास नहीं बहुत दूर-दराज के किसी ऐसे शिवपालगंज की टोह लगानी होगी जहां आज भी सब कुछ जैसे-का-तैसा है। जहां आज भी वैद्यजी, प्रिंसिपल साहब, रुप्पन बाबू, खन्ना मास्टर, बद्री पहलवान, छोटे पहलवान, रामाधीन भीखमखेड़वी, सनीचर, लंगड़, रंगनाथ और गयादीन कमोवेश वैसा ही कुछ करते-धरते मिल जाएंगे जैसे 'राग दरबारी' के शिवपालगंज जैसे कस्बे में। न हाल में कोई बेहतरी होगी न करतब में। जिंदगी जैसे ठहर गयी हो या घिसट रही हो। पर ये पात्र सिर्फ कस्बाई पात्र नहीं खंड-खंड जिंदगी के वे हिस्से हैं जो कुल मिलाकर एक जीवन-शैली की रचना करते हैं। धूर्तता, पाखंड, कमीनगी, लाचारी, निरीहता, निर्ममता और मानवीयता के मूर्त रूप और इन सबको प्रतिफलित करने वाली संस्थाएं, सब मिलाकर एक ऐसा विभावन-व्यापार रचते हैं जिसे नाम-रूप से मुक्त कर कहीं भी खोजा जा सकता है। इस मायने में यह एक विराट रूपक है। भारतीय जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा आज भी इसकी गिरफ्त में है। ऊपर से वास्तविकता बहुत बदली है। वैसे ही जैसे सनीचर को अंडरवियर के ऊपर कोई सूट पहना दे, ग्रामसभा का प्रधान बनाने की गरज से। पर भीतर की नंगई तो वैसी-की-वैसी है। ऊपर की ओढ़न ने उसे कुछ और विडंबनापूर्ण और दारुण ही बनाया है। लंबे समय तक चुनाव तमंचे के जोर से ही जीते जाते रहे और पदों पर मां-बापों के बेटे-बेटियों की ही ताजपोशी होती रही। अदालतें वैसे ही गुमराह होती रहीं, दस्तावेजों की नकलों के लिए लंगड़ हर तहसील-दफ्तर में वैसे ही दौड़ते रहे– आज तक दौड़ रहे हैं। पर क्या इस वास्तविकता की तलाश में रंगनाथ को फिर से शिवपालगंज जाने की जरूरत है? इसके ग्रामीण-कस्बाई, शहरी, महानगरीय संस्करण तो चारों तरफ मौजूद हैं। हुआ सिर्फ यह है कि उन पर से पर्दा उठ गया है। एक विशेष दौर में जितनी मूल्य-चर्चा और चिंता रचनाकारों में दिखायी पड़ी थी, उसका धीरे-धीरे लोप हो गया है। 'राग दरबारी' में जिस सघन संवेदनशीलता से इस वस्तुस्थिति के बद्धमूल कारणों की पड़ताल की गई और जैसी तीखी और निर्मम आलोचना शुक्ल जी ने की थी, उसके बाद जैसे कुछ कहने को रहा नहीं, या कहना व्यर्थ होता गया। क्या यह आकस्मिक है कि श्रीलाल शुक्ल ने इतने विस्तार से शैली की अनोखी भंगिमा (वे व्यंग्य को 'भंगिमा' ही कहना पसंद करते हैं) वाला दूसरा उपन्यास नहीं लिखा। उन्होंने अपनी कलम का रुख बकौल नामवर सिंह 'अपराध कथाओं' की तरफ मोड़ दिया। आखिर यह भी तो सच है कि समय के साथ जिंदगी में आपराधिकता इस कदर बढ़ी है जैसे सब कुछ छोटे-बड़े बाहुबलियों के चलाए चल रहा हो। ऐसी वास्तविकता अब आलोचनाधर्मी व्यंग्य की चिकोटी की पहुंच से बाहर हो गई है। वैद्यजी के सपने में आने वाले जिस प्रजातंत्र ने घोषणा की थी कि 'मेरे कपड़े फट गये हैं, मैं नंगा हो रहा हूं'– उसकी नंगई को 'हुजूर सरकार' ने झिलमिल करती वेशभूषा में ढांप-तोपकर पूरे तामझाम से रिएलिटी शो में खड़ा कर दिया है। है कोई कलमवीर जो इस जादुई यथार्थ के भीतरी नंगेपन का पर्दा कुछ वैसे ही उठा सके– 21वीं सदी के अपने 'राग . . .' में?

'कोटर' 20/17 डी.एल.एफ. एन्क्लेव फेज-1
गुड़गांव-122002

ज्ञान चतुर्वेदी

एक महान उपन्यास का पक्ष और विपक्ष

यह उन दिनों की बात है जब मैं मेडिकल कॉलेज, रीवां का छात्र था और आज मैं उस उम्र में हूं जहां चार-पांच साल बाद वर्तमान नौकरी से रिटायर हो जाऊंगा। एक पूरी उम्र ही बीत गई मानो।

और उम्र के उस वक्फे से आज तक यदि किसी किताब को मैंने बार-बार पढ़ा-समझा है और वह किताब जिसने लगातार मेरा पीछा किया है या कहें कि मैंने जिसका पीछा किया है– तो वह 'राग दरबारी' है। यह किताब मुझे रीवां से सतना की बस में साथ-साथ यात्रा करते हुए मुझे मेरे अभिन्न मित्र और अतुल्य व्यंग्यकार अंजली चौहान ने दिखाते हुए कहा था कि ज्ञान तुम इसे पढ़ोगे तो सब भूल जाओगे। रास्तेभर वे इसमें से पढ़कर मुझे सुनाते रहे। उस दिन के बाद यह किताब लगातार मेरे साथ रही है– हरदम। मेरे पलंग के पास। और जब साथ न हो, तो मन में।

यह तो हुआ 'राग दरबारी' का एक पक्ष। कि यह किताब मेरे जैसे पाठक को लगातार 'हांट' करती है। लोग लौट-लौटकर इसे फिर-फिर पढ़ते रहे हैं परंतु उम्र बीतने के साथ इसका हर पाठ मुझे नई चुनौती पेश करता आया है। व्यंग्य के क्राफ्ट की जितनी समझ धीरे-धीरे मुझे आई, लेखन के सरोकारों से जितनी गहराई से मैं परिचित होता गया, आलोचना का जैसा जितना ज्ञान मैंने बटोरा और जीवन ने जितना मुझे सिखाया उस सबके आलोक में मैंने 'राग दरबारी' को पढ़ा है तो बहुत से ऐसे प्रश्न भी मन में उठे हैं जो निर्मम से हैं और उत्तर मांगते हैं। फिर यहां वहां भी बातचीत में या विभिन्न पत्रिकाओं में 'राग दरबारी' के विषय में कुछ ऐसी आरोपनुमा टिप्पणियां भर सुनी / पढ़ी कि मैं 'राग दरबारी' पर और तटस्थ रूप से विचार करने पर मजबूर हो गया। अन्यथा 'राग दरबारी' से मैं हमेशा ही भावनात्मक रूप से लगभग मोह की स्थिति में यूं जुड़ा रहा हूं जैसे कि वह श्रीलाल जी की किताब न होकर मेरी किताब रही हो। बहरहाल इसी तटस्थ चिंतन का नतीजा मेरा यह लेख है जिसमें मैंने समय-समय पर 'राग दरबारी' पर लगने वाले आरोपों का जिक्र किया है और अपनी तौर पर इन आरोपों की पड़ताल / विश्लेषण करके जवाब भी तलाशने की कोशिश की है।

सबसे पहले मुद्राराक्षस के उस चर्चित लेख की चर्चा कर ली जाए जो 'समकालीन साहित्य' में छपा था। इस बेहद आक्रामक लेख में, बेहद निर्ममता और कदाचित लगभग इकतरफा अंदाज में मुद्राजी ने 'राग दरबारी' को एक नए ही कोण से देखा था। 'कौन किस पर हंस रहा है?' शीर्षक से इस लेख में मुद्राजी ने यह स्थापित करने की कोशिश की थी कि श्रीलाल जी ने राग दरबारी में गांव की 'वेदनाओं का कार्टून' ही प्रस्तुत किया है और यह करते हुए वंचितों, पिछड़ों आदि का मखौल उड़ाने की कोशिश की है। मुद्राजी का मानना था कि यह 'शहरी दृष्टि' से देखा हुआ गांव है– एक शहरी लेखक जिसे सड़क किनारे शौच करने को मजबूर गांव की औरतें भी मजाक का विषय लगती हैं। शहराती संवेदनहीनता से देखोगे तो गांव के मेले-ठेले, बस-स्टैण्ड, बाजार और लोग ऐसे ही दिखेंगे। जब तक आप में वह संवेदना नहीं है जो यह पहिचाने कि गांव का आदमी भिनभिनाती मक्खियों से पगी मिठाइयां खाने का शौकीन है या मजबूर और उसकी किसी भी मूर्ति को पूजने या किसी भी अंधविश्वास को पूरे दिल से मानने के पीछे उसकी मूर्खता है या लंबा वंचित, सुविधाविहीन और तिरस्कारपूर्ण जीवन जीने से उपजी हताशा से बचाव का तरीका। तब तक आप इन बातों का मखौल ही उड़ा सकते हैं। ऐसा ही कुछ भाव मुद्राजी के लेख में था। मेरे पास मूल लेख की प्रति तो नहीं है, परंतु मुझे याद आता है कि भाव कुछ यही था। और मैंने इसे बेहद सकारात्मक अंदाज़ में ही लिया था कि 'राग दरबारी' को इस तरह भी क्यों नहीं देखा जा सकता? एक रोज यह भी हो तो सकता है। वैसे मुद्राजी उस लेख में श्रीलाल जी पर लगभग व्यक्तिगत तौर पर आक्रामक होते हुए उन्हें उखाड़ने की मुद्रा में लगे हुए दिखे और यह बात उस लेख में उठाये मुद्दों को पनीला (Dilute)करती थी। परंतु फिर भी यदि हम 'राग दरबारी' को इस दृष्टि से देखें तो कई स्थानों पर यह कमजोरी नजर आती है और यह कमजोरी ऐसी नहीं कि श्रीलाल को इसमें रक्षात्मक या क्षमाभाव वाली मुद्रा अपनाने की आवश्यकता हो। 'राग दरबारी' के ये फुटकर प्रसंग इस महान उपन्यास के समग्र प्रभाव में इस तरह ओझल हो जाते हैं कि अंततः तो पाठक के मन में गांव के प्रति एक बेचैनीभरा संवेदना का भाव ही बना रह जाता है और मेरी व्यक्तिगत राय है कि श्रीलालजी मखौल तो खैर नहीं उड़ा रहे हैं– व्यंग्य लिखने की यही शैली होती है। पूरा उपन्यास पढ़े जाने पर कहीं भी यह भाव पाठक के मन में नहीं आता कि कोई किसी पर हंस रहा है। मन में वे मुद्दे और स्थितियों की एब्सर्डिटी ही टिकी रह जाती है जो श्रीलालजी ने अनोखे ढंग से प्रस्तुत की।

ऐसी ही, बल्कि इससे बेहद कटु, विस्तृत, सप्रमाण और आक्रामक आलोचना श्रीपत राय ने लिखी थी जो शायद 'राग दरबारी' के छपने के कुछ समय बाद ही आ गई थी। श्रीपतजी प्रेमचंद जी के सुपुत्र होने के नाते विशेष तौर पर और एक सक्षम लेखक / संपादक होने के नाते आमतौर पर बहुत से उदाहरणों द्वारा अपना मूल प्रश्न यह उठाते हैं कि श्रीलाल का 'राग दरबारी' वाला गांव भारत में कहां है? श्रीपतजी यह मानने को तत्पर ही नहीं कि प्रेमचंद वाला गांव अब कहीं नहीं बचा है। किसानों की

दरिद्रता, मुसीबतें आदि अब एकदम नए तौर पर सामने हैं जिसने किसान और गांव के आम आदमी को भोला नहीं रहने दिया है। वह राजनीति समझने लगा है और घटिया राजनति का हिस्सा भी बन चुका है। अहा, ग्राम्यजीवन भी क्या है, वाला भाव लेकर 'राग दरबारी' के शिवपालगंज को नहीं देखा-समझा जा सकता क्योंकि समय के साथ भारत के गांव बहुत बदल गए हैं। अब उनकी मुसीबतें, परेशानियां, महत्वाकांक्षायें, चिंतायें, सरोकार, लड़ाइयां तथा चालाकियां भी बदल गई हैं। देखें तो आज जब मैं यह लेख लिख रहा हूं तब आज का गांव तो वास्तव में 'राग दरबारी' वाला गांव भी नहीं रह गया है। गांव की राजनीति और इसी कारण गांव का आदमी अब वह भी नहीं रहा जो शिवपालगंज में दिखाया गया था। तो 'राग दरबारी' में प्रेमचंद का गांव तलाशना तो दुराग्रहपूर्ण ही कहायेगा। हां, कमोवेश श्रीपतराय को, इस बात पर मुद्राराक्षस की तरह ही एक हद तक सही ऐतराज था कि यह शहरी कलम द्वारा उकेरा गया गांव है जिसमें गांव के प्रति न तो सहानुभूति है, न स्वानुभूति। पर व्यंग्य पर ऐसे आरोप व्यंग्य की मूल प्रकृति को न समझने के कारण ही लगते हैं। 'राग दरबारी' का व्यंग्य अंततः उस सबके विरुद्ध ही तो है जो गांव में ये परिस्थितियां पैदा कर रहे हैं कि गांव मखौल उड़ाने के विषय बन गए हैं। इन्हीं सारे मुद्दों को लेकर भी उपन्यास बन ही सकता था और व्यंग्य तथा ह्यूमर के भाव से इतर भी इसे लिखा भी जा सकता था परंतु तब वह 'राग दरबारी' न बनता जो आप तक अपने पाठकों के साथ ही अपने समग्र भाव में मुझे तो 'राग दरबारी' में गांव के प्रति संवेदना और सहानुभूति का भाव ही दीखता है। बहरहाल यह आरोप तो लगातार 'राग दरबारी' का पीछा करता ही रहेगा और अपने तौर पर समय-समय पर जवाब भी चाहेगा। पर यही बात तो 'राग दरबारी' को हिंदी उपन्यासों में एकदम अलग अनोखा तथा महत्वपूर्ण बनाती है और प्रेमचंद का गांव ही क्यों पूरा देश ही ऐसा बदला है कि आज हम कस्बे की कहानी में कमलेश्वर का 'राजा निरबंसिया' नहीं खोज सकते। 'राग दरबारी' में गांव की राजनीति से गांव में फैलते ऊसर की जो आहटें भर सुनाई देती थीं वे अब शोर बनकर पूरे गांव पर छा गई हैं। आज का गांव भ्रष्ट राजनीति का अखाड़ा बन गया है और उसकी तुलना में आज 'राग दरबारी' का शिवपालगंज तीर्थस्थल नजर आता है। तो राग दरबारी में प्रेमचंद का गांव खोजना बेमानी था और यह श्रीपतजी की ज्यादती ही थी।

पर एक तथ्य ऐसा भी है जो वास्तविकता तो है परंतु स्वयं श्रीलाल जी उसे 'राग दरबारी' पर आरोप की तरह लेते हैं। अब क्या कहें? श्रीलाल जी को नाराज करना हो तो यह तथ्य भर कभी उनके सामने रख दें कि 'राग दरबारी' एक व्यंग्य उपन्यास है। वे पहले तो एक उपन्यास कहकर व्यंग्य से इसकी कोई रिश्तेदारी ही कुबूल नहीं करते। फिर बहुत कहो तो वे इसे व्यंग्यात्मक शैली में लिखा उपन्यास भर कहलवाने पर राजी हो जाते हैं। आप कान को हाथ घुमाकर भी पकड़ सकते हैं। परंतु ऐसा करने से न तो कान ही बदलता है, न ही कान पर पकड़। कान तो एक तथ्य है 'राग दरबारी' का व्यंग्य उपन्यास होना भी कान की तरह एक सत्य है। आप पकड़ें, न पकड़ें या व्यंग्यात्मक शैली का कहकर हाथ घुमाकर पकड़ें। आप सोचें कि श्रीलाल जी के किसी अन्य उपन्यास पर यह 'आरोप' क्यों नहीं लगा? यदि 'राग दरबारी' व्यंग्य उपन्यास नहीं है तो फिर हम किसे व्यंग्य उपन्यास कहें। मैं तो कहूंगा कि 'राग दरबारी' से ही हिंदी व्यंग्य को एकदम नई दिशा मिली जो काम परसाई तथा शरद जोशी चाहकर भी नहीं कर सके वह बड़ा काम श्रीलाल जी ने किया। परसाई की 'रानी नागफनी की कहानी' या शरद जोशी का 'मैं, मैं और केवल मैं'- दोनों ही रचनाओं में उपन्यास जैसा खास कुछ नहीं है जिसकी चर्चा की जाए। ये रचनाएं इसलिए समादृत हैं कि ये परसाई, शरद जोशी द्वारा लिखी गई हैं, बजाए इस बात के कि इन रचनाओं में कोई अद्वितीयता हो। 'राग दरबारी' हिंदी की पहली ऐसी रचना है जो विश्व के किसी भी भाषा के व्यंग्य उपन्यास के समक्ष न केवल खड़ी होती है बल्कि विजेता की मुद्रा में खड़ी होती है। यह बेहद महत्वपूर्ण व्यंग्य रचना है।परन्तु श्रीलाल जी का कहना है कि ऐसा कहकर हम 'राग दरबारी' को एक सीमित दायरे में क्यों बांधना चाहते हैं? इधर मेरा कहना है कि 'राग दरबारी' का व्यंग्य ही तो उसे सारे दायरों से मुक्त करके ऐसा व्यापक संसार देता है जो हिंदी की अन्य किताब को दुर्लभ है। जो हो, मैं तथा हिंदी का व्यापक पाठक संसार तो इसे व्यंग्य उपन्यास मानकर ही पढ़ता रहा है फिर आप इसे जो चाहे नाम दे डालें। गुलाब तो गुलाब ही रहेगा- चाहे आप जिस नाम से पुकारो- ऐसा कहा गया है परंतु मेरा कहना है कि गुलाब को गुलाब ही क्यों न कहा जाये क्योंकि गुलाब को किसी और नाम से पुकारो तो आप हास्यास्पद लगने लगते हो।

'राग दरबारी' पर एक आरोप यह भी लगाया जाता रहा है कि यह उपन्यास ही नहीं है। यह तो बहुत सारे व्यंग्यलेखों को एक जगह संग्रहीत करते हुए, कैसे तो भी उनके पात्रों के नाम एक करके, उनमें एक जबरन का तारतम्य बिठाकर उपन्यास की शक्ल देने की कोशिश की गई है। कहानी कुछ है नहीं। कुछ स्थितियां हैं। चंद चरित्र

मुम्बई में 'बारामासी' नाटक का सफल मंचन

ज्ञान चतुर्वेदी के चर्चित उपन्यास 'बारामासी' पर आधारित नाटक के मुम्बई में अनेक शो सफलता पूर्वक मंचित हुए। धनेंद्र कावडे द्वारा निर्देशित इस नाटक में प्रमुख भूमिकाएं अक्षता, चंद्रशेखर पाटिल, आर्या वोरा, अजीत कोकटे ने निभाई हैं। सन् साठ के भारतीय ग्रामीण जीवन के परिवेश में रचा गया यह उपन्यास दुबे परिवार के स्वप्नों, अपेक्षाओं, निराशाओं तथा असफलताओं की कथा कहता है। इस उपन्यास को 'अंतर्राष्ट्रीय इंदु कथा सम्मान' से सम्मानित किया जा चुका है।

हैं। कुछ घटनाएं हैं। बस ऐसा कहा जाता है। यह भी सही है कि राग दरबारी के कुछ प्रसंग पहले श्रीलाल जी अन्यत्र स्वतंत्र व्यंग्य लेखों के रूप में लिख चुके थे (मेरी याददाश्त में दो प्रसंग आते हैं– एक तो स्कूल इंसपेक्टर का इंस्पेक्शन के लिए आना और शायद दो रिक्शा चालकों की बातचीत का प्रसंग)। परंतु यह बात शास्त्रीय किस्म की बहस ही ज्यादा है। उपन्यास के सौंदर्यशास्त्रीय तथा उसे लिखने की विधियां, प्रविधियों, तौर-तरीकों, हथियार, कलापक्ष आदि पर बात करते हुए 'राग दरबारी' पर उपन्यास न होने का आरोप चस्पां करना बेमानी है। उपन्यास ऐसे भी लिखे जाते रहे हैं और विश्व की समस्त भाषाओं में लिखे जाते रहे हैं। श्रीलाल जी के उपन्यासों में वैसे भी बहुत-सा ऐसा अनकहा पंक्तियों के बीच की स्पेस में छूट जाया करता है, जिसे सजग पाठक को स्वयं भरना होता है। 'राग दरबारी' में तो हर पात्र की ऐसी अनकही कहानी है जो श्रीलाल जी ने न लिखकर भी लिख दी है। जब तक आप 'राग दरबारी' को इस अनकही कहानी के साथ पढ़ने की तमीज़ विकसित नहीं कर पाते तभी तक आप ऐसा कह सकते हैं कि 'राग दरबारी' में न तो कोई कथा है, न व्यापक अर्थों में उपन्यास तत्व। अन्यथा यह तो एक महान उपन्यास है ही।

बहुत से और भी आरोप इस बड़ी रचना पर समय-समय पर लगते रहे हैं। बड़ी रचनाएं ऐसे मौके देती भी हैं क्योंकि कालजयी होने का माद्दा रखने वाली रचनाओं से हम लगभग संपूर्ण रचना होने की उम्मीद कर बैठते हैं, जो संपूर्ण होते हुए भी हमें अपने कोण से अधूरी लग ही सकती हैं। मेरी अपनी राय, शिकायत तथा अभिलाषा बस एक ही रही कि श्रीलाल जी ने ऐसे ही और भी उपन्यास क्यों नहीं लिखे? वे अपने सर्वश्रेष्ठ काम से विमुख होकर वैसे उपन्यास या कहानियां क्यों लिखते रह गए जैसे उनसे कम प्रतिभाशाली भी लिख चुके हैं या लिख रहे हैं? काश कि श्रीलाल शुक्ल ने स्वयं ही 'राग दरबारी' की परंपरा के कुछ और उपन्यास लिख दिए होते। फिर वे उन्हें व्यंग्य उपन्यास कहते, न कहते, यह उनकी मर्जी थी।

ए-40, अलकापुरी, भोपाल-462024

शरद जोशी के व्यंग्य कॉलम 'प्रतिदिन' पर लिखते हुए बहुत-सी बातें मेरे मन में हैं।

सबसे पहले मेरे मन में वे दिन आ रहे हैं, जब 'नवभारत टाइम्स' के आखिरी पन्ने के कोने में, शरद जोशी की फोटो के साथ बमुश्किल तमाम दस-पंद्रह पंक्तियों से लेकर पच्चीस-तीस पंक्तियों तक का छोटा-सा व्यंग्य कॉलम लगभग रोज आता था। इस छोटे से कोने ने तब देश में अखबार पढ़ने के तरीके बदल दिए थे। उत्सुकता रहती थी कि शरद जोशी ने आज किस विषय पर कैसा, क्या लिखा होगा? किस कोण से? क्या उठाया? तुमने पढ़ा? वाह यार! शरद जोशी ने सात सालों तक रोज एक नया विषय उठाया, उसे एकदम नई दृष्टि से देखा और फिर उसे एकदम नई भाषा-शैली के प्रयोग से ऐसा बनाया कि उन दिनों 'नवभारत टाइम्स' का वह कोना मानो फैलकर पूरे अखबार पर छा गया था।

आज सालों के अंतराल के बाद 'प्रतिदिन' में लिखी ये अद्भुत व्यंग्य रचनाएं जब एक साथ इस संकलन में जा रही हैं– तब इनका पुनर्पाठ शरद जोशी की ऐसी विलक्षण प्रतिभा से आपका साक्षात्कार कराता है, जिसकी याद उसके जाने के बाद व्यंग्य में उत्पन्न और व्याप्त बियाबान में और भी शिद्दत से आ रही है।

– ज्ञान चतुर्वेदी

प्रतिदिन (3 खंड) : शरद जोशी
मूल्य : 1200/- (सजिल्द) 500/- पेपर बैक
ISBN-81-7016-727-2

किताबघर प्रकाशन

4855-56/24, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-110002
फोन 30180011, 23266207 फोंन/फैक्स-23271844
Email : kitabghar_prk@yahoo.com
sales@kitabgharprakashan.com

व्यंग्य की टैरेटरी बढ़ी है– श्रीलाल शुक्ल

प्रस्तुति : प्रेम जनमेजय

अगर बहुप्रतिक्षित कार्य के सम्पन्न होने की आशा हो तो चाहे जाड़े की गुनगुनी धूप के स्थान पर मई की चिलचिलाती धूप भी हो तो अच्छी लगती है, बाहर कैसा भी पतझड़ हो अंदर कहीं बगिया खिल जाती है तथा पेट कितना भी त्राहि माम, त्राहि माम की पुकार लगा रहा हो, मन में लड्डू फूट ही जाते हैं। 12 दिसंबर, 2008 का दिन मेरे लिए ऐसा ही था। सर्दियों की सुबह के साढ़े दस बजे थे, गुनगुनी धूप थी, श्रीलाल शुक्ल के आंगन में भांति-भांति के फूल खिले थे और हमारे, गोपाल चतुर्वेदी, शेरजंग गर्ग, प्रेम जनमेजय और अनुपस्थित ज्ञान चतुर्वेदी,सामने मेज पर घर के बने लड्डू पड़े थे। मैं अपने मित्रों को लेकर, सायास समय से पहले पहुंचा था और श्रीलाल जी बरामदे में गुनगनी धूप में बिछे दीवान पर बैठे हम ये मिलने के लिए जैसे तैयार हो रहे थे।

समय से पहले सायास पहुंचने का गुरु-गंभीर कारण था।

बहुत पहले, दो दशक पहले, से मेरा और ज्ञान चतुर्वेदी का मन था कि श्रीलाल जी के साथ एक लम्बी बातचीत की जाए पर वो टलती रही- कभी मेरे त्रिनिदाद जाने के कारण और कभी दिल्ली भोपाल की दूरी के कारण और कभी ज्ञान की डॉक्टरी व्यस्तताओं के कारण। पर जब ज्ञान से श्रीलाल जी पर 'व्यंग्य यात्रा' का विशेषांक निकालने की चर्चा हुई तो तय कर लिया गया कि इस बार तो साक्षात्कार लेकर रहेंगे। इस बीच श्रीलाल जी की बीमारी की सूचनाओं एवं सुविधाजनक समय की तलाश के कारण समय खिसकने लगा। नवम्बर के प्रथम सप्ताह की एक तिथि तय कर ली गई और लखनऊ में गोपाल चतुर्वेदी से अनुरोध किया गया कि वो इसका सुभीता जमाएं। श्रीलाल जी ने प्रसन्नतापूर्वक समय दे दिया और तैयारी प्रारंभ हो गई। इस बीच अनूप श्रीवास्तव का फोन आ गया कि नवंबर के आखिरी सप्ताह में 'अट्टहास-सम्मान' का आयोजन है, ओर आना है। ज्ञान ने कहा कि अनूप कई बार बुला चुके हैं और मैं जा नहीं पाया, इस बार जाने का मन है, क्यों न इस अवसर का सदुपयोग किया जाए और हींग लगे न फिटकरी के स्टाईल में व्यंग्य यात्रा के पैसे बचाए जाएं। जब विश्व के साथ-साथ अपने यहां भी मंदी छाई हो तो ऐसे विचार अच्छे लगते हैं। तय हो गया और मैंने तथा ज्ञान ने टिकट आरक्षित करवा लिए। कहा तुलसी ने है कि होई है वही जो राम रचि राखा, पर घट हमारे साथ गया। अपरिहार्य कारणों से कार्यक्रम दो सप्ताह के लिए स्थगित हुआ और अपना श्रीलाल जी से साक्षात्कार भी। कार्यक्रम की ताजा तिथियां आईं तो ज्ञान की व्यस्तता आ गई। न तो ज्ञान और न ही मैं चाहता था कि इस साक्षात्कार से ज्ञान अनुपस्थित हो, पर समय का बलवान होना आढ़े आ रहा था। ज्ञान ने मार्ग सुझाया- वो अपने प्रश्न लिखकर मुझे ई मेल कर देगा और उनको वहां पूछ लिया जाएगा।

11 दिसंबर शाम चार बजे मिलने का समय तय हुआ था। मैं उस दिन लखनऊ सुबह ही पहुंच गया था। मैं दोपहर का भोजन कर सभी तरह से लैस हो, श्रीलाल जी से मिलने की तैयारी कर रहा था कि गोपाल चतुर्वेदी का फोन आया- प्रेम भाई, अभी श्रीलाल जी की बहु का फोन आया है कि आज सुबह कुछ साहित्यिक आ गए थे और मेरे बार-बार मना करने के बावजूद उन्होंने बहुत समय ले लिया। श्रीलाल जी बुरी तरह थक गए हैं और आज शाम मिलना नहीं हो पाएगा।' ऐसी घोर निराशा के क्षण मैंने बहुत जिए हैं जब आपको लगता है कि सफलता हाथ आते-आते चली गई हो या फिर अंधेरे के अतिरिक्त और कुछ भी न दिखाई दे रहा हो। इस अप्रत्याशित से मैं सन्न रह गया। मैं तो दिल्ली से समय लेकर आया था और जो समय लेकर नहीं आए थे वे सफल हुए। शायद जीवन में सफलता की यही कुंजी है। मैं नहीं चाहता था कि अस्वस्थ श्रीलाल जी को परेशान करूं पर मेरे अंदर का संपादक बार-बार गोपाल चतुर्वेदी से प्रार्थना कर रहा था कि वे कुछ जुगाड़ बिठाएं (उनके संग्रह का नाम तो आप जानते ही हैं- जुगाड़पुर के जुगाड़ू) जिससे मेरी मनोकामना पूर्ण हो। वे भी मुझसे कम परेशान नहीं थे। अगले दिन 11 बजे से माध्यम की गोष्ठी थी जिसकी अध्यक्षता गोपाल चतुर्वेदी को करनी थी और मुझे विषय प्रवर्तन करना था। अगले दिन का ही समय मिला साढे दस बजे का। सोचा आधे घंटे में बातचीत करके 11 बजे लौटेंगे- कवि लोगों ने रतजगा किया है, साढ़े ग्यारह से पहले गोष्ठी क्या आरंभ होगी। आध घंटा मुझे ऊंट के मुंह में जीरे से भी कम लग रहा था पर बकरे की मां को तो खैर ही मनाना पड़ता है। न होने से कुछ होना अच्छा- थोड़ी बहुत बात कर लेंगे और कुछ चित्र ले लूंगा। मैंने अपने बार-बार के आग्रह से गोपाल जी को विवश कर

दिया कि हम वहां आध घंटा पहले पहुंचें और श्रीलाल जी के तैयार होने का उनके घर ही इंतजार करें। मैं इसके लिए भी तैयार था कि समय से पहले पहुंचने की वरिष्ठ लेखक की डांट मैं खा लूंगा। पर श्रीलाल जी सही मायनों में वरिष्ठ हैं। हम जब पहुंचे, उन्होंने नाश्ता भी नहीं किया था। पर उन्होंने जिस गर्मजोशी से हमारा स्वागत किया उसे देख सरदी की गुनगुनी धूप भी शरमा गई होगी। हमारे समय से पूर्व पहुंचने का कहीं रोष नहीं। वो तो हमारे लिए नाश्ते का भी त्याग करने को तैयार थे, पर हमारे आग्रह और अपनी बहू साधना के अधिकार के सामने उनकी एक न चली। मैं जिस तनाव में जी रहा था उससे मैं एकदम मुक्त हो गया। फोटो सेशन के समय, उनकी चारपाई पर, सम्मान के कारण उनसे कुछ दूर बैठकर जब मैं फोटो खिंचवाने लगा तो उन्होंने मेरे कंधे पर हाथ रखकर मुझे अपने नजदीक करते हुए कहा- 'नजदीक आइए फोटो अच्छा आएगा।'

समय से पूर्व पहुंचना सफल होता दिखाई दे रहा था।

श्रीलाल जी और गोपाल चतुर्वेदी एक साथ हों तो चुप्पी का रहना कठिन है। श्रीलाल जी दलिए का नाश्ता कर रहे थे तो दलियापुराण ही हो जाए।

साधना- नमकीन दलिया ये खाते ही नहीं है। शुगर फ्री डालकर इनके लिए दलिया बनाती हूं।

शेरजंग गर्ग- दलिए की तासीर ऐसी है कि अगर दलिया मीठा न हो तो खाया नहीं जाता।

प्रेम जनमेजय- मुझे मीठा दलिया पसंद नहीं आता। दलिए में सब्जी डालकर पकाया जाए तो खाने का स्वाद आता है।

गोपाल चतुर्वेदी- प्रेम भाई मैंने चौबों का चरित्र नहीं अपनाया, मीठा कम क्या बिल्कुल नहीं खाया। नमकीन ज्यादा खाया पर फिर भी ये डॉब्टीज कैसे हो गई?

साधना- आपके यहां पूड़ी, कचौड़ी आदि खूब चलती हैं न?

गोपाल चतुर्वेदी- हमारे यहां खाने में जिनके आगे 'ड़ी' लगता है जैसे- पकौड़े, रबड़ी, वे बहुत चलती हैं।' गोपाल जी ने देखा कि श्रीलाल जी नाश्ता कर रहे हैं ओर उनकी बहू साधना एक छड़ी लिए पास खड़ी है। (शायद साधना जी के मन में कल का 'आतंक' था कि कहीं कल की तरह प्रेम जनमेजय और पार्टी बातों में श्रीलाल जी को फंसा ले, थका दे, और श्रीलाल जी नाश्ता करना भूल जाएं।) चुटकी लेते हुए गोपाल जी ने कहा- ये आप छड़ी लिए क्यों खड़ी हैं. . . कि कहीं . . . ये कहकर वे हंस दिए और साधना जी कोई सफाई देती-सी हकला गईं। गोपाल भाई ने बात संभालते हुए कहा- पता है प्रेम भाई, साधना ने श्रीलाल जी की बहुत सेवा की है।' इस बीच श्रीलाल जी का नाश्ता समाप्त होता देख साधना जी ने कहा- पहले ये दवाई खा लीजिए।

शेरजंग गर्ग ने साधना जी से कहा- आप क्या पंजाबी परिवार से हैं, आपके एक्सेंट में पंजाबी झलकती है।

साधना- हम शुद्ध ब्राह्मण परिवार से हैं। हमारे यहां अनेक साहित्यकार आते थे। हम इलाहाबाद में थे. . .

प्रेम जनमेजय- मेरा जन्म इलाहाबाद का है . . .कमला नेहरू अस्पताल का. . .

श्रीलाल शुक्ल- अच्छा!

साधना- हमारा भी वहीं का है. . . वहां हम पंजाबियों के मोहल्ले में रहते थे।

शेरजंग गर्ग- तभी आपका एक्सेंट पंजाबी है।

श्रीलाल शुक्ल ने अपने चेहरे पर हाथ फेरते हुए कहा- आप जैसे संभ्रांत लोग आ रहे हैं तो मैंने सुबह-सुबह दाड़ी बनवा ली। आजकल बॉरबर तो होते नहीं हैं ब्यूटी शॉप होती हैं।

इस बीच मैंने पुन: फोटो सेशन आरंभ किया, जिससे साक्षात्कार का औपचारिक वातावरण बने।

प्रेम जनमेजय- आपने अपने अनेक साक्षात्कारों में, साहित्यिक निबंधों में अपनी रचनाओं और साहित्य के सैद्धांतिक पक्ष पर बहुत कुछ कहा और लिखा है, मैं इस अनौपचारिक वातावरण में एक अनौपचारिक- सा सवाल कर रहा हूं। आपको आज से अनेक वर्ष पीछे ले जा रहा हूं। आपकी पहली रचना जब प्रकाशित हुई और आपको जब पहला पारिश्रमिक मिला तो कैसा लगा?

श्रीलाल शुक्ल- मेरी पहली रचना 'स्वर्णग्राम और वर्षा' नामक थी जो मैंने आकाशवाणी के एक नाटक को धुंआंधार झेलने में बेकाबू पाकर लिखा था। इस रचना को मैंने धर्मवीर भारती को, जो उन दिनों 'निकष' का संपादन कर रहे थे, भेज दी और वो छप गई। 'निकष' मित्रों का, भारती जी और लक्ष्मीकांत वर्मा जैसे मित्रों का प्रयास था और ऐसे में पारिश्रमिक का प्रश्न ही नहीं उठता था। 1955 से मैंने नियमित लेखन आरंभ किया जिसके बाद लगभग दस साल तक हिंदी की पत्र-पत्रिकाएं मेरे हास्य-व्यंग्य निबंधों, कहानियों, उपन्यास- अंशों आदि से भरी रहीं। बाद में जब पारिश्रमिक वाली स्टेज आई तो, क्या था कि मैंने व्यवस्था की हुई थी कि अपनी तन्ख्वाह से आधा मैं घर चलाने के लिए श्रीमती जी को देता था और आधा मैं रखता था। पारिश्रमिक आने लगा तो उसका आधा पारिश्रमिक भी घर भी दे देता और आधा अपने और मित्रों के लिए रख लेता। अच्छी नौकरी थी इसलिए आरंभिक पारिश्रमिक का कुछ ऐसा नहीं था कि उसका बजट बनाया जाता।

गोपाल चतुर्वेदी- इसी से जुड़ता एक सवाल है, कि आपने बड़े प्रतिष्ठान में नौकरी की और आपने लिखा भी है कि बड़ा प्रतिष्ठान लेखक को प्रभावित करता है। प्रतिष्ठान के साथ लेखक का, सृजनशील लेखक का संबंध निश्चय ही ऐसी समस्याओं और तनावों को उभारता है जिन्हें वाग्पटुता से नहीं टाला जा सकता है। आप बड़े प्रतिष्ठान में रहे, कर्मठता से काम किया और मुझे नहीं लगता है कि उसने आपके लेखन पर कोई दुष्प्रभाव डाला। प्रतिष्ठानों में तीन चीजें प्रमुख हो गई हैं- झूठ, आडंबर और ढोंग। इन तीनों चीजों से आप कैसे मुक्त रहे?

श्रीलाल शुक्ल- ये तो आप ही सोचिए, मुझे पता नहीं कि मैं मुक्त हुआ कि नहीं हुआ। कमलेश्वर ने जो मुझसे गर्दिश

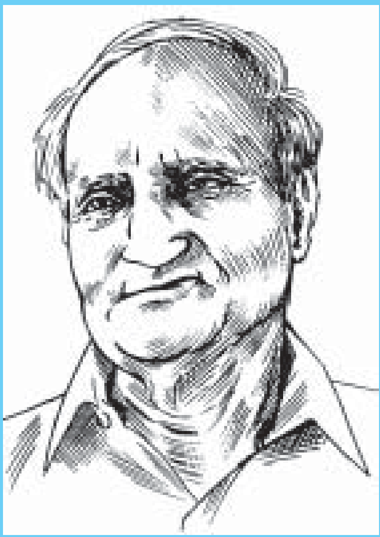

के दिन लिखवाया था, उसमें मैंने लिखा है कि सरकारी तंत्र आपके ऊपर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं डालता है। आप सुबह से एक घिसी-पिटी भाषा का प्रयोग करते हुए जब शाम को अपना लेखन करने लगते हैं तो आपको एक नई भाषा में लिखना होता है। आपकी जुबान खराब हो चुकी होती है। दूसरे स्वभाव ये हो जाता है कि आप नौकरी कर रहे हैं तो आपके जॉब के खिलाफ कोई बात पड़ती हो तो नहीं करनी चाहिए। कोई आपसे कहने नहीं आएगा कि आपने गड़बड़ किया है। मगर ये चीज अपने आप पैदा होती है। और तीसरी बात ये कि जो चीजें लेखक के रूप में ऊंची मानी जाती हैं वे ही यहां लोएस्ट लेवल पर मानी जाती हैं। और सबसे खराब बात होती है सेंसेटिविटी का पूर्ण पतन। आपको मालूम नहीं होता है पर ये धीरे-धीरे होता जाता है और बाद में जब आप बड़े प्रोस्पेक्टिव में देखते हैं तो पता चलता है।

प्रेम जनमेजय- आपने 'राग दरबारी' की समीक्षाओं का, विशेषकर विरोध के स्वर वाली समीक्षाओं की चर्चा करते हुए लिखा है कि उपन्यास लिखना एक नर्क है और उससे समीक्षा की ओर जाना दूसरे नर्क में उतरना है।

श्रीलाल शुक्ल- भोगना ये पड़ता है कि यदि वो थोड़ा-सा कमजोर हुआ तो समीक्षक को गालियां देगा कि बदमाश हैं, दूसरे गुट के हैं वगैहरा वगैहरा। दूसरा ये है कि आप एक ऊंचा स्टैंड ले लें। सरकारी नौकरी में हैं, खुद लिखते-पढ़ते हैं नहीं। कविता लिख रहे हैं चालीस साल से और ये शऊर नहीं कि कविता चीज क्या होती है।

शेरजंग गर्ग- कविता के बारे में आपको बोलते हुए सुना है, अपने विचार व्यक्त करते हुए पढ़ा है और कविता में आपकी निश्चित ही गहन रुचि है। लेकिन क्या आपने शुरुआती दिनों में कविताएं लिखीं।

श्रीलाल शुक्ल- लिखीं और बहुत लिखीं।

प्रेम जनमेजय- शुरुआती कविताएं कैसी थीं, प्रेम-प्रसंगों वाली?

श्रीलाल शुक्ल- उस समय उत्तर छायावदी कविता का फैशन था। तो बिना सोचे हुए कोई आपके प्रेम की पात्र या पात्रा होती है, इश्के हकीकी वाले मामले में उसको इतना एफेक्टिव बना देते थे कि कविता के उस मॉडल को आप बिना किसी प्रश्न के ग्रहण करते थे। मैं अपने दिमाग से कुछ ज्यादा ही तार्किक हूं इसलिए बी ए तक आते-आते मेरा मोह भंग हो गया। वह स्वाभाविक कविता नहीं थी। उसका मॉडल मेरा बनाया हुआ नहीं था। जैसे जैनेंद्र जी कहानियों के बारे में बात कह सकते हैं कि वैसी कहानियां हिंदी में लिखी नहीं गईं। अंग्रेजी में भी ऐसी कहानियां नहीं लिखी गईं। या अज्ञेय की कहानियां ही आप ले लीजिए जिनको धीरे-धीरे लेखकों की पंक्ति से खारिज कर दिया गया। तो अपनी तरफ से कविता का मॉडल तैयार हो रहा हो, ऐसी बात मेरी कविता में नहीं थी। ये प्रेम किए वाला हिसाब-किताब था। छोड़ दिया उसे।

प्रेम जनमेजय- ज्ञान चतुर्वेदी को भी आज हम लोगों के साथ आना था पर आज ही उसकी बेटी की एम्स में प्रवेश-प्रक्रिया है। उसने अनेक प्रश्न भेजे हैं आपसे पूछने के लिए पर उन सबके लिए आज तो समय नहीं है। महत्वपूर्ण सवाल हैं, अगर आप अनुमति दें, कुछ तो मैं पूछ ही लेता हूं। ज्ञान जी का पहला सवाल है- 'विश्रामपुर का संत' उपन्यास को यदि 'राग दरबारी' शैली में लिखा जाता- क्योंकि एक बूढ़े, रिटायर कर दिए राजनीतिज्ञ, राज्यपाल को उसकी सत्ता लिप्सा को, उसके व्यक्तिगत जीवन के औबसेशन को देखने में क्या यह शैली ज्यादा कारगर न होती? 'विस्रामपुर का संत' में विनोबा के भूदान आंदोलन का इतना लंबा और अकादमिक-सा हिस्सा है कि वह मूल उपन्यास के प्रवाह, उसकी रोचकता, कथा तथा ओवरऑल इम्पैक्ट में बाधा पहुंचता है। क्या आप मेरे इस ऑब्जरवेशन से सहमत हैं? भूदान आंदोलन का इतना लंबा विवरण देने की आपकी चिंतन-प्रक्रिया को जानना चाहता हूं।

श्रीलाल शुक्ल- 'विस्रामपुर का संत' में विनोबा के भूदान आंदोलन का जो हिस्सा है वो मूलकथा के साथ ही अनुस्यूत होकर आया है। इस उपन्यास के अंत में, इस ख्याल से कि आज ही कोई विनोबा के इस आंदोलन की बात नहीं करता है और आगे की पीढ़ियां तो भूल ही जाएंगी, तो अंत में मैंने एक एपीलोग के तरीके से तीन-चार पेज में भूदान का इतिहास लिख दिया है। वो उपन्यास का अंश नहीं है। अब जैसे कोई ऐसा शब्द आ जाता है, जिसका अर्थ भी बताना होता है तो फुटनोट में उसका अर्थ दे दिया जाता है, उस तरीके से मैंने इसे इस्तेमाल किया है। शेष जो मुख्य अंश में है, मुझे तो नहीं लगता है कि जबर्दस्ती उसे लाया गया है। जबर्दस्ती क्यों लाया जाएगा, अब देखिए उसमें जो भूदान की कार्यकरत्री हैं बाद में वही एक मेन करैक्टर के तरीके से डेव्लेप करती हैं। भूदान का ही ऐसा प्रभाव होता है, जो उसको सभ्य दुनिया से उठाकर एक अंदरूनी देहात से उठाकर एक अंदरूनी देहात में ले जाता है। तो वो सब ऐसे नहीं लगता है कि एक 'सब प्लॉट' है। इट इज पार्ट ऑफ द नॉवेल।

प्रेम जनमेजय- पार्ट ऑफ द नॉवेल तो है, और भूदान आंदोलन का इतना अच्छा डाक्यूमेंटेशन भी है,पर इतना अकादमिक हो गया है कि औपन्यासिक दृष्टि से पढ़ा नहीं जाता है. . .

श्रीलाल शुक्ल- . . .तो न पढें उसे।

गोपाल चतुर्वेदी- क्या है प्रेम भाई कि श्रीलाल जी ने अपने आपको कहीं भी रिपीट नहीं किया है। 'राग दरबारी' के बाद उन्होंने कहीं दूसरा 'राग दरबारी' लिखने का प्रयत्न नहीं किया।

प्रेम जनमेजय- आपकी इस रिपीट वाली बात से जुड़ता ज्ञान का प्रश्न है- 'आपने 'राग दरबारी' जैसा- इसे व्यंग्य उपन्यास न भी कहें क्योंकि आपको वैसा कहने में ऐतराज है- तो भी इस तरह की शैली में, या उससे भी बेहतर शैली में, आप जैसे प्रतिभाशील लेखक के लिए लिखना कठिन नहीं था, वैसा उपन्यास आपने क्यों नहीं लिखना चाहा जबकि विषय बहुत से हो सकते थे। उदाहरणार्थ छत्तीसगढ़ के मकान और कारीगरों वाला विषय (पहला पड़ाव) पर आपने उस तरह से कयों नहीं लिखना चाहा- कदाचित लिखते तो बहुत आयाम जो टूट गए हैं वे न छूटते। आप क्या कहते हैं? दूसरा सवाल ये कि जब आप पलट कर देखते हैं तो क्या आपको नहीं लगता कि 'अंगद का पांव' नामक आपके संग्रह में आई आपकी शानदार व्यंग्य रचनाओं जैसी आपकी और भी रचनाएं आ सकती थीं- आनी चाहिए थीं, पर आप कहानियां लिखने में व्यस्त हो गए। जबकि कहानियों ने आपको कोई विशेष पहचान नहीं दी। आपकी पहचान जो व्यंग्य कथाएं और लेख बन सकते थे जो आपने लिखे नहीं, क्यों?' मैं अगर सीधे पूछूं कि आप अपने इन परिवर्तनों को कैसे लेते हैं?

श्रीलाल शुक्ल- मैं इसे कोई परिवर्तन नहीं मानता हूं, परिवर्तन का तो कोई सवाल ही नहीं है । 'राग दरबारी' से पहले मेरे जो दो उपन्यास हैं- 'अज्ञातवास' और 'सूनी घाटी का सूरज', ये 1958 ओर 60 के बीच लिखे गए हैं। ये अत्यंत गंभीर कोटि के उपन्यास हैं- अज्ञातवास तो खास तरीके से। ये कहना सही नहीं है कि 'राग दरबारी' से मैंने कोई डेविएशन किया, 'राग दरबारी' खुद एक डेविएशन था। दूसरी बात, मेरा ख्याल है कि जानबूझ कर, उस शैली में कोई और टाइम-स्पेस ले लेना, उसका भी कोई अर्थ नहीं था, ऐसे में लगता कि मैं अपने आपको रिपीट कर रहा हूं। जैसा मैंने 'मकान' में लिखा है, उसका मुख्य चरित्र प्रथम पुरुष अर्थात जनरल स्टाइल में है। वो प्रथम पुरुष में अपनी कहानी कहता है। उसके बाद के जो अध्याय हैं उसमें वो कथावाचन के तरीके से आगे है। एक चेप्टर आत्मकथा वाला है और दूसरे में जो वर्णनात्मकता है वो एक तरह का 'ईजी शॉटकर्ट है। ऐसे वर्णन में आपको अधिक मेहनत नहीं करनी है। मगर जो जनरल है उसमें मैं अपने आपको प्रक्षिप्त नहीं करता हूं, उसमें वो अपने आपको प्रक्षिप्त करता है। वो थोड़ा-सा कठिन काम है और साथ ही साथ आसान इस अर्थ में है कि जिस चीज का कोई संबंध नहीं है, उसको भी आप उपन्यास का अंश बना सकते हैं। तो टेक्नीकली वो प्रथम पुरुष में लिखा जाने वाला।

शेरजंग गर्ग- आप स्वयं को व्यंग्यकार मानते नहीं हैं. . .?

श्रीलाल शुक्ल- मैंने ऐसा कब कहा है।

शेरजंग गर्ग- तो आप व्यंग्य को विधा मानते हैं या परसाई जी की तरह स्प्रिट मानते हैं?

श्रीलाल शुक्ल- मैंने यह कहा है कि व्यंग्य नाम की जो चीज है, उसने अपने आपको. . .अपनी कांस्टीच्यूंसी बढ़ा ली है, उसकी जो टैरेटरी बढ़ गई है. . .

गोपाल चतुर्वेदी- अगर लेखन आपको मुक्त करता है तो आप विधा के बंधन में क्यों बंधें?

श्रीलाल शुक्ल- फॉर द फॉर्म ऑफ गर्वनमेंट फूलज़ कंटेस्ट, विचऐवर इज़ बेस्ट इन द वर्ल्ड, इज़ बेस्ट।

प्रेम जनमेजय- आपकी इतनी लंबी रचना-यात्रा है। आपने अनेक परिवर्तन देखे हैं, इधर साहित्य में क्या आपको कोई बड़ा परिवर्तन दिखाई देता है- पाठकों की मन:स्थिति में, सामयिक लेखन में, लेखन की गुणवत्ता में या लेखन के प्रयास में? आप जैसे लेखक बहुत तैयारी के साथ लिखते रहे हैं और आज का युवा विशेष रूप से युवा व्यंग्यकार, किसी भी घटना का तुरत फुरत वर्णन करने को तैयार रहता है। एक तरह का इंस्टेंट लेखन हो रहा है। व्यंग्य रचना के स्थान पर व्यंग्यात्मक टिप्पणी-लेखन अधिक हो रहा है। आपका क्या कहना है?

श्रीलाल शुक्ल- साहित्य के आरंभिक दिनों में जब वो लिखित रूप में आने लगा तो उस समय के लेखक के सामने कोई मॉडल नहीं था, वो अपने ढंग से लिख रहा था। प्रतिभा सहारे मैदान मार ले जाना कोई बड़ी बात नहीं थी। प्रतिभा के लिए काफी गुंजाइश थी। लेखक जितना अधिक अपने भावी लेखन को एनालाइज करता है उतनी अधिक प्रतिभा की गुंजाइश कम रह जाती है, परिश्रम अधिक हो जाता है। गुणवत्ता इसलिए नहीं है क्योंकि परिश्रम कम है।

मैंने ये जा कहा कि व्यंग्य की टैरेटरी बढ़ गई है, आप देखिए कि देखने में हल्के- फुल्के मगर गंभीर उपन्यास आ गए हैं। आप मनोहरश्याम जोशी के 'कसप' को लीजिए।'

समय की सूईयां 11 को कब की पार कर चुकी थीं, गोपाल चतुर्वेदी को कार्यक्रम की अध्यक्षता करनी थी और मेरा लालच और प्रश्न पूछने का बढ़ता जा रहा था। श्रीलाल जी भी प्रश्न जैसे इनवाइट कर रहें थे। हम चिंतित थे कि कहीं कल की तरह वो फिर न थक जाएं, इसलिए अंतिम सवाल के रूप में मैंने ज्ञान का एक और प्रश्न उनकी ओर उछालते एक अलग तरह का प्रश्न किया- हिंदी साहित्य के जो खुर्राट लेखक माने जाते हैं- अशोक वाजपेयी से लेकर नामवर सिंह तक- आप या दुर्भाग्यवश वे सभी आपके करीबी/प्रशंसक वगैरहा रहे हैं। वे सभी विकट प्रतिभाशाली भी हैं। आप आज आंकलन करने बैठें तो ईमानदारी और बेबाकी से बताएं कि हिंदी साहित्य

में लेखन की जिस भी तरह की राजनीति इनके रहते / करते चली है, उसने हिंदी साहित्य को दिशा दी, पथभ्रष्ट किया, पटरी से उतारा या बड़ी पहचान बनाने से रोका?

श्रीलाल शुक्ल- पहली बात तो ये है कि जो हिंदी साहित्य की राजनीति, ज्ञान ने कहा, मैं इसका तथ्य ज्यादा नहीं जानता हूं। थ्रू आउट लखनऊ में रहा। इस सबका मुझे अधिक आभास नहीं है। मुझे इसमें पड़ने की जरूरत भी महसूस नहीं हुई। नामवर जी तथा अशोक मेरे मित्र हैं। विद्यानिवास जी मेरे बहुत घनिष्ठ मित्रों में थे। अब इस सब में मैं यदि व्यक्तिगत राजनीति में आता तो अपने को प्रमोट करवाने के लिए ही आता। मुझे अपने को प्रमोट करवाने की कोई आवश्यक्ता नहीं थी। मुझे इतना अधिक स्वीकार किया गया और इतने स्नेह से कि हिंदी फिल्मों में जो कहते हैं कि मुझे बड़ा प्यार मिला, वही मिला। इसलिए मुझे कभी इस तरह की राजनीति करने की कभी आवश्यक्ता नहीं पड़ी।

एक बात पुन: कह दूं कि ये जो कहा जाता है कि मैं व्यंग्य को हल्की विधा मानता हूं या विधा नहीं मानता, ऐसा तो मैंने कहीं नहीं लिखा है। मैंने कई बार व्यंग्य की टेरेटरी के एक्स्टेंशन की बात लिखी है। इसका कारण ये है कि इतना ज्यादा लिखा जा चुका है अभिधा में लिखने की गुंजाइश ही नहीं रही है। 'झूठा सच' को आप छोड़ दीजिए, बाकी जितने बड़े उपन्यास लिखे गए वे सब अभिधा के लालच में लिखे गए। अब जैसे ये तय कर लिया गया कि हमको गदर के जमाने से लेकर 1957 तक कवर करना है। ऐतिहासिक उपन्यास और भी बेकार होते हैं। आप घटना तक को बदल नहीं सकते हैं तो मौलिक क्या देंगे? पूरी चीज तो आपके सामने रख दी गई है। इस तरह के उपन्यासों में अधिक गुंजाइश नहीं होती है।

प्रेम जनमेजय- आजकल आप कुछ लिख पा रहे हैं।

श्रीलाल शुक्ल- आपको मैंने बताया ही कि स्ट्रोक के कारण लिखने में कठिनाई होती है। एक उपन्यास आरंभ किया है, छह महीने पहले। मैं डिक्टेट नहीं कर पाता हूं। डिक्टेट कराने से लेखन का सुख जाता रहता है। जो चीज बिल्कुल एकांत में करने की है वह पब्लिक में आ जाती है। जिस रचना को आप शेयर करते हैं वो रचना खराब हो जाती है। असल में एक मैजिक वर्ल्ड है जिसमें आप रचना के साथ रह रहे हैं। उसको जब आप कम्यूनीकेट करते हैं तो उसे खराब करते हैं।

आप लोग समय के कारण तनाव में न रहें। और सवाल हैं क्या?

प्रेम जनमेजय- ज्ञान चतुर्वेदी का प्रश्न है- परसाई, जोशी और रवीन्द्रनाथ त्यागी आपकी दृष्टि में, इनके कंट्रीब्यूशन को किस तरह से रेखांकित किया जाना चाहिए? इनकी ताकत क्या रही है और कमजोरी क्या रही है?

प्रेम जनमेजय को 'व्यंग्यश्री सम्मान'

हिंदी भवन न्यास, दिल्ली ने, पं. गोपाल प्रसाद व्यास के जन्मदिन पर 13 फरवरी 2009 को तेरहवां 'व्यंग्यश्री सम्मान-2009' प्रेम जनमेजय को देने की घोषणा की है। इससे पूर्व यह सम्मान- सर्वश्री श्रीलाल शुक्ल, रवींद्रनाथ त्यागी, मनोहरश्याम जोशी, के.पी. सक्सेना, शेरजंग गर्ग, लतीफ घोंघी, ज्ञान चतुर्वेदी, सूर्यबाला, विष्णु नागर आदि को दिया जा चुका है। हिंदी भवन प्रति वर्ष पं. गोपालप्रसाद व्यास के जन्मदिन को 'व्यंग्य-विनोद-दिवस' के रूप में मनाता है। इस बार पं. गोपाल प्रसाद व्यास की वेब साईट का भी शुभारंभ किया जाएगा।

'व्यंग्यश्री सम्मान' के अंतर्गत प्रेम जनमेजय को इकत्तीस हजार रुपए की नकद राशि, प्रशस्ति पत्र, वाग्देवी की प्रतिमा, श्रीफल, शाल, पुष्पहार आदि भेंट किया जाएगा।

श्रीलाल शुक्ल- हरिशंकर परसाई की जो शैली है, पद्धति है और जो उन्होंने कॉलम लिखे हैं वो श्रेष्ठ हैं। परसाई के निधन के पश्चात्, विशेषकर मध्यप्रदेश में जो लेखक पैदा हुआ है वो परसाई को ही अपने व्यंग्य लेखन का आदर्श मानता है। किसी व्यंग्य लेखक का इतना बड़ा प्रभाव देखने को नहीं मिलता है। शरद जोशी ऐसे हैं जिन्होंने हास्य और व्यंग्य को ऐसे एरिया में खड़ा कर दिया है जिसमें आप इधर भी जा सकते हैं और उधर भी।

प्रेम जनमेजय- . . .और रवीन्द्रनाथ त्यागी?

श्रीलाल शुक्ल- वो तो पंडित आदमी हैं।

प्रेम जनमेजय- आप इजाजत दें तो ज्ञान का एक और सवाल पूंछ लूं?

श्रीलाल शुक्ल मुस्कराते हुए बोले- सवाल आप मेरे से पूंछें और इजाजत गोपाल जी से लें।

गोपाल जी की बेचैनी की परतें बढ़ रही थीं और उसके साथ-साथ वे बेचैन मुस्कान से छटा भी बिखेर रहे थे।

प्रेम जनमेजय- ज्ञान का प्रश्न है- 'राग दरबारी' के कारण विश्व भर में आपके इतने सारे प्रशंसक पैदा हो गए जो समय के साथ बढ़ते ही गए हैं। उससे संबंधित कुछ प्रश्न हैं। पापुलर होना डराता है, मजे देता है, परेशान करता है? हिंदी में लोकप्रिय होना किसी लेखक को या किताब को इंफीरियर क्यों बनाता है? क्या श्रेष्ठ लेखन पापुलिस्ट लेखन नहीं हो सकता? प्रशंसकों से मिलने का समय निकाल पाते हैं क्या? 'राग दरबारी' के बारे में किसी का लिखा / कहा गया सबसे बढ़िया कमेंट या टिप्पणी जिसने आपको संतोष से भर दिया हो।'

गोपाल चतुर्वेदी- 'राग दरबारी' पॉपुलिस्ट' उपन्यास नहीं है, वो लोकप्रिय उपन्यास है।

श्रीलाल शुक्ल– वो और लोगों के साथ हुआ होगा, मेरे साथ नहीं हुआ। यदि रचना सफल होती है तो सफलता का मापदंड यही है कि वह अधिक से अधिक पाठकों तक पहुंचे।?

प्रेम जनमेजय– 'राग दरबारी' के बारे में किसी का लिखा / कहा गया सबसे बढ़िया कमेंट या टिप्पणी जिसने आपको संतोष से भर दिया हो।'

श्रीलाल शुक्ल– मुश्किल है बताना।

शेरजंग गर्ग– किसी रचनाकार की मान्यतों दो मापदण्ड होते हैं– एक तो उसकी पुस्तकें खूब बिकें और दूसरे उसे पुरस्कार खूब मिलें। आपकी दृष्टि में बेहतर विकल्प क्या है?

श्रीलाल शुक्ल– (हंसते हुए)– जिसमें उसे, खूब पैसा मिले. . .अच्छे पुरस्कार पाना और और रॉयल्टी पाना एक ही चित्र के दो पहलू हैं। हिंदी लेखकों में सबसे ज्यादा रॉयल्टी कमाने वाले शायद गुलशन नंदा हुए हैं. . .

गोपाल चतुर्वेदी चुटकी लेते हुए बोले– . . .वे थे, आज के गुलशन नंदा कौन हैं, श्रीलाल जी!

श्रीलाल शुक्ल– आज कोई गुलशन नंदा नहीं है। उनकी जो विशेषता थीं कि उनके जितने उपन्यास थे उनमें सेंसयुसनेस नहीं थी। उनके उपन्यास लड़कियों को पढ़ने के लिए नहीं दिए जाते थे। उनके बारे में मुझे पता है क्योंकि वे हमारे दूसरे जामाता के मौसा लगते थे।

प्रेम जनमेजय– आपकी रचनात्मक प्रक्रिया को लेकर ज्ञान का एक प्रश्न है– जब आप उपन्यास लिखते हैं तो सारे पात्रों का और घटनाओं खाका मन में शुरुआत से रहता है? या ज्यों-ज्यों उपन्यास बढ़ता है चीजें अपना स्थान लेती जाती हैं। क्या उपन्यास आरंभ करने से पहले नोट्स बनाते हैं? कितने ड्राफ्ट बनाते हैं आप उपन्यास के? लिखने के दौरान किसी को सुनाते, दिखाते / चर्चा भी करते हैं क्या? क्या ऐसा हुआ है कि उपन्यास छप जाने के बाद लगा हो कि इसमें ये रह गया है / या ऐसा होना चाहिए था?

श्रीलाल शुक्ल– पहली बात तो यह है कि एक केंद्रीय बिंब की आवधारणा होती है। फिर बाकायदा एक मुंशी की तरह, भविष्य के चिंतन को वर्तमान में उतारा जाता है। मुझे लगता है लिखने में जो आनंद है वो फ्री फॉर ऑल होना चाहिए। लेखन का एक मैजिक होता है। मैं ऐसा करता हूं कि एक बार लिखने के बाद उसे रिपीट करता हूं। कम-से कम तीन बार तो करता ही हूं और उसके बाद नार्मल आता है। इससे जो खराब है वो छंटने लगता है। ये प्रोसेस थोड़ा रिस्की अवश्य है, इसे सबके लिए प्रेस्क्राईब नहीं करूंगा। इसके लिए, आपकी आलोचनात्मक वृत्ति बहुत खुली होनी चाहिए, आत्मुग्धता नहीं होनी चाहिए। बोलकर लिखे गए उपन्यासों में शब्दों की फिजूलखर्ची बहुत होती है।

उपन्यास जब स्वरूप ले लेता है तो दो तीन लाईनों में उसके मुख्य अंश लिख लेता हूं। 'मकान' उपन्यास के साथ ये हुआ कि उसका प्रेमचंदीय अंत हो गया। जैसे प्रेमचंद, खूब चरित्र एक साथ लेकर चलते थे और जब वो परेशान करते तो उन्हें मरवा देते थे। हमने भी ये टेकनीक 'मकान' में अपनाई। लेखन को यदि चुनौती की तरह लेना है तो यह टेकनीक छोड़नी होगी।

प्रेम जनमेजय– आपने लेखकीय चुनौती की बात की, आज के लेखक के सामने जो चुनौतियां आ रही हैं उस पर आपके विचार जानना चाहूंगा। पिछले एक दशक में भारत ही नहीं पूरे विश्व का वातावरण बदला है। ग्लोबल विलेज के नाम पर पर स्थानीयता समाप्त हुई है। उपभोक्तावाद और बाजारवाद ने सोच का तरीका बदल दिया है। आपका शिवपालगंज भी बदल गया है। इस बदले परिवेश को आप एक लेखक के रूप में कैसे देखते हैं?

श्रीलाल शुक्ल– बाजारवाद को लेकर क्या कोई बड़ी रचना लिखी गई है? बाजारवाद ऐज सच, आऊटसोर्सिंग के विषय में कोई डायरेक्ट चीज आई है?

प्रेम जनमेजय– बड़ी रचना तो नहीं कहानियां और व्यंग्य तो लिखे ही गए हैं।

श्रीलाल शुक्ल– मैं यह कह रहा था कि हमारे यहां अनेक समस्याएं हैं जिन्हें गहराई से देखा नहीं गया है, जैसे दलितों की समस्या. . .

प्रेम जनमेजय– उस पर तो आपका उपन्यास है 'राग विराग'. . .

गोपाल चतुर्वेदी– प्रेम भाई अगर अब नहीं चले तो अनूप का राग क्रोध झेलना पड़ेगा, समय बहुत हो गया है. . .

श्रीलाल शुक्ल– अभी और प्रश्न हैं क्या?

प्रेम जनमेजय– सवाल तो हमारे भी बहुत हैं और ज्ञान के भी, ये देखिए, कितने प्रश्न हैं। अब शेष प्रश्न कुंआरे रह जाएंगे।

श्रीलाल शुक्ल– देखिए ये तो साक्षात्कार है, ज्ञान के प्रश्न लिखे हुए हैं, उन प्रश्नों का उत्तर मैं डिक्टेट करवा कर भेज दूंगा।'

प्रेम जनमेजय– धन्यवाद! 'व्यंग्य यात्रा' से बातचीत करने के लिए औपचारिक धन्यवाद भी। चलते-चलते अपने स्वार्थ का प्रश्न, पत्रिका आपको कैसी लग रही है?

श्रीलाल शुक्ल– बहुत बढ़िया. . .

प्रेम जनमेजय– इससे आपकी अपेक्षा?

श्रीलाल शुक्ल– . . .कि यह चलती रहे। पत्रिका निकालना बहुत कठिन काम है . . . अनेक अच्छी पत्रिकाएं बंद हो गई?

गोपाल चतुर्वेदी– व्यंग्य पर केंद्रित पत्रिका निकालना और अच्छी पत्रिका निकालना बहुत कठिन काम है। व्यंग्य पर कम से कम गंभीर चर्चाएं तो आरंभ हुईं।

प्रेम जनमेजय– ये कठिन काम आप सबकी शुभकामनाओं से ही सरल होगा और हो रहा है। 'व्यंग्य यात्रा' को सबका सहयोग मिल रहा है ये बड़ी बात है और ये ताकत देती है। धन्यवाद!

आओ बैठ लें कुछ क्षण

श्रीलाल शुक्ल के साथ कुछ औपचारिक क्षण– प्रस्तुति : प्रेम जनमेजय

मेरी स्मृति बहुत क्षीण है, उतनी मात्रा में क्षीण जितनी मात्रा में श्रीलाल शुक्ल जी की स्मृति तीक्ष्ण है। उनकी स्मृति की उनसे मिलने वाले प्रत्येक व्यक्ति ने प्रशंसा की है। अपनी स्मृति के बल पर वो अतीत का ऐसा सजीव वर्णन करते हैं कि लगता है जैसे सब कुछ सामने ही घट रहा हो। उनसे समय समय पर अनेक मुलाकातें होती रहीं हैं पर उन स्मृतियों को शब्दबद्ध करने का अवसर आते ही स्मृति पर मोतियाबिंद छा जाता है। औपचारिक क्षणों में श्रीलाल जी का एक भिन्न रूप होता है। उनकी स्मृतियों के खजाने से एक-के-बाद-एक घटनाओं के विवरण अपनी प्राकृतिक अवस्था में निसृत होने लगते हैं। 'व्यंग्य यात्रा' का श्रीलाल जी पर विशेषांक निकालाने का मन बना तो श्रीलाल जी के साथ कुछ अनौपचारिक क्षणों को शब्दबद्ध करने का विचार आया पर पाया कि पिछले बारह-तेरह वर्षों में चाहे मैं उनसे अनेक बार मिला हूं परंतु स्मृतियों पर मोतियबिंद का आघात है।

अनूप श्रीवास्तव द्वारा लखनऊ में अट्टहास समारोह में जाने का मेरे लिए एक बहुत बड़ा आकार्षण होता है श्रीलाल जी से मुलाकात का सुअवसर। 2007 में जब निमंत्रण मिला तो पुन: उस आकर्षण ने अपना जाल बिछाया पर मन आशंकित था कि क्या मिलना हो पाएगा क्योंकि पता चला था कि श्रीलाल जी बीमार हैं और दिल्ली में हुए अपने अस्सीवें जन्मदिन के कार्यक्रम के कुछ समय बाद उनकी तबीयत जो बिगड़ी, संभल-संभल के फिर बिगड़ जाती है। पिछले दिनों अस्पताल में भी रहे। ऐसे में बहुत संभावना थी कि उनके स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुए उनके बेटा-बहू मिलने का समय न दे पाएं। ऐसे में कोई मजबूत कंधा ही सहारा बन सकता था अत: भाई गोपाल चतुर्वेदी से, लखनऊ में, अपनी पहली मुलाकात में ही मैंने कहा कि श्रीलाल जी से मिलने का जुगाड़ बिठाइए। गोपाल भाई ने बताया कि आजकल कुछ ठीक हैं, मिलने तो चलेंगे पर पंद्रह मिनट से अधिक नहीं रुकेंगे। जैसे रेगिस्तान में तो एक बूंद पानी ही बहुत होता है और किसी सत्ताधारी की एक बूंद निस्वार्थ सेवा ही बहुत होती है, वैसे ही जहां मिलन आशा की कोई किरण न हो वहां पंद्रह मिनट अंधे को दो आंखें मिलने जैसा होता है। मैंने गोपाल चतुर्वेदी से कहा– 'भाई साहब श्रीलाल जी अपने शब्दों के प्रति बहुत सावधान है और विशेषकर साहित्य के बारे में बात करते समय बहुत गंभीर होते हैं।' मैंने उनके साक्षात्कार पढ़े हैं, वे बिना तैयारी के किसी बातचीत के लिए तैयार नहीं होते है। मेरा मन उनसे 'व्यंग्य यात्रा' के लिए साक्षात्कार लेने का है पर उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं है अत: पंद्रह मिनट के इस समय में वे औपचारिक तो क्या किसी भी बातचीत के लिए तैयार नहीं होंगे। अगर आप इस 'षड्यंत्र' में सम्मिलित हों और अनुमति दें कि मैं श्रीलाल जी के साथ अनौपचारिक क्षणों को रिकार्ड कर लूं। मैं आपको यह विश्वास दिलाता हूं कि बिना आपको इस आलेख का प्रारूप दिखाए मैं यह बातचीत न तो 'व्यंग्य यात्रा में प्रकाशित करूंगा और न ही कहीं प्रकाशनार्थ भेजूंगा। मेरे पास एक मोबाईल-सा दिखने वाला डिजिटल टेप रिकार्डर है, यदि आपको अनुचित न लगे और आपकी अनुमति हो तो बातचीत के समय मैं उसे ऑन कर लूं।' गोपाल जी ने कुछ सोचा और मुस्कराते हुए मेरी इस बदमाशी पर स्वीकृति की मोहर लगा दी।

मिलने का समय तय हुआ,और तय समय हम उनके द्वारे पहुंच गए। इस घर में तो अनेक बार आ चुका हूं ,जैसा भाव लिए, घंटी बजाई, नौकर ने द्वार खोला,सामने गोपाल चतुर्वेदी के परिचित चेहरे को देखकर ससम्मान नमस्कार किया और हमें बैठक में प्रवेश करवा दिया । सोफे और दीवान से सुसज्जित बैठक में प्रवेश करने के बाद मैंनें गोपाल जी से पूछा कि श्रीलाल जी कहां बैठतें हैं जिससे हम वो स्थान छोड़कर अन्यत्र बैठ जाएं। गोपाल जी ने कहा कि पिछली बार हम लोग यहां बैठे थे तो उनके यहां बैठने के उचित संकेत पर मैं उचित स्थान पर बैठा ही था कि अपनी चिर परिचित आत्मीय मुस्कान के साथ श्रीलाल जी ने प्रवेश किया। शरीर पर बीमारी ने अपने रंग दिखाए थे पर उनकी स्वागत करने की ताजगी पर वो कोई निशान नहीं छोड़ पाई थी। श्रीलाल जी ने एक स्वस्थ व्यक्ति की तरह हमारा स्वागत किया। सदा की तरह मेरे चरण स्पर्श की मुद्रा को

अधबीच में ही, सस्मित, रोककर हाथ मिलाया ओर बैठने का संकेत किया।

श्रीलाल जी ने बैठते हुए गोपाल चतुर्वेदी से कहा– 'हम एक्सपेक्ट कर रहे थे कि आपकी श्रीमती जी भी आएंगी।'

गोपाल चतुर्वेदी ने अपनी खुली हंसी के साथ कहा– 'श्रीमती जी के पुत्र आए हुए हैं और इस समय उनके लिए सबसे बड़ा आकर्षण पुत्र और बहु है। वे मां और सास के कर्तव्य निभा रही हैं।'

श्रीलाल जी की आंखों ने मुस्कराते हुए पूछा– 'चाय पिएंगें या विह्स्की पिएंगे?'

अंधे को जब दो आंखें मिलती हैं तो वह असमंजस में आ जाता है। कम से कम मैं तो उस समय आ ही गया था। केवल पंद्रह मिनट मिनट; आशा से गए और श्रीलाल जी की अस्वस्थता के कारण समय के और सीमित होने की आशंका से भरे मन को विह्स्की का निमंत्रण असंमजस करने के लिए काफी था। मन विह्स्की मिलने से कम और उसके बहाने से अधिक समय मिलने से प्रसन्न था। परंतु श्रीलाल जी की अस्वस्थता के चलते रंसरंजन के लिए हां करना किसी बदतमीज से कम नहीं था। बदतमीजी भी न हो और प्रसन्नता भी मिल जाए, ये गोपाल चतुर्वेदी की कुशलता पर निर्भर करता था। गोपाल जी ने भी असमंजसता के भाव के मिश्रण के साथ सचातुर्य गेंद उनके कोर्ट में डालते हुए कहा– 'अब क्या बताएं. . .आप जो पिएंगे, हम भी वो पी लेंगे। आप चाय पीएंगे तो हम भी चाय पी लेंगे. . .'

–'चाय तो मैं पीता नहीं हूं, एक प्याला कॉफी पी लूंगा और आप लोग कम से कम बातचीत के साथ सुविधा के लिए कुछ और ले लें. . .' और इससे पहले हम में से कोई औपचारिक वाक्य बोलता, श्रीलाल जी ने कहा– 'सोडा मंगा लें. . .ब्लैक डॉग चलेगी।'

गोपाल चतुर्वेदी ने अपने चिर परिचित अट्टहास के साथ कहा– 'अब काला कुत्ता हो या काला बिल्ला कुछ भी चलेगा, क्यों प्रेम जी!'

प्रेम जी क्या कहते, अंधें को दो नहीं अनेक आंखें मिल गईं थीं, और स्मृति- मोतियाबिंद से ग्रस्त इस सूरदास ने चुपके से अपने डिजिटल टेपरिकार्डर का बटन ऑन कर दिया। श्रीलाल जी ने मेरी ओर देखा तो मैंने एक अच्छे बालक की तरह अपने खिवैया गोपाल जी का समर्थन करते हुए कहा– 'कुत्ता चाहे काला हो या गोरा, बिल्ली से अधिक विश्वासपात्र होता है।'

श्रीलाल जी ने मुस्कराते हुए अपने सेवक को आवाज़ दी और आवश्यक कार्रवाई के निर्देश दिए।

मैंने इस अनायास मिले अवसर का अधिकाधिक लाभ उठाने के नेक इरादे से बातचीत का सिलसिला आरंभ करते हुए श्रीलाल जी से कहा– 'अनूप श्रीवास्तव के माध्यम से आपको 'व्यंग्य यात्रा' के अंक तो मिल ही रहे होंगे और 'हिंदी-व्यंग्य के समकालीन परिदृश्य' पर केंद्रित ये अंक (मैंने अंक की प्रति उनके सामने रखते हुए कहा) तो आपको मिला ही होगा जिसमें आपकी इस टिप्पणी के साथ कि आपकी श्रेष्ठ व्यंग्य रचना कौन-सी है, आपकी रचना 'जीवन का सबसे सुखी दिन प्रकाशित हुई है. . .

श्रीलाल शुक्ल जी ने अंक को अपने हाथों में लेते हुए कहा– 'हां, यह अंक अनूप जी ने दिया था. . .बहुत पुरानी रचना है 1957 की, उन दिनों किसी प्रतिष्ठित पत्रिका में दो तीन रचनाएं छप जाएं तो आप रातों-रात एस्टैब्लिश हो जाते थे।'

गोपाल चतुर्वेदी– 'आजकल नए लेखकों के लिए ऐसी पत्रिकाए नहीं हैं. . . उन्हें बहुत दिक्कतें आ रही हैं।'

प्रेम जनमेजय– कुछ लेखकों को ही दिक्कते आ रही होंगी, पर अधिकांश नए लेखक तो जैसे साहित्य-लेखन के मैनेजमेंट का कोर्स करके आए हुए हैं। उनका प्रबंधन इतना बढ़िया है कि दिक्कत को दिक्क्त आ जाए. . .

गोपाल चतुर्वेदी ने व्यंग्यात्मक मुस्कान के साथ कहा– 'मैं तथाकथित महिला लेखिकाओं की बात नहीं कर रहा हूं. . . पुरुष लेखक जो पुरुषार्थ से वहां पहुंचना चाहते हैं ऐसे पुरुष लेखकों की बहुत समस्या है. . .(एक ठाहका) मेरा कहना यह है कि आजकल उस तरह की पत्रिकाएं नहीं हैं...नए लेखकों के लिए प्रकाशन एवं स्थापित होने की बहुत दिक्कते हैं. . .आजकल धर्मयुग, साप्ताहिक, सारिका जैसी पत्रिकाएं कहां हैं. . .जिनमें आप लिखते थे और साहित्यिक वर्ग उनको पढ़ता था. . .आजकल कोई एक ऐसी पत्रिका नहीं है जो साहित्य के व्यापक संसार में आपको पहुंचाए।'

प्रेम जनमेजय– 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक' और 'सारिका' के दिनों में तो नए लेखक की कोई रचना प्रकाशित हो जाए तो नया लेखक रातोंरात चर्चित हो जाता था. . .मेरी जब पहली रचना 'धर्मयुग' में प्रकाशित हुई थी तो मुझसे बहुत अधिक सीनियर लेखक, जिनकी तब तक कोई रचना 'धर्मयुग' में प्रकाशित नहीं हुई थी, उनका पत्र आया जिसमें उन्होंने मुझे आदरणीय भाई साहब कहकर संबोधित किया था. . .आजकल 'हंस', 'नया ज्ञानोदय' जैसी कुछ पत्रिकाएं हैं जो नए लेखकों को मंच दे रही हैं पर 'धर्मयुग' जैसी प्रसिद्धि।

श्रीलाल शुक्ल– आपने ठीक कहा...फिर थोड़ा रुककर श्रीलाल जी ने कहा, 'चार-पांच दिन हुए हमारे मित्र केशवचंद वर्मा नहीं रहे...' उनके स्वर में एक अच्छे मित्र को खोने की भरपूर उदासी थी।

गोपाल चतुर्वेदी– उनका व्यंग्य उपन्यास था. . .'लोमड़ी का मांस'।

प्रेम जनमेजय– 'लोमड़ी का मांस' उनकी व्यंग्य रचनाओं का संकलन था. . . उनका उपन्यास 'काठ का उल्लू' था शायद. . .

श्रीलाल शुक्ल– पहले वे हास्य-व्यंग्य लिखते रहे पर बाद में उनकी रुचि बदल गई थी. . .संगीत परक लेख, संगीत परक संस्मरण लिखने लगे थे. . .

इस बीच अपने अग्रजों की बातों में दखल न देते हुए एक अच्छे बच्चे की तरह, लालित्य ललित ने हम लोगों के चित्र लेने लगे और जिसके लिए हम सबने बाकायदा पोज़ बनाए। गोपाल चतुर्वेदी ने यह कहकर कि लोग चित्र खींचकर ले तो जाते हैं पर देते नहीं, ललित से वायदा भी ले लिया कि वह चित्रों को डाक से भेज देगा।

चित्र-चित्रण की इस प्रक्रिया में गोपाल चतुर्वेदी ने श्रीलाल जी से कहा, 'इधर जब मैंने अखबार में 'कथाक्रम' वाले कार्यक्रम का चित्र देखा. . .मुझे लगा कि आप स्वस्थ हो गए हैं और कार्यक्रमों में जाने योग्य हो गए हैं।

श्रीलाल शुक्ल– स्वस्थ तो मैं नहीं था. . .सीढ़ियां ठीक से नहीं चढ़ पा रहा था . . .कुछ सीढ़ियां चढ़ने के बाद लड़खड़ा गया. . .नामवर जी साथ चल रहे थे उन्होंने थाम लिया।

गोपाल चतुर्वेदी ने हंसते हुए कहा, 'नामवर जी ने एक बात कही कि

यदि राजेंद्र यादव किसी पुस्तक की आलोचना करते हैं तो वह अच्छी होती है।'

मैं बातचीत को श्रीलाल जी पर केंद्रित करना चाहता था इसलिए कहा, 'पिछले वर्ष आपके अमृत महोत्सव पर किया गया कार्यक्रम एकदम लीक से हटकर था. . .साहित्य के साथ संगीत का अद्‌भुत मेल था. . .और उस दिन आप स्वस्थ एवं अति आकर्षक लग रहे थे. . .'

श्रीलाल जी बोले, 'उस दिन नामवर सिंह, अशोक और शिवकुमार मिश्र साहित्यकार होने के नाते थे. . .बाकि उसमें मेरी लड़कियों और दामाद थे, उन्होंने बहुत काम किया...एक पारिवारिक आयोजन था वो. . .उसके कुछ दिन बाद स्वास्थ्य बिगड़ने लगा. . . पिछले सप्ताह मैंने सोचा कि कहीं चला जाए तो पाया कि कमजोरी इतनी आ गई है कि यहां से वहां चलना ही कठिन हो जाता है. . .

गोपाल चतुर्वेदी- लगता है अमृत महोत्सव वाले दिन आपको नज़र लग गई. . .आप अपनी नज़र उतरवाइए. . .

श्रीलाल शुक्ल- (हंसते हुए) ओझा कहां से लाएं?

इस बीच 'काला कुत्ता' सर्व होने लगा और श्रीलाल जी बराबर इस बात का ध्यान रख रहे थे कि ठीक से सर्व हो. . . पानी सोडा और बर्फ का पूरा ध्यान रखा जा रहा था. . .'काला कुत्ता' सामने आया तो विभिन्न ब्रांडों की चर्चा भी चल रही निकली। गोपाल भाई अपने पसंदीदा सिंगल मॉल्ट पसंद और उसके ज्ञान से वातावरण को सक्रिय किया तथा श्रीलाल जी से यह वायदा भी लिया कि वे उनके साथ एक दिन सिंगल मॉल्ट का एक पैग लेंगे। गोपाल भाई ने अपने सिंगल मॉल्ट की चर्चा की तो मैंने त्रिनिदाद की रम की चर्चा छेड़ दी। इस पर श्रीलाल जी बोले- प्रेम जी, आपने यू. के. में आयोजित विश्व हिंदी सम्मेलन के दौरान त्रिनिदाद की जो रम दी थी उसका गज़ब ही किस्सा हुआ। गोपाल जी त्रिनिदाद की रम बहुत बढ़िया थी पर उसे हम पी ही नहीं पाए। हुआ ये कि एक ब्लैक लेबल और एक आपकी रम हम अपने दूसरे सामानों और सम्मानों के साथ ले आए। वो काफी दिनों तक संभाल कर रखी रही अपने लोगों के साथ पीने के लिए। इस बीच हमारे एक दामाद, हमारी भतीजी के हसबैंड... ही इज एन एल्हकॉलिक. . .वो रात भर रम पीते रहे और इस बात का लिहाज किए बिना कि चचा देखेंगे तो क्या कहेंगे। सवेरे एक स्लिप रखकर पांच बजे सब ठीक-ठाक कर के चले गए। तो वो बोतल वैसे ही चली गई। अब आप के पास दूसरी हो तो. . . (सम्मिलत ठाहका)

गोपाल चतुर्वेदी- जो रम के शौकीन होते हैं उनके सामने महंगी से महंगी स्कॉच रख दें, वे रम को ही प्रेफर करेंगे।

प्रेम जनमेजय- त्रिनिदाद में तो कोक के साथ रम बहुत शौक के साथ पी जाती थी। त्रिनिदाद के भारतीय उच्चायोग में मेरे दो तीन मित्र थे जिनके लिए महंगी स्कॉच महंगी नहीं होती थी, पर वे रम ही पसंद करते थे। वहां स्कॉच नारियल पानी के साथ पी जाती थी और कैरिब बीयर का तो जवाब ही नहीं।

इस बीच जाम से गिलास भर गए तो उस अविस्मरणीय शाम को श्रीलाल जी के स्वास्थ्य के लिए गिलास टकराए गए। ये दीगर बात थी कि श्रीलाल जी के हाथ में कॉफी का कप था।

श्रीलाल जी की अद्‌भुत स्मरणशक्ति एक के बाद एक किस्से बयान करने लगी। कुछ किस्से नौकरशाहों के थे और कुछ साहित्यकारों के। श्रीलाल जी ने अपने उन खास हितचिंतकों को भी याद किया जो कमल के ईश हैं और घर आकर बढ़िया दारू की इच्छा व्यक्त करते हैं, बढ़िया खाते हैं और इच्छा रखते हैं कि उनको घर भी छोड़ा जाए। पर जब श्रीलाल जी पर लिखते हैं तो निंदक हो जाते हैं जिन्हें दुष्ट-सुख का आनंद लेने में ही परम्सुख मिलता है। उनका कोई ऐसा संस्मरण नहीं होता जिसमें वे 'मी लार्ड' के सामने जब तक बयान न कर दें कि श्रीलाल शुक्ल कितने भयंकर पियक्कड़ हैं। इसके साथ ही के के दास, रामप्रसन्न नायक, गंगाशरण ओर गोविंद जी की लगभग पंद्रह मिनट यादें भी ताजा हुईं जिसमें गोविंद जी के संबंध में गोपाल चतुर्वेदी ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। इन किस्सों का श्रीलाल जी और गोपाल चतुर्वेदी के बीच बहुत आदान-प्रदान चला, एक किस्सा समाप्त हो और दूसरा चल निकले और इतना चला कि मैं भूल गया कि मैं भी वहां बैठा हूं। कविता में कहूं तो 'अस्तित्वहीन मैं'

मैंने अपने अस्तित्व को उस कमरे में कायम रखने के लिए श्रीलाल जी से पूछा, 'इन दिनों आप कुछ लिख पा रहे हैं?

श्रीलाल शुक्ल- मैं बोलकर तो कभी लिखवाता नही हूं और स्ट्रोक के कारण आजकल हाथ से लिखा नहीं जा रहा है... बोलने और बातचीत करने में, आप देख ही रहे हैं मुझे कोई दिक्कत नहीं है. . .बोलकर लिखवाने में मुझे दिक्कत ये रहती है कि जब तक मैं सोचकर कुछ लिखवाता हूं और कोई लिखता है तो उस बीच में गैप आ जाता है. . .आप मेरे कमरे में देखिए, ढेर सारी पत्रिकाएं आती हैं, उनको पढ़ने की कोशिश करता हूं. . .बस ऐसे ही सुबह शाम कट जाती है।

गोपाल चतुर्वेदी का मन किस्सों में, स्कॉच सामने होने के बावजूद, इतना रम गया था कि उन्होंने श्रीलाल जी के यादों की गुल्लक को हिलाते हुए कहा, 'आपका एक किस्सा मुझे याद आ रहा है विद्यानिवास मिश्र के साथ का। एक दिन आप उनके साथ बनारस में थे, ये विद्यानिवास जी ने ही बताया था, शाम होते ही श्रीलाल कुछ रेस्टलेस होने लगे. . .शायद आपमें और उनमें कुछ ही दिन का अंतर है।

श्रीलाल शुक्ल- बारह दिन का, मैं उनसे बड़ा हूं।

गोपाल चतुर्वेदी- खैर अंतर चाहे चार का हो या बारह का, उन्होंने उस अंतर को समझा और अपने एक शिष्य को बुलाकर कहा कि श्रीलाल जी को शहर घुमाकर लाओ (श्रीलाल जी और गोपाल चतुर्वेदी का सम्मिलित अट्टहास)

श्रीलाल शुक्ल- वो शिष्य भोजपुरी संघ के जनरल सैकेटरी थे।

गोपाल चतुर्वेदी- इन मामलों में विद्यानिवास मिश्र बड़े उदार मन थे। वे अपनी पोशाक आदि के बारे में और अपने बारे में रूढ़ीवादी थे पर दूसरों के बारे में बहुत उदार थे। मेरी पत्नी निशा से उनकी बहुत बनती थी। जब वे आ जाते थे तो उनका मन पसंद न जाने क्या-क्या बनता... साबूदाने के पापड़ और फल तो वे खूब खाते थे। इस बीच खाने और 'पीने' की व्यवस्था सुचारू रूप से चलती रहे, श्रीलाल जी ने अपने सेवक को बुलाया और व्यवस्था को सुचारू करवाया।

व्यवस्था सुचारु होते ही गोपाल चतुर्वेदी ने श्रीलाल जी की स्मृतियों

को फिर कुरेदा, 'मुझे याद है कि जब आपने 'राग दरबारी' लिखा था और उसे प्रशासन के पास अनुमति के लिए भेजा तो उसके इंतजार में. . .

श्रीलाल जी ने बात को पूरा करते हुए कहा. . .एक साल इंतजार करना पड़ा

गोपाल चतुर्वेदी- जी, उसके इंतजार में न जाने शामें इसी तरह हमने सुरेंद्र चतुर्वेदी, ठाकुर प्रसाद सिंह के साथ इस प्रकार गुजारी हैं। बहुत किस्से हैं प्रेम भाई. . .सुरेंद्र चतुर्वेदी के विवाह के. . .उनकी पत्नी ने हमसे बाद में कहा कि आप लोगों का बस चलता तो आप लोग हमारा विवाह ही नहीं होने देते।

श्रीलाल शुक्ल- मेरा एक स्फुट रचनाओं का संग्रह है- ये घर मेरा नहीं, उसमें सुरेंद्र चतुर्वेदी की चर्चा है।

गोपाल चतुर्वेदी- राग दरबारी के बाद वैसा क्लासिक फिर नहीं लिखा गया।

प्रेम जनमेजय- कोई भी क्लासिक दोहराया नहीं जा सकता। हां राग दरबारी के बाद व्यंग्य उपन्यास लिखे गए पर वे ऊंचाई न छू पाए। ज्ञान चतुर्वेदी ने एक ऊंचाई छुई है। 'बारामासी' अपनी तरह का क्लासिक है।

गोपाल चतुर्वेदी- ज्ञान का उपन्यास 'राग दरबारी' से अलग की चीज है। उसका क्षेत्र एक दम अलग है।

प्रेम जनमेजय- मैं कोई तुलना नहीं कर रहा हूं परंतु व्यंग्य उपन्यास लेखन में ज्ञान अलग दिखाई देते है।

श्रीलाल शुक्ल- ज्ञान के 'बारामासी' पर तो मैंने लिखा ही है और तारीफ भी की है।

प्रेम जनमेजय- जी हां. . .आपने उसे पसंद किया है. . .

चर्चा खाली न हो और बातचीत की सुविधा के लिए गिलास भरे हों, इसका ध्यान भी उन्हें निरंतर था। और जब गिलास भरते तो सोडा, ऑन द रॉक्स, सिंगल मॉल्ट, वोदका, बल्डी मैरी आदि चर्चा में आ जाते। इस सारी चर्चा में, चाहे वो साहित्य की हो या फिर विभिन्न ब्रांडों की, हाथ में गिलास पकड़े एक अबोध बालक-सा लालित्य ललित एक शिशु चकित नयनों से, देख रहा था ज्ञान प्रवाह। उस बालक को गोपाल चतुर्वेदी ने ज्ञान दिया कि विह्स्की के साथ अंग्रेज सोडा इसलिए लेते थे कि वे हिंदुस्तानी पानी नहीं पीना चाहते थे। और श्रीलाल जी के इस कमेंट के बाद कि आप लोग बात ज्यादा करते हैं पीते कम हैं, उस अबोध बालक ने हमारे गिलास भर दिए। भरे गिलास को देखकर गोपाल जी बोले- 'क्या है कि हम जीवन में इतना पी चुके हैं कि अब. . .'

प्रेम जनमेजय उवाच : पीना कभी 'चुका' नहीं होता है. . .और जब डॉक्टर ये कह दें कि अब आपका पीना चुक गया तो उसके बाद ही तो पीने का असली स्वाद पता लगता है और दो बूंद मे जो स्वाद आता है. . .

श्रीलाल शुक्ल- एक हमारे सीनियर कुलीग हुआ करते थे. . .जो रायबरेली की डी एम हुए, जिन दिनों रायबरेली विकसित हो रहा था और राजनीति के मैप में आ रहा था. . .और बाद में वे एक्साईज में चले गए। एक दिन उन्होंने मुझे बुलाया और कहा- श्रीलाल, ये तुम्हारे चीज एरिया में आती है, एक बात बताओ, मैंने कहा, आज्ञा कीजिए तो वे बोले- ये जो ड्राई जिन होती है, क्या किसी पुड़िया में आती है। (एक जबरदस्त सम्मिलित अट्टहास से श्रीलाल जी के कमरे की दीवारे भी जैसे हंस दीं।

प्रेम जनमेजय उवाच : ये लगभग वैसा ही किस्सा है जैसा मेरे कॉलेज के प्रिंसिपल ने किया था। जिस कॉलेज के प्रिंसिपल की बात मैं कर रहा हूं उनसे मैं पढ़ा हूं पर कॉलेज में पढ़ाया नहीं है। वे हिंदी विभाग से थे और प्रभाव से प्रिंसिपल बने थे। उन दिनों फोटोस्टेट मशीन नई-नई आई थीं, उसमें कैमरा होता था और एक स्लेट पर पहले उसका चित्र लिया जाता था। उस कॉलेज में भी नई फोटोस्टेट मशीन आई। उसका जादू दिखाने और उद्घाटन करने के लिए प्रिंसिपल साहब को बुलाया गया। उनके सामने अंग्रेजी में लिखा एक पृष्ठ फोटो कॉपी करने के लिए डाला और प्रिंसिपल साहब के आश्चर्य की सीमा नहीं रही, जब उन्होंने देखा कि कागज की कॉपी आ गई है।

वे गद्गद भाव से बोले- ये तो बहुत अच्छी मशीन है। आप ऐसा करें एक हिंदी के लिए भी ऐसी मशीन ले लें।' (दीवारें फिर ठाहकों से मुस्काराईं)

जैसा अक्सर होता है ठाहके के साथ बात समाप्त हो जाती है और उसके बाद हल्की-सी चुप्पी आ जाती है। वो तब तक रहती है जब तक कोई बतरस में वैक्युम को बर्दाश्त नहीं करने वाला उसे तोड़ता नहीं है। श्रीलाल जी ने इस वैक्युम को तोड़ते हुए कहा, 'मुझे आश्चर्य होता है कि वर्तमान लेखन में. . .या तो मैंने ठीक से पढ़ा नहीं है, कोई ऐसा प्रोस्पैक्टिव जिसमें एक साथ राहुल सांकृत्ययान, वासुदेवशरण अग्रवाल, विद्यानिवास मिश्र. . .एक साथ पढ़ने को मिले। अज्ञेय, जैनेंद्र कुमार. . .जैनेंद्र कुमार हिंदी के ऐसे लेखक हैं जिनके सामने, जैसा उन्होंने लिखा, उसका कोई मॉडल भारतीय भाषाओं या विदेशी भाषा में नहीं था। ही हैज रिटन डिफरेंट स्टोरीज . . .अब जैसा क्राफ्ट अज्ञेय का 'शेखर एक जीवनी में है' वैसा क्राफ्ट कहीं दिखाई देता है?' देट इज ऑलो ऐ डिफरेंट नॉवेल।

गोपाल चतुर्वेदी- आपकी अज्ञेय वाली किताब में तो मैं एक चीज बहुत एप्रीशिएट करता हूं, आपने व्यंग्य के परिदृश्य पर लिखते हुए जो परसाई का एसेसमेंट किया है. . .उन पर जो लिखा है? इट इज ग्रेट।

यह सुनकर श्रीलाल जी कुछ क्षण चुप रहे जैसे कुछ चिंतन कर रहे हों, बोले- 'परसाई का तो. . .हम लोगों पर तो आरोप लगाये जाते हैं कि हम लोग व्यंग्य का नाश कर रहे हैं. . .विधा की बात करते समय।

मैं श्रीलाल जी की तल्खी को मैं समझ गया और समझ गया कि आरोप का ये तीर वे मुझ पर छोड़ रह हैं। मैं थोड़ा बहुत अक्लमंद हूं इसलिए इशारा समझ गया। मैंने ही 'व्यंग्य यात्रा' के प्रवेशांक में लिखा था- व्यंग्य-साहित्य के साथ एक दुर्घटना घटी। सार्थक एवं दिशायुक्त व्यंग्य की वकालत करने वाले तथा अपने आरंभिक लेखनकाल में व्यंग्य को साहित्य में शूद्र का दर्जा दिए जाने का विरोध करने वाले हरिशंकर परसाई ने घोषणा कर दी कि व्यंग्य एक विधा नहीं, एक शैली है। अपनी पुस्तक की भूमिका में तो उन्होंने यहां तक लिख दिया कि उन्होंने कहानी, संस्मरण, निबंध आदि तो लिखे हैं पर व्यंग्य नहीं लिखे हैं। उनके इस हल्फिया ब्यान से उन्हें व्यंग्य का पितामाह मानने वाले सकते में आ गए। व्यंग्य को शूद्र से

ब्राह्मण का दर्जा दिलाने को कृतसंकल्प परसाई, व्यंग्य लेखक को फनीथिंग माने जाने से रुष्ट परसाई कैसे और क्यों स्वयं को व्यंग्यकार कहलाने से 'शर्माने' लगे, यह तो वे ही जानते हैं परंतु उनके इस बयान ने एक व्यंग्यकार को विसंगति के धरातल पर ला खड़ा किया। परसाई की जो प्रतिष्ठित पहचान प्रथम श्रेणी के व्यंग्यकार के रूप में वो एक कहानीकार के रूप में नहीं।

परसाई की इसी तर्ज पर (या किसी और तर्ज पर) श्रीलाल शुक्ल ने 'ज्ञानोदय' के अगस्त अंक में प्रेम कुमार से बातचीत में कहा, 'ज्ञान चतुर्वेदी ने एक बहुत अच्छा उपन्यास 'बारामासी' लिखा है। मैंने उसकी लंबी समीक्षा लिखी। अच्छे उपन्यास के रूप में उसकी व्याख्या की, पर उन्हीं की भूमिका में उसे व्यंग्य उपन्यास घोषित किए जाने पर मैंने आपत्ति की।' इसी साक्षात्कार में उन्होंने जिज्ञासा अभिव्यक्त की है- 'हिंदी में व्यंग्य लेखक की कोई कोई कैटेगरी है क्या?' श्रीलाल शुक्ल इसी कैटेगरी के व्यंग्य उपन्यास 'राग दरबारी' के लेखक के रूप में अधिक प्रख्यात हैं। अपनी प्रसिद्धि का आरंभ वह 'निकष' में प्रकाशित व्यंग्य रचना 'स्वर्णग्राम और वर्षा' को एक संयोग ही मानते हुए कहते हैं- एक संयोग था कि इस रचना ने ज्यादा ध्यान आकृष्ट किया। इसके साथ-साथ, आगे-पीछे मैं कहानियां लिखता रहा। यह जानते हुए भी कि हिंदी में साहित्यकारों का एक समुदाय व्यंग्य को विधा के रूप में ग्रहण करता है, व्यक्तिगत रूप से मेरे लिए यह शैली के स्तर पर अभिव्यक्ति की भंगिमा भर है तथा कथ्य के स्तर पर सामाजिक आलोचना की एक प्रविधि।' सूचनार्थ- इधर कमलेश्वर के संपादन में, नेशनल बुक ट्रस्ट ने 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी' का महत्वपूर्ण संकलन प्रकाशित किया जिसका लोकार्पण श्रीलाल जी द्वारा किया गया। इसमें श्रीलाल जी की कोई कहानी संकलित नहीं की गई है और न ही कमलेश्वर ने संकलन की सुनिश्चित सीमा के कारण छूटे हुए नामों में श्रीलाल शुक्ल का जिक्र किया है।'

जानता हूं मेरा उपर्युक्त कथन एक वरिष्ठ रचनाकार के प्रति बहुत तीखा था, पर. . .मैं जानता हूं कि श्रीलाल जी की स्मृति विलक्षण है पर नहीं जानता कि इतनी विलक्षण है कि समय पर वार भी करती है। मैंने कहा- ये आरोप कभी नहीं लगाया गया कि व्यंग्य का नाश कर रहे हैं. . .बस ये सवाल किया गया कि जो लिखा है उसे व्यंग्य कहने में शर्मिंदा क्यों हैं. . .परसाई अपने लेखन के आरंभ काल में निरंतर ये चिंता व्यक्त करते रहें कि व्यंग्य लेखक को फनीथिंग माना जाता है, उसे गंभीरता से नहीं लिया जाता और वे व्यंग्य लिखते हैं, ऐसा मानते थे पर बाद में कहने लगे कि उन्होंने कहानी लिखी है, निबंध लिखे हैं, पर व्यंग्य भी लिखे हैं, ऐसा मानने से बचते रहे। जैसे व्यंग्य लिखना और व्यंग्यकार कहलाना कोई 'फनीथिंग' है. . . व्यंग्यकार हैं पर व्यंग्य के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं।

श्रीलाल शुक्ल ने फिर बहुत तल्खी के साथ कहा- कौन स्वीकार नही करते हैं? चार पढ़े-लिखे लोग कह दें कि. . .कमजोरी यह रही है कि जैसे सन् 50 में नई कहानी का आंदोलन शुरु हुआ, उसमें से पचास प्रतिशित लोग ऐसे थे जो आलोचकों की भाषा में नई कहानी के बारे मे लिख सकते थे। अब उन दिनों कहानीकार विषय के अनुरूप अभिधा में बात कर रहे हों या व्यंजना में. . .उनकी शैली थी।अब आप 'राग दरबारी' को व्यंग्य उपन्यास कह लेंगे पर 'मकान' को क्या कहेंगे? अब उस समय की नई कहानी के बारे में कहानीकारों ने भी लिखा ही। अब ज्ञान चतुर्वेदी, आप. . .काहे चालीस पेज की किताब व्यंग्य के बारे में नहीं लिखते? अब ऐसा है कि हम तो कुछ भी सिद्ध नहीं कर पाते हैं।

प्रेम जनमेजय- पर आपने तो व्यंग्य के सैद्धांतिक पक्ष पर भी लिखा है। नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'हिंदी हास्य व्यंग्य संकलन' की भूमिका में लिखा है. . .

श्रीलाल शुक्ल- . . .तो उसमें मैंने क्या यह लिखा है कि हास्य व्यंग्य नाम की कोई चीज नहीं है?

मैंने परिस्थिति की नाजुकता को समझते हुए कहा, 'नहीं हम ये कहां कह रहे हैं कि आपने हास्य व्यंग्य के बारे में नहीं लिखा। मुझे तो आपके साथ इस संकलन का संपादन करने का गौरव प्राप्त है। मेरा तो कहना यह है कि जब परसाई मानते हैं कि उन्होंने व्यंग्य लिखा है और आप ने भी लिखा है पर उसकी अलग पहचान के बारे में एक उपेक्षा की दृष्टि है। अब ज्ञान के ही उपन्यास 'बारामासी' के बारे में आपने लिखा. . .

श्रीलाल शुक्ल- . . .मैंने तो कहा कि 'बारामासी' को केवल व्यंग्य उपन्यास कहने से उसकी क्षमता सहमित हो जाती है। उसमें जो एक बेवा का जीवन है, जो अपनी आंख के सामने चार लड़कों को फलता फूलता देखती है. . .उन चार में से एक को फांसी हो जाती है, दूसरा डॉक्टर बन जाता है, तीसरे चौथे एकदम निकम्मे हैं. . . मुझे विधा इम्पोर्टेंट नहीं लगती है जितना यह कि उसमें कहा क्या गया है. . .

मुझे बातचीत की एक दूसरी दिशा मिल गई, अत: मैंने बहस को उस ओर मोड़ते हुए कहा- आप बिल्कुल सही कह रहे हैं. . .व्यंग्य के नाम पर कुछ भी लिखा गया श्रेष्ठ नहीं हो सकता। हमारा अधिकांश व्यंग्य युवा लेखक इसी भ्रम में जी रहा है कि जैसे व्यंग्य कोई पारस पत्थर है जिसे छुआने भर से सब स्वर्णिम हो जाएगा। विधा श्रेष्ठ नहीं होती उसमें लिखा कथ्य श्रेष्ठ होता है। विधा का प्रश्न तो सेकेंडरी चीज है. . .

गोपाल चतुर्वेदी ने भी एकतरफा बातचीत को सामूहिक करने के इरादे से प्रवेश करते हुए कहा- अज्ञेय वाली पुस्तक में तो आपने लिखा है कि व्यंग्य अपनी बात को कहने का सब से सशक्त माध्यम है।

श्रीलाल शुक्ल- यह तो बहुत पॉवरफुल विधा है। जैसे ऐतिहासिक उपन्यास होते हैं, इतिहास उनका आधार हो सकता है, और उनमें इतिहास की प्रधानता होती है। ऐसे व्यंग्य प्रधान उपन्यास हो सकते हैं. . .व्यंग्य कथा हो सकती है, व्यंग्य प्रधान निबंध हो सकता है. . .

प्रेम जनमेजय- पर रचना में व्यंग्य और व्यंग्य रचना के फर्क को तो रेखांकित करना होगा। व्यंग्य रचना का क्राफ्ट कहानी के क्राफ्ट से भिन्न है। 'राग दरबारी' को हम केवल उपन्यास के क्राफ्ट के हिसाब से देखेंगे तो से अधूरा पाएंगे, अन्यथा अपने अलग क्राफ्ट के कारण वह विशिष्ट है. . .

श्रीलाल शुक्ल- मेरे विचार से ये इशु इतना इम्पोर्टेंट नहीं है कि हम इसी पर अपनी ताकत खर्च करें। और यदि किसी के लिए इम्पोर्टेंट है तो, आप ही के एक अभिन्न मित्र हैं उन्हें ऐसी चीजों पर लिखना

और बात करना अच्छा लगता है वो लिखें इस पर। मुझे लगता नहीं है कि लेखक के लिए यह प्राईमरी इशु है. . .

प्रेम जनमेजय- प्राईमरी इशु तो अच्छा साहित्य लिखना ही है। हम व्यंग्य लिख रहें है का दावा करने से आप सामाजिक सरोकारों से किनारा नहीं कर सकते हैं। व्यंग्य लिखने से सामाजिक सरोकार या साहित्य के मूल्य बदल नहीं जाते हैं, हां उसका ट्रीटमेंट भिन्न हो जाता है। पर सैकेंडरी इशू के रूप में इस पर सैद्धांतिक बातचीत करना अपराध नहीं है। अब नई कहानी के कहानीकारों ने भी तो नई कहानी पर बातचीत की ही। मुझे लगता है इस पर बात तो होनी ही चाहिए. . .

श्रीलाल शुक्ल, मुस्कुराकर- किनसे बात कीजिएगा?

गोपाल चतुर्वेदी- ठीक. . .किनसे बात कीजिएगा? अब परसाई ने व्यंग्य लिखे और बाद में कह दिया कि उन्होंने व्यंग्य नहीं लिखे और उनके इस समर्थन में पूरा का पूरा एक वर्ग आ गया।

श्रीलाल शुक्ल- बाद में परसाई पार्टी में आ गए। परसाई पर एक भिन्न दृष्टि से विश्वनाथ त्रिपाठी ने आलोचना पुस्तक लिखी है जो बहुत अच्छी पुस्तक है। हमारा एक लेख परसाई के बारे में कमला प्रसाद द्वारा संपादित पुस्तक में है। इसमें मैंने एक दो पैराग्राफ में परसाई की पॉलिटिक्स क्या है, इसके बारे में लिखा है। मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि परसाई महात्मा गांधी टाइप के आदर्शवादी हैं। वे मानते हैं कि साध्य के लिए गलत साधनों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। अब इसे कौन-सा सी.पी.आई. या सी.पी.एम. वाला मानेगा। ये मार्क्सइयन थ्योरी के एकदम अलग जाता है।

गोपाल चतुर्वेदी- परसाई को तो प्रगतिशील संघ ने अडॉप्ट कर लिया और परसाई प्रसन्नता के साथ अडॉप्ट हुए।

प्रेम जनमेजय- मुझे लगता है कि परसाई की सोच प्रगतिशील थी और मुक्तिबोध की मित्रता. . .

श्रीलाल शुक्ल- मित्रता के इलावा एक और बात है. . .अब आप देखिए आप जैसे लोग हैं. . .कभी किसी लेफटिस्ट ने अपाके खिलाफ लिखा या कहा. . .जिनकी छवि डाउटफुल होती है. . .कुछ गुंजाइश होती है उसके बारे में प्रगतिशील या जनवादी कुछ कहते नहीं हैं. . .विरोध नहीं करते हैं। अब सुमित्रनदंन पंत को भी प्रगतिशील बनाया गया। नागार्जुन उतने बड़े कवि नहीं थे जितना उनको बनाया गया। अब नेशनल बुक ट्रस्ट से सन 1970 में बड़ी क्षमा याचना के साथ उनकी आरंभिक कविताओं का संकलन प्रकाशित किया गया। अब यदि आप उन्हें महान कवि बनाना चाहते हैं, बाबा बनाना चाहते हैं तो कविताएं कहां है? तो यहां हैं कविताएं।. . .राजनीतिकीकरण की बात छोड़ें तो हिंदी व्यंग्य को जितनी गरिमा परसाई ने दी हिंदी में किसी ने नहीं दी।

प्रेम जनमेजय- परसाई ने हिंदी व्यंग्य को एक ऊंचाई दी। उसे एक सार्थक दिशा दी। हिंदी व्यंग्य लेखन का क्या सही स्वरूप होना चाहिए और व्यंग्य की सही दिशा क्या होनी चाहिए, इसे परसाई ने रेखांकित किया।

गोपाल चतुर्वेदी- परसाई ने हिंदी को व्यंग्य का सही संस्कार दिया है।'

गोपाल चतुर्वेदी के इस कथन के बाद अचानक एक लम्बी चुप्पी आ गई। श्रीलाल जी को देखकर लग रहा था कि वे जैसे थक गए हैं। बातचीत और हो सकती थी। पर पंद्रह मिनट के लिए आए हम लोग श्रीलाल जी को और थकाना नहीं चाहते थे। हमारे गिलास कब के खत्म हो चुके थे। हम समझदारों ने एक दूसरे के आंख के इशारे को समझा और चलने की इजाजत मांग ली। मेरे लिए ये अनमोल क्षण थे, जिन्हें मैं अपने डिजिटल टेप रिकार्डर में कैद कर सका। (इस आलेख को मैंने गोपाल चतुर्वेदी को 11 दिसंबर, 2008 को अपने लखनऊ प्रवास में पढ़ने के लिए दिया और उन्होंने अगले दिन इस मौखिक प्रमाणपत्र के साथ कि सब कुछ ठीक है, मुझे वापस कर दिया।

आलोक मेहता को पद्मश्री

प्रसिद्ध पत्रकार, रचनाकार एवं नई दुनिया के संपादक, आलोक मेहता को इस बार भारत सरकार ने पद्मश्री से सम्मानित करने का निर्णय लिया है। 'व्यंग्य यात्रा' परिवार की बधाई।

हिन्दी पत्रकारिता में आलोक मेहता का परिचय एक प्रखर पत्रकार, कुशल संपादक, राजनीतिक विश्लेषक, लेखक और कथाकार के रूप में होता है। इससे पृथक उनकी पहचान पत्रकारिता की दो पीढ़ियों के बीच सेतु पुरुष के रूप में भी है। 7 सितंबर 1952 को उज्जैन में जन्मे आलोक मेहता ने सन् 1970 में 'नईदुनिया' इंदौर से पत्रकारिता में प्रवेश किया। 1971 में 'हिन्दुस्तान समाचार' में संसदीय और राजनीतिक मामलों के रिपोर्टर का दायित्व निभाया। 1976 से 1979 तक प्रसिद्ध पत्रिका 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के दिल्ली स्थित संवाददाता के रूप में कार्यरत रहे। 1979 में मेहता का चयन वायस अंक जर्मनी, कोलोन के हिन्दी विभाग में संपादक के रूप में हुआ था, जहां वे 1982 तक रहे। 1994 से सितंबर 2000 तक 'दैनिक हिन्दुस्तान' के कार्यकारी संपादक रहे मेहता अक्टूबर 2000 से जुलाई 2002 तक 'दैनिक भास्कर' के संपादक भी रहे हैं। 'नई दुनिया' दिल्ली में कार्यभार संभालने के पहले वे 'आउटलुक साप्ताहिक' के संपादक थे। आलोक मेहता को उनकी पुस्तक 'पत्रकारिता की लक्ष्मण रेखा' पर वर्ष 2006 में 'भारतेंदु हरिश्चंद्र पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। इसी वर्ष उन्हें हिन्दी अकादमी का 'साहित्यकार-पत्रकार सम्मान' तथा उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के प्रतिष्ठित 'पत्रकारिता भूषण पुरस्कार' से नवाजा गया।

कृष्णदत्त पालीवाल

अज्ञेय की कृतियों का पाठ चुनौती देता है

स्वाधीनता और स्वाधीन चिंतन को बीज अवधारणा मानने वाले चिंतकों में अज्ञेय जी का नाम न केवल भूलने के विरुद्ध है अपितु सर्वोपरि है। अपने सृजन और विचार के केन्द्र में उन्होंने स्वाधीन चिंतन से भारतीय आधुनिकता, भारतीयता पर गहन चिंतन किया। इस गहन मौलिक चिंतन ने उन्हें न केवल हिंदी का बल्कि समग्र भारतीय सर्जनात्मकता का एक क्लासिक मॉडल बना दियां उनके विरोधी उन्हें पश्चिमवाद, पश्चिमी आधुनिकतावाद, व्यक्तिवाद, कलावाद-अतियथार्थवाद, अस्तित्ववाद, क्षणवाद का समर्थक रचनाकार कहते रहे और स्वाधीन चिंतन, प्रयोग प्रगति अन्वेषण को लेकर प्रश्नचिह्न लगाते रहे। लेकिन इस बात का लोहा मानते रहे कि शायद ही कविता, कहानी, उपन्यास, यात्रा-वृत्तांत, निबंध, ललित निबंध, पत्रकारिता, इण्टरव्यू, व्यंग्यलेखन, डायरी, संपादन जैसी विधा हो जिसमें नए प्रयोग अज्ञेय ने न किए हों। अभ्यस्त लीकों को तोड़ना, छोड़ना, बदलना और बदलकर आधुनिक संवेदन से संस्कार करना अज्ञेय का रचना-स्वभाव रहा है। उनके लिए निरंतर अपने को संस्कारित आधुनिकता के साथ उनसे पूर्व और उनके बाद का कोई भी रचनाकार इतनी सारी विधाओं में एक साथ इतनी एकाग्रता के साथ सक्रिय नहीं रहा और वह भी शिखर स्पर्शी उपलब्धियों के साथ। अज्ञेय की इसी आधुनिकता, प्रयोग-परंपरा-प्रगति अन्वेषीवृत्ति ने कथाकार चिंतक श्रीलाल शुक्ल को अज्ञेय के रचनाकर्म में विशेषकर कथाकार व्यंग्यकार रूप के प्रति समर्पित भाव से आकृष्ट किया। इसी विचारभूमि से 'अज्ञेय कुछ रंग, कुछ राग' शीर्षक पुस्तक में चार वैचारिक निबंधों ने निष्पत्ति पाई है।

श्रीलाल शुक्ल हिंदी के उन विरल रचनाकारों में से एक हैं जो अज्ञेय को पूरे मनोयोग से पढ़ते-समझते रहे हैं। किसी भी आइडियालॉजी की अंधी गुलामी श्रीलाल शुक्ल ने कभी स्वीकार नहीं की और वे हर तरफ से चिंतन में खुले रहे। इसलिए उनका रचनाकार मानस अज्ञेय जैसे चुनौती से भरे सर्जक और चिंतक पर विचार कर सका। इसलिए उनकी आलोचना या समीक्षा एक रचनाकार की समीक्षा है जिसमें मुक्तचिंतन की सर्जनात्मक धार तो है। आरोपित दुराग्रह नहीं है। श्रीलाल शुक्ल कहीं भी अज्ञेय को लेकर एकांगी दृष्टि से प्रयोग तथ्यों को विकृत नहीं करते। वे अज्ञेय की कहानियों, उपन्यासों, ललित निबंधों का एक नया टेक्स्ट या पाठ निर्मित करते हैं और इस पाठ के अर्थ व्यंजक संकेतों-चिंह्नों को 'डी-कान्स्ट्रक्ट' विनिर्मित करते हैं। इस विनिर्मित में केन्द्रापसारी अर्थ राग-दीप्त सच के साथ तरल और सहज होकर संतरण करने लगता है। अर्थ का विस्थापन और गठाव-संकेतक की अवधारणा से आत्मीय संवाद करने लगता है और प्रबुद्ध नया पाठक 'रीडर इन टेक्स्ट' में प्रवेश कर जाता है। रोज 'कहानी हो या 'शेखर एक जीवनी' जैसा उपन्यास हो' पाठक, कृति के पाठ-उपपाठ-अंतर्पाठ में प्रविष्ट होकर रचना के 'अवचेतन सिद्धांत' को खोलने लगता है। साथ ही संकेतक एक अर्थ नहीं, अनेक अर्थ संदर्भों की वक्रताओं को उजागर करने लगता है। 'शेखर एक जीवनी' जैसे जटिल उपन्यास की अनेकार्थी व्यंजना रचना या कृति से ही उद्भूत हो उठती है। श्रीलाल शुक्ल सृजन परिवेश की आवश्यकता में रचना समय, रचना-स्थिति और रचना मनोभूमिका की अर्थ-मीमांसा आलोचना के बंधे-बंधाये सांचों को तोड़कर करते हैं। इसलिए कृति-केन्द्रित उनकी समीक्षा किसी ढर्रे की ढपली नहीं बनती है। वह कृति के संवेदन-तंत्र को, आभ्यन्तर को ठीक से 'जानने' की कोशिश करती है। इसलिए अज्ञेय व्याख्यानमाला में अभिव्यक्त उनके विचार किसी पार्टी की पटरियों पर चलने से इंकार करते हैं। वे चिंतन की सादगी से भरे-पूरे अभिलेख हैं। कृति के 'पाठ' का 'डिस्कोर्स' नए सिरे से आंतरिक भाष्य करने के कारण ही वे कहानीकार अज्ञेय को लेकर यह ठोस अर्थ-तर्क प्रस्तुत कर पाते हैं कि अज्ञेय 'लोकजीवन के कथाकार हैं। वे पहले कथाकार हैं जिन्होंने इतिवृत्तात्मक बोझ को हल्का किया है।' श्रीलाल जी के इस अर्थ-तर्क से अज्ञेय के महत्व को टटोलने-परखने की जरूरत है। क्योंकि संयोगवश अज्ञेय जी अपने रचना समय के सबसे बड़े कवि मैथिलीशरण के शिष्य हैं। गुरू की स्थापित इतिवृत्तात्मकता को विस्थापित करते हुए फिर उस विस्थापन में अपना नया अर्थ स्थापित करने में ही अज्ञेय का सृजन अर्थ बनता है और परम्परा के भीतर से फूटती आधुनिकता का प्रसन्न अर्थ-वृत्त विस्तृत होता है।

श्रीलाल शुक्ल के इन व्याख्यानों से जुड़ी एक मर्म कथा है। पं. विद्यानिवास मिश्र ने 'अज्ञेय कुछ रंग, कुछ राग' के 'पुरोवाक' में उसे बड़ी विदग्धकला से कहा है कि 'श्रद्धानिधि अपने श्रद्धेय लोगों के ऋण की निष्कृति के रूप में एक विनम्र प्रयास है। इसके तहत प्रति दूसरे या तीसरे वर्ष श्रद्धेय भाई स्व. श्री सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' की स्मृति में साहित्यिक विषय में व्याख्यानमाला आयोजित होती है। पहली व्याख्यान माला बंधुवर श्रीलाल शुक्ल ने प्रस्तुत की थी। यह व्याख्यानमाला गोरखपुर विश्वविद्यालय, कुशी नगर में आयोजित हुई थी। श्रीलाल जी ने अज्ञेय के कथाकार रूप और व्यंग्यकार रूप को केंद्र में लिया। पर अज्ञेय जी को पूरे हिंदी साहित्य के विस्तृत चौखटे में रखकर लिया।' फलतः यह पाठक लेखक चिंतन की एक नयी चीज बन गयी। इस व्याख्यानमाला से उद्भूत पुस्तक में चार अभिलेख हैं (1) कहानी आंदोलन और

अज्ञेय की कहानियां (2) आधुनिक हिंदी उपन्यास और अज्ञेय (3) आधुनिक हिंदी उपन्यास और अज्ञेय (4) आधुनिक हिंदी व्यंग्य : अज्ञेय के संदर्भ के साथ।' इन व्याख्यानों में श्रीलाल शुक्ल ने हिंदी उपन्यास की विकासगाथा के साथ बड़ा काम यह किया है कि इस अंतर्यात्रा से प्राप्त मन्तव्य यह प्रस्तुत किया कि किस प्रकार चालीस वर्षों में हिंदी उपन्यास ने प्रौढ़ता प्राप्त की और किस प्रकार 'शेखर : एक जीवनी' के प्रकाशन से हिंदी उपन्यास अपनी अनेक पुरानी सीमाओं से मुक्त हो जाता है। अपने तर्कों को आधार देने के लिए श्रीलाल जी ने हिंदी के प्रख्यात उपन्यासों पर भी निगाह डाली और पाया कि 'शेखर : एक जीवनी' इस सदी का पहला उपन्यास है जिसमें मृत्यु, प्रेम, देशभक्ति, दर्शन इन सबको संश्लिष्ट रूप में जीते हुए तेजस्वी पात्र के रूप में शेखर को सामने रखा गया है। इस उपन्यास में ऊपर से दिखता है कि इसके ऊपर रोमांटिक छाप है, पर ध्यान से पढ़ने पर यह उपन्यास हिंदी का सर्वश्रेष्ठ क्लासिक उपन्यास लगता है। इसकी बनावट और बुनावट की तुलना ज्यां क्रिस्तोफ से की जा सकती है। यद्यपि यह तुलना बिल्कुल सतही है क्योंकि दोनों लेखकों– अज्ञेय और रोम्या रोलां की भावभूमियां और विचार भूमियां अलग हैं।' (पुरोवाक पृष्ठ-8)

अज्ञेय और रोम्योलां की तुलना करने पर हम पाते हैं कि दोनों की मनोभूमिकाएं एकदम अलग हैं। इतना ही नहीं दोनों के नायक भी अलग भावभूमि पर खड़े हैं। अज्ञेय ने ज्यां क्रिस्तोफ के प्रभाव को इस रूप में स्वीकार किया है कि ज्यां क्रिस्तोफ के अनवरत आत्मशोध और आत्मसाक्षात्कार का जो चित्र रोलां ने प्रस्तुत किया है उससे अज्ञेय को अवश्य प्रेरणा मिली है। लेकिन अज्ञेय ने विद्वानों की इस खोज को अस्वीकार किया है कि 'बाजारोक' (तुर्गनेव के उपन्यास का नायक) का कोई प्रभाव शेखर पर है। स्वयं श्रीलाल शुक्ल ने काफी छानबीन के बाद पाया है कि शेखर विद्रोही नहीं है, वह नियतिवादी भी नहीं है। श्रीलाल शुक्ल के शब्दों में यह अपने समय का सर्वाधिक और संभवत: सर्वप्रथम आधुनिक उपन्यास है। इसमें हम पहली बार सम्पूर्ण भारत के भौगोलिक और सांस्कृतिक जीवन के भागीदार बनते हैं। एक ऐसे नायक का सान्निध्य पाते हैं जो अधूरा और असफल भले ही लगे जीवन की संपूर्णता के प्रति निरंतर सजग है। उसी पर सोचता है और उसी को पूरी निष्ठा से पाना चाहता है।' इस तरह हिंदी का पहला आधुनिक है अज्ञेय। इसी तरह श्रीलाल की निगाह अज्ञेय के व्यंग्य पर जाती है तो वे हिंदी की व्यंग्य परम्परा को टटोलकर पाते हैं– कि 'रमणीय गंभीरता के हलके चापल्य की कौंध' चकित करने वाली है।

श्रीलाल शुक्ल ने 'अज्ञेय कुछ रंग, कुछ राग' की प्रस्तावना में कहा है कि पं. विद्यानिवास की प्रेरणा से और श्रद्धानिधि ट्रस्ट के आमंत्रण पर मैंने अज्ञेय साहित्य के विशेष संदर्भ के साथ आधुनिक हिंदी कथा-साहित्य और व्यंग्य पर तीन व्याख्यान प्रस्तुत किए। इन व्याख्यानों पर उनकी सुविचारित टिप्पणी है 'साहित्यिक प्रश्नों पर अकारणीय और अध्ययनधर्मी रीति से विचार करने की यूथ में योग्यता और आत्मानुशासन नहीं है। यह जानते हुए कि श्रद्धानिधि ट्रस्ट के न्यासियों ने जब मुझे इन विषयों पर बोलने के लिए आमंत्रित किया तो मुझे यही लगा कि संबंधित विषयों पर किसी अध्येता के चिंतन की बजाय वे संभवत: उन पर एक सर्जनात्मक लेखक की प्रतिक्रिया जानने को उत्सुक होंगे।' इस तरह एक सर्जनात्मक लेखक ने अज्ञेय पर 'सुव्यवस्थित तर्क श्रृंखला' को पाठक के सामने परोस दिया। वे पूरी विनम्रता के साथ प्रचलित धारणाओं एवं आग्रहों से हटकर अज्ञेय पर पुनर्विचार के लिए प्रवृत्त हुए और हिंदी के बहुत से आलोचकों के मतों को मथते हुए आगे बढ़े। अज्ञेय ने बार-बार इस तथ्य का विस्तार से संकेत दिया है कि क्यों वे 'लीक जो हमको मिली थी। अंधी गली थी' कहते हुए सामाजिक परिवर्तन के साथ नए प्रयोगों को लेकर राही नहीं राहों के अन्वेषी' बनकर पूरे संकल्प के साथ सर्जन-चिंतन के क्षेत्र में आगे आए। उन्हें पुरानी कला के निरंतर निष्प्रभावी हो जाने की गहरी विडंबना का अनुभव हुआ। उसने रियलिज्म इम्प्रेशनिज्म' की सीमाओं से बाहर निकलकर क्यूबिज्म को इतना क्षेप अवश्य दिया कि कैसे उसने कलाकृति के सत्य, अर्द्ध-सत्य को फिर से खोजा और इस खोज में तमाम सफल असफल चुनौतियों का सामना किया। चाहे कला-उत्पादन की शर्तें व्यक्तिमूलक ही रही हों, लेकिन उसने 'ऐकेडेमिसिज्म' के शास्त्रवाद को तोड़ा। अपनी सामाजिक-राजनीतिक होने की अर्थ व्यंजना को उसने वैयक्तिकता और वैयक्तिकता के अतिक्रमण के साथ समझा। अज्ञेय ने पाया कि क्या विरोधाभास है कि जिस उपन्यास विधा का जन्म सामाजिक परिवर्तन की आंतरिक शक्ति से हुआ और औद्योगिक क्रांति के आसपास हुआ। उसी ने अपने विकास के चरणों में इन विधा को कायाकल्प के लिए विवश भी कर दिया। कथा-साहित्य मानव संबंधों के गहन विस्तृत लोक में क्या उतरा उसने स्मृतिलोक के मिथकीय आयामों में 'महाकाव्यात्मक विस्तार पा लिया। उपन्यास की इतिहासधर्मी विधा अचानक अनैतिहासिक प्रणालियां अपनाने लगी। क्या गजब हुआ कि उपन्यास प्रूस्त, ज्वाहस, काफ्का, कामू की इस धुरी पर चक्कर काटने लगा जिसमें वैयक्तिक विजन का महत्व बढ़ गया। अपनी सामाजिकता की प्रेरणा से उपन्यास काव्य के निकट आता गया। अज्ञेय के उपन्यासों की काव्यात्मकता को समझने के लिए इस संदर्भ को हमें भुलाना नहीं होगा। अज्ञेय में एक ताजगी है एक उत्तेजना है एक आधुनिक बौद्धिक संवाद है। एक अतिरिक्त सी लगने वाली भावदशा की संवेदनशीलता है। एक तरह की प्रयोग प्रगति की ललकार के पीछे स्वाधीनता आंदोलन की गति-लय है और उस नवजागरण का प्रकाश है जिसमें अरविन्द विवेकानंद नत्थी हैं, कुमारास्वामी का सांस्कृतिक चिंतन पर्व है और प्रखर भारतीय आधुनिक बुद्धिजीवी का विद्रोही तेवर है। इस विद्रोही तेवर में भारत का युवा मानस उमड़-घुमड़ रहा है और उड़चन हारिल लिए हाथ में एक अकेला ओझा तिनका। उषाजाग गई प्राची में किसकी बाट, भरोसा किनका' का संकल्प दुहरा रहा है। यह हारिल ऊपर-ऊपर ऊपर-ऊपर चढ़ा चीरता चल दिया?। 'अनथक पंखों की चोटों से नभ में एक मचा दे हलचल' का अरमान लेकर उड़ रहा है। यह वह रचनाकार है जिसे ज्ञात है कि 'मैं वह धन हूं जिसे साधने मे प्रत्यंचा टूट गई है।' अज्ञेय के इन कथनों की दुर्भाग्यवश हिंदी आलोचना ने एकदम अलसनी है और पूरे पागलपन के साथ उन्हें पश्चिम का नकलची कलावादी सिद्ध किया

है। नतीजा यह हुआ कि विचारधारा की प्रतिबद्धतावादी बीमारी ने अज्ञेय के रचना-कर्म पर स्वस्थ से विचार, पुनर्विचार नहीं होने दिया।

मेरे जैसे अज्ञेय के रचनाकर्म के प्रति लगाव रखने वाले पाठकों के लिए यह अपार प्रसन्नता का विषय है कि श्रीलाल शुक्ल ने अज्ञेय को झूठे आरोपों से ध्वस्त नहीं किया। जबकि हिंदी के ज्यादातर आलोचकों ने रचनाकार अज्ञेय के सिर पर अंधाधुंध लाठियां बरसाई है और उनकी 'कृतियों' पर ध्यान नहीं दिया। शायद ही हिंदी के किसी रचनाकार को इतना अपमान इतनी उपेक्षा झेलनी पड़ी हो जितनी अज्ञेय को। यह अपमान इसलिए झेलना पड़ा कि उन्होंने विचारधारा विशेष की गुलामी में बंधने से इंकार किया। उन्हें 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' के दायरे में घेरकर अमरीकी दलाल तक सिद्ध करने की साजिश रची गई। हिंदी आलोचना का यह 'काला रजिस्टर' आज हृदय में पीड़ा पैदा करता है कि कैसे खोटे सिक्कों ने असली सिक्कों को साहित्य से बाहर निकालने की उपद्रवी लीला का खेल खेला है। श्रीलाल शुक्ल ने कहा कि 'कहानी आंदोलन और अज्ञेय की कहानियां' शीर्षक अभिलेख में उस वैविध्यपूर्ण चिंतन को विस्तार से प्रस्तुत किया जिसे चार-पांच दशकों की कहानी आलोचना ने पाठक के सामने रखा है। कहानी के विभिन्न आंदोलनों के प्रवक्ताओं ने कहानी को लेकर अनेक फतवे दिए और कहानी प्रतिमानों को स्पष्ट करने के बजाय उलझाकर जटिल अस्पष्ट बनाया। श्रीलाल शुक्ल ने कहा कि मुझे लगता है कि कहानी की स्थिति पर संसार के किसी भी साहित्य में इतना दीर्घ और उत्तेजनापूर्ण विचार-विमर्श नहीं हुआ जितना कि हिंदी साहित्य में।' (अज्ञेय : कुछ रंग, कुछ राग पृष्ठ 12) लेखकों आलोचकों की अंतहीन बहस के कारण ही बहुतों को यह भ्रम होने लगा कि कहानी ही आज साहित्य की सर्वोपरि विधा है।' नामवर सिंह, देवीशंकर अवस्थी से लेकर महीप सिंह तक तथा मोहन राकेश, मार्कण्डेय, कमलेश्वर से लेकर जैनेन्द्र और निर्मल वर्मा सभी इस बहस में गर्क रहे हैं। 1959 में लिखी गई एक कहानी के बाद अज्ञेय ने कहानी लिखना बंद कर दिया। अज्ञेय की कहानियों का– सम्पूर्ण कहानियों का संग्रह 1997 में प्रकाशित हुआ। इसमें अड़सठ कहानियां हैं– 1929 में लिखी पहली कहानी 'जिज्ञासा' है और दूसरी कहानी 'विपथगा' 1931 में। ज्यादातर कहानियां अठारह वर्ष की उम्र से लेकर पच्चीस वर्ष की उम्र तक लिखी। अंतिम चौदह कहानियां स्वतंत्रता के बाद 1947 से 1959 तक लिखी हैं। कहना होगा कि अज्ञेय ने कहानी लिखना तब शुरू किया जब प्रेमचंद लेखन की उठान पर थे। लेकिन अज्ञेय ने प्रेमचंद से अलग राह बनाई उनसे अप्रभावित रहकर। वे अपनी मानसिकता में जयशंकर प्रसाद के नजदीक रहे किंतु कथा संवेदना शिल्प के स्तर पर उनसे भी दूर रहे। अज्ञेय ने व्यक्तिमन में पैठकर व्यक्ति के मनोलोक पर विश्लेषणपूरक कहानियां लिखीं। बड़ी बात यह भी रही कि जैनेन्द्र कभी अज्ञेय के लिए प्रेरणास्रोत नहीं बने और तो और चेखव, ताल्स्ताय, मोमांसा और ओ हेनरी से भी वे अप्रभावित रहे। इस तरह उन्होंने अपनी कहानियों का अपने मौलिक मुहावरे का व्यक्तित्व दिया। वे रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पास भी मुहावरा लेने नहीं गए। 'अमरवल्लरी' जैसे कहानी में भी नहीं। अज्ञेय के लिए कहानी एक क्षण का चित्र प्रस्तुत करती है, 'क्षण का अर्थ हम चाहे छोटा कालखंड लगा लें।' कहानी एक मनः स्थिति का सत्य है। निर्मल वर्मा के शब्दों में कहानी 'अंधेरे में चीख' है?

अपनी उच्छल भावुकता के बावजूद अज्ञेय की ज्यादातर कहानियां क्रांति, पुराने क्रांतिकारी, जेल की जिंदगी, देश-विभाजन आदि की पृष्ठभूमि पर लिखी गई हैं। इन कहानियों को आज विदेशी परिवेश में स्थिति क्रांति, जीवन के मूल स्रोत से विच्छिन्न क्रांति और अव्यावहारिक पृष्ठभूमि पर लिखी गई कहानियां कहना कोरी मूर्खता है। यह कहना भी गलत है कि अपने रुमानी रुझान और जीव-जगत संबंधी भाववादी दृष्टिकोण के कारण अज्ञेय का मन सबसे अधिक स्त्री और प्रेम संबंधों के अंकन में लगता है। आलोचकों को अज्ञेय की कहानी-भाषा पर भी निरर्थक आपत्ति रही है। जैनेन्द्र मानते रहे हैं कि अज्ञेय शिल्प के प्रति अधिक सजग रहे हैं। इसलिए गहरे जाने पर भी उनकी कहानियों में बात बनती नहीं है। इस तरह के तमाम तर्कों का श्रीलाल शुक्ल ने प्रतिवाद किया है। उन्होंने लिखा है– गैंग्रीन (रोज), अमरवल्लरी, हासिल 'विपथगा', 'पगोड़ावृक्ष', 'चिड़ियाघर', 'पुरुष का भाग्य', 'शरणदाता', 'जयदोल', 'पठार का धीरज', 'हीलीबीन की बत्तखें', 'मेजर चौधरी की वापसी', 'नगा पर्वत की एक घटना', 'नारंगियां', 'खितीन बाबू' आदि कहानियों के आज भी पुनर्पाठ की आवश्यकता है। (वही पृष्ठ 32) अज्ञेय कहानियों के इतिवृत्तात्मक ढांचे को तोड़कर नया सांचा गढ़ते हैं। इस गढ़न से श्रीलाल शुक्ल में यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि कहानी के बीते कल की ये कहानियां कहानी के आगे केकल भी पढ़ी जा सकेंगी' और पाठक हर बार इनका एक नया पाठ-अर्थ उठाता रहेगा। क्योंकि इन कहानियों में लोक भावभूमि की अनन्त बहुलार्थक ध्वनियां हैं। अज्ञेय इस बात के पक्के उदाहरण हैं कि दोषयुक्त होने पर भी रचना महान हो सकती है और समय उन्हें पुराना निरर्थक कहकर कूड़ेदान में नहीं फेंक पाता है।

'आधुनिक हिंदी उपन्यास और अज्ञेय (1)' में व्याख्यान का उठान इस विचार की ओर है कि उपन्यास के साथ– हिंदी उपन्यास के साथ आधुनिक विशेषण अनावश्यक है क्या? आधुनिक का अर्थ काल सापेक्ष होने के कारण उपन्यास आधुनिक युग की देन है। उपन्यास की विधागत प्रतिष्ठा बीसवीं शताब्दी की घटना है। लेकिन यदि 'आधुनिकता' को 'प्रक्रिया' से ज्यादा मूल्य समुच्चय? माना जाएं तो तर्क का दूसरा पहलू प्रबल हो जाता है। इसी संदर्भ को उठाते हुए श्रीलाल शुक्ल ने कहा है कि और जब इस प्रसंग में अज्ञेय का नाम लिया जाता है तो इसीलिए कि हिंदी उपन्यास की यात्रा जब मुश्किल से चालीस साल पुरानी थी तब एक चमत्कार की तरह उनका दो भागों वाला उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी' प्रकाशित हुआ, जो अपने सम्पूर्ण अर्थों में हिंदी का शायद पहला आधुनिक उपन्यास है।' (वही पृष्ठ-34) यह उपन्यास अपने शीर्षक से ही आधुनिकताबोध का संकेत देता है। यह जीवनी जैसी विधा को तथ्य से निकालकर उपन्यास जैसी काल्पनिक विधा से जोड़ देता है। 'शीर्षक से ही जो द्वैधवृत्ति प्रकट होती है वह उसी प्रश्नाकुलता का लक्षण है जो आधुनिकता की पहली शर्त है।' क्या यह सच नहीं है कि पश्चिम में

औद्योगिक क्रांति के साथ शहरी मध्यवर्ग का उदय और उदय के साथ मध्यवर्ग की महागाथा, महाकाव्य के रूप का विकास हुआ। हिंदी में उपन्यास ने प्रेमचंद के साथ जब अस्मिता ग्रहण की तब उपन्यास के मॉडल के रूप में थैकरे, डिकेंस आदि मौजूद थे, बालजाक और विक्टरह्यूगो थे। गान्सवर्दी और दास्ताव्स्की थे। लेकिन हिंदी उपन्यास पश्चिमी उपन्यासों की तरह मध्यवर्ग की महागाथा न बनकर ग्रामीण किसान संवेदना, शहरी निम्नमध्यवर्ग का भाव-जगत बनकर आया। 'रंगभूमि', 'गोदान' के बाद अज्ञेय का 'शेखर : एक जीवनी'। विषयवस्तु की दृष्टि से जीवनानुभवों की विविधता, व्यापकता और गहराई लेकर आया। उपन्यास के क्षेत्र में जैनेन्द्र, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, अश्क, अमृतलाल नागर ने भारी उथल-पुथल की। कई बार की जुताई ने हिंदी उपन्यास की सर्जनात्मकता को लहलहा दिया और इसी ताकत को लेकर आया हिंदी का पहला आधुनिक उपन्यास 'शेखर : एक जीवनी'। इतना ताजा और नया कि पुराने सोच का शिवधनुष टूट गया। नए प्रेमानुभवों को लेकर जगह-जगह 'शेखर : एक जीवनी' का विरोध हुआ उसकी प्रतियां जलाई गई और अज्ञेय पर अनैतिकता के आरोप लगे। स्वयं मैथिलीशरण गुप्त 'शेखर' को पढ़कर क्रोधित हुए तथा आगरा, ग्वालियर आदि शहरों में उनका सार्वजनिक बहिष्कार किया गया। कहा गया कि अज्ञेय ऐसा व्यक्ति है जो सभ्य समाज में बैठाने लायक अतृप्त नहीं है, कुंठित यौनवादी और फ्रायडवादी। अर्थात अज्ञेय का रोमांटिसिज्म अश्लील गारा है– वह छायावाद के रोमांटिसिज्म से भिन्न है।

'आधुनिक हिंदी उपन्यास और अज्ञेय (2) में श्रीलाल शुक्ल ने हिंदी उपन्यासों की पृष्ठभूमि पर विचार करने के लिए 'भवन्ती' के अज्ञेय द्वारा दिए गए वक्तव्य को प्रस्तुत किया, 'मैंने आलोचक होना कभी नहीं चाहा, चाहा तो लेखक होना ही चाहा। 'लेखक' में कभी उपन्यासकार होने की आकांक्षा प्रधान रही तो कभी कवि होने की, यह दूसरी बात है। कालांतर में मैंने मान लिया कि मेरी जैसी दृष्टि है, उसकी जो विशिष्टता है और सीमा है- उसे देखते हुए मैं कवि ही रहूंगा, उपन्यासकार नहीं बनूंगा? (पृ.42) इस तरह के जगह-जगह अज्ञेय ने जो आत्म-वक्तव्य दिए हैं उसने हिंदी आलोचना का बड़ा अधिक किया है, इनसे तमाम तरह की भ्रांतियां फैली हैं। अपने 'मौन' के लिए विख्यात अज्ञेय अपने गद्य में बहुत ज्यादा बोलते मिलते हैं। उनके कथन 'इंटेंशनल फैलेसी' तक सीमित नहीं रह जाते। वे अजीब-अजीब उलझनें पैदा करते हैं। उनसे उनकी कृतियों को समझने में मदद नहीं मिलती। श्रीलाल शुक्ल ने बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि प्रश्न यह है कि कृति के संबंध में स्वयं लेखक या किसी दूसरे के द्वारा उठाई शंका और उस पर दिया गया लेखक का समाधान ही क्या अंतिम समाधान है? सच बात यह है कि पाठक को कृतिकार पर नहीं 'कृति' पर भरोसा करना चाहिए। रचना का सच रचना के भीतर ही मौजूद रहता है- 'पाठ' में प्रविष्ट पाठक उस सच से साक्षात्कार करता है। लेकिन रचना के बाहर जो अर्थ किया जाता है वह आरोपण है- भीतरी सच की भीतरी पहचान नहीं है, बाहरी खींचतान है। फिर रचना का समग्र सच तो रचना की भीतरी तहों में पैठा हुआ है। पाठक उसे पाठ के एक कोण से देखता है। इसलिए हर पाठक रचना का अलग पाठ करता है। एक ही पाठ के न जाने कितन भाष्य होते हैं, हो सकते हैं। इस तरह रचना पाठ के 'अनंत' में निवास करती है। इसलिए अज्ञेय के कथनों पर सतर्कता से सोचने की जरूरत है। क्योंकि अज्ञेय की रचनाएं-संदर्भ बोझिल हैं– उनका पाठ एक चुनौती है।

अज्ञेय के 'शेखर: एक जीवनी' के दोनों खंड क्रमशः 1941-43 में प्रकाशित हुए। दस वर्ष बाद 1951 में छपा 'नदी के द्वीप' फिर दस वर्ष बाद छपा- 1961 में 'अपने-अपने अजनबी' तमाम कथाकारों ने एक साथ मिलकर प्रेम उपन्यास 'बारहखम्भा' प्रकाशित किया जिसमें तीन खंड अकेले अज्ञेय को लिखने पड़े। वे इस विधा से विमुख नहीं हुए। उनके इधर दो असमाप्त-उपन्यास, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली ने प्रकाशित किए, 'छाया मेखल' और 'बीनू पाठकों को याद होगा कि 'नया प्रतीक' पत्रिका में 'बीनू भगत' का एक अंश प्रकाशित हुआ था। लेकिन हिंदी पाठक लगातार 'शेखर: एक जीवनी' के तीसरे भाग की प्रतीक्षा करता रहा है। क्यों प्रतीक्षा करता रहा? इसलिए कि 'आत्मनेपद' में संकलित शेखर के साक्षात्कार में अज्ञेय ने कहा 'शेखर का तीसरा भाग भी लिख गया है, पर लिखा जाकर अकारथ भी हो गया है, क्योंकि अलग-अलग हो कर जिसे लिख पाया, लिख डाल कर उससे और अलग हो गया– और यह अलगाव अब इतना अधिक हो गया है कि पुस्तक को छपने देने में संकोच होता है।' इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी कहा कि जिस समस्या से वे टकरा रहे थे उसका समाधान भी शेखर में है। उनका कथन है– 'तीसरा भाग मैं दुबारा लिख रहा हूं और मेरा विश्वास है कि उसके बाद तुम अर्थात शेखर और मैं– बीस और दस वर्ष पहले के तुम और आज के या कि कल के तुम– और तब का, अब का और भविष्य का मैं– नए सिरे से एक दूसरे को पहचानेंगे।' जाहिर सत्य है कि ऐसा संभव नहीं हो पाया और 'शेखर: एक जीवनी' का तीसरा भाग पाठक को नसीब नहीं हो पाया। क्यों नहीं हो पाया? यह आज भी पहेली है– अनसुलझी पहेली।

क्या विडम्बना है कि ज्यादातर आलोचकों ने 'शेखर : एक जीवनी' के पाठ विश्लेषण पर अपने मन्तव्य थोपकर इस कृति के साथ अन्याय किया है। इस कृति की विवशताओं को छिपाकर अज्ञेय को व्यक्तिवादी - कलावादी सिद्ध किया गया। क्या ही अच्छा होता - अज्ञेय इस उपन्यास की 'भूमिका' न लिखते। यदि वे इस कार्य से बचते तो 'शेखर : एक जीवनी' के पुन: पाठ की सुविधा होती। इस प्रश्न को उत्तर तो देना ही पड़ेगा कि यह उपन्यास आज भी कथा समीक्षा के लिए चुनौती क्यों? यह कहने से काम चलनेवाला नहीं है कि शेखर के विद्रोह का मॉडल तुर्गनेव के उपन्यास का नायक बाजारोव है। एक बार बनारसीदास चतुर्वेदी ने अज्ञेय से पूछा था कि शेखर के निर्माण के समय क्या किसी विदेशी उपन्यास का कोई पात्र आपके सामने था? अज्ञेय ने इस प्रश्न के उत्तर में कहा 'ज्यां क्रिस्तोफ के अनवरत आत्मशोध और आत्मसाक्षात्कार का जो चित्र रोलां ने प्रस्तुत किया है उससे मुझे अवश्य प्रेरणा मिली।' कहना चाहते हैं अज्ञेय कि प्रेरणा एक तरह का प्रभाव है, नकल नहीं है। इस उत्तर के बाद चतुर्वेदी जी ने फिर अज्ञेय से पूछा, मैं तो तुर्गनेव के बाजारोव की बात सोचा रहा था' इसके उत्तर

में अज्ञेय ने कहा, 'शेखर पर बाजारोव का प्रभाव, मैं समझता हूं, बिलकुल नहीं है। बाजारोव रुसी निहलिज्म की देन है। अज्ञेय ने अपने भीतर झांककर कहा, 'आतंकवादी दल से संबंद्ध रह कर भी 'कान्विन्स्ड' आतंकवादी नहीं रहा, पर मुझे इसमें बड़ी दिलचस्पी रही कि आतंकवादी का मन कैसे बनता है। 'शेखर' की रचना इसी से आरंभ हुई। मुझे बाजारोव की जरूरत नहीं थी, क्योंकि मुझे प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त था।' बाजारोव नियतिवादी है, शेखर निर्यतिवादी नहीं है। इसका श्रेय अज्ञेय मानव में दृढ़ आस्था को देते हैं और भौतिक चिंतन के विकास को भी।' अज्ञेय के कथनों को नकारकर डा. रामविलास शर्मा ने माना कि 'शेखर पश्चिम की पूंजीवादी संस्कृति से प्रभावित हिन्दुस्तान के उन निकम्मे लोगों में से है जो एक तरफ तो विद्रोह की लंबी-चौड़ी बातें करके अपनी हीन भावना को संतुष्ट करते हैं, दूसरी तरफ आत्म पीड़ा के अभिनय से अपने अस्तित्व को सार्थक कर नारी से करुणा की भीख मांगते हैं उनका विद्रोह और आत्मपीड़ा- दोनों ही उनके निकम्मे व्यक्तित्व के दो पहलू हैं।' इसलिए अज्ञेय-शेखर संवाद के दमित अर्थ और आकांक्षा को मिशेल फूको की 'डिस्कोर्स थियरी' से 'इंटरप्रेट' करना होगा। इस कृति के आभ्यंतर के भाष्य के अभाव में विश्लेषण अर्थ मीमांसा से भटक गया है। अज्ञेय के सभी उपन्यास चाहे वे 'शेखर : एक जीवनी' हो या 'नदी के द्वीप' या 'अपने अपने अजनबी' या 'बीनू भगत' सभी मनमाने ढंग से पीट-पाटकर पसार दिए गए हैं। अज्ञेय के साथ होने वाली आलोचना की नीच ट्रेजेडी की राजनीति पर आज नया 'पाठ' तैयार करने की जरूरत है।

हिंदी उपन्यास की विकास यात्रा में 'शेखर : एक जीवनी' एक नए मोड़ का प्रतीक है। एक नवीन मनोविश्लेषण पद्धति का प्रयोग विविध शिल्प तकनीकों के साथ किया गया है। यह एक खास ढंग रोमांटिक उपन्यास है। अज्ञेय ने 'भवंती' में कहा है कि 'शेखर: एक जीवनी' में शेखर से कहलवाया था कि हम एताहशत्व मात्र को बदलना चाहते हैं- एताहशत्व को बदलना चाहना एक रोमानियत भरी मुद्रा ही है और शेखर के साथ वह सही भी थी, क्योंकि जिस आंदोलन का वह अंग था उसका अंदाज खासा रोमानियत भरा था।' आगे चलकर 'शेखर : एक साक्षात्कार' में अज्ञेय आत्मालोचन करते हुए कहते हैं कि दर्द का मूल्य आज भी मेरे निकट कम नहीं है पर तटस्थता का आज एक नया अर्थ मैं जानता हूं। साहित्यकार समाज को बदलता है यानी वह उसका अनिवार्य कर्तव्य और ध्येय है लेखक अनिवार्यत: सामाजिक क्रांतिकारी है, इस किशोर मोह से मैंने छुटकारा पा लिया है।' यही कारण है कि 'नदी के द्वीप' का भुवन साहित्यकार नहीं है, वैज्ञानिक है।

श्रीलाल शुक्ल ने 'शेखर : एक जीवनी' को अपने अर्थ पाठ में रखते हुए माना है कि समस्या यह है कि उपलब्ध दो खंडों के आधार पर शेखर का विद्रोही स्वरूप पूरी तौर से स्थापित नहीं हो पाता। प्रथम खंड में माता-पिता के प्रति क्रोध और अवज्ञा का भाव, पिता के प्रति कभी-कभी मौन या संक्षिप्त शब्दों वाला विरोध, ये सब विद्रोह के मानदंड नहीं हैं, यह केवल रोष या मानसिक आक्रोश की स्थितियां हैं, जो अत्यंत भावुक बालकों या किशोरों में आसानी से देखी जा सकती हैं।' (वही पृष्ठ-62) इस तरह श्रीलाल शुक्ल ने शेखर को 'निकम्मा' तो रामविलास शर्मा की तरह नहीं कहा लेकिन उसके 'विद्रोही स्वरूप' को खारिज कर दिया। उन्होंने यह भी कहा कि दूसरे शब्दों में 'शेखर का रवैया रोष (रिजेन्टमेंट) का है, विद्रोह (रिबेलियन) का नहीं, और दोनों खण्डों में क्रांतिधर्मिता तो कहीं नहीं। पूरे उपन्यास में केवल दो बड़े प्रसंग हैं जिसमें शेखर सत्ता के खिलाफ स्पष्ट रूप में खड़ा होता है- एक, कांग्रेस अधिवेशन के शिविरों में, जहां एक खुफिया पुलिस इंस्पेक्टर की दूसरे स्वयंसेवकों के हाथों हुई पिटाई के अभियोग में उसे गलत तरीके से पकड़कर बंद कर दिया जाता है और उसे कई महीने जेल में रहना पड़ता है। दूसरे, विपन्नता की स्थिति में शेखर जब 'हमारा समाज' की पांडुलिपि संपादक को साठ रुपए नकद पर सारे एकाधिकार के साथ बेच देता है तब उसे रामकृष्ण संबोधित करता है। रामकृष्ण की पहल पर शेखर एक क्रांतिकारी आंदोलन में प्रवेश करता है उसकी शुरुआत शेखर द्वारा परचे लिखने और उन्हें डुप्लीकेट पर उतारने से होती है।' (वही पृष्ठ-62) किंतु दोनों स्थितियों में ज्ञान-मीमांसा करने पर भी श्रीलाल शुक्ल को न विद्रोह की अन्तर्ध्वनि मिलती है न क्रांतिकारी की। उन्हें लगता है कि इन दोनों ही अवसरों पर ऐसा कहीं नहीं लगता कि विद्रोह में अपनी दृढ़ आस्था के फलस्वरूप सचेतन रूप में शेखर इन सत्ता विरोधी कामों में आया हो। जेलयात्रा के प्रसंग में भी शेखर के व्यवहार में एक अजीब सी अक्रियता या अप्रतिरोधिता (पैसेविटी) है) रामकृष्ण के सुझाव पर जब वह क्रांतिकारी संगठन के कार्यक्रम में शामिल होने को तैयार होता है तो ऐसा नहीं लगता कि वह उसके जीवन का अद्वितीय मोड़ है; वहां भी एक तरह की 'पैसेविटी' है। वह इस तरह की पैसेविटी से इतना भरा हुआ चरित्र है कि एक जोखिम भरे भविष्य की ओर कपट झेलकर बढ़ने की तमन्ना रखता हो, ऐसा नहीं लगता। हां, साठ रुपए समाप्त हो जाने पर शशि के स्वास्थ्य की चिंता उसे घेरती है।

'शेखर : एक जीवनी' की कथात्मकता में रामकृष्ण के विचार सूत्र उभरते मिलते हैं। उसके ही सुझाव पर शेखर फौज के सिपाहियों में ब्रिटिश विरोधी प्रचार के उद्देश्य से एक वक्तव्य लिखने का सुझाव देता है जिसे शेखर तत्काल स्वीकार कर लेता है- 'और इतने उत्साह के साथ कि कुछ वाक्य उसी समय उसके मानसिक कानों में गूंजने लगे।' लेकिन प्रश्न उठता है कि शेखर की क्रांतिकारी संगठन में दीक्षा संपूर्ण कब होती है? अज्ञेय का कथन है- 'शशि ने अनुमति दे दी।' इस कथन में श्रीलाल शुक्ल 'उद्धत विद्रोह' की कोई आहट नहीं पाते। उन्हें लगता है वही पैसिविटी की छाया का विस्तार है। इस संदर्भ में उन्हें काफ्ता का उपन्यास 'मुकदमा' (द ट्रायल) का नायक तथा कामू के उपन्यास 'अजनबी' का ध्यान आता है। खैरियत यह है कि इन दोनों को लेकर वे 'शेखर : एक जीवनी' पर पिल नहीं पड़ते। केवल वे शेखर को लेकर पाते हैं कि वक्तव्य तैयार करने के बाद आत्मकथा लिखने और आत्म प्रकाशन के बारे में ऊहापोह दिखाने पर शेखर का एक पूरा वक्तव्य है जिसका क्रांतिकारी जीवन में दीक्षा से कोई संबंध नहीं। उसके बाद कथा आगे बढ़ती है। शेखर एवं शशि के एक मकान में लगभग अतिथि की भांति रहने की व्यवस्था कर दी गई है। अज्ञेय का

कथन है, 'और क्रमशः शेखर ने पाया कि वह एक नए जीवन में प्रवेश कर रहा है। समाज के प्रति उसका विद्रोह भाव उग्र तो उतना ही है, किंतु समाज के प्रति उतना न होकर एक नया रूप ले रहा है, एक अमूर्त भावना का विरोध बनता जा रहा है।' इस पर श्रीलाल शुक्ल का आलोचक मन कहता है कि शेखर में कभी-कभार भीषण संदेह जाग उठता है कि वह फिर एक बार मूर्ख तो नहीं बन रहा? इस प्रकार का ऊहापोह निश्चय ही एक प्रतिबद्ध क्रांतिकारी का लक्षण नहीं कहा जा सकता।' (वही पृष्ठ-63) अज्ञेय का कथन है 'मैं भी आतंकवादी दल से संबद्ध रहकर भी 'कन्विन्स्ड' आतंकवादी नहीं रहा, पर मुझे इसमें बड़ी दिलचस्पी रही कि आतंकवादी का मन कैसे बनता है।' (शेखर : एक प्रश्नोत्तरी) इस कथन की अर्थ व्यंजकता को कहते हुए श्रीलाल शुक्ल ने निष्कर्ष निकाला, 'शायद यही दशा शेखर' की है। यहां 'शायद' से लगता है कि आलोचक तौलकर विचार रखने में डरता झिझकता है। शेखर का मन बदलाव की प्रक्रिया के पीछे सक्रिय है, 'यों दिन बीतते गए और वह गुप्त आंदोलन के जाल में अधिकाधिक उलझता गया।' श्रीलाल शुक्ल इस उलझता हुआ में फिर 'पैसिविटी' पाते हैं। इस पैसिविटी से सच मानिए तो 'शेखर: एक जीवनी' का 'टेक्स्ट' ध्वस्त होता है क्योंकि वे 'टेक्स्ट' के भीतर पूरी तरह धंसने से डरते रहे हैं। अज्ञेय के कथन को मानने की क्या जरूरत है कि 'शेखर नियतिवादी नहीं है।' (शेखर एक प्रश्नोत्तरी)। जबकि उपन्यास की भूमिका में वे इस विचार को उछालते हैं कि क्रांतिकारी अंततोगत्वा एक प्रकार के नियतिवादी होते हैं।' फिर आगे सफाई देते हैं– 'लेकिन यह नियतिवाद उन्हें अक्षम और निकम्मा बनाने वाला नियतिवाद नहीं होता। यदि यों कहा जाए कि क्रांतिकारी का नियतिवाद अटल नियति की स्वीकृति न होकर जीवन के विज्ञान सम्मत कार्य कारण पर गहरा (यद्यपि अस्पष्ट) विश्वास होता है, तो शायद सच्चाई के नजदीक होगा।' यहां पाठक को अज्ञेय के कथनों-वक्तव्यों पर भरोसा करने की जरूरत नहीं है। फिर 'शेखर: एक जीवनी' का पाठ कम जटिल नहीं है, उसमें शेखर के व्यक्तित्व के अनेक पक्ष उभरते हैं। प्रश्न चरम कुलता, चरम बौद्धिक चिंतन परकता, उत्तर छायावादी रोमानियत को फक्कड़पन, दीवानगी, प्राणों को हथेली पर रखकर उछालने वाली जवानी की खुमारी। सत्याग्रह युग का टैम्पर, जिसे कवि चिंतक विजयदेव नारायण साही ने 'त्रासजनित विवेक को पावनता जनित विवेक में बदलने की सभ्यता' कहा है उसका खुला सामना कैसे हो? मैं समझता हूं कि शेखर की यही मूल समस्या है जिसे प्रायः आलोचकों ने समझने में भूल की है।

अज्ञेय चाहे गांधी से सहमत रहे हों, चाहे असहमत वे सत्याग्रह की उपज हैं। साही जी के शब्दों में 'सत्याग्रह युग एक विराट नाटकीयता का युग है। उस युग के बारे में पढ़कर ही हम रोमांचित होने लगते हैं, फिर उस समय जिंदा होना और उसकी लय को महसूस करना स्वर्ग में रहने के बराबर ही रहा होगा। क्या आश्चर्य

प्रेमचंद की विरासत और प्रेमचंद की परम्परा की बात बहुत की जाती है पर यथार्थ के विकारग्रस्त रूपों को प्रस्तुत करने वाली जिस नयी चित्रण भंगी का विकास 'पूस की रात' या 'कफन' में किया गया था, उसे अपनी समकालीन वास्तविकता के परिप्रेक्ष्य में पल्लवित श्रीलाल शुक्ल ने ही किया। इस तथ्य को पूरे विस्तार से प्रस्तुत करने की यहां गुंजाइश नहीं है पर इतना बताना मैं आवश्यक समझती हूं कि स्वातंत्र्योत्तर भारत के कथाकारों में श्रीलाल शुक्ल ने जितना ध्यान खलनायकों के चित्रण और सृजन पर दिया है, उतना किसी ने भी नहीं दिया। इस तकनीक के रहस्य को खोल कर रखना और समझना आवश्यक है। संभवतः यथार्थ के अवांछित रूपों, यथार्थ की विकृतियों और मनुष्य के आंतरिक स्तर पर आए नकारात्मक परिवर्तनों को प्रस्तुत कर ही श्रीलाल शुक्ल भारत के समकालीन जीवन की दिशा की तस्वीर खींचना चाहते हैं। मौजूदा भारत में अथवा तीसरी दुनिया के किसी भी नव स्वाधीन देश में सत्ताधारी वर्ग द्वारा अपनायी गयी नीति के तहत किसी प्रकार प्रतिभा, ईमान, परिश्रम, सच्चरित्रता, देशप्रेम आदि को हाशिए के बाहर धकेल दिया गया है और किस प्रकार भ्रष्ट, प्रभुता सम्पन्न लोगों की बन आयी है, इस परिप्रेक्ष्य को उन्होंने बहुत ही प्रभावशाली ढंग से उभारा है। चोर उचक्कों और उठाईगिरों के निर्भय स्वेच्छाचारी समाज का यह चित्रण श्रीलाल जी को समकालीन कथाकारों के बीच विशिष्ट बना देता है। व्यवस्था के प्रति गहरी वितृष्णा और उपहास की भावना की कहानियों को बहुअर्थी व्यंजनाओं और अनुगूंजों से भर देती है; उनहें सजीव बना देती है। परोक्ष अनुगूंज और व्यंजनाओं की यह शैली उनकी रचना को अचूक और विश्वसनीय बनाती है। शत्रु पक्ष की पहचान करा कर ही वे जनसाधारण के हितों के प्रवक्ता बन जाते हैं।

जहां तक उनकी कहानियों की गद्य शैली में अंतर्निहित व्यंग्य की सरसता और सजीवता का प्रश्न है उसे एक विशेष संदर्भ में समझने की आवश्यकता है। श्रीलाल शुक्ल इस तकलीफ का उपयोग विशेष संदर्भों को सोदाहरण प्रस्तुत करने के लिए या कहानी में कथा, घटना और विवरणों के रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए करते हैं। साथ ही व्यंग्य की यह तकलीफ संभावित अनेक निहितार्थों को भी व्यक्त करती है। व्यंग्य का यही इस्तेमाल उनकी कहानियों में निजी संदर्भों की भी सृष्टि करता है। उसके माध्यम से सामाजिक अवस्थाओं और संबंधों को उद्घाटित करता है। लेखक के विचार एवं दृष्टि से बलाघात उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से परीदीन की प्रेमकथा, वे बच जाएंगे मगर. . ., उमरावनगर में कुछ दिन, कुंती देवी का झोला, मम्मी जी का गधा और छुट्टियां उल्लेखनीय कहानियां हैं।

– रेखा अवस्थी

कि उस युग के बचे हुए अवशेष आज भी तृषित प्रेतात्माओं की तरह वैसा ही उतार-चढ़ाव, वैसा ही झंझा झकोर, वैसी ही सिर को चक्कर देने वाली पेंगें, वैसी ही नाटकीयता झंकार और इतिहास की उत्ताल तरंगों में फुफकारती हुई गति की तलाश करते घूमते हों।' (छठवां-दशक पृष्ठ-268) उस युग की मनोभूमि ने 'शेखर : एक जीवनी' के फार्म कन्टेन्ट, भाषा-अर्थ, तकनीक और कथन शैली में विशिष्ट समस्याएं पैदा की। इन समस्याओं ने ही कविता, कहानी, उपन्यास आदि में एक नया ढांचा गढ़ने की कोशिश की तथा नवीन युक्तियों का आविष्कार किया। अज्ञेय के लहू में 'विद्रोह' और 'क्रांतिकारिता' की जो धड़कन मंद प्रखर रूप में सुनाई देती है, वह झूठी नहीं है। उसका अंतर्ध्वनित स्त्य झूठा नहीं है। उसमें पैसिविटी नहीं है। एक तरह की विद्रोही छवि का राग दीप्त आलोक है। अज्ञेय किसी भी तर्क से यूरोपीय ढंग के रोमांटिक नहीं हैं। उनका रोमांटिक मूड कुछ-कुछ कालिदास की ओर उन्मुख दिखाई देता है। अज्ञेय में यह रोमांटिक मूड जयशंकर प्रसाद के प्रति गहन आसक्ति की परिणति भी हो सकती है। इस दृष्टि से शेखर के अनुभव का यथार्थ अपरिभाषित गीली मिट्टी का यथार्थ है जिसमें पकाव आना बाकी है। इसलिए हमें शेखर एक जीवनी की श्रेष्ठता-निकृष्टता की छानबीन से ज्यादा इस कलाकृति के तल में सक्रिय मनोभूमि का भाष्य या 'डिस्कोर्स' करना चाहिए। दुख है कि शेखर को लेकर हिंदी आलोचना के इस बौड़मवाद, तिकड़मी तंत्र में श्रीलाल शुक्ल कैसे आ गए? उन्हें तो 'शेखर : एक जीवनी' को लेकर रामविलास शर्मा और नामवर सिंह बनने की जरूरत नहीं थी। वे तो अपनी सचेत जागरुकता से यह कह सकते थे कि शेखर में 'पैसिविटी' नहीं है- धड़कता हुआ भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का युवा मानस है और वह मानस स्वयं अज्ञेय का प्रतिरूप है। शेखर के द्वंद्व, तनाव, संघर्ष प्रेम, मृत्यु क्रांतिकारी के सपने सब में अज्ञेय व्यस्त हैं और अज्ञेय के लिए ऐसा कहना घटिया किस्म की श्रद्धा भक्ति नहीं है। एक नए सर्जक श्रीलाल शुक्ल का उनसे पहले के सर्जक अज्ञेय के प्रति एक पावन विनम्रता ही कही जाएगी।

श्रीलाल शुक्ल के सर्जक में अज्ञेय के प्रति उत्साह न हो ऐसा नहीं है। ऐसा न होता तो वे यह न कहते, 'तो क्या उत्तर छायावाद काल में नई पीढ़ी की यही जीवन दृष्टि है। जिसे उपन्यास में अभिव्यक्त दृष्टि मान लिया जाए? शायद ऐसा ही है पर केवल ऐसा ही नहीं, क्योंकि शेखर का व्यक्तित्व इस से भी बड़ा है। अपने बाल जीवन के प्रत्यावलोकन के बहाने शेखर ने अपने को व्यापक मानवीय रिश्तों के बीच अवस्थित किया है, जहां दर्जनों पात्रों से उसके संबंध बनते और समाप्त होते हैं। संबंधों की प्रकृति में पारम्परिकता नहीं है, एक खास ताजगी है जो अधिकांशत: शेखर के व्यक्तित्व की देन है। और अंत में शशि और शेखर का लंबा प्रसंग है, जो सामाजिक रुढ़ियों के ऊपर वैयक्तिक समर्पण और गहन संवेदनशीलता की विजय है।' (वही पृष्ठ-65) इस विजय भाव पर मुग्धता का श्रीलाल शुक्ल के लिए विशेष अर्थ है। वे कहते हैं, 'शेखर एक जीवनी' अपने समय का सर्वाधिक और संभवत: सर्वप्रथम आधुनिक उपन्यास है और कई अर्थों में आश्चर्यजनक रूप से आकर्षक है।' (पृष्ठ-65) यहां हिंदी गद्य की सर्जनात्मकता का अद्भुत संसार है और गहन-सूक्ष्म भाव-विचार को अभिव्यक्त कर पाने की गहरी तड़प। इसलिए श्रीलाल शुक्ल द्वारा प्रयुक्त शब्द 'आश्चर्यजनक' यहां बहुत सटीक है। उन्होंने इस शब्द का जान-बूझकर प्रयोग किया है। यहां व्यक्ति अज्ञेय ने व्यक्ति निरपेक्ष सृजन की संभावनाओं का संकेत दे दिया है। शेखर को सीढ़ी बनाकर अज्ञेय सृजन में 'स्वाधीन' और 'मुक्त' हुए। वे अपनी सृजन शक्ति से दूसरे के घटित में प्रवेश करने की सामर्थ्य पा सके। इसी सामर्थ्य से शेखर की शशि चिंतन नारी का आद्य-बिंब बन सकी। इसी आद्य-बिंब में शेखर के सभी स्वप्न करवटें बदलते मिलते हैं। शेखर को शशि के वाक्य याद हैं ताप लकड़ी में नहीं होता है आग में होता है और तुम अंतर के सच की बात लिखोगे तो उसमें जरूर आग होगी।' काम का उज्ज्वल विस्तार 'नदी के द्वीप' उपन्यास में हुआ है। 'शेखर' से ज्यादा गठित और सघन अनुभवों का पुंज है यह उपन्यास। चन्द्रमाधव को छोड़ दें तो तीन चरित्रों से इस कलाकृति की निर्मिति होती है- रेखा, गौरा और माधव। आवेग-ऊर्जा से सम्पन्न बौद्धिक नारी है रेखा। शेखर की शशि के जीवन की चरम परिणति है शेखर। उसी में उसे अपने जीवन की तुलना में रेखा का चरित्र अधिक जीवनोन्मुख है। सार्थकता का बोध होता है। पति से अलग होकर शशि तटस्थ नहीं रह पाती। किंतु रेखा सीमा तोड़ विकसित होकर है। उसने डॉक्टर भुवन से कहा है 'मुझे कहने दो भुवन, मेरी यह देह जैसी तुम्हारी ओर उमड़ी थी वैसी कभी नहीं उमड़ी।' यहां प्रेम में कुंठा का स्पर्श तक नहीं है। श्रीलाल शुक्ल ने 'नदी के द्वीप' की संक्षिप्त चर्चा में इस 'तथ्य' को स्वीकार किया है कि 'शेखर: एक जीवनी' में 'जीवनानुभवों की अतिशयता' थी और 'भाषा का अतिरेक' भी। उसमें अनेक युक्तियों के प्रयोग और साहित्यिक उद्धरणों से चमक और धार पैदा की गई है। 'नदी के द्वीप' में 'शेखर : एक जीवनी' से कम काव्यात्मक ऊर्जा नहीं है किंतु उसमें एक संतुलन और मितव्ययिता आई है। यहां भाषा साध्य बनने की गलती नहीं करती। सूक्ष्म संवेदनाओं और जीवनानुभवों के सम्प्रेषण का माध्यम बनती है। 'नदी के द्वीप' में कथा-जीवन, दृष्टि, अनुभवों की गहनता और सहजता से उभरते नैतिक प्रश्नों में संश्लिष्ट कला का जादू ज्यादा है। 'युगीन दृष्टि से शेखर : एक जीवनी' एक महान कृति है। पर 'नदी के द्वीप' सीमित संदर्भ क्षेत्र के बावजूद एक परिपुष्ट कलाकृति है।' (वही पृष्ठ-66)

श्रीलाल शुक्ल की दृष्टि से 'अपने-अपने अजनबी की कथानक, कथ्य, विचारगाथा, अभिव्यंजना के स्तर पर पहले दो उपन्यासों (शेखर : एक जीवनी, नदी के द्वीप) से ज्यादा परिपुष्ट है। उन्हें संरचना की दृष्टि से यह छोटे आकार का उपन्यास 'सुगठित' और 'मितकथन' का उत्कृष्ट उदाहरण लगता है। उनके विचार से इसमें 'शेखर एक जीवनी' वाला ढिल्लड़पन नहीं है। वे मानते हैं कि 'अज्ञेय के औपन्यासिक नैपुण्य और विदग्धता में उत्तरोत्तर निखार आया है।' (वही पृष्ठ-66) हालांकि इस 'निखार' को ठोस तर्कों से पुष्ट रूप में यहां प्रस्तुत नहीं किया गया है केवल 'निर्णय' दिया गया है। 'नदी के द्वीप' एक प्रेम उपन्यास है और हिंदी में प्रेमानुभव पर लिखे गिने-चुने उपन्यास हैं- गुनाहों का देवता,

कसप और चित्तकोबरा। पर 'नदी के द्वीप' हिंदी का एकमात्र प्रेमाख्यान है वयस्क अनुभवों पर आधारित अभिजात वर्ग के परिवेश में लिपटा हुआ।' श्रीलाल जी ने यह ध्यान दिलाया है कि 'शेखर : एक जीवनी' की तरह 'नदी के द्वीप' की अनेक तरह की आलोचनाएं हुई है। भगवत शरण उपाध्याय ने 'नदी के द्वीप' को कुल मिलाकर 'सुंदर पके फल में कीड़े' जैसा उपन्यास माना है। जैनेन्द्र का मत है, बड़ी उसमें बारीकी है, बड़ी ज्ञान दशा. . .लेकिन मैं क्या सोचूं? सोचता हूं पढ़ते हुए कहीं मैं भीगा क्यों नहीं?' इस समृद्ध प्रेमाख्यान का पठन जैनेन्द्र में महान कृति का भाव उत्पन्न नहीं करता। नर-नारी संबंधों की अद्‌भुत प्रेम-लीला है। इस दृष्टि से यह अन्य भारतीय भाषाओं के उपन्यासों में अपना ऊंचा स्थान बनाता है। यह सच है 'नदी के द्वीप' व्यक्ति चरित्र की कृति है, 'शेखर : एक जीवनी' जैसी विविध स्थितियों वाली रचना नहीं है। अज्ञेय स्वयं कहते रहे हैं 'नदी के द्वीप' समाज के जीवन का चित्र नहीं है, एक अंग के जीवन का है।' इस तरह काव्यात्मकता होने पर भी व्यापक सामाजिक-संदर्भ कथा नहीं है। यौन-प्रसंगों में व्यंजक कला का अज्ञेय को हासिल है। ऐन्द्रियता में कहीं भी अश्लीलता नहीं है। 'फुलफिलमेंट' के क्षण का जीवन फूला खिला हुआ है। इसे डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी 'उत्सवधर्मिता' कहते हैं और प्रकृति लय में 'सांग ऑफ सालोमन' क्लासिक काव्यस्मृति।

आलोचक श्रीलाल शुक्ल का ध्यान 'अपने-अपने अजनबी' की दार्शनिकता पर गया है। इस ओर विशेषरूप से कि क्यों इसे अस्तित्ववादी मनोविज्ञान से प्रभावित उपन्यास माना गया है। उन्होंने ईमानदारी से कह दिया है कि मैंने अस्तित्ववादी दर्शन का विधिवत अध्ययन नहीं किया है और उपन्यास के इस पक्ष पर अपना अभिमत देने में असमर्थ हूं।' (पृष्ठ 70) लेकिन वे यह ध्यान दिलाना नहीं भूले कि अज्ञेय पर उनके समग्र लेखन पर अस्तित्ववाद का कोई लक्ष्य प्रभाव नहीं है। उनका चिंतन अनेक विचारधाराओं से टकराता है और काफी हद तक सार संग्रही है।' इस तरह 'अपने-अपने अजनबी' अस्तित्ववाद से प्रभावित होकर उसमें कोई मौलिक विचार नहीं जोड़ पाता। उनका सुझाव है कि इस लघु उपन्यास को दार्शनिक विशिष्टता से नहीं सर्जनात्मक कृति की कला क्षमता के रूप में 'क्लोज रीडिंग' से समझना चाहिए। इस कृति का मानवीय अनुभव अनेक झंकृतियों से जीवन का एक नया 'पाठ' उठाता है। इस तरह इस उपन्यास को दार्शनिक उपन्यास कहना इसकी गरिमा को कम करके आंकना है। इस तरह अज्ञेय के उपन्यासों को लेकर श्रीलाल शुक्ल के विचार सहज और सुलझे हुए हैं। वे आलोचना की गुटबंदी से दूर सर्जक और चिंतक हैं। उनके इन विचारों का यह कृति-केन्द्रित विमर्श-धूप की तरह खिला हुआ है।

इस 'अज्ञेय कुछ रंग : कुछ राग' का अंतिम व्याख्यान परक लेख 'आधुनिक हिंदी व्यंग्य : अज्ञेय के संदर्भ के साथ' शीर्षक से है। श्रीलाल शुक्ल इस पचड़े में नहीं पड़े हैं कि व्यंग्य विधा का सैद्धांतिक ढांचा क्या होता है या व्यंग्य एक कथन की शैली है या एक स्वतंत्र विधा है। उनके भाषण का आरंभ इस प्रकार से हुआ है, 'आधुनिक हिंदी साहित्य में व्यंग्य की स्थिति अभी भी पूर्णत: परिभाषित नहीं है। कुछ अपवादों को छोड़कर जिनमें भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र और बालमुकुंद गुप्त की कुछ रचनाएं विशेषत: उल्लेखनीय हैं- व्यंग्य को अभी तक प्राय: हास्य के साथ जोड़ने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।' हास्य भी फूहड़ता की हद तक छूता हुआ और व्यंग्य गंभीर विचारों का पतन या स्खलन। इस पतन के मूल में शास्त्र और लोक की ठोस पहचान का अभाव है। केवल समसामयिकता या तात्कालिकता के आग्रह ने व्यंग्य को सैटायर में रिटायर कर दिया है बहुत हुआ तो पैरोड़ी, कैरिकेचर, आयरनी और विट से जोड़ने की मेंढकवादी टर्र-टर्र। इस तरह हिंदी में हरिशंकर परसाई, नागार्जुन, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आदि में जो व्यंग्य उभरा है वह सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों, विद्रूपताओं, विकृतियों पर ध्यान दिलाता है पर कबीराई मार मारने में अक्षम रहता है। क्यों अक्षम रहता है? इसलिए कि वह निंदात्मक आक्रामक लेखन है या फिर पत्नीवाद भाभीवाद, पतुरियावाद, नेतावाद का एकालापी भाण-प्रहसन है। उसमें कथ्य की 'अपूर्वता' और धारदार 'वक्रोक्ति' का प्राय: अभाव है। हिंदी व्यंग्य की इस दुर्दशा को समझते हुए अज्ञेय ने 'कुटिचातन' नाम से 'कुछ रंग और कुछ राग' पुस्तक में व्यक्ति व्यंजक निबंध 1956 लिखे हैं। श्रीलाल शुक्ल ने स्वीकार किया है कि 'सौम्य परिहास और प्रबुद्ध नर्मोक्तियों की दृष्टि से 'सब रंग' की रचनाएं हिंदी में अद्वितीय हैं। क्यों अद्वितीय हैं इस पत्र के विश्लेषण का उन्हें अवसर नहीं मिला है। भवंती से कुछ उदाहरण दिए हैं किंतु उनसे अज्ञेय के व्यंग्य का मर्म वे खोल नहीं पाए हैं।

कुल मिलाकर 'अज्ञेय : कुछ रंग कुछ राग' अज्ञेय के कथाकार और व्यंग्यकार को व्याख्यायित करने का एक नया प्रयत्न है। इसमें अपने मनमाने प्रतिमान अज्ञेय की कृतियों पर थोपकर उनकी छीछालेदर करने का भाव नहीं है। इसलिए यह व्याख्यान हिंदी की सर्जनात्मक आलोचना में बहुत कुछ जोड़ते हैं। यह इसलिए भी हो सका है कि श्रीलाल शुक्ल नई थियरी को लेकर किसी संहिता या तंत्र गठन के विरुद्ध रहे हैं। इतना ही नहीं उन्होंने अज्ञेय को सही सदंर्भो में प्रस्तुत करने के लिए पूर्वनिर्धारित संहिताओं को भी नकार दिया। उन्हें यह सर्जनात्मक अनुभव से ज्ञात है कि तमाम प्रतिमानों की संहिताएं एक तंत्र की गुलामी में बंधकर अंतत: सर्वसत्तावादी हो जाती हैं और निर्धारणवाद की ओर बढ़कर अराजक हो जाती हैं। दूसरे वैचारिक उपार्जन से दूसरे वैचारिक उपार्जन की अंतर्यात्रा में सर्जना का सच बदल कर बिखर जाता है। इसलिए चिंतन-मनन के कृति केंद्रित मार्ग को खुला रखने की जरूरत होती है। यह अज्ञेय के कथाकार पर केन्द्रित पुस्तक इसी दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है। क्योंकि समाज-संस्कृति-राजनीति-इतिहास की अर्थग्रहण प्रक्रिया अंतहीन है और कलाकृति के पाठ की बहुलार्थकता पढ़त का रूपक है। यह सच है कि पाठक के प्रविष्ट होने से पाठ का सांस्कृतिक और विचारधारात्मक आधार नया अर्थ संदर्भ पाता रहता है।

ए-102/3, एस.एफ.एस.फ्लै
साकेत, नई दिल्ली-110017

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह

हिंदी की भाषाई संस्कृति और श्रीलाल शुक्ल की चिंता

किसी भी कलाकार या रचनाकार पर जब एक खास पहचान चस्पां कर दी जाती है, तो फिर उसे उस कैद से छुटकारा दिलाना काफी मुश्किल होता है। ऐसा केवल रचनाकर्मी व्यक्तित्व के साथ ही नहीं होता। साहित्यिक प्रवृत्तियों या आंदोलनों के संदर्भ में भी ऐसी ही गुत्थी आलोचनाकर्म के लिए गंभीर चुनौती बनकर दरपेश हो जाती है।

मिसाल के तौर पर श्रीलाल शुक्ल को लें। उन्हें सिर्फ व्यंग्यकार के रूप में देखना उनके सम्पूर्ण कृतित्व के साथ अन्याय है। बल्कि यों कहना अधिक सटीक है कि व्यंग्य-लेखन स्वयं में कोई विधा नहीं है बल्कि यथार्थ के उद्घाटन की, सच और झूठ के बीच फर्क बताने की एक प्रविधि है। इस प्रविधि में दक्षता लेखक के प्रेक्षण और संज्ञान की प्रक्रिया पर निर्भर करती है। यथार्थ के प्रेक्षण और संज्ञान की प्रक्रिया में इस दक्षता से ही कथाकार की भाषाशैली में निखार आता है और व्यंजकता का गुण प्रभावी रूप में प्रकट होता है। आजादी के बाद के हिन्दुस्तान के शासक वर्ग, राजकाज, पाखंड, झूठ, विडंबना, मक्कारी को समाज और राजनीति के हर रगरेशे में पकड़ने का यह हुनर आसानी से हासिल नहीं होता। आख्यानधर्मी वर्णन की रंजकता और हू-ब-हू तस्वीर खींचने की बाध्यता कभी कथाकार को कार्टून कला के गुर सिखाती है, कभी उसे फोटोग्राफर बना देती है और कभी गंभीर चिंतक। समाज और राजनीति के पाखंडों की नौटंकी की नकल उतारने के सिलसिले में आख्यान वही रूप नहीं लेता जो सीधे-सादे पारिवारिक या सामाजिक या ऐतिहासिक उपन्यासों में प्राय: मिलता है। आख्यानधर्मी यथार्थ वादी लेखन में ऐसी तल्खी और प्राणवत्ता सोद्देश्य होती है ताकि वह एक विशिष्ट कालखंड की विशिष्ट रूप में उभर रही जनविरोधी प्रवृत्ति के सड़े-गले पक्षों के रू-ब-रू अपने पाठक को सोचने पर विवश कर सके।

श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास 'राग दरबारी' के प्रकाशन के बाद जो पहचान उन पर चिपकायी गयी, उसका रंग कभी फीका नहीं पड़ा। उनकी ढेर सारी नयी-नयी कृतियों के प्रकाशन के बाद भी वही स्थिति बनी हुई है। मजे की बात यह है कि राग दरबारी के शिल्प और कथानक के चौखटे को तिलांजलि देकर एकदम नये-नये ढंग के प्रयोगशील प्रस्थान बिंदु उन्होंने बनाये– पर फिर बैतलवा उसी डाल पर बैठा दिया गया।

अत: उनकी सृजनशील कथाकृतियों पर न विचार कर उनके चिंतनपक्ष की विचार भूमि से उनके व्यक्तित्व का विश्लेषण आवश्यक है। फिलहाल हिन्दी का स्वरूप क्या हो और आज अंग्रेजी के प्रभुत्व के युग में हिन्दी का जो विकृत रूप उभर रहा है– इसी प्रश्न तक उनके चिंतन पक्ष को सीमित कर मैं कुछ आवश्यक समस्याएं रेखांकित करना चाहता हूं। अमरीकी चिंतक नोम चॉमस्की ने भाषा चिंतन से प्रारंभ कर विचारधारा के हर पहलू और विश्व के हर महत्वपूर्ण घटनाक्रम की व्याख्या की है। मैं यह नहीं कहता कि श्रीलाल शुक्ल भी कुछ वैसा ही कर रहे हैं। पर यह जरूर कहना चाहता हूं कि भाषा का प्रश्न पूर्णत: सांस्कृतिक प्रक्रिया का प्रश्न है।

श्रीलाल शुक्ल की अनुवाद और नकल की संस्कृति जाहिर है कि नयी उद्‍भावना के रास्ते में बाधक है। इसके साथ ही वह समाज के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर मौलिक ढंग से सोचने और अपनी भाषाई तमीज बचाकर रखते हुए नये तेवर अपनाने के रास्ते में रोड़े अटकाती है। चिंतन के इन सभी पहलुओं पर श्रीलाल शुक्ल ने अनेक निबंध लिखे हैं। 'जहालत के पचास साल' में संकलित श्रीलाल शुक्ल की सौ गद्यकृतियों को पढ़े और समझे बगैर उनके चिंतन और कथाकर्म की केंद्रीय अंतर्वस्तु, भाषिक संरचना और शिल्प संबंधी प्रयोगों की सार्थकता के विभिन्न पहलुओं पर ठीक से विचार करना असंभव है। इस सिलसिले में सबसे पहले हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी और जनबोलियों के किन शब्दों, मुहावरों और बातचीत की रौ या रिद्‍म का इस्तेमाल करना चाहिए– इस गुत्थी को सुलझाने के क्रम में उन्होंने अनेकानेक टिप्पणियां लिखी हैं। 'हिन्दी पर दो टिप्पणियां' शीर्षक निबंध में अपनी मुख्य चिंता जतलाते हुए वे समस्या के प्रमुख पक्ष को रेखांकित करते हैं–

'राजभाषा बनते ही हिन्दी की हैसियत राजकवि, राजवैद्य या राजपुरोहित की-सी हो गई है जिसका प्रजा से कोई संबंध रखना जरूरी नहीं है। तभी उसका जो स्वरूप संवर रहा है वह राज सम्मान के उपयुक्त भले ही रह जाए, सड़क और गली से वह कोसों दूर है।' अपनी इस मान्यता का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए वे भारत सरकार के विधि मंत्रालय के द्वारा 1982 में प्रकाशित एक पुस्तक के 'संपत्ति अन्तरण अधिनियम' से निम्नलिखित उद्धरण देते हैं:

'जहां कि संपत्ति के किसी अन्तरण के निबन्धन निर्दिष्ट करते हैं कि उस संपत्ति से उद्‍भूत आय (क) अन्तरण के जीवन से, या (ख) अन्तरण की तारीख से अठारह वर्ष की कालावधि से अधिक कालावधि तक पूर्णत: या भागत: संचित की जाएंगी, वहां एतस्मिन्पश्चात यथा-उपबंधित के सिवाय ऐसा निदेश वहां तक शून्य होगा जहां तक कि वह कालावधि जिसके दौरान में संचय करना निर्दिष्ट है, पूर्वोक्ति कालावधियों में से दीर्घतर कालावधि से अधिक हो और ऐसी अंतिमवर्णित कालावधि का अन्त होने पर संपत्ति और उसकी आय इस प्रकार व्ययनित की जाएंगी मानो यह कालावधि जिसके दौरान में संचय करना निर्दिष्ट किया गया है, बीत गई है।' यह उद्धरण देने के बाद श्रीलाल शुक्ल अपनी राय देते हैं–

'स्पष्ट है कि इस प्रकार की भाषा समझने के लिए नहीं, पूजने के लिए लिखी गई है। यह राजभाषा नहीं, महाराज भाषा है। कम-से-कम इस भाषा में लिखे गए कानूनों से वकीलों का पेशा और समुदाय उतना तो सुरक्षित रहेगा ही जितना अंग्रेजी कानूनों से रहता है।''

इतना ही नहीं इस तरह की भाषा-संस्कृति को ही वे 'नकली, फर्जी और गैरजरूरी' मानते हैं। उनकी मान्यता है कि सरकार की तरफ से, अनुवादकों की तरफ से तथा ऐसी भाषा लिखने वालों की तरफ से 'अनजाने ही हिन्दी को विदूषकों का जामा'' पहनाया जा रहा है।

सच तो यह है कि जिस 'हम्बग', ढकोसला, छल-छद्म को वे तार-तार करके उघाड़ना चाहते हैं उसके लिए सबसे कारगर हथियार यह वक्र की और बांकी भाषा ही है। विकल्प में या तो आक्रोश की भाषा है या फिर गाली गलौच। लेकिन इस विकल्प के साथ दिक्कत यह है कि इससे क्रुद्ध लेखक कुछ देर के लिए अपने आपको भले ही हल्का कर ले, सामान्य पाठक खाली-का-खाली ही रहता है। इस स्थिति में निश्चित रूप से श्रीलाल की वक्रता कहीं अधिक हृदय है, जिसे पढ़ने में मज़ा आता है, बल्कि जिसे बार-बार पढ़ने को जी चाहता है और कहना न होगा कि किसी साहित्यिक कृति के अस्तित्व की यह पहली शर्त है, जो दिन-पर-दिन दुर्लभ होती जा रही है।

- नामवर सिंह

आपसी संवाद और रचना के स्तर पर भी यही हाल है– यह देखकर श्रीलाल शुक्ल बहुत खिन्न होते हैं। पर अपनी आलोचना-दृष्टि को व्यंग्य-विनोद की तल्ख जबान में ही पेश करते हैं। इस प्रसंग में भी 'हिन्दी तेरा रूप अनूप' शीर्षक से एक अंश उसी निबंध में शामिल है। यह उद्धरण लतीफा हो या न हो, हिन्दी के विद्वानों पर छींटाकशी के बजाय आपसी बातचीत की जनसंस्कृति के विकृत रूपों की तरफ सबका ध्यान खींचने लायक है:

'रैब्ले की प्रसिद्ध व्यंग्य-कृति 'गर्गण्टुवा और पैंटाग्रुयल' में पैंटाग्रुयल को एक बार पेरिस के बाहर टहलते हुए एक नौजवान विद्वान मिला। उससे पूछा गया, 'मित्र, इस समय कहां से आ रहे हो?' फ्रांसीसी भाषा में विद्वान का जवाब, उसी वजन की हिन्दी में कुछ इस प्रकार का था, 'मैं उस विशिष्टित, प्रतिष्ठायित, गरिमामंडित संस्थान से आ रहा हूं जिसे ल्यूटेशिया अभिधानित किया जाता है।'

तब पैंटाग्रुयल ने अपने एक साथी से पूछा, 'यह क्या बक रहा है?' साथी ने जवाब दिया, 'कहता है कि पेरिस से आ रहा हूं।'

कुलीन, अभिजातीय, भद्र भाषा में जिस तरह की हिन्दी कुछ विद्वान लोग चलाना चाहते हैं उससे 'भाषा की हत्या' हो रही है। जब ऐसे विद्वानों की गर्दन दबाकर झटका दिया जाता है तो फिर वे 'तुरन्त अपनी क्षेत्रीय बोली पर उतर आते' हैं।

श्रीलाल जी का निष्कर्ष है कि जो लोग दुरूह शब्दों के प्रयोग से परहेज नहीं करते वे ऐसे नाविक हैं जिनका जहाज समुद्र में जगह-जगह चट्टानों से टकराता रहता है, और कभी-कभी तो आकस्मिक दुर्घटना का भी शिकार हो जाता है।

लेकिन यह समस्या सिर्फ कुलीन वर्गीय रूझान से ही नहीं, अंग्रेजी के शब्दों, मुहावरों, वाक्यांशों को यथावत् रखने के क्रम में हिन्दी के अंगभंग करने की कुचेष्टा से भी पैदा होती है। इसका एक नमूना श्रीलाल जी ने बताया है:

'इस अराजकता के सार्थक प्रतिकार के लिए, अर्थ के निश्चित अनुभव को फिर से प्राप्त करने के लिए अस्तित्व के प्रति एक अतिरिक्त चिंता और चेतना विकसित की जाती है और इस प्रक्रिया में भाषा का अनुभव भी अधिकाधिक आंतरिक होता जाता है।'' यह उद्धरण रमेशचंद्र शाह के एक आलेख से लिया गया है। पूरे वाक्य का क्या आशय है– यह स्पष्ट तो नहीं ही होता, पूरा मंतव्य उलटबांसी जैसी गुह्य पहेली का रूप धारण कर लेता है। समालोचना के क्षेत्र में सिर्फ अंग्रेजी समालोचना के पारिभाषिक पदों के हिन्दी पर्याय तक ही यह समस्या सीमित नहीं है। रमेशचंद्र शाह अमरीकी नई समीक्षा के जॉन क्रो रेंसम, फ्रांसीसी चिंतक सार्त्र, ब्रिटिश आलोचक इलियट आदि की अवधारणाओं के साथ भारतीय अध्यात्म का जो घोल तैयार करते हैं– जहिर है कि उसकी परिणति अनिवार्यत: आलोचना के अबूझ रहस्यवाद में होती है। समालोचना की भाषा हिन्दी-उर्दू भाषी क्षेत्र की बोलीबानी से क्यों कटती है, समालोचक रचनाकर्मियों के मुख्य काव्य को खोलने में क्यों अपने को अक्षम अनुभव करता है– इस तरह के तमाम प्रश्न श्रीलाल शुक्ल के उक्त उदाहरण से सुस्पष्ट रूप में उभर आते हैं। श्रीलाल जी की मुख्य चिंता यह है कि 'आजकल हिन्दी का अधिकांश गद्य अंग्रेजी लोगों का है, जो अंग्रेजी लोगों द्वारा अंग्रेजी लोगों के लिए लिखा जा रहा है।' यह बीमारी इसलिए संक्रामक हो गई है कि गद्यकार अपने पाठक समुदाय की ग्रहणशीलता का ध्यान रखे बगैर जटिल चिंतन का मसीहा बनना चाहता है। श्रीलाल मानते हैं कि पहले यह बीमारी इसलिए नहीं फैली क्योंकि 'उर्दू की जानकारी के सहारे तत्कालीन लेखकों ने हिन्दी के चुस्त और परिनिष्ठित रूप को निखारा।' गद्यलेखन की भाषाई संरचना के मूल में जाकर प्रेमचंद की परम्परा में श्रीलाल शुक्ल हिन्दी-उर्दू के साझेपन की ऐतिहासिक आवश्यकताओं को रेखांकित करते हैं। अंग्रेजी की परछाई के रूप में हिन्दी भाषा को ढालने की यह कोशिश 'हिन्दी पाठकों को आतंकित' करती है और 'केवल हिन्दी जानने वाला लेखक अपने ही साहित्य-क्षेत्र से बेगाना हो गया।' श्रीलाल जी की तल्ख व्यंग्यात्मक सूक्ति में कहें तो यह 'अंग्रेजीपरस्त हिन्दी का नकचढ़ा (हाईब्राऊ) रवैया है।' भाषा की इस बहुरूपी विकृतियों और विरूपताओं के नमूने दिखाकर श्रीलाल शुक्ल इन समस्याओं का उद्‌गम ढूंढ़ निकालते हैं। उनकी राय में 'प्रत्येक देश और समाज के मुहावरे उसकी सभ्यता, संस्कृति और ऐतिहासिक-भौगोलिक स्थिति की उपज हैं। पर अंग्रेजी की नकल में हमें इसका भी ध्यान नहीं रहता। तभी हम 'कोल्ड रिसेप्शन', 'वार्म हर्टेड' का भी शाब्दिक अनुवाद करने की कोशिश करते हैं। भारत जैसे गर्म देश में किसी से मिलकर ठंडक का अनुभव करना स्नेह और सौहार्द का लक्षण हो सकता है (तुमहिं देखि सीतल भइ छाती)। पर इंग्लैंड जैसे देश में उपेक्षापूर्ण और स्नेहहीन आचरण

के लिए 'कोल्ड बिहेवियर' का प्रयोग होगा। वहां सौहार्दपूर्ण व्यक्ति के लिए 'वार्म हर्टेड' का प्रयोग उतना ही स्वाभाविक है जितना भारत में नाराजगी के लिए 'गर्म होना' का प्रयोग।'

'इस तरह के अनेक उद्धरणों से देखा जा सकता है कि अंग्रेजी शब्द-समूह का हू-ब-हू हिन्दी अनुवाद निरर्थक ही नहीं, विपरीत अर्थ सृजित करने वाला भी हो सकता है। वास्तव में भाषा का विकास ऐसे कृत्रिम उपायों से नहीं, संस्कृति और चिंतन के विकास के अनुरूप होता है तभी अभिव्यक्ति की नई मांगों के समाधान के लिए भाषा अपने लचीलेपन की सारी संभावनाओं को निचोड़ती है और नई अभिव्यंजनाओं की सृष्टि करती है।'

इतने लम्बे उद्धरण की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि हम यह पता लगा सकें कि श्रीलाल शुक्ल की दृष्टि में हिन्दी-उर्दू भाषा की अपनी ताजगी और तमीज के परित्याग के मूल कारण कहां हैं। उपर्युक्त उद्धरण से यह पुष्ट हो जाता है कि श्रीलाल शुक्ल सिर्फ व्यंग्यकार नहीं बल्कि संपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य का वस्तुपरक विश्लेषण करने वाले गंभीर चिंतक भी हैं। उनकी व्यंग्य-दृष्टि और वक्रोक्तिपूर्ण भाषाशैली महज औजार है जिसके सहारे वे झूठ के चट्टानी आवरण का उत्खनन कर मूल तत्त्व तक, सत्य के आधारभूत स्वरूप तक पहुंच जाते हैं।

इस सिलसिले में 'प्रभात-समीरण उर्फ सुबह की हवाएं' शीर्षक उनकी व्यंग्यकृति भाषा-संबंधी एक ही जातीय संस्कृति के दो रूप पेश कर हमें यह सोचने को विवश कर देती है कि हिन्दी-उर्दू एक ही जातीय सामाजिक ताने-बाने में रची-बसी भाषायी संप्रेषण प्रणाली है जो तमाम तरह की बोलियों के शब्दों से समृद्ध हुई है। यह निष्कर्ष किसी सूत्र रूप में इस गद्यकृति में कहीं भी नहीं पेश किया गया है– पर सम्पूर्ण रचना पढ़ने के बाद स्वाभाविक रूप से हम इसी नतीजे पर पहुंचते हैं। कहीं प्रेम कथा पर आधारित दो अलग-अलग फिल्मों के संवाद के नमूने उन्होंने कुछ इस तरह पेश किये हैं–

'पहली फिल्म का विज्ञापन या फिल्म निर्माता द्वारा प्रस्तुत प्रारंभिक परिचय:

यह जो तिरछी और वक्र भाषिक संरचना का इस्तेमाल है श्रीलाल शुक्ल में, उससे अपने कथ्य को आधुनिक तेवर दिया है उन्होंने। जिसे कहेंगे 'मॉडर्नाइज' किया है। जो 'मेलोड्रामा' हो सकता था, वह अत्याधुनिक हो गया है। क्योंकि एक पुराने कथाकार और नए कथाकार की अंतर्वस्तु को देखे जाने में फर्क है। दरअसल दुनिया को देखने की दार्शनिक प्रणाली ही यहां बदली हुई है। सत्य का संज्ञान गहर गरु नहीं, अक्सर हास्यास्पद है– यह आधुनिक मनुष्य का एक निराला 'उदासी मठ' है जिसमें हर चीज निस्सार है। यह आधुनिक मनुष्य का एक निराला 'उदासी मठ' है जिसमें हर चीज निस्सार है। एक नए दृष्टिकोण से।

–दूधनाथ सिंह

'एक महान देश के महान अतीत की महान सांस्कृतिक विभूतियों को चित्रित करता हुआ एक महान चित्र।'

दूसरी फिल्म का विज्ञापन:

'दो दिलों की कहानी, जिन्हें बेदर्द दुनिया मिलने नहीं देती, पर मुहब्बत भी वह शै है जो आग पानी में लगाती है– इसके बाद रूपहले पर्दे पर देखिए।'

पहली फिल्म का कथावाचक भूमिका बांधता है:

'अहा! इस लोक में प्रणय की भी कैसी महिमा है! न तात, न माता, न भ्राता, न भ्रातृज-कोई सत्य नहीं है। प्रणय तत्त्व ही चरम सत्य है। इसी के आधार पर मानव रोदसी-रमण करता है, आकाश-स्फालन करता है, महीधरों का मर्दन करता है। विच्छुरित वसन बनता है। भवन-भस्मीकर की उपाधि पाता है। प्रणय परम पवित्र है।'

दूसरी फिल्म की भूमिका:

दुनिया में मुहब्बत भी क्या चीज है? न बाप, न माँ, न भाई, न भतीजा-कोई सच्चा नहीं है। सच्ची अगर कुछ है, तो मुहब्बत है। इसी के सहारे इंसान हवा से लड़ता है, आसमान से भिड़ता है, पहाड़ों से टकराता है। अपना गरेवां फाड़ सकता है,अपना घर उजाड़ सकता है। मुहब्बत बहुत ही नेक पाक है।'

पहली फिल्म के हीरो का नाम कुमार उदयन, हिरोइन का नाम कुमारी पुष्पिता है और दूसरी फिल्म के हीरो हैं उठल्लू बाबू और हिरोइन है फूला।

'प्रभात समीरण उर्फ सुबह की हवाएं' शीर्षक गद्यकृति में दो प्रकार के संवाद दो तरह की भाषायी तमीज-तहजीब के माध्यम से एक ही रोमांटिक प्रेमकथा की भावना-व्याकुलता को थोड़ा अतिरंजित ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इनसे पता चलता है कि भाषा के माध्यम कैसे एक ही जातीय सामाजिक ताने-बाने को बांटने, एक दूसरे के प्रतिलोम और विरोधी के रूप में प्रस्तुत कर फिल्में जो काम करती हैं, वैसा ही काम कुछ राजनीतिक दल, कुछेक सामाजिक-सांस्कृतिक और व्यापारिक संगठन भी कर रहे हैं। हिन्दू-मुस्लिम विभाजन की भाषायी संस्कृतियां आधुनिक लोकतांत्रिक भारत के निर्माण के रास्ते में जो टकराव और शत्रुता पैदा करती हैं– उन्हें उद्घाटित करने की दृष्टि से भी यह गद्यरचना बहुत कुछ कह जाती है और अपना मंतव्य देकर हमारी चेतना को झकझोरती है।

पिछले 60 वर्षों में केंद्रीय सरकार और राज्य सरकार, केंद्रीय सांस्कृतिक संस्थान और राजकीय सांस्कृतिक संस्थानों के द्वारा साहित्य, नृत्यकला, संगीतकला, फिल्म, रंगकर्म– यानी सभी सांस्कृतिक क्षेत्रों के रैकेट को समझना हो तो श्रीलाल शुक्ल की पुस्तक 'जहालत के पचास साल' में संकलित 'एक पद्मभूषण का अभिनन्दन' शीर्षक रचना पढ़नी चाहिए।

तमाम सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्नों, सामाजिक आचरण के तौर-तरीकों और जनविरोधी भ्रष्टाचारी सरकारी प्रशासन की विरूपताओं पर 'जहालत के पचास साल' नामक श्रीलाल शुक्ल की पुस्तक उनकी कथाकृतियों के मर्म तक पहुंचने में हिन्दी समालोचना को मदद पहुंचाती है। इस पुस्तक में संकलित सौ गद्यकृतियां स्वाधीन भारत की सच्चाइयों की ऐसी तस्वीरें प्रस्तुत करती हैं जिन्हें इतिहासकारों के इतिवृत्तमूलक विवरणों में ढूंढ़ना नामुमकिन है।

220, सहयोग एपार्टमेंट्स, मयूर विहार, फेस-1
दिल्ली-110091

सामयिक प्रकाशन की पेपरबैक्स पुस्तकें

पुस्तक	लेखक	मूल्य
आवां *(उपन्यास)*	चित्रा मुद्गल	200
गिलिगडु *(उपन्यास)*	चित्रा मुद्गल	75
पिछले पन्ने की औरतें *(उपन्यास)*	शरद सिंह	150
दावानल *(उपन्यास)*	नवीन जोशी	120
आब्जेक्शन मी लार्ड *(उपन्यास)*	निर्मला भुराड़िया	120
सामयिक मीडिया शब्दकोश *(पत्रकारिता)*	हर्षदेव	120
फोटो पत्रकारिता *(पत्रकारिता)*	नवल जायसवाल	100
योद्धा पत्रकार *(पत्रकारिता)*	हेमंत	100
पत्रकार और पत्रकारिता प्रशिक्षण *(पत्रकारिता)*	अरविन्द मोहन	120
पत्रकारिता की लक्ष्मण रेखा *(पत्रकारिता)*	आलोक मेहता	100
जीना है तो लड़ना होगा *(स्त्री विमर्श)*	बृंदा कारात	90
खुली खिड़कियां *(स्त्री विमर्श)*	मैत्रेयी पुष्पा	120
आम औरत : जिंदा सवाल *(स्त्री विमर्श)*	सुधा अरोड़ा	120
मात्र देह नहीं है औरत *(स्त्री विमर्श)*	मृदुला सिन्हा	120
खुशी का विज्ञान *(व्यक्तित्व विकास)*	निर्मला भुराड़िया	90
श्रेष्ठ जैन कथाएं *(पौराणिक)*	शरद सिंह	100
बादशाह दरवेश गुरु गोबिंद सिंह *(प्रेरणाप्रद)*	जगजीत सिंह	100
मंत्र, स्तोत्र और कवच *(अध्यात्म)*	वीरेन्द्र कुमार गौड़	75

न्यूनतम 500 रुपये नेट की पुस्तकें मंगाने पर डाक व्यय मुफ्त

सामयिक प्रकाशन
केन्द्रीय हिंदी संस्थान
मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार
द्वारा सम्मानित प्रकाशक

3320-21 जटवाड़ा, नेताजी सुभाष मार्ग,
दरियागंज, नई दिल्ली-110002
फोन : (011) 23282733, 23270715

E-mail : samayikprakashan@rediffmail.com

भारत भारद्वाज

श्रीलाल शुक्ल : जीवन और लेखन की संधि-रेखा

हिंदी के प्रख्यात कथाकार श्रीलाल शुक्ल ने 'स्वर्णग्राम और वर्षा' (1954) व्यंग्यकथा से अपनी रचना-यात्रा की शुरुआत की। लेकिन यह उनकी आरंभिक रचना है, जिसमें न ठीक से व्यंग्य है और न ही कथा। उनके असली लेखन का आरंभ 1957 में प्रकाशित उपन्यास 'सूनी घाटी का सूरज' से हुआ। अगले वर्ष उनका पहला व्यंग्य संग्रह 'अंगद का पांव' आया, लेकिन साहित्य जगत में उनकी ठीक से पहचान बनी 1968 में प्रकाशित चर्चित और लोकप्रिय उपन्यास 'राग दरबारी' से, जिस पर उन्हें 1970 में साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला। यदि 'राग दरबारी' को अकादमी पुरस्कार नहीं मिला होता तो बहुत संभव है हिंदी समाज से स्वीकृति मिलने में थोड़ी और देरी होती क्योंकि इस उपन्यास के प्रकाशन के बाद इस पर प्रकाशित आरंभिक समीक्षाएं लेखक के प्रतिकूल थीं। एक तरफ 'कहानी' के तत्कालीन संपादक श्रीपत राय ने अपने समीक्षात्मक लेख में इसे 'ऊब का महाग्रंथ' के साथ 'अतिशय उबाने वाली कुरुचिपूर्ण और कुरचित' कृति ही नहीं घोषित किया था बल्कि यह भी भविष्यवाणी की थी कि यह अपठित रह जाएगी, तो दूसरी तरफ कथा आलोचक नेमिचंद्र जैन ने इस उपन्यास पर 'असंतुष्ट, क्षुब्ध व्यक्ति की बेशुमार शिकायतों और खीज भरे आक्षेपों का अंतहीन सिलसिला' का लेबल चस्पां कर दिया था। ऐसी स्थिति में यह सहज स्वाभाविक था कि इस उपन्यास पर आलोचकों की असहमतियां होतीं। अकादमी पुरस्कार ने इस उपन्यास को साहित्यिक समाज में स्वीकृति दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आज चार दशकों बाद यह स्पष्ट हो गया है कि यह उपन्यास न केवल पाठकों के बीच लोकप्रिय है बल्कि बहुपठित भी। प्रेमचंद के 'गोदान' और रेणु के 'मैला आंचल' के बाद आधुनिक हिंदी साहित्य का यह तीसरा कालजयी उपन्यास है जिसका लगातार पुनर्मूल्यांकन हो रहा है, बल्कि शिवपालगंज की ग्रामीण राजनीतिक छलछद्म आज स्वतंत्र भारत की राजनीति का ही रूपक लगता है।

> **श्रीलाल जी के साथ मेरे संबंध न कभी इतने लगातार रहे, न बेतकल्लुफ। हां, समकालीनता शायद हमें आपस में बांधे रही। 'सूनी घाटी का सूरज' से लेकर 'बिस्रामपुर का संत' तक की प्राय: हर कथा-रचना मैंने पढ़ी है और शायद 'निकष' में प्रकाशित 'शहीद' कहानी मुझे अभी तक याद है। उसे मैं कई जगह उद्धृत भी कर चुका हूं। 'आदमी का ज़हर' उन्होंने ग्राहम ग्रीन की तर्ज पर रहस्य-रोमांचवादी उपन्यास के रूप में लिखा था और मुझे खासा अच्छा लगा था। ग्रीन के उपन्यासों में तीसरा अदृश्य पात्र अक्सर सूत्र-संचालन करता है, मगर वे उसे 'ईश्वर' नाम नहीं देते। 'आदमी का ज़हर' में शायद वह नहीं है। मगर आज भी मुझे 'मकान' उनका सबसे सुगठित और श्रेष्ठ उपन्यास लगता है। मैं उसका नाम 'घर' रखता।**
>
> **– राजेन्द्र यादव**

इस उपन्यास को पढ़ने के बाद पाठक शिवपालगंज से बाहर निकलते हुए न केवल यथार्थ के आतंक से मुक्ति का एहसास महसूस करता है बल्कि यथार्थ के रोमांस के दलदल से भी बाहर आता है।

साहित्यिक दृष्टि से अश्क जी की यह टिप्पणी मुझे इसलिए गलत लगती है कि बड़े लेखक के पास न केवल एक बड़ी दृष्टि होती है, बल्कि अपने समय और समाज को परखने की एक कसौटी भी। जोड़-घटाव का यह खेल असंगत लगता है। वैसे त्रिलोचन के संस्मरण के प्रसंग में लिखी रेणु की टिप्पणी– 'त्रिलोचन (जी) को देखते ही हर बार मेरे मन के ब्लैकबोर्ड पर अगणितज्ञ, असाहित्यिक तथा अवैज्ञानिक प्रश्न अपने आप लिख जाता है– 'वह कौन-सी चीज है जिसे त्रिलोचन में जोड़ देने पर वह शमशेर हो जाता है और घटा देने पर नागार्जुन. . .?'

यह अलग बात है कि राही मासूम रजा के उपन्यास 'आधा गांव' की तुलना में इस उपन्यास का फलक छोटा है। कथावस्तु की दृष्टि से ही नहीं, संवेदना के धरातल पर भी। लेकिन श्रीलाल शुक्ल के लेखन की यह विशेषता है कि वे व्यंग्य की धार से यथार्थ को भेदते चले जाते हैं। बिल्कुल हरिशंकर परसाई की तरह।

बाद में प्रकाशित उनके उपन्यास 'मकान', 'पहला पड़ाव' और 'बिस्रामपुर का संत' की भी खूब चर्चा हुई और छिटपुट समीक्षात्मक लेख लिखे गए। उनके व्यंग्य संग्रहों में उल्लेखनीय हैं– 'उमराव नगर में कुछ दिन', 'अगली शताब्दी का शहर' और 'जहालत के पचास साल'। लेकिन व्यवस्थित रूप से पहली बार उनके जीवन और लेखन पर केन्द्रित 'तद्भव' पत्रिका (सं अखिलेश) का प्रकाशन मार्च 1999 में हुआ, जिसमें मीमांसा, संस्मरण, मुलाकात के साथ कुछ लेखकों के पत्र भी संकलित हैं वैसे तो मीमांसा और मूल्यांकन का ठीक फर्क बताना मुश्किल है फिर भी मीमांसा के अंतर्गत उनके लेखन की दुनिया, जिसमें एक तरफ 'लघुता की महागाथा' है तो

दूसरी तरफ 'क्षुद्रता के महावृतांत से महानताओं के क्षुद्रता तक' की यात्रा है। उनके प्रारंभिक उपन्यास, कहानी और व्यंग्य लेखों पर भी टिप्पणियां है लेकिन उन पर केन्द्रित संस्मरण उनके लेखकीय व्यक्तित्व से हमारा परिचय कराता है, खासकर 'पंडित श्रीलाल शुक्ल' (रवीन्द्र कालिया), विरुद्धों का सहमेल' (विद्यानिवास मिश्र), 'श्रीलाल शुक्ल और 'राग दरबारी' (विश्वनाथ त्रिपाठी। मूल्यांकन खंड में भी उसी तरह उनके उपन्यासों और व्यंग्य संग्रहों पर टिप्पणियां हैं, जिनमें खासतौर से दो लेख उल्लेखनीय हैं– 'लौह जाल को तोड़ने की तैयारी का पहला पड़ाव' (शिवकुमार मिश्र) और श्रीलाल शुक्ल के 'मकान' में कुछ दिन (राजेश जोशी)। पत्रों में अश्क जी के पत्र में एक दिलचस्प टिप्पणी है– यदि श्रीलाल शुक्ल के पास परसाई की दृष्टि हो और परसाई के पास श्रीलाल शुक्ल का मंजाव हो तो अद्वितीय व्यंग्य की सृष्टि हो सकती है। इतना ही नहीं अश्क जी ने उपन्यास के प्रकाशन के तुरंत बाद 'राग दरबारी' के संदर्भ में लिखा था कि 'यह उपन्यास हिंदी के प्रथम कोटि के चंदेक उपन्यासों में गिना जाएगा और इसे कोई वहां से हटा नहीं पाएगा, इसका मुझे विश्वास है।' यह अकारण नहीं कि हिंदी के प्रखर आलोचक प्रो. नंदकिशोर नवल के संपादन में 'कसौटी' का संमापन अंक 'बीसवीं शती : हिंदी की कालजयी कृतियां' जब जुलाई 2004 में निकला तो उसमें 'राग दरबारी' उपन्यास का भी अन्य उपन्यासों के साथ पुनर्मूल्यांकन किया गया। इस अंक में सुवास कुमार ने बिल्कुल ठीक लिखा– 'श्रीलाल शुक्ल किस्सागोई के भारतीय परंपरा से परिचित ही नहीं हैं बल्कि उसे नए संदर्भ और आयाम देते हुए भी प्रतीत होते हैं। संदर्भ कुसहर प्रसाद के झगड़े और पंचायत हो, जोगनाथ के मुकदमे का या कार्तिक पूर्णिमा में देवी मंदिर के मेले का, पूरा राग दरबारी कथा-रस से ओतप्रोत है। लेकिन हिंदी के तर्क-बुद्धि प्रवण आलोचक की मुसीबत यह होती है कि वह 'कथा' नहीं, 'कथा दृष्टि' ढूंढता है।'

'राग दरबारी' के प्रकाशन के लगभग 35 वर्षों बाद 'कसौटी' में प्रकाशित 'राग दरबारी' का पुनर्मूल्यांकन प्रमाणित करता है कि किसी महत्वपूर्ण कृति के बारे में संपादकों और आलोचकों द्वारा तुरत-फुरत में बनाई गई राय गलत हो सकती है। क्योंकि समय-काल हमारे समय का सबसे बड़ा समालोचक होता है, अब तो यह बात स्वीकार कर ली गई है कि 'गोदान', 'त्यागपत्र', 'शेखर एक जीवनी', 'मैला आंचल', 'झूठा सच', 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के बाद 'राग दरबारी' हिंदी की कालजयी कृतियों में प्रमुख है।

श्रीलाल जी के 80वें जन्मदिन पर 2005 में दिल्ली में धूमधाम के साथ अमृत महोत्सव मनाया गया, जिसमें उपस्थित विद्वानों में डॉ. नामवर सिह, कुंवरनारायण, कृष्ण बलदेव वैद, अशोक वाजपेयी ने उनके जीवन और लेखन के संबंध में अपने अमूल्य विचार प्रस्तुत किए। इस कार्यक्रम की अध्यक्षता नामवर सिंह ने की, कृष्ण बलदेव वैद ने उन्हें सम्मानित किया और उन पर एकाग्र पुस्तक 'श्रीलाल शुक्ल : जीवन ही जीवन' (संपादक नामवर सिंह) का लोकार्पण वरिष्ठ कवि कुंवर नारायण ने किया। वस्तुत: यह पुस्तक 'तद्‌भव' की अगली कड़ी है जो श्रीलाल के व्यक्तित्व और कृतित्व के विभिन्न पक्षों को तेजी से बदलते संबंधों और वैश्विक परिवर्तनों के संदर्भों से जोड़ती है। वैसे इस पुस्तक में कुछ पुरानी सामग्री 'तद्‌भव' और 'कसौटी' से भी ली गई है लेकिन कुछ लेख, संस्मरण, मूल्यांकन नए हैं। समालोचक नामवर सिंह ने संभवत: श्रीलाल जी पर पहली बार कुछ लिखा है जो इस पुस्तक की भूमिका 'कस्मै देवाय. . .' का 'क' शीर्षक के अंतर्गत संकलित है। परसाई के व्यंग्य पर श्रीलाल शुक्ल की टिप्पणी का निष्कर्ष वे यह निकालते हैं कि 'व्यंग्य के टेढ़े-मेढ़े रास्ते से गुजरकर हम उन मूल्यों तक पहुंचते हैं जो मूलत: उत्कृष्ट साहित्य का अंतिम लक्ष्य रहे हैं।' इस पुस्तक के अन्य लेखों में उल्लेखनीय हैं– 'प्रेम का यथार्थवादी पाठ 'राग विराग', जिसमें निर्मला जैन ने अब तक लिखे गए उपन्यासों की अंतिम कड़ी 'राग विराग' पर टिप्पणी की है, 'अपने सीमित आकार और विरोधाभासी शीर्षक से यह उपन्यास किसी सफल-असफल प्रेमकथा का आभास देता है। ऐसी प्रेमकथा 'प्रेम' की रूढ़ अवधारणा को निरस्त्र करते हुए समकालिक जटिल यथार्थ में आकार लेती प्रेमकथाओं का एक नया पाठ प्रस्तुत करती है।' राजेन्द्र कुमार ने 'व्यंग्य की रचनात्मकता का शील' शीर्षक आलेख में व्यंग्य विधा के रचाव और बसाव पर विचार करते हुए कहा है, 'लेकिन श्रीलाल शुक्ल मूलत: कथाकार हैं।' इस लेख में आगे खुलासा करते हैं कि 'किसी का आप जितना ही लिहाज करते हैं, उस पर बेबाक व्यंग्य कर पाना उतना ही मुश्किल होता है। इस दृष्टि से हमारे आज के जीवन में व्यवहार की गली इतनी 'सांकरी' है कि 'ता में दो न समाहिं- दो, यानी 'लिहाज' और 'व्यंग्य'। इस पुस्तक का एक महत्वपूर्ण लेख है 'राग दरबारी' से 'राग विराग' तक (लीलाधर जगूड़ी)। भले श्रीलाल जी ने साहित्य के 'खलनायक' राजेन्द्र यादव पर लिखने से गुरेज किया है लेकिन राजेन्द्र यादव श्रीलाल शुक्ल के साथ बितायी गई एक रंगीन शाम को अभी तक अपनी स्मृतियों में संजोये हुए हैं। शायद 'निकष' में प्रकाशित 'शहीद' कहानी मुझे अभी तक याद है।. . .मगर आज भी मुझे 'मकान' उनका सबसे सुगठित और श्रेष्ठ उपन्यास लगता है। मैं उसका नाम 'घर' रखता (यह तो अच्छा हुआ, नहीं तो पाकिस्तानी लेखक इंतजार हुसैन अपने उपन्यास का नाम 'घर' कैसे रखते)। राजेन्द्र यादव लिखते हैं, 'युवाओं का कोई प्रोग्राम था, साहित्य पर बोलने के लिए मुझे बुलाया गया था। डॉ. श्यामा चरण

श्रीलाल जी पहले दरजे के शरीफ हैं। ज्यादा शराफत मुझे इरिटेट करती है। मैं होता तो मानहानि का मुकदमा ठोक देता। आलोचक का काम होता है प्रशंसा लिखना। प्रशंसा ही लिखने वाला आदर्श आलोचक होता है। ऐसा शरीफ आदमी व्यंग्य के मैदान में क्या टिकेगा? इस आदमी का कोई 'नूईसेंस वैल्यू' ही नहीं है। इसके विरुद्ध तो कोई भी कुछ लिख देगा। इस लिहाज से परसाई और शरद जोशी वरी लेखक थे। बड़े आलोकचों की हिम्मत लिखी पर वह 'विनय पत्रिका' जैसी है।

– अरुण प्रकाश

दुबे उद्घाटन सत्र के अध्यक्ष थे और वेददान सुधीर को एक सत्र में भाषण देना था। हम तीनों एक ही ट्रेन से लखनऊ पहुंचे थे. . . । सारे दिन के बाद शाम को रसरंजन के लिए दुबे जी के ही कमरे में जमावड़ा था, जिसे सामग्री लेकर आना था, नहीं आया था और हम लोग बेचैन थे। दुबे जी की अटैची में एक बोतल पैंदाभर शराब थी, मेरे पास एक हाफ। दुबे जी ने अचानक श्रीलाल जी को फोन किया तो उन्होंने बताया कि वे अपने कोटे के चार पैग ले चुके हैं, हमें प्रतीक्षा लंबी लग रही थी। आखिर श्रीलाल जी आए। बांस की एक टोकरी में सलीके से छोटी एक तौलिया में लिपटा नमकीन और किसी अच्छी शराब की बोतल शायद बेलेंटाइन। श्रीलाल जी यह भूल गए कि वे चार पैग पहले ही लेकर आए हैं. . .श्रीलाल जी का गुर्दा तो फौलाद का बना है, उस पर कोई असर नहीं होता। आप (संगी-साथी) मुफ्त में मारे जाएंगे। संभवतः इस पायदान पर सिर्फ अशोक वाजपेयी ही उनके जोड़ीदार हों।. . .पता नहीं, उनकी बैठकी हुई या नहीं, क्योंकि दोनों रिटायर्ड अफसर भी तो हैं।

वर्ष 2008 में राजकमल प्रकाशन से श्रीलाल शुक्ल : संचयिता का प्रकाशन हुआ, जिसके प्रधान संपादक डॉ. नामवर सिंह और संपादक सुशील सिद्धार्थ हैं। भूमिका में नामवर जी लिखते हैं, 'श्रीलाल शुक्ल का वह लेख अक्सर याद आता है, जिसका शीर्षक है, 'निराला के बहाने कुछ साहित्य चर्चा'। इस लेख का 'हम्बग' शब्द अभी तक हथौड़े की तरह मन पर बार-बार प्रहार कर रहा है। 'गुरु हथौड़ा हाथ / करती बार-बार प्रहार' वह तोड़ती पत्थर।' आगे लिखते हैं, 'कहना न होगा कि 'राग दरबारी' से लेकर 'बिस्रामपुर का संत' तक श्रीलाल जी इसी झूठ की खोज करते हुए टेढ़े-मेढ़े रास्ते से सत्य को पहचानने की कोशिश करते रहे हैं। और लोग इसे सिर्फ व्यंग्य कहकर हाशिए पर डालते रहे हैं।' नामवर जी ने अपनी बात के प्रमाण के रूप में श्रीलाल जी की छोटी-सी पुस्तक 'यहां से वहां' के परिचय में दिया गया रघुवीर सहाय का यह वाक्य 'उनका व्यक्तित्व विकृति की सृष्टि नहीं, विकृति की खोज करता है' उद्धृत किया है।

ऐसे समय में जब किसी बड़े लेखक की सम्पूर्ण कृतियों को पढ़ना संभव नहीं रह गया है, हम उसकी 'संचयिता' यानी श्रेष्ठ रचनाओं का संकलन के माध्यम से महान लेखक के रचना के उत्स की ही खोज नहीं कर सकते बल्कि उसके रचनात्मक सरोकारों को भी रेखांकित कर सकते हैं। इस संचयिता में उनका रचनाकार विविध विधाओं में ही नहीं, बल्कि विविधता के साथ मौजूद है।

जब श्रीलाल जी की बच्चों और किशोरों के लिए विशेष रूप से लिखी गयी पुस्तक 'बब्बर सिंह और उसके साथी' स्कॉलास्टिक के सामने आयी तो मैं बहुत उत्साहित हुआ था। पुस्तक मिलते ही उसे पढ़ गया, और उसकी सरसता, उसके कथ्य, उसकी रोचकता पर मुग्ध भी बहुत हुआ। उन दिनों 'दैनिक हिन्दुस्तान' में मैं 'शुक्ल पक्ष कृष्ण पक्ष' नाम से एक पाक्षिक कॉलम लिखा करता था। उसी में पुस्तक की समीक्षा की। और उसके कुछ दिनों बाद जब दिल्ली में उनसे भेंट हुई तो इस पर विस्तार से सारी चर्चा भी हुई। उन्होंने बताया कि अरविंद कुमार के बहुत आग्रह के बाद उन्होंने यह पुस्तक लिखी है, और इसे लिखकर उन्हें भी बहुत अच्छा लगा है। जिस शाम उनसे यह चर्चा हुई थी, रंगकर्मी भानु भारती और कवि-आलोचक गिरधर राठी भी मौजूद थे। दरअसल उन्होंने हम तीनों को उस शाम शेखसराय में भोजन के लिए आमंत्रित किया था।

– प्रयाग शुक्ल

हालांकि उपन्यास के किसी छोटे अंश से उपन्यास की सम्पूर्णता को नहीं जाना जा सकता लेकिन रचनात्मकता की कौंध के बीच हमें कुछ चीजें प्रकाशित होती जरूर दिखती हैं। उनके उपन्यास 'राग दरबारी' का आरंभिक अंश यहां संकलित है। एक तरफ ट्रक और दूसरी तरफ रंगनाथ के बीच से कहानी शुरू होती है। 'मकान', 'पहला पड़ाव', 'बिस्रामपुर का संत' तथा 'राग विराग' के भी कुछ दिलचस्प और रोचक प्रसंग इस पुस्तक में दिए गए हैं। कहानी खंड में उल्लेखनीय है 'यह घर मेरा नहीं', 'शिकारियों के बीच' और 'सुरक्षा'। व्यंग्य लेखन में श्रीलाल जी के आदर्श रहे हैं परसाई और शरद जोशी। यही कारण है कि इनके व्यंग्यों को पढ़ते हुए परसाई जी की उपस्थिति आस-पास महसूस होती है, खासकर 'संस्कृत पाठशाला में प्रसाद', 'साक्षात्कार : लोकसेवा आयोग का', 'एक वरिष्ठ लेखक का रोजनामचा' आदि। इनके निबंधों में भी व्यंग्य की प्रचुरता है। बल्कि कहना चाहिए व्यंग्य के बाहर जाकर भी दरअसल व्यंग्य की चौहद्दी से वे निकल नहीं पाते, यह उनकी नकारात्मक नहीं, बल्कि सकारात्मक भूमिका है, जिसका प्रमाण है 'विवेक का वह अनूठा रंग', 'मेरे व्यंग्य लेखन का एक ऐतिहासिक क्षण', 'मैं महान लेखक क्यों न बन सका', 'निराला के बहाने कुछ साहित्य चर्चा', 'होरी और 1984'। श्रीलाल जी ने कुछ विनिबंध– 'भगवती चरण वर्मा और अमृतलाल नागर पर लिखे हैं और उनकी एक आलोचना पुस्तक– 'अज्ञेय : कुछ रंग, कुछ राग' भी है। इस संचयिता के अंत में उनके जीवन और रचना, सम्मान, अनुवाद, साहित्यिक यात्राएं आदि के बारे में तिथियां और तथ्य दिए गए हैं, जो पुस्तक को उपयोगी बनाते हैं।

श्रीलाल शुक्ल के लेखन की लगभग 60 वर्षों की यात्रा वस्तुतः सार्थक रचना यात्रा है, जिसमें कई मोड़, घुमाव और पड़ाव ही नहीं, 'अगली शताब्दी का शहर' भी है। श्रीलाल जी के दीर्घायु होने की शुभकामनाएं, मैं मैथिलीशरण गुप्त द्वारा पंत जी की षष्टिपूर्ति पर व्यक्त की गई पंक्तियों से साभार उद्धृत करना चाहता हूं।

'मिले संत के अनुप्रास से तुम हमको प्रिय पंत। भोगो अपनी जन्मभूमि के शत-शत शरद बसंत।।

बस आप याद करें 'बिस्रामपुर का संत' को।

11/ए-1, हिन्दुस्तान टाइम्स अपार्टमैंट्स
मयूर विहार, फेज-1
दिल्ली-110091

इफको
किसानों के लिये, किसानों की, किसानों के द्वारा ।

लगभग 4 दशकों से उर्वरकों का विश्व का सबसे बड़ा सहकारी उत्पादक, इफको–इंडियन फारमर्स फर्टिलाइजर कोऑपरेटिव लिमिटेड–भारतीय किसानों के जीवन एवं समय का अभिन्न अंग रहा है। वैज्ञानिक खेती में सहयोग, मिट्टी की जांच, स्वास्थ्य एवं शैक्षणिक कार्यक्रम में उनका दिशा–निर्देशन कर उनकी उपज को बढ़ा रहा है।

किसानों की समृद्धि, भारतीय अर्थव्यवस्था और इसके कोऑपरेटिव इन्फ्रास्ट्रक्चर का और अधिक विस्तार करने हेतु इफको ने पंचवर्षीय योजना "मिशन 2010" प्रतिपादित की है।

इफको उत्पाद के क्षेत्र

इफको यूरिया

इफको एन पी के

इफको डी ए पी

इंडियन फारमर्स फर्टिलाइजर कोऑपरेटिव लिमिटेड

इफको सदन, सी-1, डिस्ट्रिक्ट सैन्टर, साकेत प्लेस, नई दिल्ली-110017

फोन: 91-11-26510001, 91-11-42592626 (पीबीएक्स), फैक्स: 91-11-42592650

एक खुशहाल भविष्य का बीज बोता हुआ

सुवास कुमार

व्यंग्यलेखों का 'ललित' विस्तार

कहते हैं, पूत के पांव पालने में ही पहचाने जाते हैं। श्रीलाल शुक्ल ने लेखन का आरंभ भले थोड़ी देर से किया हो, पर अपनी पहली ही पुस्तक के द्वारा 'वीणापाणि के कमपाउंड में' (लेखक केशव चन्द्र वर्मा) 'अंगद का पांव' रोप कर पूत के पांव वाली कहावत को सार्थक भी किया। पहली ही किताब में सब कुछ– साहित्य-संगीत, कला-शोध, यात्रा-संस्मरण, यथार्थ-आदर्श इतिहास-पुराणकथाएं ही नहीं, साक्षात् पशु-जैसे मनुष्य को भी समेट लिया! 1955 में प्रकाशित 'स्वर्णग्राम और वर्षा' अगर उनकी पहली रचना थी तो इसमें बहुतेरे साहित्यकारों ने भविष्य में एक कद्दावर व्यंग्यकार के सामने आने की भारी-भरकम आहट सुन ली थी क्योंकि उक्त व्यंग्य-रचना में कवि-कल्पना और ग्रामीण यथार्थ–काव्य और जीवन– की दूरी और असंगति पर मारक प्रहार किया गया था। वर्षा, और खासकर गांव में वर्षा, को लेकर कला और साहित्य के क्षेत्रों में जो रोमैंटिक कल्पनाएं होती रही हैं उन्हें गांव का भयावह यथार्थ पहली ही नजर में ग्रस लेता है जहां अंधेरा-मक्खी-मच्छर-सांप, टूटी छतें, ढही दीवारें, चोरी, बदहजमी, कपड़े-लत्ते, खाने-पीने और दवा-दारू की समस्याएं मुंह बायें मिलती हैं। व्यंग्यकार ने देखा कि ऐसे भीषण यथार्थ के रू-ब-रू हमारा साहित्य ऐसा लगता है– ''एक दादुर यानी मेंढक, एक गढ़े में बैठा हुआ टर्र-टर्र कर रहा था। कीचड़ में सना, परमहंस-जैसा, वर्षा के उत्पात से अनजान।' उस समय के नवलेखन के सशक्त संकलन 'निकष' में प्रकाशित इस रचना ने जिस संभावनामय व्यंग्यलेखक के आगमन की सूचना दे दी थी उसके विकास और उपलब्धियों का हिन्दी जगत उत्सुक प्रसन्नता से जायजा लेता रहा है।

आरंभ से ही श्रीलाल शुक्ल ने अनेक अछूते और उपेक्षित किन्तु महत्वपूर्ण विषय उठाये। जैसे देश में संस्कृत पाठशालाओं और उनके पुराणपंथी शिक्षकों की जो दुर्गति होती रही है वह संस्कृत शिक्षा के प्रति हमारे चिंतनीय रवैये को जाहिर करती है। व्यंग्यकार ने संस्कृत के देवभाषा वाले राजसी अतीत और वर्तमान के टुच्चे परिदृश्य की विडम्बनात्मक तुलना से संस्कृत शिक्षा का ऐसा रोदसी वृत्तान्त पैदा किया है जो तिलमिला देने वाला है। एक दूसरे व्यंग्य 'साहित्योद्यानसुमनगुच्छा: एक समीक्षा' में हिन्दी आलोचना की दशा और दिशा के साथ-साथ हिन्दी कविता की निषेधात्मक प्रवृत्तियों का जायजा लिया गया है। अपने संपूर्ण लेखन में श्रीलाल शुक्ल किताबी पांडित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति पर जम कर बरसे हैं। वे ज्ञान को जीवन-यथार्थ से जोड़कर देखने के हिमायती हैं। यह बात कभी वे संगीत (सकल बन ढूंढ़ूं), कभी चित्रकला (पुराना पेण्टर और नयी कलम) कभी साहित्य ('सुकवि सदानन्द के संस्मरण', 'दो पुराने आदमी' आदि) की मार्फत बताते रहते हैं। विश्वविद्यालयों में यथास्थितिवादी शोध की नियति को वे 'बया और बन्दर की कहानी' जैसी रचना में स्पष्ट करते हैं। आज से दशकों पहले ही उन्होंने बम्बइया फिल्मों में 'प्रयुक्त' हो रही पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक 'शैलियों' की घिसी-पिटी परिपाटी को जान-समझ लिया था और 'प्रभाव समीरण उर्फ सुबह की हवाएं,-जैसी रचनाओं में उसकी खूब बखिया उधेड़ी थी। गांव, शहर, कृषि, प्रशासन, राजनीति, समाज और जीवन के हर क्षेत्र में श्रीलाल शुक्ल की पैनी नजर असंगतियों को बखूबी पकड़ लेती है। जहां कहीं भी, किसी भी तरह की महीन से महीन 'हिपोक्रेसी' हो, उसे उघाड़ने से वे बाज नहीं आते। हमारे उच्च शिक्षा प्राप्त कृषि वैज्ञानिकों को ही लीजिए जिनका जमीनी हकीकत से दूर-दूर तक अलगाव हो चुका है ('पहली चूक') और दूर क्यों जाना, रोज-ब-रोज अपने चतुर्दिक रहने वाले जिन मध्यवर्गीय व्यक्तियों से हमारा साबका पड़ता रहता है क्या उनकी खोखली प्रदर्शनप्रिय (बाहर कुछ, भीतर कुछ, मगर जो दूसरों से बेहतर बनना नहीं, सिर्फ 'दिखना' चाहे) जीवनशैली वाला एक-सा चरित्र नहीं लगता (दुभाषिये), या पूरे निजी अथवा सार्वजनिक प्रशासनिक दफ्तरों में घूम आइए, हर जगह खुशामदी और तिकड़मी लोग एक अन्तहीन प्रतियोगिता और होड़ में मशगूल मिलेंगे ('अंगद का पांव')। ये सब श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य के प्रस्थान विन्दु हैं।

जीवन, समाज, राजनीति, अर्थनीति– सबमें श्रीलाल शुक्ल बेहिचक 'यहां से वहां' आते-जाते हमारी सुन्न पड़ी संवेदनाओं को चिकोटी काट कर जगाते रहते हैं। भारतीय जीवन-मूल्यों के प्रति भारतीयों को सचेत और आगाह करने की उनकी सार्थक चेष्टा का माध्यम है व्यंग्य। इस तरह वे हिन्दी का व्यंग्यकार चतुष्टय (परसाई-शरद जोशी-रवीन्द्रनाथ त्यागी के साथ) बनाते और वहां अपना वैशिष्ट्य भी रेखांकित करते हैं। रघुवीर सहाय उचित ही, श्रीलाल शुक्ल को प्रेमचंद से जोड़ते हैं और अज्ञेय से भी। श्रीलाल के व्यंग्य की विशिष्टता है कि वह सड़े-गले को नष्ट करने के साथ ही टूटे हुए सार्थक को जोड़ने पर बल देता है। व्यंग्यकार जिस तरह अपने तीक्ष्ण निरीक्षण से क्षेत्र में व्यवस्था से जुड़े हुए लोगों के छल-छद्मों से वाकिफ और खिन्न होते रहते हैं उसी तरह आत्मनिरीक्षण और आत्मालोचन की प्रक्रिया से गुजरते हुए खुद को भी नहीं बख्शते। ज्यादातर शहरी माहौल में उम्र बिताने वाले श्रीलाल जी देहाती संवेदना से भरपूर मिलते हैं, सो कड़वापन और तीखापन उनके व्यंग्य का सहज स्वभाव बना है। व्यंग्य की धार जितनी सूक्ष्म है, उतनी ही पैनी भी। यह मारक व्यंग्य किस तरह से सीधे व्यंजना के तरकश से निकल कर मंतव्य को लक्ष्य तक पहुंचाता है, इसका एक उदाहरण रखना

समीचीन होगा 'नालियों की बदबू दबाने के लिए फिनायल का छिड़काव किया जाता है। उसी हिसाब से अपने खुले गले और बांहों पर पाउडर छिड़के हुए एक महिला चीते के पास से गुजरती है। चीते पर इसका कोई असर नहीं होता। वह अपने कटघरे में गुमसुम पड़ा रहता है। पर कुछ दूरी पर चिम्पैंजी बन्दर चीखने लगते हैं।

'चीते की गहरी सुनहरी खाल पर काले-सफेद धब्बे हैं। महिला की साड़ी का रंग भूरा मटमैला है। चीते की रंगीनी से उसका कोई मुकाबला नहीं। पर बहुत से लोग, जो लोहे के सींकचों की दूसरी ओर से अब तक चीते को देख रहे थे, महिला को देखने लगते हैं। कारण– जातिवाद, मानव का मानव के प्रति पक्षपात।

'यह जिंदा अजायब घर है।. . .' (हमारे विचित्र पशु पक्षी) शासन-प्रशासन के स्तर पर देश में अर्से से जो कुछ चला आ रहा है, पता नही हमें कहां पहुंचाएगा। 1965 में ही श्रीलाल शुक्ल ने हमारे जनतंत्र को परिभाषित कर दिया था– 'जनतंत्र क्या है? हमारे मुल्क का बच्चा-बच्चा जानता है अपने आदमियों की हुकूमत, जो अपने आदमियों के द्वारा, अपने आदमियों के लिए चलाई जाए।' इस अंधेर नगरी में फंसे हुए अपने दोस्त के लिए वह अफसोस व्यक्त करता है कि 'कुछ बेईमानों ने तुम पर बेईमानी का आरोप लगाया है और इसकी जांच एक बेईमान को दे दी गई है। बेकसूर हो कर भी तुम चक्कर में पड़ गये हो. . . आदि। इस हाल में अजब नहीं जो राजनीति और नेताओं का चरित्र व्यंग्यकारों का प्रिय निशाना बना है। पर श्रीलाल शुक्ल न्यायपालिका पर भी महीन मार करने से नहीं चूकते जो इतनी दयालु है कि 'हमारे यहां वादी-प्रतिवादी या अभियुक्त किसी को बोलने की जरूरत नहीं है। उसकी ओर से बोलने के लिए वकीलों के जत्थे हैं।. . . अंग्रेजी जबान, वकील और अंग्रेजों का बनाया हुआ ढर्रा. . . इनके सहारे हम जनता को सभी तकलीफों से बचाते हैं।' और संवेदनशून्यता का हाल तो यह है कि चीफजस्टिस कार्नेलियस ने आस्ट्रेलिया में मुख्य न्याय धीशों के सम्मेलन में राय दी थी कि अपराधियों के जिस्म के हिस्सां को सर्जरी की पद्धति से काट कर सजा देनी चाहिए (ताकि सजा वहशियाना ना लगे)। न्याय प्रक्रिया मानवीय दुर्बलताओं से ऊपर नहीं उठी है। 'अभी तक इस देश के कानून में अदालत का अपमान करना ही जुर्म माना गया है, अदालत की चापलूसी करना नहीं।' अब तक यह भी देखा जा चुका है कि हमारे न्यायालय धमकी, खुशामद, घूसखोरी, भ्रष्टाचार किसी दुर्गुण से निर्लिप्त नहीं। और फिर, बकौल श्रीलाल शुक्ल तो, 'कानून की निगाह में चापलूसी नाजायज चीज नहीं है' फिर इससे न्यायालय, हमारी सरकार, राजनीति, प्रशासन किसी को कोई परहेज क्यों हो। अत: चापलूसी को राष्ट्रीय संस्कृति का दर्जा मिल ही जाना चाहिए! श्रीलाल शुक्ल कुछ नई परिभाषाएं भी गढ़ रहे थे, जैसे– 'नेता जिन्हें अपने आगे ठेलने के लिए अंधे और पीछे चलने के लिए गूंगे मिल जाते हैं। जनता जो इतिहास द्वारा बार-बार निरुत्साहित होने के बावजूद अपने को समझदार मानने के लिए मजबूर है। पुलिस जिसका होना भर अपने आप में एक घटना है।' (भविष्य निर्माण का कारखाना)।

हमारा देश अतुलनीय है, खास तौर से गन्दगी के मामले में– और यह गन्दगी हर तरह की और हर तरफ है। सपनों के देश अमेरिका गए अपने मित्र को श्रीलाल शुक्ल ने पत्र में अमेरिका को मुह बिराते हुए अपने इंडिया के बारे में लिखा, ''गली के दोनों ओर गन्दे पानी की खुली नालियां थीं। दो-तीन टूटे पाइपों से ऊपर का पानी खड़खड़ा कर गिरता था। छीटे उड़ कर एक छोटे-मोटे नियागरा फंाल का मजा पैदा कर रहे थे। नाली के एक किनारे तीन नंग-धड़ंग बच्चे कतार बांधकर बैठे थे और अपने चन्दरोजा बचपन का गन्दा फायदा उठा रहे थे।... सामने एक हलवाई सोलह वर्गफीट रकबे में मिठाइयां सजाए बैठा था। मिठाइयों की रक्षा मक्खियां कर रहीं थीं, मक्खियों की रक्षा अहिंसा कर रही थी।... उसी के पास, जो कहीं भी हो सकती है– यानी पान की दुकान वह थी। पान की पीक एक नाली से दूसरी नाली तक सेतु के रूप में फैल रही थी। (विदेश भ्रमण पर)। राजनीति से लेकर रेलगाड़ी तक का नजारा कुछ हमसे छिपा नहीं है–''मुंगफली के छिलके, थूक, कोयला, कालिख, बिड़ी की अधजली कड़ियां, लुढ़का हुआ पानी और बच्चों का पेशाब–चारों ओर यही सब छितरा है, अखबारों और फैले हुए गुटबन्दों के ताबड़-तोड़ बयान की तरह। उस पर भी तुर्रा यह कि सफाई की मुफ्त व्यवस्था है। हर बड़े स्टेशन पर यह नारा पट्टियों पर चमकता है। बावर्दी कर्मचारी झाड़ू फटकारते, अपना कूड़ापात्र हिलाते हुए तेजी से निकलते हैं। मुसाफिरों की आशाएं ऊंची होती हैं। कभी-कभी वे डिब्बे में घूस कर झाड़ू चला भी देते हैं। पर फिर भी वही कालिख, वही थू-थू, वही खाली छिलके! ''गन्दगी यहीं तक नहीं है। असली गन्दगी तो वातावरण है।'' इस पूरे वातावरण की व्यापक सड़ांध को श्रीलाल शुक्ल ने बाद में चलकर अपने उपन्यासों, खासकर रागदरबारी, में परत-दर-परत उघाड़ कर रखा।

वस्तुत: आरंभ के व्यंग्य निबंधों और कहानियों में हमे जब युवा श्रीलाल शुक्ल के दर्शन होते हैं तो वहां व्यंग्य के तीखेपन के साथ-साथ विनोद और रसिकता भी मिलती हैं। बाद के प्रौढ़ श्रीलाल शुक्ल में रसिक और विनोद प्रवृति की सगभग पूरी जगह व्यंग्य की तल्खी ही छेंक लेती हैं उनकी आरंभिक रसिकता संभवत: उनके संस्कृत साहित्य के सीधे ज्ञान का परिणाम थी। कुल मिलाकर देखने से लगता है कि श्रीलाल शुक्ल में परसाई के डंक, शरद जोशी की चुटकी-चिकोटी और रवीन्द्रनाथ त्यागी की गुदगुदी तीनों का समुचित परिपाक हुआ है। मेरा खयाल है कि अगली सदी तक हिन्दी के जो कथाकार पढ़े जाते रहेगें उनमें प्रेमचन्द, रेणु और श्रीलाल शुक्ल अवश्य होंगे– प्रेमचन्द अपने वर्तमान की गहरी पकड़ के लिए, रेणु अपनी अद्भुत मानवीयता के लिए और श्रीलाल शुक्ल जबर्दस्त आलोचनात्मक व्यंग्य के लिए पाठकों को प्रिय रहेंगे।

श्रीलाल शुक्ल ने व्यंग्य के शिल्प में कहानियां, निबन्ध, रेडियों-फीचर, आलेख से लेकर स्तंभ-लेखन तक हर प्रकार की रचना की। 'कुछ जमीन पर कुछ हवा में', 'आओ बैठ लें कुछ देर' जैसे संकलनों में पत्रकारिता की गहरी छाप मिलेगी। 'मेरी

श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाए' और 'अगली शताब्दी का शहर' में मिली-जुली रचनाएं हैं। निबंधकार के बाने में श्रीलाल शुक्ल पूरी तरह फिट नहीं बैठेंगे क्योंकि मूलत: और अन्तत: हैं वे सर्जनात्मक लेखक ही। जब वे अपनी व्यंग्य रचनाओं के 'परिचय' में यह कहते पाए जाते हैं कि वें सर्जक, इंटेलेक्चुअल और एकेडेमीशियन का मिश्रण नहीं है और यह भी कि ''विचारों का एक बहुत बड़ा इलाका है जिसमें लेखक की हैसियत– यहां तक कि नागरिक की हैसियत तक से मैं आज तक अपनी मान्यताओं को अपने लिए भी परिभाषित नही कर पाया हूं'– तो हम इसलिए अकचका जाते हैं कि ऐसी व्यंग्यहीन, अकुंठ, सरल आत्मस्वीकृति हिन्दी साहित्य क्षेत्र में तो आद्यंत दुर्लभ ही रही है। आगे वे यह भी कहते हैं– 'जो पत्थर मैंने पहले उलटे, वे कहानियां थीं। पर शीघ्र ही मुझे अनुभव हो गया कि कहानियों की विधा मेरे लिए मुश्किल है।' सतत आत्मनिरीक्षण करते रहने वाले शुक्ल जी को पता है कि धीरे-धीरे उनकी व्यंग्य रचनाएं कटुतर होती गयी हैं (वस्तुत: जिसकी जिम्मेदारी निरन्तर पतित होते जाने वाले परिवेश पर है) वे व्यंग्य को विधा, शैली, रचनातत्व–हर रूप में अपना कर चले हैं। व्यंग्य का स्वर कहीं ढंका, कहीं दबा और कहीं उभरा भले हो, पर वह उनके संपूर्ण लेखन में मौजूद अवश्य है।

श्रीलाल शुक्ल जिस अफसरशाही के पेशे से जुड़े उसने उन्हें ऐसे उच्चासन पर रखा जहां से वे लोक, तंत्र, नीति-अनीति और उनके नियामक भाग्य-विधाता सबको निकट से पहचान और परख सकते थे। प्राय: हमें ऐसा नेता मिलता रहा है जो 'अस्सी साल से ऊपर था और अपनी नकली इन्द्रियों के सहारे–यानी चश्मा, नकली दांत, इयर फोन आदि फिट करके देश की राजनीति का संचालन करता था।' (एक जीते हुए नेता से मुलाकात)। ऐसे 'लस्ट फार पावर' में मुब्तिला लोगों के लिए देश की 'घरेलू नीति धर-पकड़ और लाठी गोली की' और 'विदेशी नीति स्वागत, दावत और मुस्कान' की होती है। आजादी के बाद से ही हमारे देश में 'राजनीति' करने वाले लोग सब के व्यंग्य के सर्वोच्च निशाने पर रहे मगर पिछले साठ वर्षों से होने वाली लगातार व्यंग्य की बरसात भी उनके गैंडे की खाल वाले चरित्र को जरा भी विचलित नहीं कर सकी। बल्कि अब तो 'राजनीति' पूरे तौर पर थेथर ही बन चुकी है। उलटे रचनाकारों को ही ऊब कर इस विषय से किनारा करना पड़ रहा है।

तथाकथित फैशनेबल और विडंबनापूर्ण शहरी रहन-सहन को श्रीलाल शुक्ल उचित ही संदेह की नजरों से देखते-दिखाते रहे हैं। अपने शहर 'लखनऊ' पर लिखे उनके निबंधों में भी 'पक्षपात' खोजे नहीं मिलेगा! एक तरफ वे विलायती ढंग के बार, चमचमाती कारें, जगमगाते नियोन रोशनी वाले विज्ञापन के दृश्य देखते हैं और यह सामाजिक 'विकास' दिखाना भी नहीं भूलते कि 'फैशनेबुल, दुबली-पतली लड़कियां जिनके जीवन का मुख्य कार्यक्रम अपनी ओर लफंगों को और लफंगों की ओर पुलिस को आकर्षित करना था– कूल्हे, वक्ष और टखने मात्र में संपूर्ण मचलती हुई चली जा रही थीं।' तो दूसरी ओर 'सामने एक रिक्शा आकर रुका उसपर सोलहवीं सदी बैठी थी। यानी बुरके के अन्दर एक औरत थी।' यह घटना हनुमान मंदिर के सामने की सड़क की है जहां 'दो-तीन ऐंग्लो-इंडियन लड़कियां फुटपाथ पर खड़ी होकर हनुमानजी को घूरने लगीं। जवाब में हनुमान जी के भक्त लड़कियों को घूरने लगे।' श्रीलाल शुक्ल कभी 'एक देहाती की नजर में शहर के सौ मीटर' को दिखलाते हैं जो वास्तव में पूरे देश की यात्रा है और 'सौ मीटर की वह लम्बी यात्रा अभी खत्म नहीं हुई है।' शहर में ही आधुनिकता-सम्पन्न बुद्धिजीवी नामक प्राणी भी बड़े ठसके से निवास करता है। श्रीलाल जी की 'आधुनिकता' और 'बुद्धिजीवी' दोनों के बारे में 'खास' धरणाएं हैं। जी. प्रसाद 'आधुनिक' हैं, ''आधुनिकता के नाम पर उन्हें अंग्रजी बोलनेवाली बीवी, एक अच्छे दर्जी का संपर्क, मोटे शीशे का चश्मा और बवासीर-भर मिला है।' हमारी कहानियों में आधुनिकता का राज भी उन्हें पता है, यानी 'जाड़े की धूप, दिन का तीसरा पहर और लहलहाते अंग्रेजी फूल, जिनका नाम भर गिना दो तो देसी भाषाओं की एक कहानी बन जाए।' 'लखनऊ' शीर्षक रचना के अंत में उसके बुद्धिजीवी नैरेटर का सामना एक वेश्या / कालगर्ल से होता है और 'बिजली के खंभों की रोशनी में फैली हुई, एक दूसरे को काटती हुई अपनी परछाइयों को कुचलता हुआ मैं एक परछाई-सा ही धीरे-धीरे अपने घर की ओर चलता रहा।' और इस तरह 'लखनऊ का एक बौद्धिकतापूर्ण दिन खत्म हुआ।' एक और रचना 'मनीषी जी की एक रात' के अन्त में भी बुद्धिजीवीगीरी और वेश्यागीरी का घालमेल 'सम्पन्न' होता दिखता है–दोनों को अपने-अपने ग्राहको- कद्रदानों की कितनी शिद्दत से फिक्र होती है! 'चौराहे पर' में श्रीलाल शुक्ल जी बताते हैं– 'चौराहे के एक ओर काफी हाउस था। 'जहां धुआं होता है, वहां आग होती है' के न्याय से काफी हाउस में कुछ मनीषी इंटेलेक्चुअल मौजूद थे और अपनी बहस से कुछ समस्याओं की समस्या में समस्यावान थे।' बुद्धिजीवी निकलते या निकाले जाते शिक्षा संस्थानों से हैं जिनकी दुरवस्था पर श्रीलाल शुक्ल ने लगभग अंतिम बात ('सड़क किनारे की कुतिया वाली') कह दी है। 'लखनऊ-2' में 1966 में ही वे यह भी बता चुके थे कि ''विश्वविद्यालय तो लखनऊ में भी हैं। आप चाहे जितना आश्चर्य करें, पर यह सही बात है। पूर्ण विकसित विश्वविद्यालय है जिसकी सबसे बड़ी सुदरता यह है कि गोरखपुर विश्वविद्यालय इससे ज्यादा गया-बीता है।' शहर में कुकुरमुत्ते के समान उगती या नई बस रही कालोनियों का सच हो या ठेठ देहाती घुड़सरी के कवि सम्मेलन के मौके का भोज-भात, श्रीलाल एक समान पिछड़ेपन और 'आधुनिकता' दोनों की खिल्ली उड़ाते नहीं थकते।

श्रीलाल शुक्ल व्यंग्य को विधा, शैली, रचना-तत्व सब मानते हैं। अर्थात व्यंग्य उपन्यास, व्यंग्य कहानी, व्यंग्य नाटक जैसे शब्दों में जो 'व्यंग्य' विशेषण-स्वरूप लगता है, वह नहीं बल्कि रचना की अन्तर्बाह्य अन्विति में जो अनुस्यूत रहे वह। 'राग-दरबारी', 'रानी नागफनी की कहानी', 'भोलाराम का जीव' जैसी रचनाओं को उपन्यास, पैरोडी, कहानी के विन्यास में व्यंग्य कहें या व्यंग्य के विन्यास में विविध विधाएं? वहां सच्चा

व्यंग्य नहीं होता जहां व्यंग्य को विधा से विलगाया जा सके। श्रीलाल शुक्ल की व्यंग्य-यात्रा के पड़ाव में लगभग आधी 'कहानियां' कमजोर थीं और उन्हें इस बात का एहसास है। 1970 में उन्होंने स्वीकार किया था कि, 'जो पत्थर मैंने पहले उलटे, वे कहानियां थीं। पर शीघ्र ही मुझे अनुभव हो गया था कि कहानियों की विधा मेरे लिए बहुत मुश्किल है।' वस्तुतः उनकी हास्य कथाएं समय के साथ फीकी पड़ती जा रही हैं। हास्य कथाओं के फीके पड़ते जाने के कई कारण होते हैं—अगर सामाजिक परिस्थितियों, रिवाजों, कर्मकांडों पर ज्यादा निर्भरता होगी तो हास्यकथा दशक की उम्र भी मुश्किल से पार कर सकेगी। हिन्दी में यह हादसा जी.पी. श्रीवास्तव–जैसे लेखकों के साथ गुजर चुका है। इसलिए भी शुद्ध हास्य जैसी चीज से हास्य कथाओं से शुक्ल जी ने शीघ्र ही अपने हाथ खींच लिए और व्यंग्य के हथियार को ही तीखा-पैना बनाते चले। हमारे समकालीन जीवन के चारों ओर इतनी सारी ठोस और अमूर्त विडम्बनाएं, असंगतियां और विसंगतियां फैली पड़ी हैं कि शायद ही साहित्य की कोई विधा व्यंग्य को नजर-अन्दाज कर आगे बढ़ सके। परसाई की तरह श्रीलाल शुक्ल भी व्यंग्य की ढाल-तलवार ले कर लड़ते हैं पर स्थितियों की विद्रूपताओं पर उन्हें इतना ज्यादा गुस्सा आता है कि अक्सर अभिधा पर उतर आते देर नहीं लगाते। परसाई और शरद जोशी की तरह श्रीलाल शुक्ल ने भी अखबारी स्तम्भ लेखन खूब किया। रेडियो और दूरदर्शन पर भी शुक्ल जी का लेखन मशहूर हुआ। 'कुछ जमीन पर कुछ हवा में' और 'आओ बैठ लें कुछ देर' में संकलित इस कोटि के लेखन में श्रीलाल शुक्ल की बेचैनी, अवसाद और आक्रोश बहुत बार व्यंग्येतर शॉर्ट-कट की खोज करने लगता है। यह सच है कि स्तम्भ-लेखन में शब्दों के सीमांकन के चलते भी भाव और व्यंग्य कभी-कभार सिकोड़ने पड़ते हैं। लेकिन श्रीलाल–जैसे सिद्धहस्त व्यंग्यकारों के लिए यह शब्द-सीमा कोई विकट चुनौती नहीं बन सकती। वस्तुतः प्रतिबद्ध व्यंग्यकार जब व्यंग्य का सीमातिक्रमण कर 'प्रो-एक्टिव' चिंतक-लेखक की भूमिका की ओर कदम बढ़ाना चाहता है तो अभिधात्मक होने की बाध्यता भी स्वीकार कर लेता है। व्यंग्य-लेखन की दृष्टि से यह रचनात्मक फिसलन या विचलन परसाई और श्रीलाल शुक्ल के निबंधों में खासतौर से है, शरद जोशी और रवीन्द्रनाथ त्यागी में अपेक्षया बहुत कम। फिर शरद और त्यागी अपनी व्यंग्य-रचनाओं में लेखकीय, कलात्मक भूमिकाओं के प्रति ही प्रतिबद्धता महसूस कर संतुष्ट बने रहते हैं और यह अनुचित भी नहीं। 'राग-दरबारी' या 'रानी नागफनी की कहानी' जैसी कथात्मक व्यंग्य-रचनाओं में एक भी अभिधात्मक वाक्य शायद ही मिले। ऐसा क्या सिर्फ निबंध-विधा में लिखने या स्तम्भ-लेखन करने के चलते है? वस्तुतः व्यंग्यकार जब अपने सामाजिक सरोकारों को ज्यादा संजीदगी से महसूस करने लगता है तो उसका व्यंग्य करता हुआ निबंध भी संजीदा होने लगता है। रचनात्मकता की लीक छोड़ने वाली यह अनपेक्षित अभिधात्मक संजीदगी पाठक को अचानक धक्का देती है, चौंकाती और भौंचक्का बना देती है। ऐसे पैबन्दनुमा (पैची) व्यंग्य/निबंध को लेकर उसका व्यंग्यकार के बारे में बना-बनाया बिम्ब बिगड़ता हुआ लगता है। श्रीलाल शुक्ल को इस बात का इल्म था इसलिए वे सफाई देते हुए से कहते हैं कि उनकी ''रचनात्मक प्रवृति इनके अखबारी चरित्र में कुछ और जोड़ने के लिए बराबर आग्रहशील रही।'' अखबारी टिप्पणियां तात्कालिकता के दबाव के चलते फैल-फूल नहीं पातीं तो उनकी प्रासंगिकता धुंधलाने लगती है। सच तो यह है कि किसी भी लेखक की हर एक कृति कालजयी हो भी नहीं सकती और उसमें भी अखबारी लेखन ज्यादातर तत्काल और कभी-कभी तो अविकसित, अल्प-विकसित भ्रूण के रूप में ही पैदा हो जाता है। फिर भी हमारे व्यंग्यकारों के प्रचुर परिमाण में लेखन का अधिकांश रचनात्मक ऊर्जा और उतेजना से भरपूर रहा है। श्रीलाल शुक्ल के आरंभिक निबंधों में जो लालित्य का भाव था वह धीरे-धीरे व्यंग्यकार के तल्ख होते रवैये के बावजूद पठनीयता के स्तर पर निरन्तर बना रहा। कहा जा सकता है कि उनकी व्यंग्यपूर्ण तल्खी एक तरह से उनके रचनात्मक लालित्य को विस्तार देने वाली सिद्ध हुई है।

श्रीलाल शुक्ल के स्तंम्भ-लेखन से हमें दुनिया-भर के विषयों के बारे में लेखक की राय, मन्तव्य और प्रतिक्रिया का पता चलता है। ऐसे लेखन में लेखक खुद, यानी व्यक्ति श्रीलाल शुक्ल, पाठक के सामने होते हैं और यहां उनके लिए किसी कथानक के नेपथ्य में छिपने की कोई गुंजाइश नहीं होती। वैसे व्यंग्य लेखक अपनी हर प्रकार की रचना में स्वतः उपस्थिति का अहसास दिलाता ही रहता है, मगर अखबारी स्तंम्भ-लेखन में अपनी उसे ठोस हाजिरी ('प्रॉक्सी' नहीं) लगानी ही पड़ती है। श्रीलाल शुक्ल को लम्बा प्रशासनिक अनुभव प्राप्त है, अनेक सरकारों और उनके कर्णधारों के गोपनीय किस्सों के वे जानकार रहे हैं। वे ही हमें राजनीति और कानूनी जांच एजेन्सी के मेल के विकट खेल की संवेदनशील समस्या से आगाह करा सकते हैं और कराते हैं। मसला चाहे बेतरतीब और अनियोजित शहरी फैलाव का और इस सन्दर्भ में हो रहे व्यापक भ्रष्टाचार का हो, जन-स्वास्थ्य और जन-सुविधाओं को धता बताने का हो, श्रीलाल शुक्ल पैसे बनाकर अपनी जेबें भरनेवाले नेता-अफसर- ठेकेदारों की मिलीभगत की पोल खूब ही खोलते हैं। सरकारी नीति और नीयत का पता होने के चलते वे ही हैं जो हमतक 'गेहूं, दवाओं और मारुति' का समीकरण बिठाने और 'रूखा-सूखा खाकर और पेप्सीकोला पीकर' संतुष्ट बने रहने की शानदार नसीहत पहुंचाते हैं। इस जम कर किये गए अखबारी लेखन से जाहिर होता है कि श्रीलाल शुक्ल जी सिर्फ बड़े पढ़ाकू ही नहीं, जबर्दस्त लिक्खाड़ भी रहे हैं, उन्होंने बहुत बार एक ही दिन कई-कई आलेख सर्वथा भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखे हैं। यहां साहित्य और कला ही नहीं, समाज, राजनीति, अर्थनीति सबसे जुड़ी बातें हैं, क्योंकि जो भी जीवन को सीधे प्रभावित करने वाली चीजें हैं वे सभी श्रीलाल शुक्ल के लेखन की जद में हैं। समकालीन भारतीय जीवन की समस्याएं चाहे वे कितनी ही संवेदनशील क्यों न हों,

शेष पृष्ठ-62 पर. . .

डॉ. लालचंद राम

आलोचक के रूप में श्रीलाल शुक्ल

श्रीलाल शुक्ल को हिंदी जगत एक प्रख्यात व्यंग्यकार के रूप में जानता है, किंतु इसका आशय यह नहीं कि श्रीलाल शुक्ल कविता, कहानी, उपन्यास या आलोचना के क्षेत्र में गति नहीं रखते। बल्कि कुछ मामलों में तो उन्हें लोग एक सफल गद्यकार, उपन्यासकार, व्यंग्यकार अर्थात कथा-साहित्य का चितेरा कहते हैं। आलोचक के लिए वैसे भी हरफन मौला होना आवश्यक है। श्रीलाल शुक्ल का आलोचना कर्म बहुत कुछ वैसा ही है। आलोचना सिर्फ छिद्रान्वेषण, गुण-दोष विवेचन ही नहीं है, उसके अलावा भी वह बहत कुछ है। आलोचना जब से सर्जनात्मक विधा के रूप में स्वीकृति पाई तब से रचनात्मकता उसकी पहली शर्त बन गई है। आलोचक का उन्होंने रचनाकार होना पहली शर्त है। संयोग से श्रीलाल शुक्ल रचनाकार पहले हैं आलोचक बाद में, अर्थात रचनाकार होते हुए आलोचना कर्म का चुनाव किया है या उसका वरण किया है। वैसे तो रचना और आलोचना एक तरह का संगुफित कर्म है, उसको दोफाड़ करना अथवा अलगाना ठीक नहीं।

रचनाकार और आलोचक के अंतर्संबंधों पर मुक्तिबोध कहते हैं कि 'एक सच्चा लेखक जानता है कि वह कहां कमजोर है, कि उसने कहां सच्चाई से जी चुराया है, कि उसने कहां लीपापोती कर डाली है, कि उसने कहां उलझा-चढ़ा दिया है। कि उसे वस्तुत: कहना क्या था और कह क्या गया है, कि उसकी अभिव्यक्ति कहां ठीक नहीं है। वह इसे बखूबी जानता है। क्योंकि वह लेखक सचेत है।. . .इसीलिए लेखक अपनी कसौटी पर दूसरों की प्रशंसा को भी कसता है और आलोचना को भी। वह अपने खुद का सबसे बड़ा आलोचक होता है।. . . 'सच्चा लेखक जितनी बड़ी जिम्मेदारी अपने सिर पर ले लेता है स्वयं को उतना अधिक तुच्छ अनुभव करता है। उसे अपनी अक्षमता और आत्मसीमा का साक्षात बोध होता रहता है।' जबकि आलोचक के बारे में वे लिखते हैं कि 'आलोचक साहित्य का दारोगा है। माना कि दारोगापन बहुत बड़ा कर्तव्य है साहित्य, संस्कृति, समाज, विश्व तथा ब्रह्माण्ड के प्रति, लेकिन मुश्किल यह है कि वह जितना ऊंचा उत्तरदायित्व सिर पर ले लेता है, अपने को उतना ही महान अनुभव करता है।' इस महानता के चक्कर में आलोचक आलोचना के अतिरेक में चला जाता है उसे कहना क्या है और कह क्या गया वाला लेखकीय भाव आलोचना में परिलक्षित होते ही आलोचना बेजान हो जाती है। वर्तमान आलोचना जगत इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। स्थिति यह है कि कुछ आचार्य साहित्य की दरोगई में अपना-अपना मठ, गढ़ बना लिए हैं। जहां गढ़ और मठ के खिलाफ मुक्तिबोध 'तोड़ने होंगे सारे मठ और गढ़' का नारा देते हैं, ललकारते हैं वहीं उनके बाद की आलोचक पीढ़ी मठ और गढ़ बनाने-बचाने में जुटी हुई है। मुक्तिबोध के कथनानुसार साहित्य की दरोगाई बहुत बड़ा कर्तव्य है। जिसके लिए साहित्य, संस्कृति, समाज, विश्व तथा ब्रह्माण्ड का भरपूर ज्ञान होना आवश्यक है। इसके लिए संवेदनात्मक ज्ञान के साथ ज्ञानात्मक संवेदना जरूरी है। आत्मबोध के साथ विश्वबोध होना जरूरी है। यह दरोगई बिना इसके चल ही नहीं सकती। साहित्य की दरोगई आलोचक के रूप में तभी फलीभूत होगी, अन्यथा आलोचक के महानताबोध के चलते वह आलोचना नहीं फतवेबाजी होगी। कहना गलत नहीं होगा कि जो रचनाकार न होकर सिर्फ आलोचक के महान कर्तव्यबोध से दबे पड़े हैं उनका काम फतवे देना रह गया है। वह उसी में अपनी महानता के दर्शन करते हैं।

आज जो आलोचना या आलोचकों का जगत है वह बहुत कुछ वैसा ही है। वे अपने अपने मठ-गढ़ बनाने में जुटे हैं। शिष्यों की स्थापना में अपने भविष्य का विस्तार देखते हैं, उनमें ही अपने भविष्य को सुरक्षित देखते हैं। आलोचक का महानताबोध इस कदर उन पर हावी रहता है कि वह जिस रचना और रचनाकार का नाम ले लें वह बहुत बड़ी रचना और बहुत बड़ा रचनाकार स्थापित हो जाता है। यह भ्रम 'हंस' में छपने को लेकर भी है। कुछ रचनाकार यह समझते हैं कि 'हंस' उनकी तकदीर है उसमें छपे तो स्थापित साहित्यकार, कवि बन जाएंगे अन्यथा उनकी साहित्यकार की छवि धूमिल ही रहेगी। स्वयं 'हंस' के लोगों का भी यह मानना है कि उन्होंने नए रचनाकारों को जगह दी, उनको छापा। इसलिए वे अच्छे साहित्यकार बन गए। जबकि असलियत इससे बिल्कुल उलट है। ठीक है कि नई प्रतिभा को उसने एक मंच उपलब्ध कराया किंतु कोई भी रचना अपनी ताकत पर सर्वाइव करती है। कमजोर रचना को अतिरंजित आलोचनाएं जिंदा नहीं रख पाएंगी और न ही जीवंत एवं सार्थक रचना को कमजोर आलोचनाएं मार पाएंगी। इस प्रक्रिया में बहुत अच्छी-अच्छी रचनाएं और रचनाकार उपेक्षित रह गए, उनको नोटिस नहीं लिया गया। आज भी ऐसे आलोचकों के लिए 'एक ब्रेक के बाद' कुछ दिखाई नहीं पड़ता यह प्रवृत्ति महानता बोध के कारण उन आलोचकों में ज्यादा घर कर गई है जिनके लिए 'मुँदहु आँख कतहुँ कछु नाहीं' की स्थिति बनी हुई है। जहां आलोचक के लिए विश्वबोध अनिवार्य है वहीं उनके चारों ओर क्या हो रहा है उसी का ठीक से बोध नहीं है। कहना गलत नहीं होगा कि वैसी स्थिति में आज हिंदी आलोचना-व्यापार कितना बंजर और निर्जीव जान पड़ता है। कभी हिंदी जगत में बनारस स्कूल, इलाहाबाद स्कूल, आगरा स्कूल आदि होते

थे। वैचारिक वैविध्य के लिए जाने जाते थे। उससे हिंदी जगत का बहुत भला हुआ। आज हिंदी आलोचना ठाकुर स्कूल, ब्राह्मण स्कूल, गैर ब्राह्मण स्कूल आदि गलत दिशाओं में अपनी जगह बना रहे हैं। इन नामों से मठ खड़े होते दीख रहे हैं। वह दिन दूर नहीं जब हिंदी आलोचना में दलित मठ भी दिखाई पड़े। अजीब विडम्बना है कि यह मठ सिर्फ आलोचना में ही हो ऐसी बात नहीं। कविता वालों का अलग मठ है, कहानीकारों का अपना अलग मठ है। यही हाल रहा तो मठों की संख्या में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि होगी और कई और स्वतंत्र मठ बनेंगे। इन मठाधीशों की अपनी व्यक्तिगत रुचि भी उनके आलोचकीय मापदंड बन गए हैं। सुरा-सुंदरी एवं समर्पण भाव उनकी रुचि का अभिन्न हिस्सा हो गया है। जो उन्मुक्त हृदय से ये सब उपलब्ध कराता है वह कुछ न होते हुए भी उनकी नजर में सब कुछ हो जाता है अर्थात बड़ा से बड़ा कवि, साहित्यकार आलोचक आदि। उन लोगों द्वारा खड़ी की जा रही, स्थापित की जा रही फौजों से भी अनुमान लगाया जा सकता है कि आलोचना का जो स्वर मुक्तिबोध और रामविलास शर्मा में दिखाई पड़ता था वह अचानक मंद क्यों पड़ गया? उसका प्रमुख कारण क्या है? श्रीलाल शुक्ल उसका प्रमुख कारण 'हम्बग' बताते हैं। 'हम्बग' का अर्थ यहां ढकोसला, छल-प्रपंच है और आजकल आलोचक 'हम्बग' हो गया है। उनका मानना है कि ज्यादातर आलोचक 'हम्बग' के शिकार हैं। निराला के बहाने कुछ साहित्य चर्चा में श्रीलाल शुक्ल ने 'हम्बग' की विस्तार से चर्चा की है। निराला के संदर्भ में श्रीलाल शुक्ल ने लिखा है 'गोष्ठी, सेमिनार, भाषण माला, पुरस्कार योजना का ऐसा ही कोई हम्बग या ढकोसला। वे सब प्रकार के हम्बग को मक्कारी और ढकोसलेवाजी को दूर से ही सूंघ लेते थे और उसे बेमुरव्वती से एक किनारे छोड़ अपनी राह निकल जाते थे।'[3] किंतु क्या आज का साहित्यकार और आलोचक 'हम्बग' के खिलाफ है? जबकि श्रीलाल शुक्ल ने चेताया है कि ''साहित्यकार सब तरह के 'हम्बग' से वैसे ही स्वतंत्र रहे जैसे कि निराला ने रहना चाहा था।''[4] श्रीलाल शुक्ल के साहित्य एवं आलोचना कर्म के बारे में नामवर सिंह का मानना है कि ''उनका सम्पूर्ण लेखन समाज और साहित्य दोनों में हर तरह के 'हम्वग' के खिलाफ एक सर्जनात्मक अभियान है।''[5]

साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में हम्बग के खिलाफ सर्जनात्मक अभियान वही चला सकता है जो ईमानदार है, प्रतिबद्ध है। यह प्रतिबद्धता भी कई तरह की है। किसी की प्रतिबद्धता विचारधारा के प्रति है तो किसी की दलगत पार्टी के प्रति। किसी की अपनी जाति, धर्म, क्षेत्र, अंचल तक ही सीमित है। लेखकीय ईमानदारी और प्रतिबद्धता के प्रति तटस्थ रहना साहित्यकार एवं आलोचक के लिए बड़ी चुनौती है। रचना की महत्ता, उसकी सार्थकता साहित्यकार और आलोचक की प्रतिबद्धता पर निर्भर करता है। मुक्तिबोध ने लिखा है ''मैं तो सिर्फ मेहनत पर, अकारण मेहनत पर, उस मेहनत पर जो अपना पेट भी नहीं भर सकती, उस मेहनत पर जो बहुत सामान्य है, उस सहनशील श्रम पर लिखने वाला हूं, उस श्रम का चित्रण करना चाहता हूँ जिसका बदला कभी नहीं मिलता और जिसे आए दिन आत्म बलिदान और त्याग की नसीहत दी जाती है।''[6] इसलिए ''असमानता का चित्रण सधे न सधे सामने के मैले डबरे में सूरज के बिम्ब का चित्रण करना चाहिए, शायद वह मेरे जीवन सत्य के अधिक निकट होगा।''[7]

श्रीलाल शुक्ल समाज और देश की हालत से भलीभांति परिचित हैं। शिक्षा जगत में क्या हो रहा है, शोधार्थी, रचनाकार, लेखक, बुद्धिजीवी कहां क्या कर रहे हैं, उन्हें मालूम है। क्योंकि उनके लिए लेखन लेखनी विलास नहीं लिखने की मजबूरी है और वह मजबूरी ही प्रतिबद्धता है तभी तो वे लिखते है। 'रंगनाथ इतिहास का भारी विद्वान है पर ज्यादातर लोग उल्लू के पट्ठे हो गए हैं, यूनिवर्सिटियों की हालत अस्तबल जैसी है। बड़े-बड़े प्रोफेसर महज भाड़े के टट्टू हैं।'[8] उन्हें पता है कि आज विश्वविद्यालय में किस तरह का शोधकार्य हो रहा है। अधिकांश विश्वविद्यालय भ्रष्टाचार, अपराध एवं सैक्स बाजार का अड्डा बन गए हैं। विश्वविद्यालयों में हो रहे सैक्स स्कैंडलों की अंतिम परिणति क्या होती है, यह सभी लोगों को मालूम है। आज तक किसी भी अपराधी को सजा नहीं मिली। संदेह के घेरे में पाए गए बेकसूर सामान्य नागरिकों को तमाम तरह की सजा का प्रावधान है, किंतु इन 'घोड़ों' के लिए कुछ भी नहीं। क्योंकि जो जांच समितियां बनती हैं उनका काम लीपापोती करना होता है, किसी निर्णय तक पहुंचना नहीं। तमाम जांच समितियों, कोर्ट-कचहरियों की भी हालत वैसी ही है। विश्वविद्यालयों में अगर गुरूजी ठाकुर साहब हुए हैं तो उनके अंतर्गत सभी शोधार्थी भी ठाकुर साहब होंगे। ठीक यही हाल पांडे, पाठक, दूबे, द्विवेदी, त्रिपाठी, त्रिवेदी, तिवारी, चौबे, चतुर्वेदी और शर्मा, वर्मा और विश्वकर्मा की भी है। ऐसी ही स्थिति दलित आचार्यों की भी है। कुछ दलित आचार्य अपने को सवर्ण कहने-कहाने की लालसा में दलित शोधार्थियों को अपने साथ काम नहीं कराना चाहते हैं ताकि उनके नाम पर दलित शब्द चस्पां न हो पाए या उनकी सवर्ण मानसिकता खतरे में न पड़ जाए। इसलिए श्रीलाल शुक्ल विश्वविद्यालयी आचार्यों, लेखकों, आलोचकों के बारे में जानते हैं कि वे भी 'हम्बग' होते जा रहे हैं। अशोक वाजपेयी मानते हैं कि '20वीं शताब्दी का सबसे निर्णायक तत्व साहित्य में साधारण की प्रतिष्ठा और केंद्रीयता रही है।' इसलिए श्रीलाल शुक्ल ने असाधारण, ईमानदारी, जरूरी बेबाकी और असंदिग्ध सहानुभूति से साधारण को इसकी विडम्बनाओं, अंतर्विरोधों और सहज मानवीयता में देखा-जोखा है। वे कुछ भी दूर से नहीं देखते हालांकि एक लेखक के लिए जरूरी निस्संगता उनमें बराबर रही है। उनके लिए दुनिया राम झरोखे से मुजरा किया गया तमाशा नहीं रही है। उनकी अपनी खोजी-रची दुनिया में गहरी हिस्सेदारी है– उनकी बुनियादी नैतिकता दूसरों पर फैसला देने की नहीं है, उनके साथ शामिल होने और साझा करने की है।''[9]

यही श्रीलाल शुक्ल की रचनाधर्मिता का मूल उत्स है और उनके आलोचना की कुंजी भी। उनका आलोचकीय कर्म इसलिए 'हम्बग' के खिलाफ एक सर्जनात्मक अभियान है। यही उनकी रचना और आलोचना की कसौटी है। मुक्तिबोध के शब्दों में कहें तो ''हम सब लोग ऐसे ही डबरे हैं जो अपने भीतर सूरज का प्रतिबिम्ब धारण किए हैं। . . .डबरे हुए तो क्या हुआ है तो प्रकृति जन्य!''[10] जिस रचनाकार और आलोचक

इस तरह श्रीलाल जी की ये कहानियां 'वर्तमान की पुनर्रचना' है। स्थितियों, घटनात्मकताओं में साकार होती हुई। एक वर्ग विशेष के चरित्रों का उद्घाटन करती हुई। इन कहानियों का कोई ऐसा स्वायत्त ढांचा नहीं है जिसे कथा परम्परा में अलग से रखा जा सके। वस्तुतः ये कहानियां कुत्सित यथार्थ के प्रति सचेत प्रतिक्रियात्मक कथा व्यवहार है, जिनमें कथाकार का नैतिक दायित्वबोध, प्रतिबद्ध चेतना ओर अभिव्यक्ति दबाव सक्रिय रहा है। इन कहानियों का महत्व इस बात में ज्यादा है कि आजादी के बाद का भारतीय समय, उसके जनतंत्र का भाष्य इनमें सशक्त रूप से आया है। श्रीलाल शुक्ल चालाक प्रभुसत्ता का मंतव्य समझ सके हैं। उसका प्रतिवाद किया है। सजग दृष्टा की तरह जड़ों तक पहुंचे हैं और उन्हें बचाने की विकल चेष्टा में रहे हैं। सुधार और परिवर्तन में वहां चाहते हैं, जहां सर्वाधिक सड़ांध है। दिलचस्प यह है कि उनकी मुद्रा न तो नाटकीय है, न निर्देशकीय। एक गहरा नागरिकबोध उनकी कथा शक्ति है।

श्रीलाल शुक्ल अगर कथा शिल्प में किसी भव्य उत्खनन के पीछे नहीं हैं तो विजातीय संरचनात्मक मोह से ग्रस्त भी नहीं। जैसा, जितना और भी कुछ है, जातीय है। यह निजता सुखद है। उनकी भाषा यथार्थ का सेतु बनती है, यथार्थ भाषा का नहीं। यथार्थ कई बार भाषा को सहज दबोच लेता है और कथा व्यतिक्रम को प्राप्त होता है। इन कहानियों में मुद्रित पाठ से बाहर भी दिशाएं हैं और वहीं श्रीलाल शुक्ल हैं जिन्हें खोजना होगा।

–लीलाधर मंडलोई

को इसका बुनियादी बोध नहीं होगा उसका साहित्यकर्म अथवा आलोचकीय कर्म निश्चित रूप से हम्बग होगा या उसके समर्थन में होगा। श्रीलाल शुक्ल अगर भीड़ से अलग दिखाई पड़ते हैं तो उसका प्रमुख कारण यही है। वे सभी तरह की संकीर्णताओं का निषेध करते हैं। नामवर सिंह के अनुसार ''श्रीलाल जी साहित्यकार की भूमिका को एक विशिष्ट पर्यवेक्षक और वस्तुनिष्ठ जांचकर्ता के रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं। यह उनके विशिष्ट सर्जनात्मक व्यक्तित्व की उल्लेखनीय विशेषता है।''[11]

'हम्बग' के खिलाफ सर्जनात्मक अभियान के लिए नामवर सिंह श्रीलाल शुक्ल की भाषा की तारीफ करते हैं। वे लिखते हैं 'सच तो यह है कि जिस हम्बग, ढकोसला, छल-छद्म को वे तार-तार करके उघाड़ना चाहते हैं उसके लिए सबसे कारगर हथियार यह वक्र और बांकी भाषा ही है। . . .कृति के अस्तित्व की यह पहली शर्त है जो दिन-पर-दिन दुर्लभ होती जा रही है।''[12] यह सच है कि श्रीलाल शुक्ल की भाषा 'हम्बग' को तार-तार करके उघाड़ने में कारगर या सहायक है, किंतु यह तो एक पक्ष है। 'हम्बग' को उघाड़ने के लिए भाषा के अलावा भी बहुत कुछ चाहिए। ऐसा नहीं कि 'हम्बग' के खिलाफ अभियान के लिए सिर्फ श्रीलाल शुक्ल की भाषा ही है और इस भाषा के बिना संभव नहीं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि श्रीलाल से पहले साहित्यकारों या आलोचकों के पास भाषा नहीं थी। सच्चाई तो यह है कि वह जिगर चाहिए, वह दृष्टि चाहिए जो हम्बग न बनने दे। जो स्वयं 'हम्बग' बनने को आतुर हैं, उसमें शामिल होना चाहते हैं, सत्ता सुख प्राप्त करना चाहते हैं, उद्‌घाटन, समापन एवं अध्यक्षता चाहते हैं, अपना मठ खड़ा करना चाहते हैं, शिष्यों एवं शिष्यों के शिष्यों की स्थापना के लिए सारे दांव-पेंच अपनाते हैं, मार्क्सवाद एवं साम्यवाद अथवा प्रगतिशीलता के नाम पर जातिवाद, क्षेत्रवाद अपनाते हैं, घर-परिवार के सदस्यों तथा अपने नाते-रिश्तेदारों को नौकरी देना-दिलाना चाहते हैं, जाहिर है वह 'हम्बग' के खिलाफ नहीं होंगे या उनकी भाषा श्रीलाल शुक्ल की भाषा से मेल नहीं खायेगी। जो जीवनभर भक्तिकाल पढ़ाते रहे और रीतिकाल चलाते रहे, अपनी कक्षाओं में शोधार्थियों से सेक्स की अपील करते रहे, निजी हितों के लिए विचारों और विचारधाराओं की बलि चढ़ाते रहे, आजीवन अवसरवाद की तलाश करते रहे, वह 'हम्बग' के खिलाफ कैसे होंगे? यही वह मूल बिन्दु है जहां से श्रीलाल शुक्ल की आलोचना दृष्टि का निर्धारण होता है, एक सजग सचेत रचनाकार का निर्धारण होता है और लीक से अलग हटकर उनकी पहचान होती है। भाषा तो मात्र एक औजार है जो जरूरी है किंतु उससे ज्यादा जरूरी वह दृष्टि है जिससे वह समाज के प्रति व्यापक प्रतिक्रिया करता है। श्रीलाल शुक्ल की रचना और आलोचना दृष्टि का मूल है ''व्यंग्य में सच नहीं झूठ की खोज। यही उसका पेंचदार रास्ता है। झूठ की खोज के सहारे या उसके बहाने ही यहां सत्य को पहचानने की प्रक्रिया चलती है . . .यानी व्यंग्य के टेढ़े मेढ़े रास्ते से गुजरकर हम उन मूल्यों तक पहुंचते हैं जो मूलतः उत्कृष्ट साहित्य का अंतिम लक्ष्य रहे हैं।''[13] आखिर क्या कारण है कि हिंदी साहित्यकारों, आलोचकों पर जिस तरह खेमेबाजी के आरोप लगाए जाते हैं, वह आरोप श्रीलाल शुक्ल पर नहीं लगे? इसलिए कि उनकी प्रतिबद्धता उन लोगों के प्रति है जिनके प्रति अन्य लेखकों, साहित्यकारों की दृष्टि ही नहीं जाती। ''जो गरीब हैं, जो सबसे कमजोर हैं, उसके लिए इस गांव और देश में कोई जगह नहीं है''[14] श्रीलाल शुक्ल की प्रतिबद्धता उनके लिए है। उन्हीं के लिए उनका लेखन लेखनी विलास नहीं, बल्कि मजबूरी बन जाता है। वह लिखते हैं ''साहित्य मेरे लिए जिंदगी का एक अनिवार्य अंग है ठीक उसी तरह जैसे जिंदगी मेरे लिए साहित्य का एक अनिवार्य अंग है और यहीं अच्छे साहित्य की परख के विषय में मेरी एक मान्यता परिभाषित हो जाती है।''[15]

साहित्य या आलोचना की जन पक्षरता आम आदमी की पहचान में है जो कभी आम से खास बन जाता है, तो कभी आम या खास नहीं बल्कि 'दृष्टि' बन जाता है। यह सब साहित्यकारों का क्रीयेशन है। क्योंकि आम आदमी की तलाश वे खास बनकर कर रहे हैं। श्रीलाल शुक्ल का मानना है कि ''आप चाहे समाज में आमूल परिवर्तन करने वाले कोई महान राजनीतिक कार्यकर्ता हों या

विचारों में क्रांति लानेवाले साहित्य स्रष्टा, आपकी ओर से आम आदमी की तलाश तब तक शायद कामयाब न होगी जब तक कि आप खुद खास आदमी बनकर किसी ऊंची मीनार में बैठे हों। आम आदमी को खोजने के लिए आपको खुद आम आदमी बनकर ठोस जमीन पर आना होगा।''[16] धरातल पर आना पड़ेगा क्योंकि आम आदमी की संवेदना ग्रामों में निवास करती है, किसान-मजदूर अर्थात श्रम करने वालों में निवास करती है। उसको उसी के धरातल पर पकड़ा जा सकता है। उसकी उपेक्षा करके कोई भी तंत्र अथवा लोकतंत्र सर्वाइव नहीं कर सकता। इसलिए आपको खास से आम बनना ही पड़ेगा। आम और खास के विभाजन में साहित्य का भी विभाजन कर दिया जाता है। आमजन से जुड़े साहित्य को सामान्य या आंचलिक कहकर साहित्य की मुख्यधारा से अलग कर दिया जाता है। इसलिए श्रीलाल शुक्ल का मानना है कि ''मैं ग्राम जीवन से संबंधित लेखन को सामान्य तथा आंचलिक नहीं मानता क्योंकि, मैं उस जीवन को भारतीय जीवन की मूल धारा मानता हूं। भारतीय ग्राम जीवन की औसत कहानी मेरे लिए सामान्य जीवन के अनुभवों की कहानी है, किसी दुर्लभ प्रांतर और किसी दुर्लभ समुदाय का नृशास्त्रीय अध्ययन नहीं। यह दम्भ की बात है और जनविरोधी तो है ही कि रेस्तरां, बार, कालिज, ड्राइंग रूम, दफ्तर आदि के चोचलों को साहित्य का अंग माना जाय और भारतीय जीवन के सामान्य रूप को जो गांवों से और अस्सी प्रतिशत से ऊपर जनता से संबद्ध हो, साहित्य में आंचलिकता के खाने में रखा जाए। यह समझना भी दम्भ और गुस्ताखी की बात है कि समाज का बाहरी और सफेदपोश वर्ग ही हमारे सामान्य और सामाजिक सांस्कृतिक जीवन का अभिव्यंजक है।''[17]

यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि इसी दम्भ और गुस्ताखी की वजह से ढेर सारा साहित्य ग्रामीण और आंचलिक कहकर कूड़े के ढेर में बदल दिया गया, उसको नोटिस नहीं लिया गया। इस भ्रम और भ्रांति का सबसे अधिक शिकार आलोचक रहा है। ग्रामीण और आंचलिक साहित्य को अश्लीलता का आरोप लगाकर, गाली-गलौज की भाषा या शब्दावली का आरोप लगाकर उसे हाशिए पर ठेल दिया गया। हिंदी आलोचना का अधिकांश आज आम नहीं खास हो गया है। क्योंकि आलोचकों की फौज का ध्यान खास पर ज्यादा है, पूरी तरह लेन-देन पर आमादा और पूर्वाग्रह ग्रस्त। जबकि पूर्वाग्रहमुक्त आलोचना ही रचना के साथ न्याय कर पाती है। हिंदी आलोचना के क्षेत्र में इस बात के ढेरों प्रमाण मौजूद हैं कि कमजोर रचनाएं और रचनाकार आलोचकों के विशेष प्रयत्नों से ज्यादा उछले एवं उछाले गए हैं, स्थापित किए गए हैं। साथ ही यह प्रमाण भी मिलेगा कि आलोचकों के तमाम नकारात्मक टीका-टिप्पणियों या पूर्वागहग्रस्त स्थापनाओं के बाद भी रचनाओं ने अपनी ताकत पर साहित्य जगत में अपना स्थान बनाया है। डॉ. सुवास कुमार के अनुसार 'व्यक्तिगत और वैचारिक पूर्वाग्रह न केवल लेखकीय अपितु आलोचकीय असफलता का सबसे बड़ा कारण होता है-ऐसे आलोचक की भीतर मंशा के चलते न केवल उसकी व्याख्या और विवेचन गलत दिशा में होने लगती है, बल्कि कृति से उसकी अपेक्षाएं और मांगें साहित्येतर होने लगती हैं। आलोचक के अकबकाने की एक स्थिति वह भी होती है जब वह किसी रचना को अपने आग्रह के बंधे-बंधाए फ्रेम के भीतर पूरी तरह से समेट नहीं पाता है और संरचनात्मक नवीनता और प्रयोग को रचना की असफलता के रूप में देखता-दिखाता है।''[18] सच्चाई तो यह है कि विश्वविद्यालयी आचार्यों की अधिकांश आलोचनाएं इसी तरह की हैं। जो उनके पास चरणचांपी के लिए पहुंचा वे उसकी और उसकी रचना को तो पहचाने, स्वार्थ के वशीभूत टीका-टिप्पणी भी किए, किंतु जो नहीं पहुंच पाए या चरण वंदना नहीं किए उनको 'छठी का दूध' याद दिला दिये। इसके ढेरों प्रमाण मौजूद हैं। जो प्रतिभाएं साहित्य जगत एवं आलोचना जगत को बेहतर दे सकती थीं उन्हें शिक्षण कार्य अथवा कालेजों और विश्वविद्यालयों में फैकल्टी के रूप में घुसने ही नहीं दिया गया। आलोचना जगत की जो खेमेबंदी हुई और चल रही है, उसके अंतर्गत जो 'वाद' चल रहा है उससे हिंदी साहित्य जगत का बहुत नुकसान हुआ है। बहुत अच्छी-अच्छी रचनाओं को नोटिस नहीं लिया गया। मार्क्सवाद, साम्यवाद, दक्षिणपंथ, वामपंथ, दलित विमर्श, स्त्री विमर्श व इनके आपसी अंतर्कलह सभी जानते हैं। एक दूसरे के विशिष्ट क्षेत्र में प्रवेश हुआ कि ठनी। इसलिए इन आलोचकों ने अपना-अपना विशिष्ट क्षेत्र चुन रखा है। ताकि उनकी दुकानदारी सही-सलामत चलती रहे। उसमें दूसरे का प्रवेश तभी उचित माना जाता है जब उसका पौरुष थक चुका हो, अन्यथा लेने-के-देने पड़ जाते हैं। कई बार दूसरे को सबक सिखाने के लिए चोर-चोर मौसेरे भाई की तरह कुछ लोग लामबंद भी हो जाते हैं। या फिर एक दूसरे के नाते-रिश्ते कायम करते हुए इतना चढ़ाते हैं, इतना उठाते हैं कि वह आलोचना का बादशाह बन जाता है, वह घोषित आचार्य हो जाता है। लोग उससे पुस्तक की भूमिका लिखवाने, उनका काम स्वयं करके उनका नाम शामिल करने हेतु कुत्तों की तरह आगे-पीछे दौड़ते हैं। सभा-गोष्ठियों में चरणचांपी करने हेतु लाइन में लगे होते हैं। ऐसे आचार्य आलोचना के क्षेत्र में माफिया बन गए हैं। वे जो बोल दिए वही सच हो जाता है, वही ज्ञान बन जाता है। जब तक यह माफिया तंत्र नहीं टूटेगा, आलोचना पूर्वाग्रह मुक्त नहीं होगी और न ही साहित्य एवं साहित्यकार के प्रति न्याय होगा। आखिर क्या कारण है कि हिंदी आलोचना का केंद्र दिल्ली प्रदेश है? इसका लोकतंत्रीकरण क्यों नहीं हो पाया? जिस तरह मध्य प्रदेश में भोपाल, इंदौर, सागर और उज्जैन, उसी तरह उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद, बनारस तथा आगरा, बिहार में पटना, उधर दक्षिण में हैदराबाद इधर चंडीचढ़, जयपुर, जोधपुर और पूरब में शांतिनिकेतन, कोलकाता आदि में हिंदी आलोचना के क्षेत्र में दरोगा पैदा क्यों नहीं हुए? उन्हें पहचान क्यों नहीं मिली? क्या यह सच नहीं है कि उसका केंद्र दिल्ली सिमटकर रह गया। क्योंकि यह सत्ता, प्रतिष्ठानों का केंद्र है और उद्घाटन-समापन के अवसर यहां ज्यादा हैं या (शहर अब भी संभावना है) की संभावना बनी हुई है। इसके बावजूद मूल्यहीनता, संस्कारहीनता, क्रियाहीनता, ज्ञानहीनता आदि क्षुद्रताओं पर आलोचक प्रहार करने एवं सजग आलोचना करने से डरता या बचता क्यों है? जैसे ही कुछ चुनौतियां आलोचक के सामने आईं कि वह मैदान छोड़कर भाग खड़ा होता है, बल्कि उस समय भी सत्ता एवं अवसर की तलाश करता है। ऐसी स्थिति में 'साहित्य समाज का दर्पण' क्या बनेगा और क्रांति के आगे

चलने वाली मशाल, क्या होगा? जब चुनौतियां सामने हों और लेखक बुद्धिजीवी, आलोचक की राय मायने रखती हो वहां उसका पलायन कर जाना अकादमिक ईमानदारी बिल्कुल नहीं है। जाहिर है प्रतिबद्धता के बगैर व्यक्ति बिना पेंदी का लोटा हो जाता है। आलोचक या बुद्धिजीवी जब तमाम शुद्धतावादी आग्रह अपनाता है और कहता है "तुम मझोली हैसियत के मनुष्य हो और मनुष्यता के कीचड़ में फंस गए हो। . .कीचड़ से बचो! यह जगह छोड़ो। यहां से पलायन करो. . . यहां के झंझटों में मत फंसो. . .भागो! भागो! भागो! यथार्थ तुम्हारा पीछा कर रहा है।"[19] तो समझिए वह अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया देने से बच रहा है, स्थितियों का सामना करने से भाग रहा है। जबकि यह कीचड़, यह झंझट, गांव और गरीबी जीवन के महत्वपूर्ण अंग है। इनमें चोली-दामन का संबंध है। यहां से बुद्धिजीवियों और आलोचकों का पलायन उनके विचारशून्यता, अविवेकी और अवसरवादी होने की पोल खोलता है। जहां आम रचनाकार, बुद्धिजीवी आलोचक उससे भागता है वहीं श्रीलाल शुक्ल के लिए वह 'लेखन की मजबूरी' बन जाता है। बहुत पहले राहुल सांकृत्यायन ने कहा था 'भागो नहीं दुनिया को बदलो'। दुनिया को, बदलने के वास्ते श्रीलाल शुक्ल वहां से पलायन नहीं करते, बल्कि ठोस यथार्थ के धरातल पर खड़े होकर उसकी बारीकियों को उसकी ताकत को उभारते हैं, जिन घटनाओं, पात्रों, स्थितियों, परिस्थितियों से आम लेखक, बुद्धिजीवी, आलोचक भागता है, उसे कूड़े-कचरे का ढेर समझकर हाशिए पर फेंक देता है, वही श्रीलाल शुक्ल के लिए रचना और आलोचना का कच्चा माल बन जाता है। वही सब उनके वहां प्राणवान और ताकतवर होकर उभरते हैं। राग दरबारी को प्रमुख उदाहरण के रूप में हम देख सकते हैं। वे लिखते हैं "यह राग उस दरबार का है जिसमें हम देश की आजादी के बाद और उसके बावजूद आहत-अपंग की तरह डाल दिए गए या पड़े हुए हैं।"[20] आजादी के बाद और उसके बावजूद रहने को इस देश और समाज में सभी रह रहे हैं, किंतु उसका सार्थक उपयोग कितने लेखक, बुद्धिजीवी, आलोचक कर रहे हैं? कितने लोग उसके माध्यम से आशा और आकांक्षा का संचार कर रहे हैं, लोगों में आस्था और विश्वास पैदा कर रहे हैं। साठोत्तरी कवि 'धूमिल' ने एक जगह बहुत साफ लिखा है कि-

> कुछ हैं जिन्हें शब्द मिल चुके हैं
> कुछ हैं जो अक्षरों के आगे अंधे हैं
> वे हर अन्याय को चुपचाप सहते हैं
> और पेट की आग से डरते हैं।

जाहिर है जिन्हें शब्द मिल गए हैं उनकी चांदी कट रही है। वे सत्ता-प्रतिष्ठान, दरबार में चरण पुजवा रहे हैं, आलोचना के बादशाह बन गए हैं। उन्हें हिंदी के बुद्धिजीवी, आलोचक भी पहचानते और महत्व देते हैं। उद्घाटन-समापन के अवसर उपलब्ध कराते हैं। किंतु जो अक्षरों के आगे अंधे हैं अनपढ़ और निरक्षर हैं, पेट की आग से डरते हैं, गांव में मेहनत-मजदूरी करके किसी तरह जीवन निर्वाह करते हैं। इस आजाद भारत में उनका स्थान कहां है? उनकी बात कौन करेगा? श्रीलाल शुक्ल ने अपनी रचना और आलोचना में उन्हें ही स्थान दिया है। जो कहीं-न-कहीं उनकी प्रतिबद्धता को रेखांकित करता है। उन्हीं के लिए श्रीलाल शुक्ल का लेखन मजबूरी बनता है जिनको यह लोकतंत्र भी छलता नजर आ रहा है। पेट की आग वालों की संवेदना पर जो साहित्य रचा जाएगा, जाहिर है ईमानदार आलोचक के लिए, हम्बग के खिलाफ आलोचक के लिए अर्थात श्रीलाल शुक्ल के लिए वह ज्यादा मानवीय और श्रेयष्कर होगा। यह उनकी रचनाधर्मिता और आलोचना दोनों की चाबी है। इसलिए श्रीलाल शुक्ल लिखते हैं। "अगर कोई साहित्य मेरे अनुभवों में कोई नया आयाम नहीं जोड़ता, परिचित स्थितियों के बीच मेरी मानसिक उदासीनता को तोड़कर संवेदना की नई गहराइयों में जाकर मुझे नहीं छोड़ता तो मैं उसे बर्दाश्त भर कर सकता हूं। उससे आगे मेरे लिए वह कुछ नहीं है।"[21] उनके आलोचना कर्म का मूल भी यही है। उन्होंने जो आलोचना लिखी है उसमें "आलोचनात्मक सख्ती के साथ-साथ सच्ची और गहरी कृतज्ञता का भाव भी अंतर्भुक्त है। वह कृतिकार द्वारा दूसरे कृतिकारों की आलोचना है। उसमें सहानुभूति, आदर, संवेदनशीलता और असहमति सभी की उचित जगह है। अपने सारे आवेगों और 'पैशन' के बावजूद श्रीलालजी की दृष्टि में अचूक सम्यकता है। उन्होंने लेखक या रचना को अपनी शर्तों पर समझने और अपेक्षाकृत व्यापक संदर्भ में उसे रखने की चेष्टा ही सर्वत्र दीख पड़ती है।"[22] ऐसा इसलिए भी है कि अन्य आलोचकों की तरह चीर-फाड़ ही उनका उद्देश्य नहीं है। अधिकांश आलोचक रचनाकार नहीं हैं लेकिन चीर-फाड़ विशेषज्ञ हैं। चीर-फाड़ तो करते हैं साथ में उसका प्रमाण पत्र भी देते हैं। किंतु श्रीलाल शुक्ल स्वयं एक रचनाकार हैं और रचनाकार होने के नाते रचना और रचनाकार की सीमा एवं उसके उद्देश्य को भली-भांति जानते हैं। उनके लिए 'जाके पैर न फटे बिवाई, सो का जानै पीर पराई' जैसी स्थिति नहीं है, बल्कि भोगा हुआ यथार्थ है। इसलिए बल इस बात पर है कि कृति की आलोचना कृतिकार के द्वारा हो तो उसमें सम्यकता का भाव निहित रहेगा वरना शल्य क्रिया विशेषज्ञ ऑपरेशन के बाद मरीज (कृति) को बचा पाएंगे, इसकी गारंटी कम है। यही कारण है कि अधिकांश मरीजों (कृतियों) की जानें गई अर्थात कृतियों की उपेक्षा हुई या उनको नोटिस नहीं लिया गया। दूसरी बात श्रीलाल शुक्ल जी लेखक या रचना को व्यापक संदर्भ में रखकर अपनी शर्तों पर कसकर ही मूल्यांकन करते हैं। इन्हीं कसौटियों के आधार पर उन्होंने निराला, शरद जोशी, वृंदावन लाल वर्मा, अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा तथा अमृतलाल नागर आदि रचनाकारों का मूल्यांकन किया है।

निराला के संदर्भ में श्रीलाल शुक्ल जी का मानना है- 'वे सब प्रकार के 'हम्बग' को मक्कारी और ढकोसलेवाजी को दूर से ही सूंघ लेते हैं और उसे बेमुरव्वती से एक किनारे छोड़ अपनी राह निकल जाते हैं। वह राह अंधेरी और कांटोंभरी है पर हम्बग के साथ जीने के बजाय वे उसे ही बेहतर समझते हैं।"[23] इसलिए श्रीलाल शुक्ल हम्बग से होने वाले खतरे के प्रति साहित्यकारों को सचेत करते हैं कि "सबसे बड़ा खतरा यह है कि निरंतर आत्मान्वेषण करने के बजाय लेखक या रचनाकार कहीं अपने प्रशंसकों, चापलूसों, सेमिनार, उत्सव, गोष्ठी आदि के दलालों की मानसिकता को अनजाने ही न ढोने लगे।"[24] इसलिए वे सलाह देते हैं "साहित्यकार सब तरह के 'हम्बग' से वैसे ही स्वतंत्र रहे जैसे कि निराला ने रहना चाहा था।"[25]

शरद जोशी के बारे में वे लिखते हैं- ''शरद जोशी को हमारी सामाजिक सड़न की पहचान है। उनका अधिकांश लेखन ऐसा ही है। उसकी प्रकट सहजता और आयासहीनता में धोखा जैसा है। ऐसा लेखन बड़े गहरे परिवीक्षण की उपज है।. . .हम व्यंग्य को विरूपता, कटूक्ति, विडम्बना, जुगुप्सा आदि से जोड़ने के आदी हैं पर शरद जोशी में ये गुण लगभग थे ही नहीं, तभी उनका व्यंग्य बड़ा आनंदकर एक तरह से निरामिष व्यंग्य है।''[26]

वृंदावन लाल वर्मा जी के संबंध में श्रीलाल लिखते हैं ''वर्मा जी ने जनसाधारण के दुखदर्द और विपत्तियों का ही केवल साक्षात्कार नहीं किया, उनकी परम्पराओं, रीति-रिवाजों और उनकी सांस्कृतिक संपन्नता को भी स्वयं उनका हिस्सा बनकर समझा। वर्माजी का समग्र मूल्यांकन करते हुए वे आगे लिखते हैं 'सब विशिष्टताओं के बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि वर्मा जी का साहित्य दोष रहित है। उसमें खटकने वाले अनेक तत्व हैं. . .जो यह प्रमाणित करते हैं कि बड़ी-से-बड़ी कृति भी सर्वथा दोष रहित नहीं होती वैसे ही जैसे दोष रहित होने के कारण कोई कृति बड़ी नहीं हो जाती।''[27]

भगवतीचरण वर्मा के बारे में श्रीलाल शुक्ल लिखते हैं ''साहित्य को संभवत: जीवन के समान ही व्यापक, जटिल और बहुरंगी समझकर वे उससे गहराई से जुड़े. . .अनेक विधाओं में लिखते हुए उन्होंने एक बड़े वैविध्यपूर्ण आकर्षक और अत्यन्त लोकप्रिय रचना संसार की सृष्टि की। आधी शताब्दी में फैले हुए इस रचनाकर्म में एक अद्‌भुत ताजगी है जो लगता है स्वयं रचनाकार के व्यक्तित्व का प्रतिफलन है। उन्होंने इस प्रचलित मिथकों को तोड़ा कि लोकप्रिय साहित्य की स्तरीयता संदिग्ध होती है।''[28] वे आगे लिखते हैं ''उनका रचना समय काल साम्यवाद के उदय, नारीवाद के उत्थान-पतन, परमाणु अस्त्रों के आविष्कार, भारत की स्वतंत्रता और तथाकथित तीसरी दुनिया में चेतना के विराट उल्लेख जैसी घटनाओं का काल है। किंतु वे अपने समय के प्रति जागरूक रहते हुए भी उसके सचेष्ट व्याख्याता जैसे नहीं थे।''[29]

अमृतलाल नागर के बारे में वे लिखते हैं ''उन्नीसवीं सदी के समाज को कथा में पुनरुज्जीवित करने का प्रयास और उस समय के रहन-सहन और जीवन मूल्यों में बीसवीं सदी का क्रमिक हस्तक्षेप नागर जी की औपन्यासिक दृष्टि के लिए बड़ा ही आकर्षक बना रहा।''[30] वे आगे लिखते हैं कि ''अपनी ओर से कोई मूल्यपरक निर्णय दिए बिना, किसी महान नैतिकतावादी का लबादा ओढ़े बिना नागर जी ने एक ह्रासोन्मुख समाज की स्थिति को एक ऐसे सर्जनात्मक कलाकार की तरह पकड़ना चाहा जिसकी समाजशास्त्रीय दृष्टि और इतिहासबोध पूर्णत: चैतन्य है।''[31]

श्रीलाल शुक्ल ने न सिर्फ कुछ रचनाकारों अज्ञेय, अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा, कुँवर नारायण, पढ़ीस, पंडित राधेश्याम कथावाचक, पर विस्तार से लिखा, 'उनका समग्र मूल्यांकन किया बल्कि महत्वपूर्ण रचनाकारों की महत्वपूर्ण कृतियों का मूल्यांकन भी किया' जैसे- यशपाल का 'दिव्या', निर्मल वर्मा का 'अंतिम अरण्य', नासिरा शर्मा का 'सात नदियां एक समुंदर' तथा रमेश चंद्र शाह का 'आप कहीं नहीं रहते विभूति बाबू' आदि। यही नहीं उन्होंने उन रचनाकारों और रचनाओं पर भी कलम चलाई जिनको हिंदी आलोचकों ने उपेक्षित कर दिया था, नोटिस नहीं लिया था। उसमें प्रमुख हैं- गंगा प्रसाद मिश्र का 'संघर्षों के बीच' (उप.), गोपाल सिंह नेपाली का 'उमंग' (कविता), सियारामशरण गुप्त का 'नारी' (उप.) तथा प्रभाकर द्विवेदी का 'पार उतरि कहँ जइहौं'' (यात्रा वृत्तांत) आदि।

इन रचनाकारों और रचनाओं पर कलम चलाते समय श्रीलाल शुक्ल ने अपने आलोचकीय प्रतिमानों, मानदंडों से समझौता नहीं किए, बल्कि जहां उन्हें जरूरी लगा सुझाव दिए और अपने विचार बेबाकी से दिए। इसलिए कृतिकार के रूप में श्रीलाल शुक्ल का आलोचना कर्म किसी स्वतंत्र स्वनामधन्य आलोचकों की तुलना में अतुलनीय और श्रेयष्कर है। इसलिए श्रीलाल शुक्ल का आलोचक रूप हिंदी आलोचना के क्षेत्र में निष्पक्ष और निर्विवाद है, इसमें कोई संदेह नहीं।

वरिष्ठ प्रवक्ता, भाषा विभाग, एन.सी.ई.आर.टी.
श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली-110016

. . . पृष्ठ-56 का शेष

उनपर शुक्लजी अपनी दो-टूक और निर्भीक राय रखने से चूकते नहीं। भारत में सलमान रुश्दी की किताब 'सैटेनिक वर्सेज' (शैतानी आयतें) को सरकारी आदेश से जब्त किये जाने पर हमारा बुद्धिजीवी वर्ग कुल मिला कर चुप्पी साधे रहा था। यह कहना शायद अनुचित नहीं होगा कि ज्यादातर रचनाकार और बुद्धिजीवी अपने-अपने राजनैतिक आकाओं के दुमछल्ले बने, फूंक-फूंक कर कदम रखते हुए, उनके इशारों पर चलने में ही अपनी सुरक्षा और भलाई समझते रहे। उस राजनैतिक रूप से तमतमाये वक्त में भी श्रीलाल शुक्ल ने लेखकीय अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए, अपनी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के मौलिक अधिकार का प्रयोग करते हुए, 22 नवंबर 1992 के नवभारत टाइम्स के अपने स्तंभ में खुलकर रुश्दी का पक्ष लिया था।

श्रीलाल शुक्ल के आलेखों की खूबी इस बात में भी है कि वहां हमारे दैनन्दिन जीवन के छोटे-छोटे वैसे मसले भी प्रमुखता से जगह पाते रहे हैं जिन्हें अमूमन दूसरे लेखक या तो तुच्छ और इसलिए रचना के लिए बहिष्कृत मानते है या उन्हें सामाजिक जीवन-क्रम में सहज-स्वाभाविक मान, स्वीकार कर लेते हैं। रजिस्ट्री पार्सल भेजने में पोस्टमास्टर दफ्तरी लालफीताशाही दिखाये या रेलगाड़ी को बपौती मानकर चलनेवाले मंथली सीजन टिकट वाले मुसाफिर अपनी गुंडागर्दी से जो आतंकपूर्ण माहौल बनाया करते हैं अथवा परीक्षाओं में खुली नकल करने के लिए छात्रों की जो मुहिम 'आन्दोलन' का रूप ले लेती है तो इन सब साधारण समझी जाने वाली बातों को लेकर लिखने में भी श्रीलाल शुक्ल हेठी नहीं समझते बल्कि बढ़िया व्यंग्य सिरज देते हैं। रचनाकार श्रीलाल शुक्ल के लेखकीय व्यक्तित्व से यह पता नहीं चलता कि व्यक्ति श्रीलाल शुक्ल ऊंचे सरकारी अफसर रहे हैं। आम जनता से व्यंग्यकार का सहज-स्वाभाविक जुड़ाव श्रीलाल शुक्ल की रचनाधर्मिता का बड़ा ही मानवीय पक्ष रहा है।

38 Quiet Landls, Indiranagar, Gachi bowli
Hyderabad-500 032 (A.P.)

भगवानदास एन. कहार

श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य में निरूपित शैली-शिल्पगत सौंदर्य

श्रीलाल शुक्ल ने 27 वर्ष की आयु के बाद सन् 1953 से नियमित रूप से लिखना प्रारंभ किया। हिंदी व्यंग्य जगत में उनकी ख्याति उनके आद्योपांत व्यंग्यात्मक उपन्यास 'राग दरबारी' से हुई है। वे एक सिद्धहस्त व्यंग्य लेखक हैं। साहित्य की विभिन्न धाराओं में व्यंग्य लिखकर उन्होंने अपनी उत्कृष्ट व्यंग्य कला का परिचय दिया है। कथ्य के अनुरूप वे विधा का चुनाव करते हैं। समय की मांग के अनुसार उन्होंने लेखन में व्यंग्य की आवश्यकता को महसूस किया है। व्यंग्य उनके लिए मसखरापन या मनोरंजन के लिए महज हास्य का पर्याय नहीं है, वे लिखते हैं, "'मकान' तक आते-आते मैंने व्यंग्य को आधुनिक जीवन और आधुनिक लेखन के एक अभिन्न अस्त्र और एक अनिवार्य शर्त के रूप में पाया है। . . .हिंदी में व्यंग्य के साथ सबसे बड़ा व्यंग्य यह है कि उसे प्रायः हास्य के साथ जोड़कर उसका सहभागी या अनुपूरक मान लिया गया। यदि ये रचनाएं पाठकों का मनोरंजन न कर सके तो शायद मुझे क्षमा मांगने की जरूरत न होगी। क्षमा तब मांगनी पड़ेगी जब ये रचनाएं पाठकों का केवल मनोरंजन करें या उनका या उनके साथ कुछ भी न कर सकें।' (मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं (1978) परिचय- पृष्ठ-9-10)

वस्तुतः तथाकथित लालित्यपूर्ण विभिन्न, भावों, विचारों एवं कल्पनाओं के इन्द्रधनुषी प्रभा मण्डल से झांकता हुआ उनका मानव मूल्यनिष्ठ चिंतन एवं उससे प्रकट होता हुआ वक्रतापूर्ण विलक्षण भंगिमाओं से ओतप्रोत शैली-शिल्प सापेक्ष कलात्मक विन्यास श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य निबंधों तथा व्यंग्य कथा कहानियों में निहित समस्त रचनात्मक तंत्रगत संचेतना को शरीर में प्रवाहित गरम रक्त की तरह सदैव ताजा बनाएं रखता है।

श्रीलाल शुक्ल हिंदी में हास्य-व्यंग्य पूर्ण निबंधों और कहानियों के लेखन की इस नई प्रवृत्ति का संबंध अंग्रेजी के स्टीफेन लीकॉक जैसे लेखकों की कहानियों (नान्सेंस नावेल्स) और निबंध (लिटरेरी लैप्सेज) से जोड़ते हैं जो पहले से ही एक मॉडल के रूप में उपलब्ध था। वे मानते हैं हिंदी में हरिशंकर शर्मा, अन्नपूर्णानन्द और बेढब बनारसी से लेकर स्वातंत्र्योत्तर काल में व्यंग्य को साहित्य की एक स्वतंत्र विधा के रूप में मान्यता प्रदान करने वाले प्रेम जनमेजय, ज्ञान चतुर्वेदी, अशोक शुक्ल, सूर्यबाला, हरीश नवल, सुरेश कांत, बालेन्दु शेखर तिवारी, दामोदर दत्त दीक्षित, यशवंत व्यास, ईश्वर शर्मा प्रभृति व्यंग्यकारों ने हास्य-व्यंग्यमयी कहानी और निबंध लेखन में अपना उल्लेखनीय योगदान दिया है।

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के नए मॉडल अथवा फार्म में लिखी गई हास्य-व्यंग्य रचनाएं अपने परम्परित निबंध एवं कहानी के तंत्र से हिंदी रूपों में विलग होती हुई स्वतः निर्मित एक नए स्वतंत्र पथ पर अग्रसरित एवं समृद्ध होती हुई दृष्टिगत हो रही हैं। श्रीलाल शुक्ल ने इसी कोटि के अपने हास्य-व्यंग्यपूर्ण निबंध एवं कहानी साहित्य के द्वारा हिंदी के व्यंग्य जगत में अपनी प्रतिष्ठा का कीर्तिस्तम्भ स्थापित किया है। यहां इसी दृष्टि से आलोच्य व्यंग्यकार के व्यंग्य सौंदर्य पर दृष्टिपात करने का प्रयास किया गया है।

व्यंग्य का विषय पक्ष- श्रीलाल शुक्ल के हास्य-व्यंग्य का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत एवं वैविध्यपूर्ण है। आधुनिक साहित्यकार, कलाकार, प्राध्यापक वर्ग शोध-छात्रों, दार्शनिकों, राजनीतिज्ञों, अफसरों क्लर्क बाबुओं, सामाजिक खोखलापन, छद्मतापूर्ण शिष्टाचारों, फैशन परस्तियों, नकलचियों की प्रवृत्तियों और वृत्तियों को उन्होंने अपने पैने व्यंग्य प्रहार का लक्ष्य बनाया है। वे वस्तुओं के अस्वाभाविक और अतिरंजित रूप से यथेष्ट कोटि के व्यंग्य-विनोद की सृष्टि करते हैं। जीवन जगत की कोई साधारण-सी घटना, कोई बात या विसंगत चरित्र को आधार बनाकर व्यंग्य की कलात्मक उद्भावना करने की प्रवृत्ति उनके व्यंग्य की प्रमुख विशेषता है।

राजनीतिक-प्रशासनिक व्यंग्य की दृष्टि से उनकी 'कुत्ते की पिल्ले को नसीहत', 'एक जीते हुए नेता से मुलाकात', 'एक शोक प्रस्ताव' और 'चौराहे पर' (मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं), 'एक हारे हुए नेता का इंटरव्यू', 'बेचारे डाकू' (यहां से वहां) 'बैलगाड़ी से' (अंगद का पांव) जैसी व्यंग्य रचनाएं विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार 'दुभाषिएं', 'साहब का बाबा', 'अंगद का पांव' जैसी व्यंग्य कथाओं में सरकारी तंत्र और उनके अफसरों पर मार्मिक व्यंग्य प्रहार किया गया है। 'दो पुराने आदमी', 'रवीन्द्र जन्मशती की रिपोर्ट', 'घुड़सरी का कविसम्मेलन' (मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं) और 'सु-कवि सदानंद के संस्मरण' में आधुनिक साहित्यकारों पर तीक्ष्ण एवं तीखे व्यंग्य प्रहार किए गए हैं। इसी प्रकार 'लखनऊ', 'यहां से वहां', 'नसीहतें', 'कुत्ते और कुत्ते', 'जैसी करनी वैसी भरनी', 'एक बोध कथा' तथा देवता पुराने और नए' (यहां से वहां) जैसी व्यंग्य रचनाओं से सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक पतन को हास्य-व्यंग्य का आलम्बन बनाया है। श्रीलाल शुक्ल ने चित्रकारों, संगीतकारों, शिकारी लेखकों के साथ ही इतिहास और कृषि जगत से संबंधित व्यक्तियों को भी व्यंग्य का शिकार बनाया है।

कथ्य अथवा विविधरूपा विरूपता एवं विकृतियों के स्वरूपानुसार श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य-विस्फोट में हास्य, करुणा, अमर्ष, जुगुप्सा, ग्लानि और तर्कादि भावों के रंगीन स्फुलिंगों, विभिन्न क्षेत्रीय पात्र एवं प्रसंग वक्रताद्भुत लालित्य योजना, विभिन्न वस्तु-विधानगत कल्पना वैभव, सटीक, सादृश्य-

योजना तथा विभिन्न अर्थों पर आधारित प्रतीक और बिम्बात्मक भाषिक प्रयोगों से उत्पन्न प्रहारात्मक व्यंग्य के विविध रूपों की सहज सृष्टि को यत्र-तत्र-सर्वत्र दृष्टिगत किया जा सकता है। इस दृष्टि से कतिपय शीर्षकों के अंतर्गत कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना अधिक उपयुक्त एवं न्यायसंगत होगा।

व्यंग्य शैली-शिल्पगत विविध प्रयोग

शब्द चयनगत प्रयोग– श्रीलाल शुक्ल ने विषय, पात्र एवं प्रसंग विशेष के अनुरूप व्यंग्य को सम्प्रेषित करने के लिए विविध प्रकार के शब्दों का चयन किया है यथा– 'स्वर्णशकट', 'रागोदय', 'निभृत प्रकोष्ठ', 'ईषत्तुन्दिल', 'खल्वार', 'पाद-प्रहार', 'खोतपटाच्छादित', 'अपरिकल्पय', 'त्वरा से धावित', 'संस्कार वशात्कृष्णानुरागी' (अंगद का पांव), 'सरोद-वादन', 'सपत्नीक', 'पुरातनकालीन शौचालय', 'अध्यापक-वृत्ति', 'संकट-पाठशाला' (मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं) जैसे संस्कृत के तत्सम प्रधान सामसिक एवं संधियुक्त शब्दों का प्रयोग 'प्रोफेसरनुमा आदमी', 'इण्टेलेक्चुअलनुमा', 'फैसनेबल लड़कियां', 'पुल्लिंगवान वेश्याओं', 'गर्भवती स्त्रियों की अदा से', 'खुली हुई रोमहीन बगलोंवाली लड़कियों', 'ड्रैनपाइप पतलून' (मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं) इसी प्रकार 'इण्डियन कल्चर', 'वैरायटी', 'पिंक पर्ल', 'कोएर्शन', 'डॉग-लवर', 'वंडरफूल', 'इन्कमटैक्स' जैसे अंग्रेजी शब्दों, एक पब्लिशर ने इन सब समासों का समन्वय और सामंजस्य यानी कॉ-ऑर्डिनेशन और 'डब-टेलिंग की' (कुत्ते और कुत्ते) वे 'अरुण यह अमधुमय देश हमारा' में मधुमय शब्द की व्याख्या करते हैं कि 'मधु का अर्थ लो। मधु माने मीठा। मधु का अर्थ मदिरा भी होता है। साथ ही उपनिषद् वाक्य है 'चरन वैमधु विन्दति' यदि मधु का अर्थ मधुर लें तो प्रमाणित होता है कि अपने देश में मिष्ठान्न का आधिक्य है (अंगद का पांव पृष्ठ-13) जैसे वाक्यान्तर्गत विशेषणधर्मी शब्दों, अंग्रेजी एवं पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग व्यंग्योत्पादन के निमित्त बहुलतापूर्वक किया गया है। उक्त प्रयोगों के कारण श्रीलाल शुक्ल की व्यंग्य भाषा विविध अर्थगत सौंदर्य के स्तर पर और भी निखर उठी है।

अनुकरणमूलक अनर्थक शब्द-प्रयोग– आज की अर्थशून्य विद्रूपीय स्थितियों, प्रसंगों और मनोवृत्तियों को व्यक्त करने के लिए श्रीलाल शुक्ल ने 'लोटते-पोटते', 'पर-वर' तथा '. . .दूसरे एक व्यापारी ने आकर उन्हें बताया कि मेरी कुतिया ने 'अमुक' वंश के पिल्ले को जन्म दिया है और उनमें से एक पिल्ला आपका है। दूसरे व्यापारी की कुतिया ने 'चमुक' वंश के पिल्ले को जन्म दिया था। तीसरे, चौथे, पांचवे, छठे और सातवें व्यापारी की कुतिया ने क्रमशः तमुक, दमुक, वमुक, लमुक और हमुक वंश के पिल्ले पैदा किए थे। जैसे वाक्य में निरर्थक शब्दों का प्रयोग किया है किंतु उन्हीं शब्दों से उत्पन्न होने वाली एक समान ध्वनियों में ही 'व्यंग्य' गर्भित व्यंजना निहित है।

इसी प्रकार आलोच्य व्यंग्यकार ने एक समान शब्दों, वाक्यों, व्याक्यांशों एवं स्वर व व्यंजनमूलक एक समान ध्वन्यात्मक आवृत्तियों का प्रयोग किया है। देखिए–

(1) 'चसमबद्धूऽऽऽऽ', 'डडडडडक्करि' 'चचचच चटरी चंडी. . .' और 'हिःहिःहिः' ध्वन्यावृत्तियों के द्वारा यथेष्ट व्यंग्य को सम्प्रेषित किया गया है।

(2) 'लोग कहने लगे, 'बड़े महान थे। सात बार जेल गए थे।'
'क्या कहने हैं!'
'एक बार तो स्वतंत्रता-संग्राम में भी जेल गये थे।'
'क्या कहने हैं।'
'पीने में हमेशा स्कॉच ही पीते थे।'
'क्या कहने हैं।' में वाक्यावृत्ति प्रयोग तथा

(3) 'आपने आदमी के बिना कुछ नहीं हो सकता। दाने-दाने पर अपने आदमी की मुहर है। अपने आदमी के बिना पत्ता तक नहीं हिल सकता।'

परिभाषा, सूक्ति-कटूक्ति एवं मुहावरेदार भाषिक प्रयोग– श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य में सूक्तियों, व्यंग्योक्तियों, पारिभाषिक वाक्यों एवं मुहावरेदार भाषिक प्रयोगों की सुंदर प्रस्तुतियां दृष्टिगत होती है।

'रिश्वत पचाने का एक टॉनिक होता है जिसे प्रभु का ध्यान कहते हैं, नेता : जिन्हें अपने आगे ठेलने के लिए अंधे और पीछे चलने के लिए गूंगे मिल जाते हैं, जनता : जो इतिहास द्वारा बार-बार निरुत्साहित होने के बावजूद अपने को समझदार मानने के लिए मजबूर हैं, 'पुलिसः जिनका होना भर अपने आप में घटना है (यहां से वहां) 'अब तो जनताराज है और हम जनता के आर्टिस्ट हैं', 'शेर और शायर कभी भी टाइम के पाबंद नहीं हो सकते', 'बैल धर्म का प्रतीक है। अतः बैलगाड़ी वह गाड़ी है जो धर्म से चलती है। हम स्पुतनिक और रोकेट वाले देशों का मुकाबला भले ही न कर सकें पर हमने भी कछुए और खरगोश की कहानी पढ़ी है और जब तक हमारी बैलगाड़ी का कछुआ सत्यता की लीक पर चल रहा है, हमें हार का डर नहीं है. . .' कुत्ते का मुंह काला है, तू हमारा साला है', 'अंगद का पांव) 'हर वक्त भावुकता दिखाना और हर मौसम में प्रेम का राग अलापना निकम्मे इंसानों का काम है', 'खंजड़ी बजाने वाले भी आजकल तबलची में शुमार किए जाते हैं' यहां तो वही सलाहकार है जिसे ऑल इंडिया रेडियो मानता है', 'वह पंडित ही क्या जो हर बात का तोड़ अद्वैतवाद पर लाकर न गिराए', 'कुत्ते पालने वाले खुद कुत्ते हो जाते हैं।' (मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं) आदि इसी प्रकार के उदाहरण हैं। श्रीलाल शुक्ल ने तथाकथित भाषिक शिल्प के द्वारा विद्रूपीय चरित्रों का पर्दाफाश किया है।

तुलनात्मक भाषा-शैली– व्यंग्य कला सिद्ध श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य की एक प्रमुख विशेषता तुलनात्मक भाषा शैली विन्यास के अंतर्गत भी परिलक्षित होती है। इस प्रकार की शैली में सादृश्य योजना के साथ ही उनके कल्पना वैभव को भी देखा जा सकता है। देखिए कुछ उदाहरण–

(1) 'जैसे काली दास को इस बैलगाड़ी से उत्कृष्ट साहित्य की प्रेरणा मिली थी वैसे ही आजकल वह प्रजातंत्र की प्रेरक शक्ति है। ये बैल कैबिनेट के समान हैं। गाड़ीवान प्रेसीडेंट का काम करती है जो बैलों को चलाता है और नहीं भी चलाता।'

(2) 'हजरतगंज का बाजार काफी आधुनिक हो रहा था। पर यह आधुनिकता वैसे ही थी जैसी आज की कुछ कहानियों में केवल ईसाई लड़कियों को हीरोइन बनाकर पैदा की जाती है।'

(3) 'सड़क पर ट्रक के नीचे कुचला जाना जिस प्रकार पात्र की स्कुटच्चरता का प्रमाण है वैसे ही जहाज की

दुर्घटना का शिकार बनाने वर्गगत महत्ता का।'

व्यंग्यार्थ काव्य-पंक्ति प्रयोग– हास्यास्पद पात्र पर यथेष्ट कोटि का व्यंग्य प्रहार करने के निमित्त श्रीलाल शुक्ल ने विभिन्न कवियों की काव्य पंक्तियों का भी संदर्भगर्भित प्रयोग किया है। एक उदाहरण देखिए–

'एक जुआरी सारी रात जुआं खेलता रहा और हारता रहा है। सबेरा होते-होते एक दांव वह जीत जाता है और उसके हाथ कोई रत्न लग जाता है। उसकी मनोवृत्ति तुलसी की इस पंक्ति से प्रकट होती है–

'अब लौं नसानी अब ना नसै हों।
पायो नाम चारु चिंतामनि करते न खसै हो।'

मीराबाई ने भी एक ऐसे ही जुआरी के उल्लास का वर्णन किया है जो पहले बहुत कुछ खो चुका है पर चलते-चलते जिसके हाथ एक उम्दा दांव लग गया है। 'पायो जी मैंने नाम रतन धन पायो। जनम जनम की पूंजी पायी जग में सभी खोवायो।'

अलंकार प्रयोग– भावों एवं विचारों का सम्प्रेषण अथवा उन्हें मूर्त रूप में प्रस्तुत करने के लिए अलंकारों का उपयोग किया जाता है। श्रीलाल के उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं–

उपमा– दो वस्तुओं के भिन्न होने पर भी जहां उपमेय का उपमान के साथ सादृश्य स्थापित किया जाता है, वहां उपमा अलंकार होता है।
यथा–

(1) 'आदर्श नेताओं की तरह दुनिया की निगाह में हमारी (कुत्तों की) कोई व्यक्तिगत पूंजी नहीं है. . .परमहंसों की भांति बिना किसी साज-सामान के नीचे-ऊंचे स्थानों का भ्रमण करते और अन्वेषकों की तरह गंदे-से-गंदी जगह पर छिपे पदार्थों की खोज करते हैं।'

(2) गाड़ी अंगद के पांव-सी अपनी जगह टिकी थी। तथा 'बिच्छू के डंक सी उठी हुई मूंछें और 'गिरगिट सी हिलती हुई गरदन।'

इनमें बिम्बात्मक भाषा-शैली का सुष्ठु प्रयोग किया गया है।

रूपक– जब उपमेय और उपमान का निषेध रहित आरोप किया जाए तो रूपक अलंकार होता है। आलोच्य व्यंग्यकार ने रूपक, सांगरूपक एवं रूपकातिशयोक्ति जैसे अलंकारों की भी यथा प्रसंग सृष्टि की है। रूपक का एक उदाहरण देखिए–

'कुत्ते और मि. प्रसाद के बीच अपरिचय का विन्ध्याचल खड़ा रहा, उपेक्षा का ब्रह्म-पुत्र लहराता रहा।'

दृष्टांत– 'जहां एक बात कहकर उसी से समानता रखने वाली दूसरी बात प्रथम के उदाहरण के रूप में कहीं जाय अथवा जहां दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है, वहां दृष्टांत अलंकार होता है। यथा–

'जैसे कुछ तांत्रिक लोग शराब पीने के पहले मां-काली के नाम पर दो चार बूंदें जमीन पर छिड़क देते हैं, वैसे ही हाउसिंग की पूरी-की-पूरी स्कीम गटकने के पहले चतुर लोग हरिजनों के नाम पर दस-बीस छोटे प्लाट निकाल देते हैं।'

लक्षणा-व्यंजनापरक भाषा-शैली– श्रीलाल शुक्ल की व्यंग्य भाषा प्राय: लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मक भाषिक भंगिमाओं पर आधारित है। इस प्रकार की भाषा के अंतर्गत विविध प्रकार के प्रतीकों, मुहावरों एवं विचलनपरक भाषिक रूपों को भी देखा जा सकता है यथा–

(1) 'उपदेश साफ है। इस तरह की राजनीति में तुम उनका सामना नहीं कर सकते। हो सके तो हवाई जहाज टूटने से पहले ही पैरासूट से नीचे उतर जाओ। भाग सको तो आधे रास्ते से ही भाग जाओ। वह **चारागाह** उन्हीं के लिए छोड़ दो।'

(2) 'भुखमरे देशों में **घास उगाना** बहुत आवश्यक है ताकि लोगों की अक्ल के लिए **चारे की कमी न रहे।'**

उक्त दोनों उदाहरणों में 'साध्यवसाना लक्षणा' के चमत्कार को देखा जा सकता है। 'चारागाह' से लक्ष्यार्थ है राजनीति का क्षेत्र। इसी प्रकार असहाय और भूखे गरीब लोगों की भूख मिटाने के लिए 'घास उगाना' से तात्पर्य है घटिया और सस्ते किस्म का अनाज पैदा करना। 'चारा' जानवर खाता है। अत: लक्ष्यार्थ होगा जानवर जैसे लोग।

इसी प्रकार 'अफसर का कुत्ता विकासशील देशों की तरह पनपता है।' और 'मैं जिस समय उनके बंगले पर पहुंचा वे बरामदे में फर्नीचर जैसे पड़े थे।' के अंतर्गत प्रयोजनवती सारोपा लक्षणा की उपस्थिति को देखा जा सकता है।

अन्य शैली प्रयोग– श्रीलाल शुक्ल ने पत्र (विदेश भ्रमण: एक शरीफ के नाम चार पत्र), 'इंटरव्यू' (एक हारे हुए नेता का इंटरव्यू), 'सम्बोधन' (कुत्ते की पिल्ले को नसीहत)', संवाद (दुभाषिये), गणित (साहित्योद्यान सुमन-गुच्छा : एक समीक्षा), आलोचना एवं व्याख्या (संस्कृत पाठशाला में प्रसाद), रेखाचित्र (एक जीते हुए नेता से मुलाकात), भाषण (चौराहे पर), प्रतीकात्मक (कुत्ते और कुत्ते, बैलगाड़ी), टिप्पण (एक मुकदमा) जैसी शैलियों के अतिरिक्त संस्मरण, पैरोड़ी, मानवीकरण एवं विरोधाभासमूलक जैसी विविध प्रकार की शैलियों का अनूठा प्रयोग अपनी व्यंग्य रचनाओं में किया है।

ऊपर विवेचित अध्ययन के आलोक में यह स्पष्टत: कहा जा सकता है कि श्रीलाल शुक्ल जीवन जगत से संबंधित विसंगतियों के अनुरूप व्यंग्यकला के दांव अपनाते हैं। उनके व्यंग्य के तरकश में अग्नि-बाण, सर्प-बाण और अनेकोद्भवा जैसे अस्त्र तो हैं ही, साथ ही समीप के सामाजिक एवं मानव-मूल्य विरोधी शत्रुओं को दण्ड और शिक्षा देने के लिए अपने व्यंग्य के हाथों में नागपाश बिच्छू दंश, चाबुक और कटार जैसे प्रहारक शस्त्र भी लिए हुए दृष्टिगत होते हैं। शरीर की छाया की भांति व्यंग्य उनकी लेखनी का अभिन्न अंग है। अन्य लेखक व्यंग्य के खतरों से बचने के लिए अपने लेखन को विश्लेषणात्मक या अमूर्त विषयों की ओर मोड़ देते हैं, वहां वे एक सरकारी अफसर के होने पर भी व्यंग्य के मैदान में एक मंजे हुए खिलाड़ी की भांति कलात्मक रूप से अपना यथेष्ट दांव आजमा ही लेते हैं। उन्होंने इस संबंध में लिखा है– 'पर मेरे जैसा लेखक, जिसकी शुरुआत ही व्यंग्य और तीखे लेखन से हुई हो, इस तरह के पलायन से अपने को बहुत दिन तक फुसला नहीं सकता क्योंकि ऐसे लेखन के पीछे सामाजिक जीवन की इस क्वालिटी का आदर्श है, वह आसानी से मुझे छोड़ने वाला नहीं है।'

**ए-2, नारायण नगर, टोमी सोसायटी
निकट वघोडिया रोड, बड़ौ**

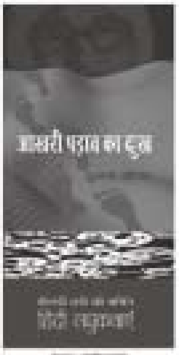

नववर्ष की शुभकामनाओं सहित-

भावना प्रकाशन

109-A, पटपड़गंज दिल्ली-110091
फोन : 011-22754663, 22756734

प्रश्नों का प्रजातन्त्र (आलेख)	कमलेश्वर	300.00
कमलेश्वर अभी जिन्दा हैं!	कमलेश्वर	300.00
तिक्खी (उपन्यास)	हृदयेश	400.00
चौखट (उपन्यास)	द्रोणवीर कोहली	250.00
मुल्क अवाणों का (उपन्यास)	द्रोणवीर कोहली	300.00
एक और हिन्दुस्तान (उपन्यास)	कमलानाथ	150.00
शहर गवाह है (उपन्यास)	सतीश जमाली	450.00
फुलिकारी (कहानी)	विद्यासागर नौटियाल	50.00
रावल की रेल (व्यंग्य)	कमलेश्वर	150.00
रस-विलास (व्यंग्य)	रवीन्द्रनाथ त्यागी	250.00
मल्लिनाथ की परम्परा (व्यंग्य)	रवीन्द्रनाथ त्यागी	200.00
मानक हिंदी लघुकथा कोश (दो खंड)	सं. बलराम	1200.00
हिन्दी व्यंग्य का इतिहास	सुभाष चंदर	600.00
मेरी प्रतिनिधि व्यंग्य रचनाएं (व्यंग्य)	नरेन्द्र कोहली	250.00
मेरी प्रतिनिधि व्यंग्य रचनाएं (व्यंग्य)	सं. प्रेम जनमेजय	600.00
प्रतिनिधि व्यंग्य और हास्य रचनाएं (व्यंग्य)	कृष्ण चराटे	350.00
सोवियत संघ का पतन क्यों हुआ (व्यंग्य-कहानियां)	कमलानाथ	200.00
लव पर डिस्काउण्ट (व्यंग्य)	आलोक पुराणिक	150.00
मीडियोलाप (व्यंग्य)	डॉ. कामेन्दु शेखर तिवारी	100.00
धूमकेतुओं की जन्मपत्री (व्यंग्य)	किट्टू	150.00
व्यंग्य के बारे में (व्यंग्य)	श्यामसुन्दर घोष	150.00
बीसवीं सदी की चर्चित हास्य रचनाएं	सं. सुभाष चंदर	400.00
बीसवीं सदी की चर्चित व्यंग्य रचनाएं	सं. सुभाष चंदर	500.00
२२वीं सदी का गाँव (व्यंग्य)	आर. के. पालीवाल	150.00
शराफत से आफत (व्यंग्य)	श्रवण कुमार उर्मलिया	150.00
सत्ता होने से पहले (व्यंग्य)	सुदर्शन वशिष्ठ	150.00
इन्सानियत का डॉ (व्यंग्य)	सुभाष चंदर	150.00
तेरी गठरी में लागा चोर (व्यंग्य)	डॉ. जयपाल तरंग	150.00
पाँच लाख का हिन्दी मास्टर (व्यंग्य)	नवीनचन्द्र लोहनी	80.00
मेरी तौबा (व्यंग्य)	रीता कश्यप	150.00
कल्लू गुलामी और जल्ले आज़ादी (व्यंग्य)	अशोक त्रिपाठी	100.00
गोविन्द भगवान की जय (व्यंग्य)	गोविन्द शर्मा	100.00
भ्रष्ट मुख्यमंत्री चाहिए (व्यंग्य)	गोविन्द शर्मा	150.00
मोलपुर-३० किलोमीटर (व्यंग्य)	विनोद साव	150.00
मैदान-ए-व्यंग्य (व्यंग्य)	विनोद साव	100-00
कोख किराए से मिलेगी (व्यंग्य)	डॉ. बापूराव देसाई	130.00
नाक का सवाल (व्यंग्य)	गुरमीत बेदी	200.00
इसीलिए हम हँसते हैं (व्यंग्य)	गुरमीत बेदी	150.00
लालबत्ती का डूबता सूरज (व्यंग्य)	रवि श्रीवास्तव	150.00
गुप-चुप जीयो भ्रष्टाचार (व्यंग्य)	ओमप्रकाश कश्यप	140.00
माया महाठगिनी हम जानी (व्यंग्य)	डॉ. शोभाकान्त झा	125.00
उलट-पलट (व्यंग्य)	सुदर्शन वशिष्ठ	100.00

खगेन्द्र ठाकुर

राग दरबारी बनाम पलायन संगीत

श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास 'राग दरबारी' एक विलक्षण उपन्यास है। इस पर उपन्यास का कोई परम्परागत लक्षण लागू नहीं होता या यों कहें कि परम्परागत लक्षणों को नजरअंदाज करके लेखक ने इस उपन्यास की कथारचना की है। इस सिलसिले में यह भी कहा जा सकता है कि इस उपन्यास की रचना के पहले लिखे गये तमाम उपन्यासों से भिन्न अपने ढंग की औपन्यासिक कथा है यह। उपन्यास विधा के विशाल रचनात्मक फलक का बहुत अच्छा उपयोग लेखक ने किया है।

'राग दरबारी' की विलक्षणता यह है कि यह न चरित्र प्रधान है, न उद्देश्य प्रधान और न समस्या-प्रधान, हालांकि अन्त तक पहुंचते-पहुंचते कथा से चरित्र भी उभरते हैं और उद्देश्य एवं समस्याएं भी। 'राग दरबारी' नाम से पाठकों के मन में यह बात आती है कि इसमें किसी प्रतापी मनुष्य का किसी चुम्बकीय व्यक्तित्व का दरबार और उसके खुशामदी दरबारियों की कथा है। लेकिन ऐसा कुछ नहीं है। इस उपन्यास की कथा में कोई प्रतापी परम्पराएं या व्यक्तित्व नहीं है, जिसके इर्द-गिर्द लोग दरबार लगाते हैं। कथा का कोई नायक नहीं है, कथा के कोड में कोई व्यक्ति नहीं है। कहना तो यह चाहिए कि इस उपन्यास की कथा-रचना इस तरह की है कि नायक और खलनायक मिल कर एक हो गये हैं। यह भी कहा जा सकता है कि खलनायक ही नायक बन गया है। और कथा के प्रवाह में जो संघर्ष है, वह ऐसा है कि खलनायक और खलनायक ही आपस में टकराते हैं। वास्तव में लेखक का इस रचना के पीछे यह उद्देश्य है कि समाज का स्वरूप पाठकों के सामने खोल कर रख दे। समाज व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों से बनता है यह पारस्परिक संबंध न आकस्मिक होता है न तात्कालिक या प्रासंगिक। यह आपसी आवश्यकताओं और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किये जाने वाले उत्पादनों के आधार पर बनता है। अतः समाज का ऊपरी ढांचा तो देखने योग्य है लेकिन देखने भर के लिए नहीं है। इसकी अन्तर्वस्तु के आधार पर उसका पुनर्मूल्याकंन और पुनर्निर्माण किया जाता है। राग दरबारी में जो समाज चित्रित है, उसमें ऐसा कोई चरित्र नहीं है, ऐसा कोई संगठन या समूह नहीं है, जो समाज में उथल-पुथल पैदा करना चाहता हो, उसे बदलने के लिए प्रयत्नशील हो। फिर भी समाज के भीतर जो लोग हैं उनमें उद्वेग है, चिंता है, कुछ-न-कुछ हलचल तो है ही। यहां अपने हाल पर रहने वाले, अपने हाल पर जीने वाले लोगों का समाज है। इस तरह के समाज की विशेषताओं को लेखक ने इस आत्मीयता से चित्रित किया है कि पाठक को लगता है, वह उनके बीच रह रहा है, उनके बीच घूम रहा है।

देश काल की दृष्टि से इस उपन्यास की कथा का गांव एवं उसका परिवेश स्वतंत्र और जनतांत्रिक भारत का है। यह भारतीय जनतंत्र उस अवस्था में आ गया था, जब जनता बदलाव और विकल्प के लिए बेचैन होने लगी। लेखक यहां यह संकेत से बताता है कि वह बेचैनी कहां दब गयी? ये बातें पृष्ठभूमि में हैं। पाठक इन बातों को ध्यान में रखेगा तो उपन्यास के निहितार्थ को ठीक से समझ और ग्रहण कर सकेगा। तुलसीदास के बारे में निराला की पंक्ति यदि आ रही है– 'देश काल के शर से बिंध कर वह आया कवि अशेषछविधर', तो यह इतिहास और साहित्य दोनों अनुभवों से सिद्ध है कि देश-काल के शर से विंध कर ही रचनाकार और उसकी रचना अशेष छवि पा सकती है। अतः हम यह ध्यान में रखें कि 'राग दरबारी' का गांव शिवपालगंज और उसके आसपास के गांव स्वतंत्र भारत के हैं, जहां जनतांत्रिक प्रणाली है, एक ऐसे संविधान के आधार पर उस प्रणाली का संचालन करने का संकल्प है, जिसमें सबको समानता खास करके अवसर की समानता देने का प्रावधान है। इसके अलावा पृष्ठभूमि में महात्मा गांधी का वह वचन है कि भारत की आत्मा गांवों में बसती है और फिर इस आत्मा के विकास के लिए पंचवर्षीय योजना है और तीन योजनाएं पूरी हो चुकी हैं, तथा चौथी योजना बनायी तो गयी, लेकिन किसी उद्देश्यपूर्ति के प्रभाव में उसे छुट्टी दे दी गयी, योजना की छुटटी यानी योजनाबद्ध विकास कर पाने में कमजोरी की अभिव्यक्ति। इन बातों के बीच, इन बातों की पृष्ठभूमि में कैसा है भारत का गांव या ग्रामीण समाज या भारत की आत्मा? बालिग मताधिकार पर आधारित हमारा संसदीय जनतंत्र कैसे काम कर रहा है? कैसी है जनतांत्रिक जनता? 'दरबार' सामंती समाज की चारित्रिक विशेषता थी। आज भी पुराने किलों में जाकर बादशाह के बैठने की जगह, दरबारियों की जगह और 'दरबारेआम' या 'दरबारेखास' के दृश्य की कल्पना की जा सकती है। अब उस तरह के दरबार का समय नहीं रहा। दिनकर जी ने लिखा था– 'सिंहासन खाली करो कि जनता आती है।' जनता आ गयी, बादशाह तो गये ही, राजे-रजवाड़े भी चले गये, दरबार भी अब नहीं हैं, लेकिन दरबारीपन रह गया है और पूरे समाज में एक संगीत गूंज रहा है, जो भारत के नागरिकों की चारित्रिक विशेषता में शामिल हो गयी है। यह 'राग दरबारी' हमारे जनतंत्र या जनतांत्रिक प्रणाली की विसंगति को, उसके अंतर्विरोध को अभिव्यक्त करता है और बड़ी अंतरंगता एवं कुशलता से चित्रित करता है। इसकी अंतरंगता यह है कि लेखक के अनुभव विश्वसनीय है, पाठकों के अपने सामाजिक अनुभव से उनका मेल है। हम यदि आज भी इसके रचनात्मक अनुभवों को विश्वसनीय समझकर उद्वेलित होते हैं, तो इसीलिए कि इसमें चित्रित समाज का बुनियादी स्वरूप तो कायम है, लेकिन उसके अन्तर्विरोध, उसकी असंगतियां, उसके विद्रूप और भी ज्यादा बढ़ गये हैं, वे सब और भी कुरूप हो गये हैं।

बात यह है कि यथार्थ समाज का हो या रचना का, वह गतिशील होता है और उसकी दिशा नहीं बदलती है तो, अपनी ही आंतरिक गति से प्रेरित और प्रभावित होकर वह यथास्थिति की दिशा में चलता है और जो बदलाव उसमें आता है, वह चरित्र का नहीं अवस्था का होता है। कहने का अर्थ यह कि इस उपन्यास की कथा के समाज का जो चरित्र है, वही आज पचास वर्षों के बाद भी भारत के समाज का है, लेकिन दूसरी जो अवस्था उस समय थी, वह आज नहीं है, वह नयी अवस्था में, दुर्गति और असंगति की नयी अवस्था में पहुंच गया है। इसी से इस उपन्यास की प्रासंगिकता सिद्ध होती है। यद्यपि इसके प्रकाशन को अभी इतिहास का लम्बा समय नहीं बीता है फिर भी आज के युग के लिए पचास-साठ वर्ष कम नहीं हैं। इस उपन्यास में देश कालगत चारित्रिक विशेषता को चित्रित करने के कारण ही काल की सीमा को लांघकर जीने की क्षमता है। ऐसा मैं महसूस करता हूं। उपन्यास इन पंक्तियों से शुरू होता है– 'शहर का किनारा। उसे छोड़ते ही भारतीय देहात का महासागर शुरू हो जाता था।' एक बात यहां स्पष्ट है कि लेखक देहात को शहर के मुकाबले खड़ा नहीं कर रहा है, बल्कि विकास की दृष्टि से वह शहर का छाड़न है। पानी घट जाने पर नदी से जो जमीन निकल आती है, उसे छाड़न कहते हैं। देश के समाज में देहात मुख्य है, लेकिन विकास की योजना में देहात छाड़न है। इससे अलग राजनीति में जनतांत्रिक प्रणाली में देहात आधार है। अत: शिवपालगंज और उसके परिवेश के माध्यम से लेखक हमें यह बता रहा है कि हमारे जनतंत्र का आधार ऐसा है, तो समझ लीजिए कि उसकी अधिरचना यानी उस पर बना हुआ ऊपरी ठाठ कैसा होगा? इसे यों भी कह सकते हैं कि ऊपरी ठाठ के चरित्र को देखकर चकित होने वाले लोग उसकी अधोरचना को देखें और समझें। श्रीलाल शुक्ल ने इस उपन्यास की कथा के जरिये यही बड़ा काम किया है। जो पाठक या आलोचक यह समझते रहे हैं कि 'गांवों की राजनीति का जो स्वरूप यहां चित्रित हुआ है, वह आज के राष्ट्रव्यापी और मुख्यत: मध्यम उच्चवर्गों के भ्रष्टाचार और तिकड़म को देखते हुए बहुत अदना जान पड़ता है और लगता है कि लेखक अपनी पंक्ति कुछ गंवारों के ऊपर जाया कर रहा है।' उन्हें इस दृष्टि से इस कथा को देखना-समझना चाहिए कि यह हमारी व्यवस्था पूरी प्रणाली का प्रातिनिधिक स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत कर देता है। 'राग दरबारी' फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' की तरह आंचलिक या क्षेत्रीय आकांक्षा का उपन्यास नहीं है। यह हमारी पूरी यानी राष्ट्रीय सामाजिक व्यवस्था और जनतांत्रिक प्रणाली का प्रतिनिधित्व करने वाला सार्थक और समर्थ उपन्यास है। यह पूंजीवादी समाज की चारित्रिक विशेषताएं साधारण लोगों के चरित्र के जरिये व्यक्त करता है। लेखक सरजमीन पर गांव में प्रशासनिक संगठन, शैक्षिक संगठन, राजनीतिक संगठन, को-ऑपरेटिव यानी आर्थिक संगठन और न्याय प्रणाली की वास्तविकता को चित्रित कर उनकी कुरूपता हमें महसूस करा देता है। इन संस्थाओं की गतिविधियों का संबंध जनता से है, उनका असर जनता पर पड़ता है। उन संस्थाओं का संबंध सत्ता की नीतियों से है। इसलिए 'राग दरबारी' एक राजनीतिक उपन्यास है। यह राजनीतिक उपन्यास मूलत: इस कारण है कि यह समाज के विभिन्न तबकों या वर्गों के हितों को व्यक्त और चित्रित करता है। वैद्यजी, प्रिंसिपल साहब, सनीचर, रूप्पन बाबू, रामाधीन भीखमखेड़वी, रंगनाथ, छोटे पहलवान, बद्री पहलवान, दरोगा साहब, वकील साहब, जज साहब, आदि पात्र अपने-अपने चरित्रों के माध्यम से आज के भारतीय समाज और उस पर शासन करने वाली राजसत्ता के ही चरित्र का पर्दाफाश करते हैं। ये पात्र दो गुटों में बंटे हैं। जाहिर है कि समान स्वार्थ वाले पात्र भी अपने-अपने स्वार्थ के आधार समाज एवं उसका संचालन करने वाली संस्थाओं पर अपना प्रभुत्व कायम करने के लिए लड़ते हैं। वे को-ऑपरेटिव यूनियन पर कब्जा करके उसकी सम्पत्ति को अपना बनाने के लिए, कॉलेज पर प्रभुत्व जमाने के लिए, गांव का प्रधान पद हथियाने के लिए, प्रशासन को अपने पक्ष में करने के लिए, दूसरे गुट को ध्वस्त करने के लिए तरह-तरह की तिकड़में करते हैं। वैद्यजी ने कॉलेज की कमेटी की बैठक में विरोधियों को पहुंचने से रोकने के लिए, प्रधान पद पर निहायत ही अयोग्य और अपने सेवक सनीचर को जिताने के लिए जिस तरह बाहुबलियों का उपयोग किया है, वह जनतंत्र का मखौल उड़ाने के लिए काफी है। इसी तरह विरोधी रामाधीन भीखमखेड़वी ने पुलिस को मिलाकर, जाहिर है रिश्वत देकर, वैद्यजी के खास आदमी जोगनाथ पर चोरी का इल्जाम लगाकर मुकदमा करके गिरफ्तार करा दिया। इस मुकदमे के माध्यम से पुलिस और अदालत के चरित्र का पर्दाफाश होता है। वकीलों के द्वारा गवाहों से किये गये जिरह के माध्यम से न्याय की व्यावसायिकता बेपर्द होती है। रंगनाथ बाहर से आया हुआ नौजवान, इन सबको देखता है और उद्विग्न होता है। एक दिन प्रिंसिपल उसे अपने यथार्थ का कारण बताते हुए उसे वर्तमान राजनीति को समझने की प्रेरणा देता है। रंगनाथ ने कितना समझा यह अलग बात है, लेकिन प्रिंसिपल के बाहरी यथार्थ के भीतर एक और व्यक्ति को उसने पहचाना और महसूस किया। इसका सार यह है कि कहीं जाओ, जीने के लिए ऐसा करना ही होगा यानी 'राग दरबारी' गाना ही होगा, नहीं तो फिर कुर्बान होने को तैयार हो जाओ। यह गांव 'अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है' वाला नहीं है और यदि है तो यहां 'अहा' में व्यंग्य है। रामाधीन भीखमखेड़वी कवि है, लेकिन कविता से ज्यादा वह गांव की राजनीति करता है। आखिर जनतंत्र है, तो उसने भी कुछ रुतबा हासिल कर ही लिया है। ऊपर शिकायत करके उसने वैद्यजी के प्रभुत्व में चलने वाली संस्थाओं की जांच का आदेश करा दिया है। इस माध्यम से कथा आगे बढ़ती है। इस गांव में जात-पात, सम्प्रदायवाद आदि तमाम राजनीतिक गुण और अवगुण हैं। वैद्यजी का भांजा गांव की राजनीति देख-देखकर परेशान होता है। वैद्यजी का भांजा होने के कारण और अपनी प्रतिक्रियाओं के कारण, कई बार अपने रुख के कारण उसे लगता है, वह कहां है, क्या कर रहा है, वह सोचता रहता है, लेकिन लेखक के अनुसार 'उसके दिमाग में यह कभी न आया कि वह भी इतिहास का एक हिस्सा है और अगर चाहे तो इतिहास को बना-बिगाड़ सकता है। वह देश के पच्चानबे प्रतिशत बुद्धिजीवियों में था, जिनकी बुद्धि उनको आत्मतोष देती है, उन्हें बहस करने की तमीज सिखाती है, दूसरों को क्या करना चाहिए, और क्या न करना चाहिए, इस पर

भाषण कराती है, और न करने के मामले में कुछ उनकी भी जिम्मेदारी है– इस बेहूदा विचार को उनसे कोसों दूर रखती है।' इन्हीं बातों का प्रतीक है रंगनाथ। बुद्धिजीवियों का प्रतिनिधि, यानी क्रियाहीन विचारकों का प्रतिनिधि। लेकिन बाद में वह एकदम क्रियाहीन रहा नहीं, उसने वैद्यजी का, अपने मामा का विरोध किया, कुछ शिक्षकों को संघर्ष के लिए प्रेरित किया। वैद्यजी के बेटे रूप्पन को साथ करने में सफलता हासिल की। लेकिन अंत होता है, वैद्यजी की विजय और उन लोगों के पक्ष की अपमानजनक पराजय से। सत्ता की राजनीति विजय हासिल करती है। वैद्यजी की राजनीति के तार राजधानी से जुड़े हुए हैं, हालांकि कथा में राजधानी आती नहीं है। उसका नहीं आना वैद्यजी की शक्ति है। उपन्यास में जिस तरह से वैद्यजी जैसे चरित्रों का व्यवहार दिखाया गया है, उससे पूंजीवादी राजनीति की कुटिलता सामने आ जाती है। वे अपने स्वार्थ से काम करते हैं, लेकिन लगता है, उनसे बड़ा स्वार्थपरक, भारतीय, समाजसेवी और जनतंत्रप्रेमी कोई और नहीं। लेकिन अंततः वे यही दिखाते हैं कि जो राग दरबारी नहीं गाएगा, उसे पलायन-संगीत गाना पड़ेगा। यह पूंजीवादी जनतंत्र का नमूना है। व्यक्तित्व का दुहरापन, इस कथा में व्यंग्य का सृजन करता है। खूबी यह है कि वैद्यजी को बहुत सक्रिय नहीं दिखाया गया है, उनका राग गाने वाले लोग सारा प्रबंध कर देते हैं, नीचे से ऊपर तक। जनतंत्र, न्याय, शिक्षा, संस्कृति, मनुष्यता, परोपकार आदि शब्द मुंह पर, और इन सबको अपने चंगुल में दबा कर मुमुर्ष बना देने का काम व्यवहार में। उपन्यास के अन्त में एक मदारी को बंदर नचाते हुए दिखाया गया है। यह प्रतीकात्मक है। वैद्यजी कुशल मदारी हैं और बाकी सब बंदर। वैद्यजी की सफलता अपने अनुचरों को स्वार्थ की डोर से बांधे रहने की कुशलता में है। उनके शांत दिखने वाले चेहरों और संतों जैसी भाषा के पीछे कितनी बर्बरता है, यह भी अंत में दिख जाता है, जब वे विरोधी शिक्षकों, रूप्पन और रंगनाथ के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए निर्मम फैसला सुनाते हैं। सत्ता पर जमे और बैठे लोग सत्ता के स्वार्थ में कितने बर्बर हो जाते हैं, यह वैद्यजी के माध्यम से लेखक ने कुशलतापूर्वक चित्रित किया है। इस सत्य का स्पष्टीकरण रूप्पन ने रंगनाथ से बहुत पहले इन शब्दों में किया था– 'देखो, दादा, यह तो पॉलिटिक्स है। इसमें बड़ा कमीनापन चलता है।' यह कमीनापन इस तरह आगे बढ़ता है कि बेटा, भांजा कोई भी विरोध के रूप में मंजूर नहीं। बद्री पहलवान बेटे रूप्पन से बेहतर लगता है। उसे ही अपना राजनीतिक उत्तराधिकारी घोषित करते हैं।

उपन्यास का शिल्प सुगठित है। काव्य के लिए जो प्रसंग आवश्यक है, वही लाया गया है, और विभिन्न प्रसंगों को इस तरह जोड़ा गया है कि कहीं जोड़ का निशान दिखता नहीं। एक कथा से दूसरी कथा की ओर कथ्य बढ़ जाता है, पाठकों को यह अनुभव दिये बिना कि कथा को प्रयत्नपूर्वक बढ़ाया जा रहा है। समाज की विभिन्न संस्थाओं और सत्ता के विभिन्न प्रतिष्ठानों के संबंधों को सहज भाव से दिखाया गया है। सबके चरित्र में समानता है, समान कुरूपता है। वे समान रूप से अन्यायपूर्ण हैं। ईमानदार और न्यायप्रिय मनुष्य की नियति का दृष्टांत है रंगनाथ, जो अब मामा का घर छोड़कर शहर लौटने का निश्चय कर चुका है। कथा के विकास क्रम की खूबी यह है कि कहीं भी कोई प्रसंग अनावश्यक नहीं लगता है। उसके साथ ही मैं कहना चाहता हूं कि यह उपन्यास जैसी लचीली विधा की खूबी है कि विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के चरित्र का पर्दा हटाने के लिए वे तदनुकूल सत्ता प्रतिष्ठानों की समस्याओं को उठाते हैं। उपन्यास की विशिष्टता इसी में है। राजनीतिक हलचलों का चित्रण प्रत्यक्षतः नहीं करने के बावजूद यह एक गम्भीर राजनीतिक उपन्यास है और समाज के विकास के लिए अपेक्षित समस्याओं के प्रति प्रतिष्ठानों और उनके संचालनों का रुख इस तरह चित्रित किया गया है कि आज की राजनीति और सत्ता प्रतिष्ठान लेखक की कलम के व्यंग्य के निशाना बनते हैं। समाज का चरित्र ऐसा हो गया है कि कबीर की पंक्ति याद आती है– कुपहि में भंग पड़ी है। समाज का शक्ति-संतुलन जनतंत्र के पक्ष में नहीं है, हालांकि आवरण जनतंत्र का ही है। पूरा समाज विषकुम्भमपयोमुखम् जैसा है।

उपन्यास की भाषा व्यंग्य को और धारदार बनाती जाती है, पूरे उपन्यास में ऐसा है। एक उदाहरण देखिए– 'पुनर्जन्म के सिद्धांत की ईजाद दीवानी अदालतों में हुई है, ताकि वादी और प्रतिवादी इस अफसोस को लेकर नामरें कि उनका मुकदमा अधूरा ही पड़ा रहा। इसके सहारे वे सोचते हुए चैन से मर सकते हैं कि मुकदमे का फैसला सुनने के लिए अभी अगला जन्म तो पड़ा ही है।' (पृ.33) इससे ज्यादा गहरा व्यंग्य न्याय प्रणाली पर और क्या होगा। भाषा का व्यंग्य किस तरह समाज की और सत्ता की असंगति को उभारता है, इसका एक और दृष्टांत देखिए– 'आजादी के मिलने के बाद इस देश में साइकिल रिक्शा चालकों का वर्ग जिस तेजी पनपा है, उससे यही साबित होता है कि हमारी आर्थिक नीतियां बहुत बढ़िया हैं, और यहां के घोड़े बहुत घटिया हैं। उससे यह भी साबित होता है कि समाजवादी समाज की स्थापना के सिलसिले में हमने पहले तो मनुष्य और घोड़े के बीच का भेदभाव मिटाया है और अब मनुष्य और मनुष्य के बीच का भेदभाव को मिटाने को सोचेंगे।' (पृ.200) एक छोटे पहलवान बद्री पहलवान से कहता है– 'गुरू, किस सोच-विचार में पड़ गये? सोचना काम चिड़िमार का है।' (पृ.239) विचार धारा से मुक्ति, बल्कि मस्तिष्क की क्रिया को ही स्थगित कर देने की योजना कितनी सहजता से बन जाती है। ऐसी भाषा के माध्यम से लेखक वैचारिक संघर्ष भी करता चलता है। लेकिन इसे गौर से देखकर ही समझा जा सकता है, कि उपन्यास में वैचारिक संघर्ष किस तरह होता– चलता है। यह वैचारिक संघर्ष पात्रों के बीच प्रायः नहीं है, कथा-प्रसंग और उनकी असंगतियां जीवन और समाज को व्यंग्यपूर्ण बना देती हैं। अलग से इस उपन्यास की भाषा का अध्ययन किया जाए तो पता चलेगा कि इस उपन्यास की भाषा बेहद जीवन्त है। कुल मिलाकर हिन्दी का एक श्रेष्ठ उपन्यास है यह और इसकी यह श्रेष्ठता बना रहेगी। इसकी कलात्मक विशिष्टता कभी ऐतिहासिक विशिष्टता बन जाएगी। इस अर्थ में यह स्वातंत्र्योत्तर समाज के इतिहास जैसा समझा जाएगा।

क्षितिज, जनशक्ति कालोनी
पथ सं. 24, राजीव नगर, पटना-801024

राजेश जोशी

एक कवि की नोटबुक 'राग दरबारी'

हिन्दी उपन्यास के भूगोल में तीन गांव अलग से रेखांकित किये जा सकते हैं। गोदान का 'वेलारी' जो होरी का गांव है और इसी से पांच मील की दूरी पर लगभग जुड़ा हुआ रायसाहब का 'सेमरी'। मैला आंचल का 'मेरीगंज' और राग दरबारी का 'शिवपालगंज'। वेलारी तीस के दशक का गांव है। मेरीगंज चालीस के दशक का गांव। आजादी से थोड़ा पहले और आजादी के तत्काल बाद का और साठ के दशक का शिवपालगंज। तीस से साठ के दशक के बीच चार दशकों में भारतीय गांवों के बदलते हुए चरित्र का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन इनके आधार पर तैयार किया जा सकता है। इसके अलावा आधा गांव या बलचनमा का गांव और कई अन्य गांव भी याद आ सकते हैं। लेकिन वेलारी, मेरीगंज और शिवपालगंज भारतीय गांवों की बदलती हुई सूरत को समझने के लिए सबसे उपयुक्त उदाहरण हो सकता है। गोदान और मैला आंचल को पढ़ना शुरू करते हुए हम सीधे गांव के भीतर होते हैं और उससे बाहर की दुनिया में झांकने या बाहर निकलने की कोशिश करते हैं। वेलारी में ग्राम स्वराज की स्वायत्तता पूरी तरह टूटी नहीं है। गांव से छोड़ कर शहर की तरफ जाने की लगभग शुरुआत हो रही है। सामाजिक तानाबाना बचा हुआ है। उसमें दरारें पड़ना शुरू ही हुई हैं। मेरीगंज का समाज आजादी के तत्काल बाद यानी 1948 तक ही आया है और शिवपालगंज तो आजादी के बाद का गांव है। गोदान 1936 में लिखा गया, मैला आंचल 1954 में और राग दरबारी 1968 में। तीनों उपन्यासों को साथ-साथ रखें तो लगता है कि भारतीय ग्रामीण इनके बीच दो वनवास काट चुका है।

राग दरबारी शिवपालगंज से शुरू नहीं होता। 'शहर का किनारा। उसे छोड़ते ही भारतीय देहात का महासागर शुरू हो जाता है। वहीं एक ट्रक खड़ा था।' इस ट्रक में रंगनाथ के साथ, जो गांव लौट रहा है, में बैठकर हम शिवपालगंज में प्रवेश करते हैं। शिवपालगंज आने की सूचना भी हमें एक खास अंदाज में मिलती है। 'थोड़ी देर में ही धुंधलके में सड़क की पटरी पर दोनों ओर कुछ गठरियां सी रखी हुई नजर आयीं। ये औरतें थीं, जो कतार बांधकर बैठी हुई थीं। वे इत्मीनान से बातचीत करती हुई वायु सेवन कर रही थीं और लगे हाथ मल-मूत्र का विसर्जन भी। सड़क के नीचे घूरे पटे पड़े थे और उनकी बदबू के बोझ से शाम की हवा किसी गर्भवती की तरह अलसायी हुई-सी चल रही थी। कुछ दूरी पर कुत्तों के भूंकने की आवाजें हुई। आंखों के आगे धुएं के जाले उड़ते हुए नजर आये। इनसे इंकार नहीं हो सकता था कि वे किसी गांव के पास आ गये थे। यही शिवपालगंज था।'

इस उपन्यास का रचना-समय नेहरू युग से मोहभंग के बाद का है। साठ के दशक में भारतीय राजनीति में बहुत उथल-पुथल हो रही थी। पहली बार कांग्रेस का एकाधिपत्य समाप्त हो रहा था। संसदीय राजनीति में लोहिया का गैर कांग्रेसवाद राज्यों के स्तर पर आकार ग्रहण कर रहा था और संविद सरकारें बन रही थीं। नक्सल आंदोलन की शुरूआत हो रही थी। इंदिरा गांधी ने नेहरू युग की राजनीति की पर्दादारी को पर्दा विहीन कर दिया था। रंगनाथ ट्रक ड्राइवर से कहता है 'ड्राइवर साहब, तुम्हारा गियर तो बिल्कुल अपने देश की हुकूमत जैसा है। ड्राइवर ने मुस्कुराकर यह प्रशंसा पत्र ग्रहण किया। रंगनाथ ने अपनी बात साफ करने की कोशिश की। कहा, उसे चाहे जितनी बार टाप गियर में डालो, दो गज चलते ही फिसल जाती है और लौटकर अपने खांचे में आ जाती है।' यह टिप्पणी राग दरबारी को मैला आंचल या गोदान से अलग करती है।

राग दरबारी के शिवपालगंज में प्रवेश करते ही सबसे पहले गांव का थाना आता है। इसके बाद गांव का स्थानीय कॉलेज। और इसके बाद गांव के वास्तविक शक्ति केन्द्र याने वैद्यजी की बैठक में हम प्रवेश करते हैं। वैद्यजी कॉलेज के मैनेजर हैं और को-ऑपरेटिव यूनियन के मैनेजिंग डायरेक्टर हैं। इस तरह गांव की वास्तविक शक्ति संरचना का खाका तैयार होता है। ये वैद्यजी अंग्रेजों के जमाने में अंग्रेजों के लिए श्रद्धा दिखाते थे और देसी हुकूमत आयी तो देसी हाकिमों के प्रति श्रद्धा दिखाने लगे। भारतीय समाज में पावर का स्थानान्तरण किस तरह और किस तरह के लोगों के बीच हुआ ये छोटा सा उदाहरण इसको बहुत बारीकी से और बिना किसी अतिरिक्त आग्रह के दिखा देता है। यह उपन्यास एक ऐसा रूपक है जो आजादी की कथा और आजादी के बाद बने शक्ति केन्द्रों को महीन कुशाग्रता से उजागर करता है। कई बार लगता है कि राग दरबारी की सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि उसे बिटविन द लाइन्स नहीं पढ़ा गया। उसकी विचक्षणता उसकी ताकत भी है और उसकी दिक्कत भी। वह एक घटना के बीच अनेक स्थितियों पर टिप्पणी करता चलता है। कुछ दिलचस्प टिप्पणियों के उदाहरण इसके लिए काफी होंगे–

1. रंगनाथ इन हमलों से लड़खड़ा गया था। पर उसने इस बात को मामूली जांच पड़ताल का सवाल मानकर सरलता से जवाब दिया खद्दर तो आजकल सभी पहनते हैं। अजी कोई तुक का आदमी तो पहनता नहीं। कहकर उसने (ड्राइवर ने) दुबारा खिड़की से बाहर थूका और गियर को टाप में डाल दिया।
2. वर्तमान शिक्षा पद्धति रास्ते में पड़ी

'राग दरबारी' छपते ही छा गयी। पढ़ना शुरु किया तो पढ़ ही डाला। इतनी पठनीय लगी। राग दरबारी हिंदी की उन रचनाओं की परम्परा में है जो आलोचना के सहारे के बिना अपनी पठनीयता के बल पर लोकप्रिय एवं सम्मानित, प्रतिष्ठित हुई हैं। अभी फिर पढ़ा। इस बार उतनी पठनीय नहीं लगी। फिर भी पढ़ते समय 20-25 बार तो जरुर ही किताब बंद करके अकेले में जोर से हंसा हूंगा– सबसे ज्यादा जोर से और सबसे ज्यादा देर तक यह पंक्ति पढ़ते हुए: 'गड्ढे में थोड़ी देर खामोशी रही। फिर आवाज आयी, 'मर्फर गर्फये सर्फाले, गोर्फोली, चर्फलाने 'वाले' को मैंने बर्फाले पढ़ा। मन में कहा, 'वाह-वाह कहां मारा है।'

अवधा के ग्रामीण कस्बाई जीवन को जितना श्रीलाल शुक्ल ने देखा है उतना या उससे ज्यादा प्रेमचंद ने या निराला ने भी देखा होगा। श्रीलाल ने ग्रामीण कस्बाई जीवन को रेणु से कम नहीं, ज्यादा देखा है। रेणु मोहक कथाकार हैं, श्रीलाल शुक्ल मोह भंजक। यह श्रीलाल शुक्ल की क्षमता है। किंतु वे केवल मोह भंजक हैं।

श्रीलाल शुक्ल सबकी हंसी उड़ाते हैं। वे उत्तर भारत के देहातों और कस्बों के जीवन में व्याप्त पाखंड, छद्म विसंगति, अंधाविश्वास, कामचोरी, काइयांपन, आलस्य, हरामखोरी, गंदगी सबको उधेड़ के रख देते हैं एक बुद्धिजीवी या अखबारनवीस की तरह। लेकिन बुद्धिजीवी या अखबारनवीस इतनी गहराई और सुपरिचित तौर पर सबकी कलई नहीं खोल सकता। कुछ प्रसंगों या स्थितियों के चित्रण अभूतपूर्व हैं। किसी स्थिति को किस स्थिति या बात से सटाकर चित्र खींचा जाए, इसकी क्षमता पाठक को अभिभूत कर लेगी। आजादी के बाद देश के विकास के नाम पर जो लूट मची है और जिसने हमारी जिंदगी और भाषा को पाखंडी विनम्रता और शराफत का लबो लहजा दिया है, स्थानीय गुंडई और उजड्डपन को पैना किया है; यह सब राग दरबारी में लगभग मौलिक एवं सहज रुप में दर्ज है। इसमें जो है वह परिचित का अपरिचित मनोरंजन प्रदान करता है।

राग दरबारी में व्यंग्य को जो प्रतिष्ठान के प्रति घृणा तिरस्कार पैदा करता है, प्रहार करता है, विनोद बना दिया गया है। व्यंग्य है उसे विनोद का जामा पहना दिया गया है। हम इसे व्यंग्य विनोद कहें।

सर्वत्र व्यंग्य विनोद। इससे कथानक गौण हो गया है। राग दरबारी उपन्यास कम व्यंग्य विनोद ज्यादा है। कथानक में गति या विकास कहने भर को है। इसलिए यह रचना पात्रों या घटनाओं से नहीं उन पर की गई लेखकीय टिप्पणियों, फब्तियों से प्रभावित करती है। इस अर्थ में लेखकीय दृष्टि सचमुच तटस्थ है।

– विश्वनाथ त्रिपाठी

हुई कुतिया है, जिसे कोई भी लात मार सकता है।

3. रिश्वत, चोरी, डकैती– अब तो सब एक हो गया है. . . पूरा साम्यवाद है।
4. इन्हीं सब इमारतों के मिले जुले रूप को छंगामल विद्यालय इण्टरमीडिएट कॉलेज शिवपालगंज कहा जाता था। यहां से इंटरमीडिएट पास करने वाले लड़के सिर्फ इमारत के आधार पर कह सकते थे कि हम शान्तिनिकेतन से भी आगे हैं– हम असली भारतीय विद्यार्थी हैं हम नहीं जानते कि बिजली क्या है, नल का पानी क्या है, पक्का फर्श किसको कहते हैं, सैनिटरी फिटिंग किस चिड़िया का नाम है। हमने विलायती तालीम तक देसी परम्परा में पायी है और इसीलिए हमें देखो, हम आज भी उतने ही प्राकृत हैं। हमारे इतना पढ़ लेने पर भी हमारा पेशाब पेड़ के तने पर ही उतरता है, बंद कमरे में ऊपर चढ़ जाता है।
5. झिलमिलाते हवाई अड्डों और लकलकाते होटलों की मार्फत जैसा सिम्बालिक माडर्नाइजेशन इस देश में हो रहा है, उसका असर इस मकान की वास्तुकला में भी उतर आया था और उससे साबित होता था कि दिल्ली से लेकर शिवपालगंज तक काम करने वाली देसी बुद्धि सब जगह एक सी है।
6. ईंट गारा ढोने वाला मजदूर भी जानता था कि बैठक का मतलब ईट और गारे की बनी हुई इमारत भर नहीं है। नं. 10 डाउनिंग स्ट्रीट, व्हाइट हाउस, क्रेमलिन आदि मकानों के नहीं, ताकतों के नाम हैं।
7. हमारे यहां आज भी शास्त्र सर्वोपरि है और जाति प्रथा मिटाने की सारी कोशिशें अगर फरेब नहीं हैं तो रोमांटिक कार्रवाइयां हैं।
8. इस देश में लड़कियां ब्याहना भी चोरी करने का बहाना हो गया है। एक रिश्वत लेता है तो दूसरा कहता है क्या करे बेचारा! बड़ा खानदान है, लड़कियां ब्याहनी हैं। सारी बदमाशी का तोड़ लड़कियों के ब्याह पर होता है।

राग दरबारी जैसे खिलंदड़े गद्य के उदाहरण आधुनिक हिन्दी उपन्यास में बहुत कम ही मिलेंगे। कुछ हद तक शायद एक दूसरे किस्म के खिलंदड़े गद्य का उदाहरण मनोहरश्याम जोशी हो सकते हैं। हिन्दी पाठक और साहित्यिक की भी एक दिक्कत यह है कि वह खिलंदड़े गद्य को अक्सर एक गंभीर कृति नहीं मानता। वह उसे पढ़ते हुए मजा लेता है। लेकिन उसका जो अन्तर्पाठ है वह उसकी नजर से चूक जाता है। इसलिए अक्सर ऐसी कृतियां बहुत दिनों तक गंभीर विचार-विमर्श के केन्द्र में नहीं आतीं। राग दरबारी पर काफी चर्चा हुई है लेकिन हर बार उसकी चर्चा में कई लेकिन. . .किन्तु. . .परन्तु. . . लगे होते हैं। व्यंग्य को अक्सर आटे में नमक जितना तो स्वीकार कर लिया जाता है लेकिन यह अनुपात उलट जाये तो उसे हम महत्वपूर्ण रचना की तरह नहीं स्वीकार कर पाते। मुझे अक्सर लगता है कि आजादी के बाद की भारतीय राजनीति का विद्रूप बिना ताकतवर व्यंग्य के व्यक्त ही नहीं किया जा सकता। राग दरबारी, परसाई और शरद जोशी के व्यंग्य और नागार्जुन की कविता आजादी के बाद के भारतीय समाज के राजनीतिक सामाजिक और सांस्कृतिक विद्रूप की जितनी अधिक परतों में झांकने और उसे उधेड़ने का काम करते हैं उतना कम ही रचनाकार कर पाते हैं।

11 निराला नगर, दुष्यंत कुमार त्यागी मार्ग,
भोपाल-462003

हरि मोहन

राग दरबारी : देश-दशा का राग

हिन्दी उपन्यासों में श्रीलाल शुक्ल कृत 'राग दरबारी' अपनी विशिष्ट रचना-शैली के कारण महत्त्वपूर्ण उपन्यास माना जाता है। इसकी रचना आजादी मिलने के लगभग दो साल बाद हुई। इस दौरान स्वाधीन भारत के जो सपने देखे गए थे उन्हें साकार करने हेतु योजनाएं बनीं, उनका क्रियान्वयन हुआ, अनेकानेक संस्थाएं स्थापित हुईं, लोकतांत्रिक शासन-पद्धति अपनाई गई। पर वास्तव में इसका भारतीय समाज पर क्या प्रभाव पड़ा? शहरी और ग्रामीण जीवन में क्या परिवर्तन आया? भारत की आत्मा कहे जाने वाले गांव किस प्रकार बदले-इसका लेखा-जोखा श्रीलाल शुक्ल ने 'राग दरबारी' में उपस्थित किया है।

अपने इस उपन्यास में श्रीलाल शुक्ल ने अपने समय के समाज, राजनीति, अफसरशाही पर अपनी दृष्टि केंद्रित की है और अवध के एक गांव– 'शिवपालगंज' के बहाने वहां के जनजीवन, उसके कार्यकलापों को उक्त उपन्यास में हू-ब-हू उतार दिया है। हुआ यह कि आजादी के बाद भारतीय जनता को सत्ता वर्ग से कुछ आशाएं-आकांक्षाएं थीं। सभी सोचते और चाहते थे कि अब हमारे दिन बहुरेंगे पुरानी समाज-संरचना, उसकी विकृतियां समाप्त हो जाएंगी। यह सब अंग्रेजों की सत्ता के रहते संभव नहीं था। पर अफसोस! अंग्रेजों के चले जाने के पंद्रह-बीस सालों बाद भी मूलभूत स्थितियों में कोई अंतर नहीं आया। यह स्पष्ट होने लगा कि कम-से-कम गांवों में कुछ नहीं बदला है और बहुत जल्दी कुछ बदलने वाला भी नहीं है। सत्ता परिवर्तन अवश्य हुआ, मानसिकता परिवर्तन नहीं। समाज में जो वर्चस्वशाली वर्ग था– वह आपाधापी में लग गया। अंग्रेजों के जाते ही सत्ता की मशीनरी पर समाज के इसी शक्तिशाली वर्ग का आधिपत्य हो गया। यही वर्ग पश्चिमी ढंग की अंग्रेजी शिक्षा पा रहा था। इसने अपने हितों की पूर्ति के लिए कुछ भी बदलने नहीं दिया। बल्कि यह उपक्रम किया कि किसी भी तरह से उनका ही वर्चस्व बना रहे। ताकत उनके हाथ से नहीं निकले।

किसी एक स्तर पर ही ऐसा नहीं हुआ। समाज के सभी वर्गों-स्तरों पर इसी प्रवृत्ति का बोलबाला बना रहा। गांव से बाहर जाकर शिक्षा प्राप्त करने वाले नौजवान नौकरी पाकर शहर में बस गए। वे अपने इन गांवों में क्या हो रहा है– इस ओर मुखातिब नहीं हुए। धीरे-धीरे शहरी मध्य वर्ग का सरोकार शहर या देश नहीं, स्व या स्वार्थ केंद्रित हो गया। तथाकथित आधुनिकता नगरों-महानगरों तक सीमित रह गई। शिक्षित मध्यवर्ग में यहां भी कोई बड़ा वैचारिक परिवर्तन नहीं आया। आदमी यहां भी ताकत के खेल में अपने को उठाने में लग गया। सभ्य-सुसंस्कृत शिक्षित नागरिक समाज बनने-बनाने का अवसर ही नहीं आया। देश में लोकतांत्रिक संस्थाएं बनाने, शिक्षा को बढ़ाने, उद्योग-धंधे लगाने का काम अवश्य हुआ पर चरित्र का क्रमश: ह्रास हुआ। ज्ञान-विज्ञान से युक्त आधुनिक उच्च-शिक्षा संस्थान बड़े शहरों तक ही सीमित रहे। कस्बे-शहरों का परिवेश नहीं बदला, वहां के व्यापक जनजीवन में बदलाव नहीं आया। विचार और आचरण दोनों अलग-थलग पड़े रहे। पुराने मूल्यों की जगह पाखंड और भ्रष्टाचार ने ले ली। शिक्षित मध्य वर्ग जो इस मशीनरी को चलाने के लिए इस तंत्र में शामिल हुआ, उसने कुछ भी बदलने की बजाय उससे लाभ उठाने में ही समझदारी समझी।

अधिकांश अभिजात वर्ग जो सत्ता के शीर्ष पर पहुंचकर नीति-निर्धारण से लेकर उसके अनुपालन से जुड़ा था, उसने भी व्यापक समाज या देशहित के स्थान पर संकुचित दृष्टि अपनाते हुए स्व या स्वार्थ पर दृष्टि केन्द्रित की। इसका असर समाज में नीचे तक गया। ऐसे में कुछ भी मूलभूत बदलाव नहीं हुए। ऊपरी नोंक पलक दुरुस्त करते हुए दिखाया जरूर गया पर चालाक सामंती मानसिकता वाले शक्तिशाली तत्त्वों ने इन सभी संस्थाओं पर अपना कब्जा जमा लिया। दिखाने के लिए वे लोकतांत्रिक हो गए पर मूल आचार-विचार ज्यों-के-त्यों बने रहे। 'राग दरबारी' उपन्यास का 'शिवपालगंज' गांव, वहां का सारा कार्यकलाप-इसका जीवंत उदाहरण है।

जैसा कि कहा गया 'राग दरबारी' उपन्यास की केन्द्रीय वस्तु है– 'शिवपालगंज'। वहां का ग्रामीण जनजीवन। वहां के समाज में वही पुराने स्तर हैं– अमीर-गरीब। वही जातिगत वर्चस्व है– ब्राह्मण-बनिया-ठाकुर। वही गांव की परिधि पर शूद्रों की मलिन बस्ती है। उनके विद्रूप और विषमतापूर्ण जीवन में कोई बड़ा बदलाव नहीं आया था। समय बदल गया है– इसकी आहट तो उपन्यास में मिलती है। परन्तु उस बदलती चेतना का कोई ठोस रूप-शिक्षा या व्यवसाय के प्रति उन्मुखता, बेहतर जीवन के लिए उद्यम-अभी तक नहीं दिखता। फिर भी अब समाज में वे सदियों पुराने संबंध नहीं रह गए हैं। उदाहरण के लिए पहले किसी ब्राह्मण या बड़ी जात वाले का उनके मोहल्ले से गुजरना या उसके पास होने को भी घटना की तरह माना जाता था। पर अब वह बात नहीं रही। श्रीलाल शुक्ल लिखते हैं, 'एक जमाना था किसी भी बांभन-ठाकुर के निकलने पर वहां के लोग अपने दरवाजों पर उठकर खड़े हो जाते थे, हुक्कों को जल्दी से जमीन पर रख दिया जाता था, चिलमें फेंक दी जाती थीं, मर्द हाथ जोड़कर 'पांय

लागी महाराज' का नारा लगाने लगते थे, औरतें बच्चों को गली से हाथ पकड़ कर खींच लेती थीं और कभी-कभी घबराहट में उनकी पीठ पर घूंसे भी बरसाने लगती थीं और महाराज चारों ओर आशीर्वाद लुटाते हुए और इस बात की पड़ताल करते हुए कि पिछले चार महीनों में किसकी लड़की पहले के मुकाबले जवान दिखने लगी और कौन लड़की ससुराल से वापस आ गई, त्रेता युग की तरह वातावरण पर सवारी गांठते हुए निकल जाते थे।' इस वर्णन में अतिशयोक्ति हो सकती है पर सवर्ण जाति की निम्नवर्ण के प्रति मूल मनोवृति यही रहती थी। इसका बेलाग वर्णन श्रीलाल शुक्ल ने यहां किया है।

आजादी के बाद गांव की सामंती व्यवस्था को तोड़ने हेतु जमींदारी प्रथा का उन्मूलन हुआ। जोतने-बोने वाले किसानों को जमीन देने के क्रम में जमींदारी व्यवस्था पर अंकुश तो लगा पर वह भी शक्तिशाली लोगों के दबाव में आधे-अधूरे मन से किया गया बंदोबस्त था। अतः उसका परिणाम भी बहुत उत्साहजनक नहीं रहा। ग्राम पंचायतें बनीं पर उसका नेतृत्व उन्हीं लोगों के पास आया जो पहले से दबंग थे। फिर भी समाज के निचले वर्ग में थोड़ी हलचल अवश्य आई। इस विषय में श्रीलाल शुक्ल लिखते हैं, 'जमींदारी टूटने का यह नतीजा तो नहीं निकला कि चमरही गांव के भीतर सभा जाती या वहां ढंग के दो-चार कुएं और मकान बन जाते पर इतना तो हो ही गया कि किसी बांभन के निकलने पर पहले जैसा 'गार्ड ऑफ ऑनर' न दिया जाए। इसीलिए 'हाय। कहां वे दिन और कहां आज के दिन' की दीनता के भाव से बचने के लिए बांभनों ने और खास तौर पर-बैदजी ने-यथासंभव उधर से निकलना बंद कर दिया।'

बदलते समय में लोकतांत्रिक नेतृत्व ग्रहण करने में भी सवर्ण वर्ग ने अपना कौशल दिखाया और उसे हस्तगत भी किया। 'राग दरबारी' के प्रमुख पात्र वैद्यजी ने समय के अनुसार अपनी समझ का परिचय दिया। 'उन्होंने कोऑपरेटिव सोसाइटी बनाई, यहां एक मिडिल स्कूल खुलवाया, अपना आयुर्वेदिक दवाखाना खोला और जब तक लोग जान पाएं कि वे किसके कौन हैं, वे यहां के नेता बन बैठे। एक गांव की जमींदारी भी उन्होंने रेहन में रख ली, कोऑपरेटिव में कर्जा देर से मिलने के कारण किसी को तकलीफ न हो, इसलिए साथ-साथ अपना रुपिया भी कर्ज पर चलाना शुरू कर दिया।' यही नहीं वैद्यजी सर्वसम्मति (चुनाव द्वारा) को-ऑपरेटिव सोसाइटी के मैनेजिंग डायरेक्टर बन गए। यानी को-ऑपरेटिव सोसाइटी के मालिक। छंगामल कॉलेज तो उनका अपना था ही। उसे सरकारी शिक्षा-विभाग से अनुदान मिलता था। उसके पुस्तकालय की क्या स्थिति थी– श्रीलाल शुक्ल बताते हैं, 'आलमारी के ऊपर खाने में साहित्य था। यानी डॉक्टर ईश्वरी प्रसाद लिखित भारतवर्ष का इतिहास, इतिहास पर 'ग्रेजुएट' द्वारा लिखी गई कुछ परीक्षोपयोगी कुंजियां, 'जेबी जासूस' नामक पुस्तकमाला के कुछ पुष्प, 'कल्याण' नामक धार्मिक पत्रिका के बहुत-बहुत मोटे विशेषांक और गुलशन नंदा के उपन्यासों का पूरा सैट।' अक्सर वैद्यजी के वफादार लोग या नाते-रिश्तेदार वहां शिक्षक नियुक्त होते थे जिन्होंने पढ़ाने के बजाय वैद्यजी की चापलूसी करना या उनके हुक्म के अनुसार काम करना, उठापटक कराना, विरोधी विचार वाले लोगों को ठिकाने लगाने का काम अधिक किया। परीक्षा क्या होती थी– युद्ध का वातावरण बन जाता था। नकल रोकने के लिए अध्यापकों के ही गुट बन जाते थे जो नकल रोकने के अलावा बाकी सब काम करते थे। उपन्यासकार इसका वर्णन करते हुए लिखता है– 'इस (परीक्षा होने) पर महायुद्ध का ऐलान हुआ। खन्ना के गुट के चार-पांच मास्टर प्रिंसिपल के कमरे में पहुंच गए। वे जिन कमरों से गए थे, वहां लड़के स्वच्छंदतापूर्वक नकल करने लगे। इधर प्रिंसिपल के कमरे में गालियां ही हथियार है जिनका, उन मास्टरों ने तू-तू मैं-मैं शुरू कर दी। प्रिंसिपल ने उन गालियों को अपनी आवाज में डुबाकर खन्ना (मास्टर) से कहा कि कॉलेज से बाहर निकल जाओ और जब तक परीक्षाएं समाप्त न हों, कॉलेज के पास न दीख पड़ो। यहां दिखाई दिये तो बात मुंह से नहीं, जूतों से होगी।' छंगामल कॉलेज के कामों में वैद्यजी महाराज ज्यादा हस्तक्षेप नहीं करते थे, यद्यपि सभी सूत्र उनके हाथों में होते थे। प्रिंसिपल सुबह-शाम उनके यहां हाजिरी बजाता था। प्रत्येक कार्य में वैद्यजी की राय ही अंतिम वेदवाक्य या

उन दिनों श्रीलाल जी 'राग दरबारी' लिख रहे थे। जब कभी दिलकुशा कॉलोनी जाता था तो गिरजा जी बड़ी आत्मीयता से मिलती थीं। वे इस बात से खुश रहती थीं कि मैं चायहारी हूं। शाकाहारी तो श्रीलाल जी भी हैं। उन दिनों दो-तीन बार मुझे 'राग दरबारी' के अंश सुनाए। जब वे कहते थे तुम्हें अपने उपन्यास के एक-दो चेप्टर सुनाऊं तो उनके चेहरे पर एक ख़ास तरह की चमक और ओज होता था। ठीक वैसे ही जैसे कोई बहुत मेहनत से एक-एक ईंट का दिग्दर्शन कराए यह है हमारा ग़रीबखाना। भले वह भवन हो। जब वे सुनाते थे तो उनकी आंखों में सपना झांकता नज़र आता था। बड़ी रचना की झांकी शायद स्वतः आंखों में उतर आती है। लेकिन मेरी अपनी सीमा थी। मैं गांव के बदलते परिवेश से अपरिचित था। रंगनाथ के उस पूरे मनोविज्ञान को मैं बाद में तब समझ पाया जब मैंने संपूर्णता में उस उपन्यास को पढ़ा।

श्रीलाल जी के व्यक्तित्व में मैंने एक विशिष्टता देखी। साहित्य के संदर्भ में वे उदारमना भी हैं और ईमानदार भी। नए से नए लेखकों के बारे में लिखने में वे संकोच नहीं करते। साथ ही प्रशंसा करने में भी वे कंजूस नहीं। मेरी किताबों पर भी उन्होंने लिखा है। पसंद और नापसंद भी किया है। यह कभी नहीं लगा उनके मन में कोई आरक्षण है। एक-दो लोगों ने मुझसे कहा कि पंडित वर्ग के प्रति उनके मन में पक्षपात है। मैंने कम से कम साहित्य में ऐसा कोई पक्षपात नहीं देखा।

–गिरिराज किशोर

यह उपन्यास एक उपाख्यान के रूप में ग्राम कथाओं की सीरीज है जिसे श्रीलाल शुक्ल लखनऊ में कार्लटन होटल के लॉन में बियर के ग्लासों की खनक के साथ अपने मित्रों, लेखकों, पत्रकारों को सुनाते हैं। लेखक के विद्यमान सहज विनयशीलता, इन कहानियों को शिवपालगंज के पात्रों और उनके अंकन को ग्रामीण संदर्भ से जुड़ने से रोकती रही है। इसका उनके मित्रों पर यह प्रभाव पड़ता है कि नैसर्गिक तौर पर इन कहानियों का मूल स्वर रूढ़ियों को तोड़ने वाला है जो कि ग्रामीण जीवन के समकालीन हिंदी लेखन की धारा के विपरीत है। इस कथानक की उपाख्यानात्मक शैली ही वह आधार है जिसके कारण इस पर सफलतम टीवी सीरीज बनाई जा सकी, जिसमें ओमपुरी जैसे अभिनेता और पंडित भीमसेन जोशी जैसी हस्ती ने संगीत दिया। यही वजह थी कि विदेशी प्रकाशन गृह के संपादकों की इस पर नजर पड़ी। 'राग दरबारी' के उर्दू संस्करण को प्रकाशन से पहले छोटा किया गया और अंग्रेजी के मामले में हमको एक ऐसे प्रकाशक का सामना करना पड़ा था जो पेपरबैक संस्करण या लाभ कमाने के लिए इसे लम्बा करना चाहता था। हम दोनों ही को पैंगुइन्स की इसे छोटा करने की मांग से समझौता करना पड़ा। परिणामस्वरूप हमें विद्वज्जनों की इस आलोचना का शिकार होना पड़ा कि 'राग दरबारी' का अंग्रेजी मूल से काफी छोटा है।

–गिलियन राइट

कानून होती थी। हालांकि वैद्यजी मानते हैं, 'मैं तो प्रजातंत्र से चलता हूं। सबको बोलने की स्वतंत्रता देता हूं। तभी से अध्यापक जो मेरे गुलाम हैं– मेरा विरोध करते घूम रहे हैं।' वैद्यजी के इस वाक्य से छंगामल कॉलेज का लोकतांत्रिक परिवेश या कॉलेज का कामकाज चलाने की वैद्यजी की लोकतांत्रिक पद्धति भली प्रकार उजागर होती है।

इस उपन्यास के अन्य प्रमुख पात्र वैद्यजी के दो सुपुत्र बद्री पहलवान और रूप्पन बाबू हैं। दोनों का शिक्षा-दीक्षा से लेना-देना नहीं है। दोनों को अपने पिता से संस्कार मिले हैं। वे कोई काम नहीं करते। दोनों वैद्यजी के धंधे में सहायक हैं। एक अपने शारीरिक बल से तो दूसरे अपनी नेतागिरी के बल पर। शेष ग्रामीण पात्र उनके अनुचर हैं। वैद्यजी के भानजे रंगनाथ बाबू हैं जो स्वास्थ्य-लाभ करने वैद्यजी के पास आए हैं। ये एम. ए. पास हैं। बुद्धिजीवी हैं। उपन्यास में आद्यन्त विद्यमान हैं। वे भी कोई काम नहीं करते। मात्र प्रेक्षक हैं या लेखक के प्रतिनिधि पात्र। शिवपालगंज की सारी घटनाएं उनके सामने घटित होती हैं। वे सबके साक्षी हैं। परन्तु गांव के जीवन की गतिविधि में उनका कोई हस्तक्षेप नहीं है। कोई पक्ष नहीं है। साक्षी होने के नाते यदि कुछ पक्ष दिखता भी है तो स्वयं को बाहर का आदमी मान वहां से पलायन कर जाने में सुख, सुविधा और सुरक्षा महसूस करते हैं। श्रीलाल शुक्ल ने उपन्यास का अंत 'पलायन संगीत' लिखकर किया है। शायद यह उन जैसे पढ़े-लिखे नौजवान बुद्धिजीवियों पर उनकी टिप्पणी हो। नौजवान डॉक्टर की तरह इंजीनियरों, वैज्ञानिकों, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के लिए हुड़कने वाले मनीषियों की तरह जिनका चौबीस घंटे यही रोना है कि वहां सबने मिलकर उन्हें सुखी नहीं बनाया, पलायन करो। यहां के झंझटों में मत फंसो।' कथनीय है कि यह रंगनाथ बाबू की ही स्थिति नहीं है,समूचे भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग की स्थिति है, उनकी यही सोच है। बृहत्तर समाज के लिए उनका कुछ देय है, अधिकांश को इसकी कोई चिंता नहीं है। यही कारण है कि पढ़े-लिखे लोग गांवों की ओर रुझान नही करते। श्रीलाल शुक्ल ने इन पंक्तियों में उनकी मानसिकता का सही बयान किया है– अगर तुम्हारी किस्मत ही फूटी हो, और तुम्हें यहीं रहना पड़े तो अलग से अपनी एक हवाई दुनिया बना लो। उस दुनिया में रहो जिसमें बहुत से बुद्धिजीवी आंख मूंदकर पड़े हैं। होटलों और क्लबों में। शराबखानों और कहवाघरों में, चंडीगढ़- भोपाल-बंगलौर के नवनिर्मित भवनों में। पहाड़ी आरामगाहों में, जहां कभी न खत्म होने वाले सेमिनार चल रहे हैं। विदेशी मदद से बने हुए नए-नए शोध संस्थानों में, जिनमें भारतीय प्रतिमानों का निर्माण हो रहा है। कहना न होगा कि भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग में इसी मानसिकता का विस्तार अधिक हुआ है। आज उत्तर औपनिवेशिक भारत की तो यह कटु वास्तविकता है।

प्रश्न है कि क्या मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का इस दयनीय स्थिति का उद्घाटन करना कथाकार का मुख्य उद्देश्य है। जबकि प्रारंभ में कहा गया है कि 'राग दरबारी' में अवध के एक गांव 'शिवपालगंज' की कहानी कही गई है। दरअसल उपन्यास की मुख्य कथा शिवपालगंज का जनजीवन और वहां की संस्कृति का वर्णन करना है, जहां दबे-कुचले असहाय लोगों को घिसटते दिखाया गया है। बल्कि कहें कि अभावों, विपदाओं और भ्रष्टाओं से जूझकर अपना जीवन यापन करने वाले लोगों की जिजीविषा को दिखाया गया है जिनका वर्चस्वशाली वर्ग शोषण कर रहा है और विडम्बना यह है कि वे उसी में मगन हैं। उनमें कोई चेतना नहीं है। लेखक को उनकी स्थिति पर आक्रोश है। वे उनकी इस स्थिति की आलोचना करते हैं– व्यंग्य-विनोद-उपहास की शैली में। बल्कि वे उनकी जिन्दगी के चारों ओर फैली गन्दगी, वहां की अमानवीय स्थितियों को उघाड़ते हैं। पर क्या यह कहें कि इस गंदगी और अमानवीय स्थितियों का पर्दाफाश करना ही 'राग दरबारी' का उद्देश्य है? संभवत: हो, कारण व्यंग्य-विद्रूप को उद्घाटित करने की शैली में यथास्थिति विरोध, उस पर चोट करने की इच्छा या स्थितियों को मानवीय बनाने की सदिच्छा छिपी है। इस दृष्टि से देखा जाए तो श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास 'राग दरबारी' व्यंग्य-विनोद के बहाने हमारे यानी मध्यवर्ग तथा निम्नवर्ग के जीवन की कटु वास्तविकताओं पर गहरी चोट करता है और पाठक में कुछ अपेक्षाएं जगा जाता है।

184, कादम्बरी अपार्टमेंट्स
सै
दिल्ली-110085

सूर्यबाला

राग दरबारी– अंदाज़े बयां और. . .

साहित्य अकादमी के कार्यक्रम में अपनी प्रिय पुस्तक पर बोलना था और सारी अस्त-व्यस्त दिनचर्याओं के बीच मेरे अंदर लगातार यह डिबेट जारी थी कि आखिर इतने वर्षों, बल्कि दशकों तक 'राग दरबारी' की लोकप्रियता का राज क्या है? क्योंकि इसी रहस्योद्घाटन के साथ, मेरे द्वारा 'राग दरबारी' को अपनी प्रिय पुस्तकों में एक, घोषित करने वाली बात को अतिरिक्त समर्थन भी मिलने वाला था। यूं तर्क मेरे पास यथेष्ट थे लेकिन अचानक विचार कौंधा कि श्रीलाल शुक्ल जी इन दिनों अस्वस्थ चल रहे हैं अत: स्वास्थ्य के विषय में पूछने के साथ, दशकों से चर्चित रही इस पुस्तक की लोकप्रियता के विषय में स्वयं उनके मुंह से क्यों न सुना जाए!

फोन तो मिला, श्रीलाल शुक्ल भी, अपनी सहज सस्मित मुद्रा में (शब्दों, लहजे से मुद्रा झांकती नहीं क्या!. . .) लेकिन कनेक्शन इतनी बुरी तरह लड़खड़ाया हुआ था कि लाख कोशिशों के बावजूद, अपने स्वास्थ्य से लेकर, राग दरबारी लिखने के दिनों से जुड़े उनके आत्मीय संवाद का मैं भावार्थ या ध्वन्यार्थ भर ही ग्रहण कर पा रही थी. . . लेकिन जब मैंने अपना तुरुप प्रश्न सरकाया और उनका उत्तर सुनने के लिए कान फोन के रिसीवर से जड़ दिए तो उनका उत्तर सुन, मुझे स्वयं अपने कानों पर विश्वास न आया।

सोचा था लगभग चार दशकों तक चर्चा-परिचर्चा, आलोचना के साथ-साथ शीर्ष पाठ्यक्रमों से रहने और नाटकों की दुनियां से लेकर सीरियलों तक अपनी पहुंच बनाने वाली इस किताब से जुड़ा कोई भी प्रश्न श्रीलाल शुक्ल को धाराप्रवाह बोलने के लिए उकसाएगा। यूं भी पकी आयु वाले वृद्धों से उनकी प्रिय संतान और रचनाकार से उसकी प्रिय पुस्तक से बढ़कर चर्चा का विषय क्या हो सकता है।. . .लेकिन मेरे सारे औत्सुक्य पर पानी डालते श्रीलाल शुक्ल कह रहे थे–

'पुस्तक का भाग्य है।'. . .

मैं भौंचक, अवाक्!. . .पिछले चालीस वर्षों से गद्य और व्यंग्य-लेखन की मानक, और मील का पत्थर बने अपने उपन्यास को रचने से पहले की अपनी महत्वाकांक्षी योजना, तैयारी, रचने के दरम्यान हुए अनुभव और समस्याओं के साथ-साथ पूरी कर लेने के बाद हुए संतोष और तृप्ति को बांटने और बखानने के बदले वे पुस्तक को उसके भाग्य के हवाले कर निवृत्त हो लिए हैं!... सारे यश, प्रसिद्धि और लोकप्रियता को अपने खाते में डालने के बदले, भाग्य के सुपुर्द, वह भी अपने भाग्य नहीं, पुस्तक के भाग्य को. . .

प्रति प्रश्नों की झड़ी अब मेरे अंदर लगी थी– देखा! इतना बड़ा साहित्यकार, अपनी पुस्तक की महत्ता को कितनी निस्संगता से ले रहा है। चाहता तो होनहार पुत्र के पिता की तरह पुस्तक की पूरी जन्मकुंडली बांच जाता। क्योंकि पुस्तक की कुंडली के साथ ही तो रचनाकार की ग्रहदशा भी जुड़ी होती है। लेखक छोटा हो या बड़ा, अपनी पुस्तक, वह भी आई.एस.आई. मार्का गुणवत्ता की मुहरवाली, पर बोलने का अवसर भला क्यों चूकना चाहेगा। बड़ी पुस्तकें रचने के पीछे के कारण और योजनाएं भी बड़ी होती हैं। लेकिन श्रीलाल शुक्ल कह रहे हैं कि पुस्तक का भाग्य है और क्या. . . (जो वह इतने लंबे अरसे तक चर्चा के केन्द्र में रही . . .) वरना मेरी उससे ज्यादा मैच्योर कृतियां भी आई हैं। बाद के वर्षों में. . . उनका आशय 'बिश्रामपुर का संत' से था, उनका आशय 'राग-विराग' से था जो उनकी परवर्ती श्रेष्ठ पुस्तकें हैं लेकिन सवाल यह है कि अपनी दूसरी पुस्तकों का ज़िक्र करने के बाद भी तो वे 'राग दरबारी' पर अपेक्षित महत्व डाल सकते थे! महत्व उन्होंने दूसरी पुस्तकों पर भी नहीं डाला सिर्फ उन्हें लेकर तथ्यगत संकेत कर दिए बस। मेरी इतनी जिज्ञासु हथेली पर एक छोटा-सा जवाब रखा और ढेर सारी दूसरी बातों की ओर मुड़ गए। पूछा– 'तैयारी?'. . .'हां! की थी', और आत्मविश्वास? (इतनी बड़ी पुस्तक लिखने का?) 'हां, था ना' (यह 'आत्मविश्वास' दंभ से कोसों दूर, उनकी प्रतिभा और सहज प्रकृति के साथ घुलामिला एक इत्मिनानी भाव लगा। इतना ही नहीं, मेरे द्वारा दी जा रही प्रशंसात्मक उक्तियों को 'न्यूट्रलाइज़', संतुलित करने की, उनकी कोशिश विस्मित करने वाली थी। जैसे 'नहीं, आरोप' भी लगे थे। विरोध में भी लिखा गया था उन दिनों . . .श्रीपतराय ने. . . तद्भव में. . .'

मैंने बहुत दिनों बाद बुकशेल्फ से 'राग दरबारी' उतारकर उसकी धूल झाड़ी थी। तत्क्षण, तीस वर्ष पूर्व का वह समय फ्लैश बैक से कौंध गया जब किशोर बेटे ने, रंगनाथ से कहे गए काइयां प्रिंसिपल के इस वाक्य का रट्टा मार लिया था और जब तब आतिशबाजी के अनार की तरह छोड़ दिया करता था– 'आपका स्वास्थ्य तो अब बिलकुल टिचन्न जान पड़ता है।'. . .

तथा आई.आई.टी. का छात्र, छोटा देवर, झल्ले जांघिये पर हमेशा टांग खुजाने वाले घसियारे सनीचर और बादाम पाक तथा स्वर्णभस्म से समृद्ध काया वाले महाखलनायक, वैद जी के कांबीनेशन पर चुटकी लेते हुए, रूपन्न, बद्री पहलवान, जोगनाथ और दातादीन से लंगड़ गुरू तक के चरित्रांकन की खूबियां बखानता, अचानक अवसादी हंसी के साथ कहता था– 'लेकिन एक बात पर ध्यान दिया आप लोगों ने? अपनी जिस अर्जी की नकल पाने के लिए वह लंगड़ पूरे उपन्यास, लंगड़े पैरों में

स्वतंत्र लेखन से जीते शरद जोशी में कटुता आने लगी थी। उन्हें लगता था कि सब अपना काम निकालने और दुकान चलाने में लगे हैं। उन्हें अपनी परिस्थितियों और लेखन के दैनिक और साप्ताहिक दबावों से मुक्त करने के इरादे से मैं उन्हें कोंचने लगा कि देखिए, इन छोटे-छोटे कॉलमों के लेखन से गुजारा हो तो जाएगा, बात नहीं बनेगी। राग दरबारी जैसा महाव्यंग्य लिखिए ताकि महाकाव्यों और महाउपन्यासों को फीका कर देने वाला विद्रूप का संसार बना सकें। इसी में आपकी मुक्ति है।

शरद जोशी अपना राग दरबारी लिख सकें इसलिए उन्हें हिंदी एक्सप्रेस की संपादकी के लिए मनाया ताकि उन्हें कॉलम लेखन न करना पड़े। फिर भी शरद जोशी ने अपना राग दरबारी नहीं लिखा और सितम्बर इकानवे में अचानक चले गए। जो व्यंग्यकार अपना राग दरबारी न लिख पाए उनका लेखन अकारथ रह जाएगा।

– प्रभाष जोशी

चीथड़े बांधे, कचहरी के अनथक चक्कर काटता रहा, वह अंत तक उसे. . .नहीं ही मिली!. . .

कुल मिलाकर उन दिनों, सत्तर के दशक में, साहित्य का ककहरा भी न जानने वाले मेरे अभियांत्रिकी परिवार में 'राग दरबारी' की तूती बोलती थी। (जहां कहीं भी वह होती हो) जैसे गबन, गोदान के बाद साहित्य, एक सर्वथा नए अंदाज़े बयां के साथ फिर से जन्मा हो और रंगनाथ की शक्ल में, कुर्त्ते पायजामे के साथ, थैला लटकाए, मामूली आदमी का यह कल्कि अवतार, शिवपालगंज के सफरनामे पर, सामने खड़ी उस ट्रक की ओर चल पड़ा हो–

'(ट्रक) जिसको देखकर यकीन हो जाता है कि इसका जन्म केवल सड़कों के साथ बलात्कार करने के लिए हुआ है।'

साठ के उत्तर दशक में यह टटकी उत्प्रेक्षा पढ़ते हुए मैं सकपकाई थी। उपन्यास में आगे बढ़ते (पढ़ते) हुए भी, कई स्थानों पर बेलाग लपेट बयान कर दी गई माहौल की क्रूडिटी और कस्बाई एब्सर्डिटी पर कहीं-कहीं तो सकपका कर दांतों तले जीभ भी दबा ली थी लेकिन रचनाकार को इससे कोई फर्क नहीं पड़ने वाला था। उसे समूचे राष्ट्रीय-चरित्र के रोम-रोम में ठुंसे विद्रूप, और विसंगतियां उजागर करती वह हर किसी के 'जायके' की परवाह करते चल ही नहीं सकता। शेक्सपियर ने भले समूचे विश्व को मंच और हमें अभिनेता कहकर छुट्टी पा ली थी लेकिन राग दरबारी में हमारे सामने जो मंच खुलता है उसके डाइमेंशंस हमें हतप्रभ कर देते हैं क्योंकि यहां दृश्य पर दृश्य, पर्दे पर पर्दे, और नेपथ्य से नेपथ्य, इस तरह उजागर होते जाते हैं कि एक छोटे से कस्बे में चल रही हर स्तर की भ्रष्ट गतिविधियों की कारगुज़ारी देखकर हम दंग रह जाते हैं। हर थोड़ी देर बाद लगता है कि अब खुल गया पूरा पर्दा, देख ली इस नाटक की रेंज; लेकिन हर बार लेखक की रचनात्मक शातिरी हमारे अनुमानों को मात दे देती है। वह जिस कुशलता से इस उपन्यास के चरित्रों, घटनाओं की भीड़ की बेतरतीबी का तरतीब देता है वह रचना प्रबंधन की दृष्टि से बेजोड़ है।

'राग दरबारी' के भाषाशिल्प के सारे औजार भी लेखक के अपने बनाए हुए हैं यानी पूरी तरह स्वावलंबी कृति। कोई भी पहले के इजाद किए हुए नहीं। इन औजारों को इस्तेमाल करने का ढंग भी निराला है। पुस्तक के पूरे कैनवास पर एक खांटी किस्म का मामूलीपन इत्मीनान से फैला हुआ है। किसी महान रचना या 'ग्रंथ' की तरह यह आपको आतंकित नहीं करती, न अपने चरण कमलों में झुकने के लिए विवश करती है। किसी शब्द, विचार, स्थापना की जुगाली भी नहीं चलती यहां। न रचनाकार की जीवनदर्शन का घटाटोप ही। किताब और पात्रों की अपनी मौजपरस्ती है। यूं ही चलते हुए अपने कस्बाई अंदाज़ में कब, कहां सुनार की ठक-ठुक पर लुहार के हथौड़े की 'घम्म' गिरेगी, कहा नहीं जा सकता। हर विद्रूप एक नयी भंगिमा, एक नयी शक्ल में उभरकर आता है। अभी-अभी जिस तीर से रूप्पन पर निशाना सधता लग रहा था, वही पलटकर छोटे पहलवान को धराशायी करता निकल जाए तो ताज्जुब नहीं। एक चरित्र दूसरे को पटकनी देकर मजे ले ही रहा था कि तत्क्षण उसे भी उसकी औकात समझा दी जाती है। लेखक की शातिरी यह कि बख्शा कोई नहीं गया है चरित्रों के इस जंगल में।

सिर्फ वैदजी के रूप में सार्वभौम भ्रष्ट सत्ता वाला वह अविजित मुखौटा है जो अपनी साजिशों, षड्यंत्रों के महीन लेकिन मजबूत पकड़ वाले धागों से बंधे सारे पात्रों को मनोनुकूल नचाने की दमखम रखता है। अन्याय की दुहाई देकर इंसाफ मांगने के नाम पर सर उठाने वालों को यह 'मोगांबो' उन्हीं के उस्तरे से मुड़वा देने की कूबत के साथ पूरे उपन्यास की सत्ता पर काबिज रहता है।

व्यवस्था-तंत्र की अंडर करेंट कारगुजारियों के प्रतीक वैद्यजी, अपने भंग घोटने वाले, लंठ घसियारे, सनीचर को गांवसभा का प्रधान तक बनाने की तरकीब रच लेते हैं और कोई चूं तक नहीं बोल सकता। ऐसा नहीं कि ऐसी घटनाएं हास्य-व्यंग्य का सबब नहीं बनती थीं पहले. . .लेकिन जिस बेलौसी और दु:स्साहसी गरिमा से इस चरम ऐब्सर्डिटी का निर्वाह किया गया है वह सांस रोककर महसूस करने वाली चीज़ है और उसके बाद– 'गांव सभा की ओर से भंग-भोज की तैयारी है। गांधी चबूतरे पर। कई सिल-लोढ़े एक साथ खटकने लगे।'

शिक्षा, राजनीति, पब्लिक सेक्टर से लेकर न्यायपालिका तक, प्रशासन और व्यवस्था के सारे कलपुर्जे यहां बेरहमी से खुले पड़े हैं। जिन्हें जोड़ पाने की कल्पना आपको सहमा देती है। किसी भी तरह कोई उम्मीद, कोई सूरत न नज़र आने वाली स्थितियां हैं। वैद्य जी द्वारा स्थापित किए छंगामल विद्यालय में जाइए, (जिसे बकौल

वैद्यजी, उन्होंने अपने खून से सींचा है।) मास्टर मोतीराम हमेशा की तरह कक्षा में पढ़ाने के बदले अपनी आटा चक्की के लिए 'कल' लाने गए हैं। चूंकि अनुशासन और व्यवस्था बनाए रखना प्रिंसिपल साहब का फर्ज है अत: वह चिल्लाकर दूसरे मास्टर से कहते हैं–

'भाई मालवीय, जरा यह क्लास भी देख लो'–

मालवीय, 'एक ही पीरिएड में दो क्लासें कैसे ले सकूंगा?'

इस पर प्रिंसिपल उवाच– 'ज्यादा कानून मत छांटो। जब से तुम खन्ना के साथ उठने-बैठने लगे हो, तब से तुम्हें हर काम में दिक्कत मालूम होती है।

मालवीय के लिए क्लर्क का सुझाव आता है कि जैसे एक बस खराब होने पर उसके यात्री दूसरी बस में बिठा लिए जाते हैं, वैसे ही इस क्लास के लड़कों को मालवीय अपनी क्लास में बिठा लें।

तब मालवीय को कहना पड़ता है कि– 'पर यह तो नवां दर्जा है, मैं सातवें को पढ़ा रहा हूं।'

इस पर प्रिंसिपल साहब की गर्दन मुड़ी। वे चीखे– 'मैं सब समझता हूं। तुम भी खन्ना की तरह बहस करने लगे हो। मैं सातवें और नवें का फर्क समझता हूं। हमका अब प्रिन्सिपली करै न सिखाव भैया। जौन हुकुम है तौन चुप्पै कैरी आउट करौ। समझ्यौ कि नाहीं?'

पाठक समझ जाता है कि खन्ना मास्टर और मालवीय की जड़ें खोदने का काम युद्ध स्तर पर शुरू हो गया है। मेमना कब तक खैर मनाएगा। और सचमुच अपनी छद्म गरिमा के प्रभामंडल में, अतिशय वेदना का इजहार करते हुए जिस ठंडी नृशंसता से वैद जी खन्ना और मालवीय को विद्यालय से त्यागपत्र देने के लिए बाध्य करते हैं वह शिवपालगंज के कस्बे से होते हुए समूचे देश के चरित्र और व्यवस्था के माथे पर प्रश्नचिह्न सा टंगा दिखाता है।

इसलिए शिवपालगंज चारित्रिक पतन की पराकाष्ठा पर पहुंचा संपूर्ण भारत-दर्शन है। उपन्यास आपको गहरे अवसाद और बेबसी में डुबो-डुबोकर हंसाता है और जबरा मारे, रोने न दे की कहावत चरितार्थ करता है। कुछ इस तरह कि यह हमारी नियति है, हम अपनी बेशर्मी पर हंसने के लिए अभिशप्त हैं।

शायद प्रतिभा के ये ही वे डाइमेंशंस हैं जिनकी वजह से अपने आगे-पीछे के दो-दो ढाई दशकों में लिखी छिटपुट कृतियों के बीच, एक अकेला राग दरबारी खड़ा है। पहले तो पहले, बाद में भी दो-ढाई दशकों तक किसी दूसरे प्रतिमान का न खड़ा हो पाना शायद यही सिद्ध करता है कि आसान नहीं था, राग दरबारी की परंपरा को चला पाना। इस उपन्यास के तोड़ का दूसरा उपन्यास लिखा जाना। यहां तक कि नब्बे के दशक में आए ज्ञान चतुर्वेदी के दोनों बहुचर्चित व्यंग्य-उपन्यासों, 'नरक-यात्रा' और 'बारामासी' पर अपनी प्रशंसात्मक प्रतिक्रिया देते हुए जब मैंने इन्हें राग दरबारी से जोड़ना चाहा तो ज्ञान ने विनम्र शागिर्द की तरह कानों पर हाथ लगा लिए। ज़ाहिर है कि राग दरबारी-सी कृति उस गहरी दृष्टि, विस्फोटक प्रतिभा, और कड़े परिश्रम की मांग करती है जिससे मामूली से ढेले से हथगोले का काम लिया जा सके और चलाने वाले की मुद्रा ऐसी हो जैसे वह ढेला ही फेंक रहा हो।

उपन्यास के समापन तक, चरित्रों, घटनाओं और स्थितियों का नजारा यह कि गांव सभा के प्रधान की गद्दी पर सनीचर घसियारा प्रतिष्ठित है। खन्ना और मालवीय जैसे न्याय की गुहार लगाने वाले अध्यापकों को चार दबंगों के सामने उनके लिए तैयार रखे त्यागपत्रों पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश किया जा चुका है, रूप्पन को विरोध करने की सजा के रूप में वैद्यजी शापवत्, उनके उत्तराधिकार से वंचित कर चुके हैं और बड़े बेटे बद्री को, उत्तराधिकार के एवज में, रातोंरात शहर भेज दी गई बेला का किसी अन्य से विवाह चुपचाप स्वीकार लेना पड़ता है। और न्याय व्यवस्था (?) की औपचारिकताओं के तहत, लंगड़ अंत तक समझ नहीं पाता कि आखिर अर्जी की नकल उसे कब तक और कैसे मिलेगी?

अर्थात समूचे कुत्सित यथार्थ से पलायन के सिवा, आम आदमी के पास कोई रास्ता नहीं बचा है। उसके लिए सत्य, व्यवस्था, औचित्य और न्याय से ज्यादा हास्यास्पद और असंभव कुछ हो ही नहीं सकता।

इसलिए उपन्यास के अंत में सूत्रधार की भूमिका में रचनाकार को सामने आकर साफ-साफ कह देना पड़ता है–

'अगर तुम्हारी किस्मत ही फूटी हो और तुम्हें कहीं रहना ही पड़े तो अलग से हवाई दुनिया बना लो। उस दुनिया में रहो जहां बहुत से बुद्धिजीवी आंखें मूंदकर पड़े हैं। . .होटलों और क्लबों में, शराबखाना और कहवा घरों में. . .पहाड़ी आरामगाहों में जहां कभी न खत्म होने वाले सेमिनार चल रहे हैं। . .चुरुट के धुएं, चमकीली जैकेट वाली किताब, गलत किंतु अनिवार्य अंग्रेजी वाले विश्वविद्यालयों में. . .'

'वह न कर सको तो अतीत में जाकर छिप जाओ. . .कणाद, पतंजलि. . .अजंता, एलोरा, एलिफैंटा में. . .कोणार्क और खजुराहो में। . . .जप, तप, मंत्र में, संत समागम, ज्योतिष सामुद्रिक. . .जहां भी जगह मिले, जाकर, छिपे रहो– भागो, भागो, यथार्थ तुम्हारा पीछा कर रहा है।'. . .

इस तरह इतने बड़े उपन्यास के फैलाव को समेटकर रचनाकार, किसी वीतरागी मुद्रा में, पहले की तरह पाठक और पुस्तक के बीच से हट जाता है।

यह पाठक कोई इक्का-दुक्का नहीं, साहित्य के पाठकों की वे पीढ़ियां हैं जिसकी हर उत्तराधिकारी पीढ़ी ने राग दरबारी को विरासत के रूप में सहेजा है। यह पाठक उपन्यास सिर्फ पढ़ता नहीं, उससे याराना साध लेता है। क्योंकि लेखक तो पर्दा गिराकर चला जाता है। सिर्फ अंत को छोड़कर पूरा उपन्यास खुद बोलता है, रचनाकार का आभास तक नहीं। यानी पूरा उपन्यास अपने बूते, अपनी सामर्थ्य पर खड़ा है. . .पिछले चालीस वर्षों से पुस्तक अपने पुरुषार्थ का ही खा रही है, भाग्य का नहीं. . .इसलिए श्रीलाल शुक्ल जी! अपनी पुस्तक के पुरुषार्थ को, भाग्य के खाते में मत डालिए क्योंकि पिछली सदी के उत्तरार्ध ने पढ़ने, पढ़ाने वालों ने कितने ही ग्रंथ रचनाओं की भाग्य रेखाएं बदली हैं, लेकिन शायद राग दरबारी का अंदाज़े बयां ही कुछ और है। . .

बी-504 रूनवाल सेंटर,
गोवंडी स्टेशन रोड, देवनार (चेंबूर)
मुंबई-400088

अमरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव

व्यंग्यात्मक भाषा की सृजनात्मक प्रस्तुति : 'राग दरबारी'

हिन्दी उपन्यास साहित्य में हमारे समाज, जीवन और जीवन स्थितियों का व्यापक चित्र देखने को मिलता है। मानव जीवन निरन्तर प्रतिपल बदलता रहता है, इसके कारण उसकी क्रियाएं-प्रतिक्रियाएं भी बदलती रहती हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि मानव जीवन एक प्रयोगशाला है, जिसमें अनेक प्रकार की भौतिक एवं रासायनिक प्रक्रियाएं होती रहती हैं, जिसका प्रभाव हिन्दी उपन्यासों पर देखने को मिलता है। उपन्यासों का विषय-वस्तु हमारा सामाजिक जीवन होता है, और सामाजिक जीवन के परिवर्तन के परिणामस्वरूप उपन्यासों के विषय-वस्तु, शिल्प, भाषा और संरचना में अन्तर देखने को मिलता है।

इन परिवर्तनों को अंकित करने की दृष्टि से हिन्दी के कुछ उपन्यासों का विंशेष महत्व है। जिसमें 'राग दरबारी' का विशिष्ट स्थान है। राग दरबारी हिन्दी साहित्य का बहुपठित एवं बहुचर्चित उपन्यास है। इस उपन्यास में कथाकार ने हमारे समाज में व्याप्त विसंगतियों, विद्रुपताओं, देश की सामाजिक संरचना एवं राजनीतिक कार्यव्यापार का चित्रण करते हुए समाज के हर कोने का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। राग दरबारी में भारत की उस तस्वीर को लेखक ने उभारने की चेष्टा की है, जिसमें हम आजादी के बाद भी अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। लेखक के शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि– 'यह राग उस दरबार का है जिसमें हम देश की आजादी और उसके बावजूद भी पड़े हुए हैं।'

राग दरबारी में भारत का राग-प्रस्तुत करते हुए लेखक की भाषा रागमय हो गयी है। हिन्दी कथा-साहित्य में राग दरबारी की भाषा अपने खास अंदाज के लिए जानी जाती है। आधुनिक काल में भाषा के स्तर पर जो नवीनीकरण भारतेन्दु ने आरम्भ किया था उसे हिन्दी कथा-साहित्य ने एक नया रूप प्रदान किया। हिन्दी कथा साहित्य को नये कलेवर एवं नयी भंगिमा से संपृक्त करने का श्रेय प्रेमचन्द को है। प्रेमचन्द ने विस्तृत सामाजिक भूमि को अपनी कथावस्तु का विषय बनाया। ऐसा करते हुए प्रेमचन्द ने भाषा के स्तर पर सामाजिक जीवन की भाषा का प्रयोग किया। भाषाई वैविध्य प्रेमचन्द के उपन्यासों में देखने को मिलता है। उनके अधिकांश पात्रों के नाम ग्रामीण परिवेश के नामों के अनुरूप ही रखे गये हैं।

प्रेमचन्द के कथा साहित्य में भाषा को औपन्यासिक कथावस्तु के स्तर पर गलाने एवं सामाजिक भाषा के भंगिमा की सूक्ष्म अनुभूति को अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त हो सकी है। हिन्दी कथा-साहित्य की भाषा को नये ढंग से गलाने का कार्य जैनेन्द्र ने शुरू किया, अज्ञेय ने उसे प्रौढ़ बनाया और रेणु, अमृतलाल नागर, मनोहर श्याम जोशी, श्रीलाल शुक्ल, राही मासूम रजा, काशीनाथ सिंह, शानी, कृष्ण बलदेव वैद आदि कथाकारों ने उसे विविध भंगिमाएं प्रदान कीं।

जैनेन्द्र एवं अज्ञेय की भाषा ऐसी भाषा है जिसमें कथा-साहित्य की भाषा का प्रतिमान स्थापित हुआ है, जैनेन्द्र के यहां भाषा की बनावट एवं बुनावट संश्लिष्ट रूप में देखने को मिलती है। 'त्यागपत्र' इस दृष्टि से विशिष्ट उपन्यास है। अज्ञेय भाषा के सजग प्रयोक्ता हैं, चाहे वह काव्य का क्षेत्र हो, कहानी या उपन्यास का क्षेत्र हो या उनका स्वयं का जीवन हो। अज्ञेय कविता के क्षेत्र में अपने विशिष्ट प्रयोगों के लिए जाने जाते हैं। अपने उपन्यासों में भी अज्ञेय ने भाषा और विषय-वस्तु के स्तर पर नये प्रयोग किये हैं। अज्ञेय भाषा और शिल्प के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग करते हैं, जिसका अनुसरण परवर्ती कथाकारों ने किया।

फणीश्वरनाथ 'रेणु' के 'मैला आंचल' के प्रकाशन से कथा भाषा की भंगिमा, तेवर और स्वाद पूर्णत: बदल गया। भाषा के स्तर पर ऐसा व्यापक प्रयोग पूर्ववर्ती कथाकारों द्वारा नहीं किया गया। यद्यपि भाषा और शिल्प के स्तर पर नये

> **श्रीलाल जी का कई भाषाओं में अधिकार है; अवधी, हिंदी, संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी आदि पर। इनमें से किसी भी भाषा में फर्राटे से बातचीत कर सकते हैं। मगर उनका गद्य हिंदी का विशुद्ध गद्य है, उसमें उर्दू अथवा अंग्रेजी की घुसपैठ नहीं हो सकती। महादेवी जी और नरेश मेहता के गद्य की यह विशेषता थी, मगर श्रीलाल जी के बाद इस प्रकार का विशुद्ध हिंदी गद्य शायद ही बाद की किसी पीढ़ी के किसी लेखक में मिले। विशुद्ध भाषा में व्यंग्य लेखन करना टेढ़ी खीर है। वह जीवन की विसंगतियों और यथार्थ की विडम्बनाओं और परस्पर विरोधी स्थितियों की परतें उघाड़ते जाते हैं जबकि परसाई, शरद जोशी और रवींद्रनाथ त्यागी बीच-बीच में उर्दू का तेवर अख्तियार कर अभिव्यक्ति को पैना करते दिखाई पड़ते हैं। भाषा शैली की भांति उनका व्यक्तित्व भी 'क्लासिकी' है, कभी-कभी ठीक इसके विपरीत ब्रज 'देहाती' भी। अवकाश प्राप्ति के बाद वह और उन्मुक्त हुए हैं। पहले से कहीं अधिक लिख रहे हैं। हिंदी लेखकों की एक जमात ऐसी भी है जो अवकाश प्राप्ति के बाद साहित्य पर पिल जाती है। ऐच्छिक अवकाश ग्रहण कर पूर्ण रूप से लेखन को समर्पित एक लेखक की कहानी पढ़कर भैरव प्रसाद गुप्त ने टिप्पणी की थी कि आप लेखन की बजाय नौकरी करते रहते हो साहित्य और समाज का अधिक कल्याण कर सकते थे। श्रीलाल जी पर यह जुमला चस्पां नहीं किया जा सकता। श्रीलाल जी पहले से कहीं अधिक लिख रहे हैं, प्रासंगिक लेखन कर रहे हैं, मगर यह उनकी त्रासदी है कि वह जाने सिर्फ 'राग दरबारी' से जाते हैं। श्रीलाल जी की ही नहीं तमाम लेखकों की कोई न कोई रचना उनका 'ट्रेड मार्क' बन जाती है, चाहे वह लाख उससे बेहतर लिख लें। कृष्णा सोबती की तरह बहुत कम लेखक होते हैं, जिनका 'ट्रेडमार्क' बदलता रहता है। 'ऐ लड़की' ने उन्हें 'मित्रों मरजानी' के शाप से मुक्त कर दिया। 'जिन्दगीनामा' से 'दिलो दानिश' तक उनका अभूतपूर्व सफरनामा है।**
>
> **–रवीन्द्र कालिया**

प्रयोगों का आरम्भ तो जैनेन्द्र एवं अज्ञेय ने किया लेकिन रेणु ने सामान्य और अतिसामान्य व्यक्ति की भाषा को अपनी कथाभाषा में स्थान दिया, जिससे उस जीवन का यथार्थ औपन्यासिक फलक पर सजीव हो उठा, जिसे कथाकार प्रस्तुत करना चाहता था। कथाभाषा के स्तर पर क्षेत्रीय बोलियों की भंगिमा का प्रयोग कर एक नयी कथाभाषा की निर्मिति का श्रेय रेणु को है, जिसे परवर्ती कथाकारों ने आगे बढ़ाया।

इसी परम्परा में अमृत लाल नागर, मनोहर श्याम जोशी, श्रीलाल शुक्ल, शानी, राही मासूम रजा, काशीनाथ सिंह आदि कथाकार आते हैं। इन सभी कथाकारों की कथाभाषा में उनकी क्षेत्रीय बोलियों का व्यापक स्तर पर प्रयोग देखने को मिलता है। लोक जीवन की बोली के साथ-साथ लोकगीत, लोकोक्ति, मुहावरों एवं लोकजीवन में प्रयुक्त होनी वाली गालियों का प्रयोग देखने को मिलता है। इसी परम्परा में श्रीलाल शुक्ल भी आते हैं। श्रीलाल शुक्ल कृत राग दरबारी की भाषा-योजना अपने आप में विशिष्ट है। इस उपन्यास की भाषा में देशज भाषा एवं बोलियों का रस भी है, और व्यंग्य की मुखरता भी। भाषा के स्तर पर ऐसा व्यापक मिश्रण और व्यंग्य का पैनापन हिन्दी कथा-साहित्य में अन्यत्र देखने को नहीं मिलता, उपन्यास की लगभग सभी पंक्तियों में व्यंग्यात्मक मुद्रा देखने को मिलती है। इस उपन्यास की भाषा में उस क्षत्र की बोली-बानी का प्रतिबिम्बन हुआ है जिस क्षेत्र में श्रीलाल शुक्ल अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। वैसे भी इस क्षेत्र के कथाकारों की भाषा में अनूठापन देखने को मिलता है। अमृत लाल नागर की भाषा और उनका भाषा संस्कार इस दिशा में एक विशिष्ट उदाहरण है। मनोहर श्याम जोशी ने अपने संस्मरण 'लखनऊ मेरा लखनऊ' में यह खुले मन से स्वीकार किया है कि उनकी भाषा में जो वैविध्य देखने को मिलता है उसमें नागर जी का विशेष योगदान है। जोशी जी ने अन्य साहित्यिक प्रभावों एवं साहित्य कारों का भी वर्णन किया है।

श्रीलाल शुक्ल भी इसी क्षेत्र के कथाकार थे और यह प्रभाव उनकी भाषा में भी देखने को मिलता है। लेकिन यहां यह ध्यान देने योग्य है कि श्रीलाल शुक्ल की भाषा में देशी ठसक के साथ व्यंग्य की महीन भार भी मौजूद है। श्रीलाल शुक्ल ने ग्रामीण जीवन के सूक्ष्म तन्तुओं का अध्ययन किया, भाषा की सूक्ष्म संवेदना को परखा और क्षेत्रीयता संतुलित रूप में प्रस्तुत किया। इस दृष्टि से 'राग दरबारी' उनका विशिष्ट उपन्यास है। व्यंग्यात्मक भाषा और देशज भाषा का अद्भुत मिश्रण यहां देखने को मिलता है। इस उपन्यास की आरम्भिक पक्तियां हैं: 'शहर का किनारा। उसे छोड़ते ही भारतीय देहात का महासागर शुरू हो जाता था।

वहीं एक ट्रक खड़ा था। उसे देखते ही यकीन हो जाता था, इसका जन्म केवल सड़कों के साथ बलात्कार करने के लिए हुआ है। जैसे कि सत्य के होते हैं, इस ट्रक के भी कई पहलू थे। पुलिसवाले उसे एक ओर से देखकर कह सकते थे कि वह सड़क के बीच में खड़ा है, दूसरी ओर से देखकर ड्राइवर कह सकता था कि वह सड़क के किनारे पर है।'

इन पक्तियों में लेखक ने आज की व्यवस्था पर दृष्टिपात किया है। आरम्भिक पक्तियों में ही लेखक ने व्यंग्यात्मक तेवर अपनाया है। सत्य की तरह ट्रक के भी कई पक्ष थे, पुलिस के अपने तर्क और ड्राइवर के अपने तर्क। आगे की पक्तियों में व्यंग्य की मुद्रा और तेवर सघन होता गया है– 'आज रेलवे ने उसे धोखा दिया था। स्थानीय पैसेंजर ट्रेन को रोज की तरह दो घंटा लेट समझकर वह घर से चला था, पर वह सिर्फ डेढ़ घण्टा लेट होकर चल दी थी।'

यहां लेखक ने हमारी व्यवस्था की खबर ली है, ट्रेन का लेट होना, लेट होते ही रहना और उसी के अनुसार लोग अपनी आदत डाल लेते हैं। इसी कारण लोग ट्रेन के नियत समय की परवाह नहीं करते वरन् अपने अनुसार ट्रेन का समय ही निर्धारित कर लेते हैं और अपने द्वारा निर्धारित समय पर ट्रेन के न गुजरने पर शिकायत करते हैं। श्रीलाल शुक्ल ने व्यंग्यात्मक मुद्रा में भाषा का इस्तेमाल नितान्त नये तरीके से किया है। आज रेलवे ने धोखा दे दिया और धोखा का कारण है ट्रेन का दो घंटे लेट न गुजरना। इस उपन्यास में बोली, बानी, भाषा का ऐसा

प्रयोग देखने को मिलता है कि हम सहज ही यह अनुमान लगा लेते हैं कि कथाकार ने किस तरह हमारे ग्राम्य जीवन को जिया है, जिया ही नहीं वरन् ग्राम्य जीवन का अध्ययन, मनन और विश्लेषण किया है।

इस उपन्यास में परिवेश, पात्रों के जीवन और हमारी सोच का प्रभावशाली चित्रण किया गया है। इस चित्रण में भाषा एक महत्वपूर्ण अवयव है। श्रीलाल शुक्ल ने उपन्यास की भाषा में सामान्य जीवन की भंगिमा और उसकी सोच के साथ साहित्यिकता का भी समावेश किया है। ऐसा भाषा-प्रयोग जो अपने व्यंग्य में अत्यन्त मुखर है और अभिव्यक्ति में सरस। राग दरबारी में श्रीलाल शुक्ल ने हमारे सामाजिक जीवन को अभिव्यक्त किया है। रूप्पन बाबू के व्यक्तित्व के संबंध में कथाकार ने कहा है कि–'रूप्पन बाबू स्थानीय नेता थे। उनका व्यक्तित्व इस आरोप को काट देता था कि इंडिया में नेता होने के लिए पहले धूप में बाल सफेद करने पड़ते हैं। उनके नेता होने का सबसे बड़ा आधार यह था कि वे सबको एक निगाह से देखते थे। थाने में दारोगा और हवालात में बैठा हुआ चोर–दोनों उनकी निगाह में एक थे।'

उपर्युक्त पक्तियों में यद्यपि कथाकार ने रूप्पन बाबू के चरित्र को दिखाया है, लेकिन यह चित्रण लगभग सभी स्थानीय नेताओं पर लागू होता है। भाषा सीधी-सपाट है और व्यंग्य मुखर। चोर और दारोगा दोनों को समान दृष्टि से देखना हमारे राजनीतिज्ञों की आदत या लेखक के शब्दों में कहें तो आवश्यक योग्यता बन गई है। आगे श्रीलाल शुक्ल रूप्पन बाबू की वेश-भूषा का चित्रण करते हुए भी व्यंग्यात्मक मुद्रा अपनाते हैं–

'वे दुबले-पतले थे, पर लोग उनके मुह नहीं लगते थे। वे लम्बे गरदन, लम्बे हाथ और लम्बे पैर वाले आदमी थे। जन नायकों के लिए ऊल-जलूल और नये ढंग की पोशाक अनिवार्य समझकर वे रंगीन बुश्शर्ट पहनते थे और गले में रेशम का रूमाल लपेटते थे। धोती का कोंछ उनके कन्धे पर पड़ा रहता था। वैसे देखने में उनकी शक्ल एक घबराये हुए मरियल बछड़े की-सी थी, पर उनका रोब पिछले पैरों पर खड़े हुए एक हिनहिनाते घोड़े का-सा जान पड़ता था।''

परिधान और शारीरिक सौष्ठव के चित्रण की भाषा भी व्यंग्यात्मकता से परिपूर्ण है। जन नायकों के निमित्त आवश्यक परिधान और उसके पश्चात रूप्पन बाबू के चेहरे और रोब का बखान और उन्हें पैदायशी नेता घोषित करना, अद्‌भुत भाषा कौशल का नमूना है। इसी प्रकार वे विद्यालय क बच्चों के परिधान के बारे में कहते हैं कि–'कॉलिज के हर औसत विद्यार्थी की तरह यह लड़का भी पोशाक के मामले में बेतकल्लुफ था। इस वक्त वह नंगे पांव, एक ऐसे धारीदार कपड़े का मैला पायजामा पहने हुए खड़ा था, जिसे शहर वाले प्रायः स्लीपिंग सूट के लिए इस्तेमाल करते हैं। वह गहरे कत्थई रंग की मोटी कमीज पहने था, जिसके बटन टूटे थे। सिर पर रूखे और कड़े बाल थे। चेहरा बिना धुला हुआ और आंखें गिचपिची थीं। देखते ही लगता था, वह किसी प्रोपेगैंडा के चक्कर में फंसकर कालिज की ओर भाग आया है।'

इसमें गांव के स्कूल में पढ़ने वाले छात्र का चित्र लेखक ने प्रस्तुत किया है। 'औसत विद्यार्थी' और उसकी वेश-भूषा दोनों का संयोजन कर लेखक ने हमारे प्राथमिक विद्यालयों की पोल खोली है। मैला पायजामा, कत्थई रंग की मोटी कमीज, गिचपिची आंखें ये सभी विशेषण हमारे ग्राम्य जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्त करते हैं। और अंत में कथाकार जब यह कहता है कि– 'देखते ही लगता था, वह किसी प्रोपेगैंडा के चक्कर में फंसकर कॉलिज की ओर भाग आया है।' तब लेखक हमारे सर्व शिक्षा अभियान की पोल खोलता है। वह बच्चा विद्यालय आया नहीं, भाग आया है। यहां लेखक का जोर प्रोपेगैंडा पर है।

ऐसी व्यंग्यात्मक भाषा से उपन्यास अटा-पड़ा है, और उपन्यास में आरम्भ से अंत तक ऐसी भाषा की निरन्तरता बनी हुई है–

'इसके बाद वार्ता में गतिरोध पैदा हो गया। मदारी, जहन्नुम में जाने के बजाय वहीं पर जोर-जोर से गाने लगा था और उसकी डुगडुगी अब एक नयी ताल पर बज रही थी।'

लेखक का यह वक्तव्य एक वार्ता के दौरान आता है। पर व्यंग्यात्मक भाषा को और अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए लेखक ने देशज शब्दों, वाक्यों, मुहावरों और गालियों का प्रयोग कर भाषा की अभिव्यक्ति क्षमता में वृद्धि की है। इस उपन्यास की भाषा में अवधी के शब्दों का प्रयोग भी देखने को मिलता है। –'इसी तमीज से वाइस प्रिंसिपली कीजिएगा। भइया, यहै हालु रही तौ वाइस प्रिंसिपली तो अपने घर रही, पार साल की जुलाई माँ डगर घूमयौ।'

ऐसे वाक्यों का प्रयोग लेखक ने अत्यन्त सहज रूप में किया है। प्रिंसिपल जब भी नाराज होते हैं तो अवधी बोलने लगते हैं। लारी लप्पा, लारी लप्पा, चोखा काम-चोखा दाम, पालिटिक्स भिड़ाते हैं, बहराम चोट्टा भी कोई चोट्टा था, कभी न उखड़ने वाले गवाह-कभी न चूकने वाले मर्द, क्या आजकल के चोट्टे सचमुच ही ऐसे तीसमार खाँ? जैसे लोक प्रचलित वाक्यों का प्रयोग उपन्यास की भाषा को जीवन्तता प्रदान करते हैं। इसके साथ-ही-साथ लोक प्रचलित उक्तियों का प्रयोग उपन्यास की भाषा को विशिष्ट बनाते हैं–

'कि पुरुस बली नहिं होत है, कि समै होत बलवान। कि भिल्लन लूटीं गोपिका, कि वहि अरजुन वहि बान।।'

ऐसे प्रयोगों से लेखक ने शिवपालगंज की कथा को मूर्त रूप में प्रस्तुत किया है। यद्यपि यह कथा शिवपालगंज की है, लेकिन भारत के अधिकांश गांवों को मूर्त रूप में प्रस्तुत करने में सक्षम है। इस तरह के मिश्रण से पाठक या आस्वादक को कठिनाई नहीं होती है। वरन् उपन्यास की संप्रेषणीयता में वृद्धि होती है। भाषाई मिश्रण की उदारता और उसका सजग प्रयोग देखते ही बनता है। यहां उपन्यास की भाषा पर आंचलिकता हावी नहीं हुई है, वरन् भाषा प्रयोग का नया कौशल देखने को मिलता है। पूरे उपन्यास की भाषा नये प्रकार के भाषा-प्रयोग से भरी हुई है। भाषा की सर्जनात्मक और संरचनात्मक शक्ति का श्रीलाल शुक्ल ने भरपूर प्रयोग किया है। ऐसे प्रयोग के पीछे उनका अनुपम व्यक्तित्व, सूक्ष्म अध्ययन और सार्थक विश्लेषण क्षमता है। उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा की बनावट एवं बुनावट अत्यंत संश्लिष्ट है।

प्रवक्ता, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय,
उच्च शिक्षा औ
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास-17

सत्यकेतु सांकृत

शैक्षणिक परिसर का सुनामी

उपन्यास अपने समय का दस्तावेज होता है, उस समय का, जो सदा परिवर्तित होता रहता है। एक समय था जब अध्ययन और अनुशासन शैक्षणिक परिसर का प्रमुख गुण माना जाता था। पर बदलते वक्त के साथ भारतीय परिसर राजनीति के शिक्षालय और बाद में अखाड़े बनते चले गये। हिन्दी उपन्यास में इस बदलते हुए समय का संवेदनशीलता के साथ अंकन हुआ है। यद्यपि हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों में 'परिसर जीवन' मुख्य विषय के रूप में अपना स्थान नहीं बना पाया था, पर जैसे-जैसे परिसर जीवन की हलचलें तेज होती गयीं वैसे-वैसे हिन्दी उपन्यास में भी इसकी ध्वनि स्पष्ट होती गयी।

1968 ई. में प्रकाशित श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास 'राग दरबारी' परिसर जीवन को मुख्य विषय के रूप में चित्रित करनेवाला पहला उपन्यास है। इसमें हिन्दी क्षेत्र के एक कस्बानुमा गांव शिवपालगंज के आधुनिक, विकृत रूप का व्यंग्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस गांव का नाम शिवपालगंज है, जहां एक इण्टरमीडिएट कॉलेज है छंगामल विद्यालय इण्टरमीडिएट कॉलेज, शिवपालगंज। यद्यपि यह संस्था इण्टरमीडिएट स्तर का स्कूल ही है, पर कथाकार ने इसे सम्कालीन कैम्पस का प्रतीक बना दिया है। छंगामल विद्यालय इण्टरमीडिएट कॉलेज, शिवपालगंज, सातवें दशक में उत्तर भारत के हिन्दी क्षेत्र में परिसर जीवन में आई विकृतियों का जीता जागता उदाहरण है। यह भी कहा जा सकता है कि आठवें और नवें दशकों में परिसर जीवन में जो विरूपताएं पैदा हुई थीं, छंगामल इण्टर कॉलेज उनका मौसम-सूचक यन्त्र या वादनुमा है। 'राग दरबारी' के प्रकाशन के समय उसमें चित्रित जो यथार्थ अतिरंजित जान पड़ता था वह नवें दशक में आते-आते बिलकुल सामान्य और परिचित हो गया। इस दृष्टि से 'राग दरबारी' का महत्व अनुपेक्षणीय है।

पहले हम इस कॉलेज का हुलिया देखें। कथाकार के ही शब्दों में यहां से इण्टरमीडिएट पास करने वाले लड़के सिर्फ इमारत के आधार पर कह सकते थे कि हम शान्ति निकेतन से भी आगे हैं, हम असली भारतीय विद्यार्थी हैं, हम नहीं जानते कि बिजली क्या है, नल का पानी क्या है, पक्का फर्श किसको कहते हैं, सैनिटरी फिटिंग किस चिड़िया का नाम है। हमने विलायती तालीम तक देशी परम्परा में पायी है और इसलिए हमें देखो, हम आज भी उतने ही प्राकृत हैं। हमारे इतना पढ़ लेने पर भी हमारा पेशाब पेड़ के तने से ही उतरता है, बन्द कमरे में ऊपर चढ़ जाता है।'

तनिक अतिरंजित, तल्ख और व्यंग्यात्मक होने पर भी यह चित्रण बिहार और उत्तर प्रदेश के अनेक कॉलेजों के प्रसंग में बिलकुल सटीक है। इन दोनों ही राज्यों में राजनीतिक नेताओं के नाम पर खोले गये अनेक कॉलेजों में बिजली, नल के पानी, पक्का फर्श, सेनिटरी फिटिंग जैसी आधुनिक सुविधाएं तक नहीं हैं, प्रयोगशाला, पुस्तकालय, खेल का मैदान और इसके उपकरण, छात्रावास, शिक्षकों के लिए आवासीय सुविधा आदि की बात तो दूर है। इन कॉलेजों में अंगरेजी की पढ़ाई भी स्थानीय बोलियों में होती है और कैम्पस के अन्दर जहां-तहां खड़े होकर पेशाब करना तो एक आम बात है, जिस पर किसी का ध्यान भी अब नहीं जाता।

मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश और बिहार में आठवें-नवें दशक में नये-नये कॉलेज किस प्रकार खोले जाते रहे हैं, इसका छंगामल इण्टर कॉलेज यथार्थ चित्र प्रस्तुत करता है। छंगामल जी कभी जिला बोर्ड के चेयरमैन थे। उनके पास जब कॉलेज खोलने का प्रस्ताव आया तब कॉलेज के नाम पर मात्र एक प्रबंध समिति थी, जिसके अध्यक्ष शिवपालगंज के वैद्य जी थे। छंगामल जी ने एक फर्जी प्रस्ताव लिखवाकर बोर्ड के डाकबंगले को कॉलेज की प्रबंध समिति के नाम लिख दिया और इसके बदले में उनका नाम कॉलेज के साथ सदा के लिए जुड़ गया। छंगामल आज के उन राजनीतिक नेताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसके नाम पर पिछले दिनों धड़ाधड़ कॉलेज खुलते रहे हैं। वैद्यजी उन छुटभैया नेताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जो कॉलेज के लिए अपना मनपसंद प्रिंसिपल नियुक्त कर शिक्षकों और छात्रों का शोषण करते हैं तथा अपने निजी फायदे के लिए अनेक प्रकार की मनमानियां करते हैं। वैद्य जी का चरित्र कथाकार के शब्दों में 'अंग्रेजी के जमाने में वे अंग्रेजों के लिए श्रद्धा दिखाते थे। देसी हुकूमत के दिनों में वे देसी हाकिमों के लिए श्रद्धा दिखाने लगे। वे देश के पुराने सेवक थे। पिछले महायुद्ध के दिनों में, जब देश को जापान से खतरा उत्पन्न हो गया था, उन्होंने सुदूर पूर्व में लड़ने के लिए बहुत सिपाही भर्ती कराए। अब जरूरत पड़ने पर वे रातोंरात अपने राजनीतिक गुट में सैकड़ों सदस्य भर्ती करा देते थे। पहले भी वे जनता की सेवा में जज की इजलास में जूरी और असेसर बनकर, दीवानी के मुकदमों में जायदादों के सुपुर्दकार होकर और गांव के जमींदारों के लम्बरदार के रूप में करते थे। अब वे को-ऑपरेटिव यूनियन से मैनेजिंग डायरेक्टर और कॉलेज के मैनेजर हैं।'

इस वर्णन की व्यंग्य शैली 'वैद्यजी' जैसे आज के छुटभैये नेताओं का सजीव चित्र प्रस्तुत कर देती है। कॉलेज के प्रिंसिपल का हुलिया भी उपन्यासकार के शब्दों में देखने के काबिल है 'प्रिंसिपल साहब पास के ही गांव के रहनेवाले थे। दूर-दूर के इलाकों में वे अपने दो गुणों के लिए विख्यात थे। एक तो खर्च का फर्जी नक्शा बनाकर कॉलेज के लिए ज्यादा-से-ज्यादा सरकारी पैसा खींचने के लिए, दूसरे गुस्से की चरम दशा में स्थानीय अवधी बोली का इस्तेमाल करने के लिए।' यह एक ऐसे

'प्रिंसिपल' का व्यंग्य चित्र है जो हमें बिहार और उत्तर प्रदेश के किसी भी कस्बाई कॉलेज में देखने को मिल सकता है।

अब हम तनिक छंगामल कॉलेज का हुलिया देखें। उपन्यासकार के ही शब्दों में, 'सामुदायिक मिलन केंद्र गांव सभा के नाम पर लिए गए सरकारी पैसे से बनवाया गया था। पर उसमें प्रिंसिपल का दफ्तर था और कक्षा ग्यारह और बारह की पढ़ाई होती थी। अस्तबल जैसी इमारतें श्रमदान से बनी थीं। टिन शेड किसी फौजी छावनी के भग्नावशेषों को रातों-रात हटाकर खड़ा किया गया था। जुता हुआ ऊसर कृषि विज्ञान की पढ़ाई के काम आता था। उसमें जगह-जगह उगी हुई ज्वार प्रिंसिपल की भैंस के काम आती थी।'

यह तस्वीर एक प्रारूपिक कस्बाई कॉलेज की जानी-पहचानी तस्वीर है। इन कॉलेजों के अध्यापक अपने विषय की प्राथमिक जानकारी भी नहीं रखते और क्लास में इधर-उधर की बातें करके या हंसी-मजाक से छात्रों का मनोरंजन करके, किसी तरह घंटा बिताते हैं। प्राय: वे प्राइवेट ट्यूशन, कोचिंग या कोई दूसरा धंधा करके पैसा बटोरते हैं और क्लास में भी उनका ध्यान अपने धंधे पर ही लगा रहता है। छंगामल कॉलेज में मास्टर मोतीराम इसी प्रकार के शिक्षकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्होंने गांव में एक आटाचक्की लगा रखी है जो घाटे में चल रही है। मोतीराम जी को क्लास में पढ़ाते समय भी अपनी आटाचक्की की ही चिंता लगी रहती है और वे छात्रों से उसी के संबंध में बातें करते रहते हैं। यदि अचानक चक्की चल पड़ती है और 'भक-भक-भक' की आवाज आने लगती है तो मास्टर मोतीराम के लिए क्लास में रुकना मुश्किल हो जाता है और वे तुरंत अपनी क्लास छोड़कर आटाचक्की देखने चले जाते हैं।

छंगामल कॉलेज के छात्र भी उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्यप्रदेश के कॉलेजों में, विशेषकर मुफस्सिल कॉलेजों में पढ़ने वाले छात्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे क्लास में उल-जलूल सवाल करते हैं, अध्यापक की बाजारू किस्म की बातों और गालियों का मजा लेते हैं तथा इधर-उधर की बातें करके घण्टा समाप्त करने में शिक्षक के साथ सहयोग करते हैं। मास्टर मोतीराम के क्लास छोड़कर चले जाने के बाद प्रिंसिपल उनकी क्लास से गुजरते हैं। वे देखते हैं कि एक लड़का जांघ तक फटा हुआ पायजामा पहने मास्टर की मेज पर बैठा हुआ रो रहा है, जो उन्हें देखकर और भी जोर से रोने लगता है। प्रिंसिपल के पूछने पर लड़का खड़ा होकर रोने लगता है। अन्य लड़कों से प्रिंसिपल को ज्ञात होता है कि वह मास्टर मोतीराम की क्लास है, जिसमें वह लड़का उनके नाम पर रो रहा है। प्रिंसिपल को इस पर कोई आश्चर्य नहीं होता, और वे मोतीराम के क्लास की व्यवस्था एक दूसरे अध्यापक, मालवीय को यह आदेश देकर करते हैं कि वे उस वर्ग के छात्रों को साथ बिठा लें। वे इस बात की चिंता नहीं करते कि दोनों दो वर्ग है और उनमें अलग-अलग विषयों की पढ़ाई हो रही है। जब अध्यापक मालवीय इस पर आपत्ति करते हैं तो प्राचार्य उन्हें अपनी चिरपरिचित शैली में डांटकर चुपकर देते हैं।' मैं समझता हूं। तुम भी खन्ना की तरह बहस करने लगे हो। मैं सातवें और नवें का अंतर समझता हूं। हमका अब प्रिंसिपली करै न सिखाव भैया। जौनु हुकूम है, तौनु चुप्पै कैरी आउट करो। समझ्यो की नाहीं।'

मोतीराम की क्लास का मुआइना करने के बाद प्रिंसिपल मास्टर खन्ना के क्लास का मुआइना करने जाते हैं। मास्टर खन्ना प्रिंसिपल के विरोधी गुट के अध्यापक हैं, इसलिए उनकी खामियों पर विशेष ध्यान देना प्रिंसिपल के लिए जरूरी है। खन्ना अंग्रेजी पढ़ा रहे हैं। उनकी क्लास के छात्रों की गुणवत्ता पर अपनी व्यंग्यात्मक शैली में प्रकाश डालते हुए कथाकार कहता है, 'कुछ दिन पहले इस देश में यह शोर मचा कि अपढ़ आदमी बिना सींग-पूंछ का जानवर होता है। उस हल्ले में अपढ़ आदमियों के बहुत से लड़कों ने देहात में हल और कुदालें छोड़ दीं और स्कूलों पर हमला बोल दिया। हजारों की तादाद में आए हुए लड़के स्कूलों, कॉलेजों, यूनिवर्सिटी को बुरी तरह घेरे हुए थे। शिक्षा के माहौल में भभ्भड़ मचा हुआ था। हर साल फेल होकर, दर्जे में सब तरह की डांट-फटकार झेलकर और खेती की महिमा पर नेताओं के निर्झर पंथी व्याख्यान सुनकर भी वे लड़के हल और कुदाल की दुनिया में वापस जाने को तैयार न थे। वे कनखजूरे की तरह स्कूल से चिपके हुए थे और किसी भी कीमत पर उससे चिपके रहना चाहते थे। 'मास्टर मोतीराम की क्लास की तरह खन्ना की क्लास में भी लड़के इधर-उधर की निरर्थक बातें करते हैं, उनके प्रश्नों के ऊल-जलूल उत्तर देते हैं और कुछ सिने-पत्रिका में छपी हीरोइनों की तस्वीरें देख रहे हैं। प्रिंसिपल जहां मास्टर मोतीराम को क्लास छोड़कर चले जाने पर कुछ नहीं कहता वहां खन्ना को इस बात के लिए डांटता है कि लड़के उनकी पढ़ाई पर ध्यान नहीं दे रहे हैं आपके दर्जे में डिसिप्लिन की यह हालत है। लड़के सिनेमा की पत्रिकाएं पढ़ते हैं। और आप इसी बूते पर जोर डलवा रहे हैं कि आपको वाइस प्रिंसिपल बना दिया जाए। इसी तमीज से वाइस प्रिंसिपली तो अपने घर रही, पार साल की जुलाई मां डगर-डगर घूम्यो।'

यह तस्वीर एकदम यथार्थ है। शिक्षण संस्थानों में शिक्षकों के अध्यापन का स्तर अत्यंत गिरा हुआ है। न तो उनका अपने विषय का अध्ययन स्तरीय है, न ही उनमें अध्ययन के प्रति ईमानदारी का बोध है। इसी प्रकार छात्रों में भी अध्ययन के प्रति कोई रुचि नहीं और अनुशासन तो उन्होंने जैसे सीखा ही नहीं। कॉलेजों के प्राचार्य भी अध्ययन-अध्यापन से सर्वथा विरक्त, तिकड़म और गुटबाजी के शिकार तथा भ्रष्ट चरित्र हैं। छंगामल इण्टर कॉलेज इन शिक्षण संस्थाओं का लघु चित्र है।

मुफसिल कॉलेजों में संस्थाएं भी अपवाद नहीं, शिक्षकों और प्राचार्य-मैनेजर आदि के बीच गुटबंदी एक आम बात है। छंगामल इण्टर कॉलेज गुटबंदी का सजीव उदाहरण है। मास्टर खन्ना ने प्रिंसिपल के खिलाफ अलग गुट बना लिया है। प्रिंसिपल भी अपना गुट मजबूत करने में लगे हैं। प्रिंसिपल का एक समर्थक ठेकेदार उन्हें आश्वस्त करता है : 'ठाट से प्रिंसिपली करते जाइए। 'उनको बता दीजिए कि प्रोपगण्डा का जवाब है डंडा। कह दीजिए कि यह शिवपालगंज है ऊंचा-नीचा देख कर चलें।' उपन्यास का एक प्रमुख पात्र रूप्पन कॉलेज पर टिप्पणी करता है– 'फिर तुम इस कॉलेज का हाल नहीं जानते। लुच्चों और शोहदों का अड्डा है। मास्टर पढ़ाना-लिखाना छोड़कर सिर्फ पॉलिटिक्स भिड़ाते हैं। दिन-रात पिताजी वैद्यजी की नाक में दम किए रहते

हैं कि यह करो, वह करो, तनख्वाह बढ़ाओ, हमारी गरदन पर मालिश करो। यहां भला कोई इम्तहान में पास हो सकता है।

यही रूप्पन, कॉलेज के प्रिंसिपल के, वैद्यजी के सामने, यह लाचारी व्यक्त करने पर कि 'कॉलेज छोड़कर आया है' टिप्पणी करता है कॉलेज को तो आप हमेशा ही छोड़े रहते हैं। वह तो कॉलेज ही है जो आपको नहीं छोड़ती। छंगामल इण्टर कॉलेज के संबंध में कथाकार की एक मजेदार टिप्पणी है।'क्योंकि इस कॉलेज की स्थापना राष्ट्र के हित में हुई थी, इसलिए इसमें और कुछ हो या नहीं, गुटबंदी काफी थी। वैसे गुटबंदी जिस मात्रा में थी, उसे बहुत बढ़िया नहीं कहा जा सकता था, पर जितने समय में यह विकसित हुई, उसे देखकर लगता था, काफी अच्छा काम हुआ है। वह दो-तीन साल ही में पड़ोस के कॉलिजों की गुटबंदी की अपेक्षा ज्यादा ठोस दिखने लगी थी। बात यह थी कि 'प्रबंध समिति में वैद्यजी का दबदबा था, पर रामाधीन भीखमखेड़वी शिवपालगंज की एक नयी शक्ति अब तक उसमें अपना गुट बना चुके थे। इसके लिए उन्हें बड़ी साधना करनी पड़ी। काफी दिनों तक अकेले ही अपने गुट बने रहे, बाद में एकाध मेम्बर भी उनकी ओर खिंचे। अब बड़ी मेहनत के बाद कॉलिज के नौकरों में दो गुट बन पाए थे, पर उनमें अभी भी बहुत काम होना था। प्रिंसिपल साहेब तो वैद्यजी पर पूरी तरह आश्रित थे, पर खन्ना मास्टर अभी भी उसी तरह रामाधीन पर आश्रित नहीं हो पाए थे। उन्हें खींचना बाकी था। लड़कों में भी दोनों गुटों की हमदर्दी के आधार पर अलग-अलग गुट नहीं बने थे। उनमें आपसी गाली-गलौज और मारपीट होती तो थी पर इन कार्यक्रमों को अभी तक उचित दिशा नहीं मिल पाती थी। गुटबंदी के उद्देश्य से न होकर ये काम व्यक्तिगत कारणों से होते थे और इस तरह लड़कों की गुंडागर्दी की शक्ति व्यक्तिगत स्वार्थों पर नष्ट हो जाती थी। उसका उपयोग राष्ट्र के सामूहिक हित में नहीं हो रहा था। गुटबंदों को अभी इस दिशा में भी बहुत काम करना था।

इन दोनों गुटों की प्रतिद्वंद्विता के बारे में कथाकार आगे बताता है। वैद्यजी को छोड़कर कॉलिज के गुटबंदों में अभी अनुभव की कमी थी। उनमें परिपक्वता नहीं थी, पर प्रतिभा थी। उसका चमत्कार साल में एकाध बार जब फूटता था, तो उसकी खबर शहर तक पहुंचती। वहां कभी-कभी ऐसे दांव भी चले जाते जो बड़े-बड़े पैदायशी, गुटबंदों को भी हैरानी में डाल देते। पिछले साल रामाधीन ने वैद्यजी पर ऐसा ही दांव फेंका था, वह खाली गया, पर उसकी चर्चा दूर-दूर तक हुई। अखबारों में जिक्र आ गया। उससे एक गुटबंद इतना प्रभावित हुआ कि वह शहर से कॉलिज तक सिर्फ दोनों गुटों की पीठ ठोंकने को दौड़ा चला आया। वह एक सीनियर गुटबंद था और अक्सर राजधानी में रहता था। वह अखिल भारतीय स्तर का आदमी था और उसके बयान रोज अखबार में पहले पन्नों पर छपते थे, जिनमें देशभक्ति और गुटबंदी का अनोखा संगम होता था। उसके एक बार कॉलिज में आ चुकने के बाद लोगों को इत्मीनान हो गया था कि यहां अब कॉलिज भले ही खत्म हो जाए गुटबंदी खत्म नहीं होगी।

उपन्यास में दोनों गुटों के दांवपेंच का सजीव वर्णन और अंकन किया गया है जिसके विस्तार में जाना अपेक्षित नहीं। एक महत्वपूर्ण प्रसंग यह है कि मास्टर खन्ना वाइस प्रिंसिपल बनने के लिए प्राचार्य के पास आवेदन करते हुए उस पर विचार करने के लिए प्रबंध समिति की बैठक बुलाने का अनुरोध करते हैं। प्रिंसिपल प्रबंध समिति की बैठक बुलाने का विरोध करते हैं जबकि रामाधीन भीखमखेड़वी उसका समर्थन करते हैं। रूप्पन भी वाइस प्रिंसिपल के रूप में खन्ना की प्रोन्नति का समर्थन करता है। रामाधीन की प्रेरणा से कॉलेज के कुछ प्राध्यापक प्रबंध समिति के उपाध्यक्ष गयादीन के पास प्रिंसिपल के खिलाफ शिकायत लेकर जाते हैं। पर वे बिल्कुल तटस्थ बने रहते हैं। खन्ना कहते हैं, 'मुसीबत यह है कि कॉलेज की जनरल बॉडी की मीटिंग पांच साल से नहीं हुई है। वैद्यजी ही मैनेजर बने हुए हैं। नये आम चुनाव नहीं हुए हैं जो हर साल होने चाहिए।

मालवीय जी कहते हैं, 'प्रिंसिपल हजारों रुपया मनमाना खर्च करता है। हर साल आडिटवाले एतराज करते हैं, हर साल यह धुत्ता दे जाता है।' एक अन्य मास्टर कहते हैं, 'प्रिंसिपल लड़कों को हमारे खिलाफ भड़काता है। हमें मां-बहिन की गाली देता है। झूठी रिपोर्ट करता है। हम कुछ लिखकर देते हैं तो उस कागज को गुम करा देता है। बाद में जवाबतलब करता है।' पर गयादीन पर इन शिकायतों का कोई असर नहीं पड़ता। वे किसी भी कीमत पर वैद्यजी और प्रिंसिपल के खिलाफ आने को राजी नहीं होते।

अंततः कॉलेज की सालाना बैठक बुलाने का तथा पदाधिकारियों के साथ मैनेजर का चुनाव कराने का आदेश, वैद्यजी द्वारा ही निर्गत होता है। प्रिंसिपल आपत्ति करता है, पर वैद्य जी ज्यादा मंजे खिलाड़ी हैं। वे जानते हैं, इससे कुछ होना जाना नहीं है। उपसभापति गयादीन उनके समर्थक हैं। पर प्रस्तावित बैठक के लिए और भी तैयारियां की जाती हैं। हॉकी-स्टिकधारियों की सेना तैयार की जाती है। कॉलेज गेट के बाहर बलराम सिंह नामक एक अपराधी भी अपनी विलायती पिस्तौल के साथ तैनात है। उसने अपने आदमियों द्वारा कॉलेज की नाकाबंदी कर रखी है। इसका परिणाम यह होता है कि रामाधीन गुट का कोई भी सदस्य बैठक में भाग नहीं ले पाता और 'वैद्य महाराज' पुनः कॉलेज के मैनेजर 'सर्वसम्मति से निर्वाचित' हो जाते। पर रूप्पन प्रिंसिपल को उखाड़ना चाहता है। उसकी सहानुभूति खन्ना के साथ है। उधर प्रबंध समिति के कुछ सदस्य कमेटी की सालाना बैठक में हुई धांधली की शिकायत शिक्षा मंत्री के पास भेजते हैं तथा उसकी प्रति शिक्षा विभाग के बड़े-बड़े अफसरों को देते हैं। जांच का आदेश हो जाता है। कॉलेज में भी प्रिंसिपल तथा उनके विरोधी शिक्षकों के बीच ठन जाती है। मारपीट होते होते बचती है, पर दोनों पक्ष थाने में, एक दूसरे के खिलाफ, प्राथमिकी दर्ज करा देते हैं। आरोप है कि 'मास्टरों ने दंगा किया था और एक दूसरे की हत्या करनी चाही थी।' पुलिस की जांच शुरू हो जाती है। वह दोनों पक्षों पर 107 का मुकदमा चला देती है। इजलास में दोनों पक्षों की पेशी होने लगती है। प्रिंसिपल परेशान हैं, क्योंकि कचहरी में ही खन्ना गुट के लगभग सत्तर लड़के 'प्रिंसिपल मुर्दाबाद' के नारे लगाने लगते हैं। प्रिंसिपल साहब वैद्यजी को सलाह देते हैं कि 'सारे खन्ना के हाथ-पांव तुरवाय कै कौनो नारा मां डारि दीन जाय, यह न बने तो सारे का कान पकरि कै

कालिज के बाहर निकारि दियो।' पर वैद्य जी इस पर अपनी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करते। कुछ दिनों बाद प्रिंसिपल के गुट की तरफ से मास्टर मालवीय के चरित्र पर छींटाकशी करते हुए एक परचा निकाला जाता है। आरोपों-प्रत्यारोपों की जो शृंखला शुरू होती है, उनसे छंगामल कॉलेज के बारे में और कई तथ्य सामने आते हैं। अध्यापकों को जितना वेतन मिलता है उससे दुगनी रकम पर दस्तखत कराए जाते हैं, प्राचार्य अपने अध्यापकों के खिलाफ पर्चे छपवाकर बंटवाते हैं, कॉलेज में सब कुछ होता है सिर्फ पढ़ाई नहीं होती, मास्टर मोतीराम कक्षा में विज्ञान नहीं, आटा चक्की का कारोबार सिखाते हैं आदि। इजलास में मजिस्ट्रेट पूछता है, 'इन्हें अध्यापक होकर इस तरह का मुकदमा लड़ते हुए शर्म नहीं आती, मुझे तो यह मुकदमा सुनते हुए शर्म महसूस होती है। मैं सोचता हूं, विद्यार्थियों पर इसका क्या असर होगा' पर इजलास की इस लताड़ के बावजूद कॉलेज का रवैया नहीं बदलता।

वर्तमान समय में, कमोबेश भारत के लगभग सभी राज्यों में, परिसर जीवन एक संकट की स्थिति से गुजर रहा है। यह संकट मूलत: शिक्षा के स्तर में निरंतर होनेवाली गिरावट और परिसर जीवन में मानवीय मूल्यों के बढ़ते हुए ह्रास को लेकर है। उच्चतर शिक्षा का उद्देश्य विशेषीकृत ज्ञान की प्राप्ति के साथ चरित्र निर्माण भी है। पर आज का परिसर जीवन सामान्यत: इतना विकृत हो गया है कि ज्ञान की साधना और चरित्र निर्माण दोनों ही खटाई में पड़ गये हैं। आज परिसर में छात्र नेता प्रमुख और शिक्षण गौण होते जा रहे हैं। ऐसे छात्र नेताओं को विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं का ही नहीं, कभी-कभी आपसी मसला हल करने के लिए प्राध्यापकों और अधिकारियों का भी समर्थन और बढ़ावा प्राप्त होता है। ऐसे छात्रों में नकल करने की कुवृति भी बढ़ती है। राग दरबारी में श्रीलाल शुक्ल ने इस दृश्य का जो वर्णन किया है वह लाजवाब है। छंगामल कॉलेज में परीक्षा में नकल न हो, यह कैसे संभव है परीक्षा भवन में परीक्षार्थियों और शिक्षकों का संबंध कैसा होता है, इसे जानने के लिए निम्नलिखित वर्णन द्रष्टव्य है–

'आजकल लड़कों की वार्षिक परीक्षा हो रही थी। उसमें खन्ना मास्टर ने एक लड़के को नकल करते हुए पकड़ा। लड़के ने पकड़े जाने से इस आधार पर इंकार कर दिया कि मुझे प्रिंसिपल साहब का हमदर्द होने के कारण पकड़ा जा रहा है, जबकि खन्ना मास्टर ने अपनी पसंद के कई लड़कों को नकल करने की छूट दे दी है। इस पर मालवीय जी ने मौके पर पहुंचकर खन्ना की ओर से कुछ बोलने की कोशिश की, पर वह लड़का पहले ही बोल पड़ा कि 'ए मास्टर साहब, तुम क्यों टिल्टिल् कर रहे हो जो लड़का तुम्हारे साथ शहर जाकर सिनेमा देख आए हैं उन्हें तो तुम पूरी किताब नकल करा देते हो और हम एक लाइन इधर-उधर से झाड़कर लिख रहे हैं तो तुम्हीं को सबसे ज्यादा बुरा लगता है। इस पर मालवीय जी तो झेंपकर चुप हो गये पर खन्ना ने लड़कों को धमकाना शुरू किया। तब लड़कों ने बड़ी गम्भीरता से कहा कि मैं तुम्हारी बेइज्जती नहीं करना चाहता हूं, इसलिए दूसरे कमरे में चले जाओ। ऐसा न करोगे तो मैं तुम्हें खिड़की से बाहर फेंक दूंगा और हाथ-पैर टूट जाएं तो मेरी जिम्मेदारी न होगी।' मास्टर खन्ना इस स्थिति की रिपोर्ट प्रिंसिपल को देते हैं जो उसे स्वीकार नहीं करता। इस पर खन्ना के गुट के चार-पांच मास्टर प्रिंसिपल के कमरे में पहुंच जाते हैं और 'तू-तू, मैं-मैं' शुरू हो जाती है। उधर छात्र भी स्वच्छन्दतापूर्वक नकल करने लगते हैं और इधर प्रिंसिपल खन्ना को अपने कमरे से बाहर निकल जाने का आदेश देता है। इस पर झगड़ा शुरू हो जाता है। पुलिस बुला ली जाती है और खन्ना को बाहर निकल जाना पड़ता है। अंतत: खन्ना और मालवीय को नौकरी से इस्तीफा देने को बाध्य कर दिया जाता है।

यह प्रसंग बिहार और उत्तर प्रदेश के कॉलेजों और कतिपय विश्वविद्यालयों के लिए बहुत परिचित बन चुका है। इससे परिसर जीवन में आयी विकृतियों का परिचय मिलता है। सन् साठ के दशक में ही राग दरबारी के माध्यम से श्रीलाल शुक्ल ने शिक्षण संस्थाओं में तेजी से बढ़ती अराजकता का जो चित्रण किया है वह उनके लेखकीय विजन को बहुत कुछ स्पष्ट कर देता है।

राग दरबारी में आए एक वर्णन से परिसर में कुलपतियों की स्थिति पर भी बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। छंगामल कॉलेज के प्रिंसिपल अपना दुखड़ा रोते हुए, अंत में, उपन्यास के प्रमुख पात्र रंगनाथ से कहते हैं, 'मैं तो अपने को वाइस चांसलर से भी अच्छा समझता हूं। वाइस चांसलर के लिए भी जिंदगी नरक है। सबेरे से ही अपनी मोटर लेकर हर एक्जीक्यूटिव वाले को सलाम लगाता है। कभी चांसलर की हाजिरी, कभी मिनिस्टर की, कभी सैक्रेटरी की। गर्वनर साल में कम-से-कम चार बार डांटता है। दिन-रात कांय-कांय, चांय-चांय। लड़के मां-बहिन की गाली देते हुए सामने से जुलूस लेकर निकल जाते हैं। साल में लड़कों पर दस-बीस बार लाठी चलवाए बिना इन्हें चैन नहीं पड़ता।

इस प्रकार राग दरबारी में सांकेतिक रूप से ही नहीं, स्पष्ट वर्णन के रूप में भी आज के परिसर जीवन की यथार्थ तस्वीर प्रस्तुत की गयी है। यह वह समय था जब भारतीय परिसर जीवन की हलचलें तेज हो गयी थीं। जिंदगी में जो कुछ भी घटित होता है, वह चाहे कविता या नाटक अथवा अन्य किसी साहित्य-विधा की पकड़ से बच जाए, पर उपन्यास से बच निकलना उसके लिए संभव नहीं है। सातवें दशक में भारतीय परिसर-जीवन में अचानक एक भूचाल सा आ जाता है और इस दशक के समाप्त होते-होते हिंदी उपन्यास में इसकी गड़गड़ाहट भी सुनाई देने लगती है जिसके अगुआ श्रीलाल शुक्ल माने जा सकते हैं।

सहायक प्राध्यापक,
हिंदी शासकीय एस.एल.पी. महाविद्यालय
मुरार, ग्वालियर

सम्बोधन

साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका
सलाहकार संपादक
क़मर मेवाड़ी

प्रति अंक : 15 रुपये

संपर्क
कांकरोली-313324
जिला राजसमन्द (राजस्थान)

रतन कुमार पांडेय

राग दरबारी : भुनभुनाहट की कृति

कालजयी कृति पर विचार करते समय हम भविष्य की कल्पना मात्र कर सकते हैं भविष्यवाणी नहीं। किसी रचना के भविष्य के निर्धारण के आधार कौन-कौन से होंगे तथा उसकी जीवनावधि क्या होगी, यह इस बात पर निर्भर करता है कि चेतना का कौन सा स्तर है, जो लेखक को दबोचे है क्योंकि साहित्य एक साथ कई उद्देश्यों को लेकर चलता है। वह सहयोग का आश्वासन देता है तो चिंता के क्षणों में सहभागी भी बनता है। उस चिंता के कारणों की ओर इंगित करता है, उसकी भयावहता तथा गंभीर परिणामों को तत्काल दिखाता है तथा उनसे जूझने का साहस भर कर ललकारता भी है। प्रतिकार की क्षमता का विकास करता है। यदि कबीर की शब्दावली में कहें तो–

कहैं कबीर सुइ संत जान सुरमा,
काल निचौर के अमृत पीवै।

अर्थात् रचनाकार अपने पूर्ववर्ती परम्परा को निचोड़कर वर्तमान परिप्रेक्ष्य के लिए तर्कसंगत बनाकर अमृतरस का पान करता है और अपने पाठक को पिलाता है। वही कालजयी होता है। हिन्दी उपन्यास के लिए यह स्थिति ही नहीं आयी है। जब काल ही नहीं बीता तो जयी-विजयी होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसमें मूल्यों की लड़ाई होती है, मूल्यों का कारोबार नहीं। पराजय और निराशा उनकी मानसिक स्थिति है, जिनके सपने सतही होते हैं। सपनों का होना यथा-स्थिति को बदलने की पहली शर्त है। पाश ने लिखा– सबसे खतरनाक होता है हमारे सपनों का मर जाना। यदि पुराने सपनों के टूटने के साथ नए सपनों के रचने का मनोबल ही टूट जाय तो क्या होगा? हर काल की अपनी नव्यता होती है जो तात्कालिकता की मांग होती है। तात्कालिक यथार्थ को व्यक्त करने के लिए रचनाकार पहले मूल्यों की अवधारणा से टकराता है। सार्त्र जैसा अस्तित्ववाद का मसीहा कहता है– ' लेखक चुप रह सकता है लेकिन यदि उसने गोली दागने का निश्चय किया है तो उसे एक मर्द की तरह निशाने पर गोली चलानी चाहिए। एक बच्चे की तरह नहीं जो अपनी आंख बंद करके धड़ाका सुनने का मजा लेने के लिए कहीं भी गोली छोड़ देता है।

इन्हीं संदर्भो में 'राग दरबारी' पर विचार करना मेरे लिए उचित प्रतीत होता है। इस कृति में व्यवस्था की सड़ांध, जनतांत्रिक मूल्यों का विघटन तथा नैतिक और सामाजिक अध: पतन का सर्वनकारवादी विमर्श रचा गया है। इसमें कोई दो राय नहीं कि अपनी रचनात्मक शिल्प, भाषा-प्रयोग, व्यंग्य की धार तथा वैद्यजी जैसे चरित्र सृष्टि के लिए हमेशा याद की जायेगी किन्तु ये किसी भी कृति को महान बनाने के लिये पर्याप्त नहीं हैं। यह जब लिखी गयी, नकार, अस्वीकार और निषेध का दौर था। राजनीति के क्षेत्र में लोहिया (यद्यपि उनका नकार सिर्फ नकारवादी नहीं था) तथा साहित्य में राजकमल चौधरी, धूमिल आदि का दौर था। इसी अनास्था और अविश्वास भरे दौर में यह लिखी गई। जब राजकमल चौधरी 'आदमी लिखे ऐब्सर्डिटी का दर्शन' (मुक्ति प्रसंग) तथा धूमिल भारतीय जनतंत्र के लिए– 'जनतंत्र जिसकी रोज सैकड़ों बार हत्या होती है, और वह हर बार भेड़िए की जुबान पर जिंदा है।'

लिख रहे थे। लेकिन दोनों में एक अंतर था– श्रीलाल शुक्ल का नकारवाद निराशा या व्यक्तिगत कुंठा से नहीं उपजा था वरन् उन सामाजिक विद्रूपताओं और कुरूपताओं का परिणाम था जिनकी भारतीय समाज में गहरी जड़ें हैं। लेकिन भाषा-प्रयोग में धूमिल उस भदेस भाषा को रचनात्मक शक्ति बनाकर साध लेते हैं तो श्रीलाल शुक्ल उसका विद्रूप रूप प्रस्तुत करते हैं। 'सुअरों के झुंड सड़क पर निकलते समय आदमियों की नकल करते। वे दाएं-बाएं चलने का खयाल न करके सड़क पर निकलने वाली हर सवारी के ठीक आगे चलते नजर आते और आपसी ठेला-ठेली में कॉलिज के लड़कों को भी मात देते।'

'राग दरबारी' इसलिए एक महत्वपूर्ण रचना है कि देशज-कथा सूत्र में ढालकर गांव से दिल्ली तक (जिसे धूमिल ने 'संसद से सड़क तक' कहा) की भ्रष्ट सत्ता-तंत्र की विकृतियों को लेखक ने प्रस्तुत किया है। यह 'शिवपालगंज' की कहानी है? इसी शिवपालगंज में सत्ता के केन्द्र वैद्यजी हैं। 'वैद्यजी थे, हैं और रहेंगे' और असली शिवपालगंज वैद्यजी की बैठक में था और वहीं क्यों सारे मुल्क में फैला है। वैद्यजी की बैठक का मतलब ईंट और गारे की बनी इमारत भर नहीं है. . . ताकतों के नाम हैं। राग दरबारी इसी ताकत के खेल का विमर्श है, जो भ्रष्टाचार, अनाचार, दुराचार, चोरी, डकैती, हत्या, लूट, अन्याय और सत्ता के दुरुपयोग का दूसरा नाम है। इस उपन्यास में एक खल समाज है जहां स्वतन्त्रता, जनतन्त्र, न्यायपालिका विकास, पंचायती राज, अन्य जनतांत्रिक संस्थाएं, निहित स्वार्थों और अवांछनीय तत्वों के हाथ की कठपुतली बन गई हैं। जनतंत्र को कैसे निहित स्वार्थों और अवांछनीय तत्वों द्वारा लूटतन्त्र में बदल दिया गया है, शिवपालगंज इसकी छोटी-मोटी प्रयोगशाला है। इसके केन्द्र में वैद्यजी की बैठक, छंगामल इंटर कॉलेज, कोआपरेटिव सोसायटी, ग्राम पंचायत सरीखी संस्थाएं हैं। लूटतंत्र के खलनायकों के चित्रण में लेखक की जो दक्षता दिखती है वह 'तन्त्र' द्वारा पीड़ितों के चित्रण में नहीं दिखाई पड़ती। श्रेष्ठ रचना अपने समय, समाज, युग तथा परिवेश का व्यंजक और विधायक दोनों होती है। प्रगति और विकास के नारों के बावजूद राग दरबारी का वर्तमान दिशाहीन और कुछ अपवादों को छोड़कर डरावना है।

बड़ी रचना सिर्फ क्षयग्रस्तता का वर्णन मात्र नहीं करती वह मानवीय विकल्प भी प्रस्तुत करती हैं तथा संभावनाओं की ओर संकेत भी करती है। 'गोदान' में वैद्यजी पं. कालका प्रसाद, रूप्पन आदि जैसे खल पात्र हैं लेकिन राग दरबारी में धनिया, गोबर होरी, सूरदास जैसे पात्र नहीं हैं। यहां दुखी-पीड़ित परन्तु संघर्षशील पात्र नदारद हैं। क्या इसे संपूर्ण गांव की तस्वीर माना जाय? सबसे बड़ी बात कि श्रीलाल शुक्ल ग्राम्य जीवन के प्रति उपहास-दृष्टि का परिचय कराते हैं। इसमें ग्राम जनों की नियति से गहरा सरोकार नहीं है। हमारे समय का सबसे गहरा संकट है कि नकली सवाल खड़ाकर उसके नकली जवाब का घटाटोप इस तरह दिखाया जाता है कि असली सवाल ओझल हो जाते हैं। संस्कृति के काल-प्रवाह का वह हिस्सा बड़ा खतरनाक होता है जिसमें जायज सवाल नाजायज सवाल द्वारा विस्थापित कर दिये जाते हैं। आज राजनीतिक समानता सबको प्राप्त हो गयी है परन्तु सामाजिक असमानता बरकरार है। भारत की जटिल ग्रामीण संरचना में राजनीतिक व्यवस्था कोई विशेष हस्तक्षेप की स्थिति में नहीं है।

माना कि शिवपालगंज समस्याग्रस्त है परन्तु समस्याओं से बचाने का कोई उपाय राग दरबारी में नहीं है। लेखक को जीवन का पक्षधर होना चाहिए। जीवन के लिए प्रतिकार की क्षमता का विकास करना चाहिए। पूरे शिवपालगंज में गंजहापन भरा है, वह है नियम के विरूद्ध चलना। प्रेमचन्द के गांव में भी गंजहापन था पर प्रेमचंद ने इसे 'इन्नोशेंस' की तरह पढ़ा परन्तु शिवपालगंज में नैतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से विकृत और पतित गंजहापन है। किसी व्यक्ति में औदात्य नहीं, न कोई 'ट्रेजडीक' एलीमेंट है, न कोई पात्र मूल्यों की स्थापना करता है। न कोई संदेश न विशेष जीवन दृष्टि। क्या किसी भी समाज को पतित और पतनोन्मुख चरित्र की आवश्यकता होती है। यथार्थ को देखने वाली श्रीलाल शुक्ल की दृष्टि समाज की गंदगी, भ्रष्टाचार अज्ञानता, निरक्षरता, गरीबी, तथा गांव के भदेस जीवन को आभिजात्य दृष्टि से देखती है। गांव के लोगों के जीवन को दूर से देखने के कारण गांव से मेले में जाती औरतों के बारे में लिखते हैं– 'वे सब मेले जा रही थीं। भारतीय नारीत्व इस समय फनफनाकर अपने खोल के बाहर आ गया था। वे बड़ी तेजी से आगे बढ़ रही थीं। मुंह पर न घूंघट था न लगाम। फेफड़े, गले और जबान को चीरती हुई आवाज में वे चीख रही थीं। जिसे शहराती विद्वान और रेडियो विभाग के नौकर ग्राम-गीत कहते हैं।' अतः उनकी इस कृति में भदेस गंवारपन, और स्थानीयता वस्तु तत्व मात्र हैं किन्तु अन्तर्वस्तु तो आभिजात्य, नागरिक बोध तथा सार्वदेशिकता है।

कोई भी रचना समाज नहीं संवेदना गढ़ती है किन्तु श्रीलाल शुक्ल संवेदना का कार्टून गढ़ते हैं। ग्रामीण जीवन की मूल्यहीनता, नैतिक पतन, भ्रष्टाचार, दलबंदी आदि का प्रशस्त चित्रण करने के बाद उनके पास कोई दृष्टि क्यों नहीं है। सामाजिक और आर्थिक संरचना पर तीखे व्यंग्य करते हुए भी राग दरबारी में वे आश्चर्यजनक रूप से तटस्थ दिखाइ पड़ते हैं। क्या इसलिए कि हमारी जमीन ढोंग और ढकोसले के लिए बहुत उपजाऊ है। कुल मिलाकर शिवपालगंज में लुच्चों, लंपटों, अनैतिक और अवसरवादी लोगों का जमावड़ा है जहां एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या, अनादर और वैर-भाव है। वहां के बुद्धिजीवी निष्क्रिय नकारा और नपुंसक है। श्रीलाल शुक्ल के शब्दों में 'बकरी का लेड़-सा' है। वर्तमान शिक्षा पद्धति लतियायी हुई कुतिया है। एक बुद्धिजीवी रंगनाथ है जिसके बारे में कॉलेज का प्रिंसिपल कहता है– 'कुल मिलाकर उनसे यही साबित होता है कि तुम गधे हो।' लेखक जीवन की प्रत्येक स्थिति में कॉमेडी करता है। भूख, गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी, सीधापन, खानपान, रहन-सहन आचार-व्यवहार सभी व्यंग्य के पैने से हांके जाते हैं। जहां विनोद की गुंजाइश नहीं बनती, वहां भी बलात् तलाश की गई है। जहां करुणा, सहानुभूति और आत्मीयता के संबल की आवश्यकता थी, जिन संवेदनाओं से सामाजिक सरोकार जुड़ता वहां भी यह संभव नहीं हुआ। अतः कथ्य की गंभीरता प्रहसन बनकर रह गई। छोटे पहलवान और कुसहर प्रसाद जब अपने पिता की पिटाइ करते हैं तो लेखक इसे 'परिवार के सनातन धर्म' की संज्ञा देता है। विनोदप्रियता (Humour) व्यक्तियों या वस्तु को इस तरह देखने के ढंग को कहते हैं जिनसे उनका वह रुप या आकृति सामने आ जाए, जो देखने वाले में ऐसा हास्य उत्पन्न करे, जिसमें आनंद के अतिरिक्त दूसरा भाव न हो। यह बुद्धि की एक ऐसी गति है जिसके लिए गहनबोध जो सहानुभूति से पूरित हो, की जरूरत है। व्यंग्य में लेखक भौंड़े जीवन की सुंदरता को भी देखता है। ऐसी रचनाओं में निर्मित पात्रों के प्रति पाठक के हृदय में गहरी सहानुभूति और प्रेम उमड़ता है क्योंकि उनमें रचनाकार व्यंग्य द्वारा मानवता को भर देता है। किंतु राग दरबारी के लेखक ने गांव के निरीह और विवश पात्रों की खिल्ली उड़ाकर यह सिद्ध किया है कि गांव के जीवन के प्रति न उनमें कोई सहानुभूति है और न सुधार की आकांक्षा। वे लिखते हैं, 'वे महिलाएं पाखाने की कार्रवाई को एकदम स्थगित कर, सीधी खड़ी हो गईं, और उन्हें गार्ड ऑफ ऑनर जैसा देने लगीं।' पूरी रचना में गांव और गांव के जीवन को इसी तरह प्रस्तुत किया गया है। अपमान और दवा की गोलियां निगल जाने के लिए होती हैं, मुंह में रखकर चूसने के लिए नहीं। श्रीलाल शुक्ल जिस जीवन से इतने परेशाान हैं और राग दरबारी में उसे पाठक के सामने लाते हैं उसे देखकर मीर का शेर याद आता है–

अब तो घबरा के ये कहते हैं कि मर जाएंगे,
मर के भी चैन न पाया तो किधर जाएंगे।

श्रीलाल शुक्ल शायद इस तथ्य से अवगत न हों कि विचारशील हंसी तभी हंसी जा सकती है जब मानव समाज और उसके जीवन के अंतःसंबंधों को ठीक से समझा गया हो। तभी रचना में वह शक्ति आती है कि स्वार्थ के दानव के चेहरे पर चढ़े मुखौटे को हटाकर यह दिखा दें कि वह कितना कुरूप और घिनौना है। विचारशील हंसी अच्छी है। चाहे वह व्यंग्य, ताने या उपहास जिससे भी पैदा हुआ हो। यदि लोगों का भदेसपन या गंजहापन देखकर उनसे दूरी बनाई जाती है, और उनका उपहास किया जाता है तो वे पात्र हमारी मार से और भी कराह उठते हैं। हमारा व्यंग्य किसी उद्देश्य के लिए होना चाहिए।

स्वतंत्रता-पूर्व उपन्यासों के केन्द्र में व्यक्ति था किंतु स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों के केंद्र में गांव है। वह मेरीगंज, गंगौली, शिवपालगंज या करैता तथा अतरपुर कुछ भी हो सकता है। इन गांवों में ही किसान होरी के स्थान पर वैद्य जी आते हैं जहां जनता

मतदाता में बदल जाती है। वहां मतदाता को रिझाने, बहकाने के लिए कोरे आश्वासन, झूठे वादे आदि तरीके हैं। इनके चलते प्रजातंत्र कमजोर हुआ और समाज की तुलना में 'राज्य' के अधिक शक्तिशाली होने से शिवपालगंज जैसे गांव और वैद्यजी जैसे नई नैतिकता के प्रतीक पुरुष निर्मित्त हुए जिनकी नैतिकता एक चौकी की तरह है जिस पर सभा सोसायटी में एक चादर बिछा दी जाती है और बाद में एक कोने में फेंक दी जाती है। वैद्य जी सरीखे लोग ही इन गांवों के शीर्ष पुरुष होते हैं जो सीधे-साधे नहीं एक शातिर तथा घाघ किस्म के राजनीतिज्ञ होते हैं। ऐसे भ्रष्टाचारियों तथा कुचक्र से भरे गांव में रुप्पन बाबू, बद्री और छोटे पहलवान की दुनिया बनती है और फलती-फूलती है तथा सनीचर, लंगड़ जैसे लोग अपनी जिंदगी के मोल देने के बाद भी उपेक्षित और उपहास के पात्र बने रहते हैं। ऐसे सत्ता केंद्रित शिवपालगंज में हाशिए का समाज अलक्षित है। दलित, नारी, मुसलमान आदि शिवपालगंज में शायद नहीं हैं। दलित में कबीरपंथी लंगड़ (जिसे लंगड़ा बुलाया जाता है) है उसकी निर्मिति किस प्रकार हुई है तथा उसके संघर्ष का मुद्दा क्या है, इसे देखकर भी लेखकीय नजरिये को समझा जा सकता है। ऊपर वर्णित प्रसंगों में स्त्री की मौजूदगी मेले में या मल-त्याग क्रिया में दिखाई गयी है जो अफसोसनाक है। श्रीलाल शुक्ल ने सामाजिक पीड़ा से क्या संबंध बनाया है, एक विचारणीय मुद्दा है। इनमें प्रतिकार की क्षमता आ ही नहीं सकती, राग दरबारी 'हाई कॉमेडी' होने के बावजूद संवेदना का विस्तार नहीं करती। इसे परिपक्व जाति, समाज, परिपक्व मस्तिष्क या मानस की रचना कैसे माना जाए? हृदय और बुद्धि में सामंजस्य से जो गहराई और संवेदना जनमनी चाहिए, वह यहां नहीं है। यह कृति समूची हिंदी भाषा-जाति का प्रतिनिधित्व करती है ऐसा भी नहीं कहा जा सकता।

पूरी रचना में कहीं, किसी से भी कोई उम्मीद नहीं जागती। पूरी रचना नाउम्मीद और निराशा की कृति है जो खलनायकों का प्रति संसार रचती है। एक लंगड़ संघर्ष करता है जिसकी लड़ाई घूस के रेट को लेकर है। कुछ-कुछ भुनभुनाहट भर है कभी खन्ना या मालवीय के द्वारा या रंगनाथ बाबू के मुख से। रंगनाथ को लगता है कि शिवपालगंज पूरे देश में फैला है और इससे बचा नहीं जा सकता। क्या यह भुनभुनाहट ही हमारी युग चेतना है? क्या नाउम्मीदी और निराशा के अंधेरे में जीने के लिए हम अभिशप्त हैं? राग दरबारी के अंत में लेखक पलायन संगीत लिखता है। 'इसके बाद वार्ता में गतिरोध पैदा हो गया। मदारी जहन्नुम में जाने के बजाय वहीं जोर-जोर से नाचने लगा और उसकी डुगडुगी अब नई ताल पर बज रही थी। कुछ दूरी पर कुछ कुत्ते दुम हिलाते, कमर लपलपाते भूंक रहे थे। लड़के घेरा बांधकर खड़े हो गए थे। दोनों बंदर मदारी के सामने बड़ी गंभीरता से मुंह फुलाकर बैठे हुए थे और लगता था कि ये जब उठेंगे तो भरनाट्यम से नीचे नीचे नहीं नाचेंगे।' भारतीय बुद्धिजीवी में संघर्ष में टकराने के बजाय पलायन दिखाकर लेखक क्या संकेत देता है? उसकी अकर्मण्यता, पुंसत्वहीनता, पलायनवादीवृत्ति, यथार्थ से पलायन। 'भागो, भागो, भागो, यथार्थ तुम्हारा पीछा कर रहा है।' क्या यही लेखकीय दायित्व है? रंगनाथ जिस पलायन संगीत को सुनता है उसके स्वर हैं, 'तुम मझोले हैसियत के मनुष्य हो और मनुष्यता के कीचड़ में फंस गए हो। तुम्हारे चारों तरफ कीचड़ ही कीचड़ है। कीचड़ से बचो, यह जगह छोड़ो। यहां से पलायन करो।' यहां कोई भी धनिया, गोबर, बलचनमा, बामनदास, कालीचरन, छिकुरिया जैसा पात्र नहीं दिखाई पड़ता। क्या यही आशय ग्रहण कर लिया जाय? मार्क्स ने कहा है, Philosophers have only interpreted the world in Various ways, the points is to change it. श्रीलाल शुक्ल दार्शनिक नहीं लेखक हैं और लेखक से यह उम्मीद तो की ही जा सकती है कि सकारात्मक बदलाव की कोई उम्मीद बाकी रहे। इसी संदर्भ में हादी आजमी की याद आती है-

'लगाकर शम्मा से लौ, खाक कितने हो चुके लेकिन, ये परवाने अभी तक रोशनी की बात करते हैं।'

इन सबके बावजूद राग दरबारी अपने शिल्प प्रयोग, भाषा की ताजगी एवं वैद्यजी जैसा चरित्र रचने के कारण बड़ी रचना बन गई है। राग दरबारी ने रचना के चालीस वर्ष बाद भी वैसी दूसरी रचना को असंभव बना दिया है। कोई लिखने का प्रयास करें तो चोरी तुरंत पकड़ी जाएगी। इसी कारण मनोहरश्याम जोशी और विनोद कुमार शुक्ल आदि बाद के रचनाकारों को मनोविनोद और चुहलबाजी का सहारा लेना पड़ा है। राग दरबारी के संवाद भी स्मरणीय बन पड़े हैं। फिर भी जीवन की वास्तविकता बड़ी चीज है और बकौल गालिब हम कह सकते हैं कि काश! ऐसा होता तो कैसा होता।

7/177, शिवनेरी बिल्डिंग
सायन माटुंगा रोड
सायन (प.), मुंबई-400022

साहित्य, संस्कृति एवं सामाजिक चेतना का पाक्षिक
ज़िन्दा लोग
संपादक
संजना तिवारी
संपादकीय सलाहकार
वेद शर्मा
संपर्क
एफ-119/1, फेज-2
अंकुर एन्क्लेव, करावल नगर
दिल्ली-94

'नई धारा'
द्वैमासिक के 59 वर्ष
संपादक
प्रथमराज सिंह
सौजन्य संपादक
शिवनारायण
प्रति अंक : 15 रुपये
संपर्क
सूर्यपुरा हाऊस, बोरिंग रोड, पटना

रीता

ग्राम्य जीवन के यथार्थ का ऐतिहासिक दस्तावेज

'गोदान' (1936) 'मैला आंचल' (1954) और 'राग दरबारी' (1968) भारतीय ग्राम्य जीवन पर आधारित ऐसी औपन्यासिक कृतियां हैं जिन्हें बिना किसी संकोच के 'क्लासिक' रचनाओं का दर्जा दिया जा सकता है। वस्तुत: ये रचनाएं केवल उपन्यास नहीं अपितु ऐसी महागाथाएं हैं जो भारतीय संस्कृति और जीवन से जुड़े महानताओं के मिथक को झकझोर कर रख देती हैं और एक गहरे आत्मचिंतन की मांग करती हैं कि– 'हम कौन थे? क्या हो गए हैं? और क्या होंगे अभी?', 'पैराडाइज लास्ट' में धर्मजनित नैतिक दृष्टि से मनुष्य के पतन की कहानी कही गई है पर ये उपन्यास जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अत्यंत यथार्थता के साथ मनुष्य के पतन की नारकीय गाथा को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। प्रेमचंद ने उपन्यास को परिभाषित करते हुए उसे 'मानव चरित्र का चित्रण' कहा था और यह आकस्मिक नहीं है कि ये उपन्यास मानव जीवन के असली चरित्र को उद्घाटित करते हुए देश, समाज, लोकतंत्र, कानून या यूं कहिए कि मनुष्य निर्मित सभी व्यवस्थाओं के छल-छद्म और खोखलेपन का कच्चा चिट्ठा खोलकर रख देते हैं। यही कारण है कि 'मैला आंचल' की समीक्षा करते हुए आलोचकों को 'गोदान' की याद आती है और 'राग दरबारी' पर विचार करते समय 'गोदान' और 'मैला आंचल' से बरबस ही उसकी तुलना की जाने लगती है। भारतीय ग्राम्य जीवन पर आधारित ये तीनों क्लासिक रचनाएं अपनी अंतर्वस्तु और यथार्थ दृष्टि के कारण आपस में गहराई से जुड़ी हुई हैं। बदलते समय के साथ बदले हुए ग्राम्य जीवन के यथार्थ का ये औपन्यासिक कृतियां महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पड़ाव भी हैं और जीवन्त दस्तावेज भी।

'गोदान' स्वतन्त्रता पूर्व साम्राज्यवादी ब्रिटिश शासन के आर्थिक शोषण तथा भारतीय समाज के विषम ढांचे के दोहरे पाटों के बीच पिसते भारतीय किसान जीवन की एक त्रासदी है। मजदूर बनकर बीच सड़क पर दम तोड़ने को अभिशप्त भारतीय किसान की नियति यहां स्पष्ट है और ऐसा प्रतीत होता है कि पराधीन भारत में किसानों की मुक्ति की आकांक्षा सिर्फ एक दिवास्वप्न है। होरी की नियति ही भारतीय किसान की नियति है और 'इसके आगे राह नहीं'। 'मैला आंचल' देश की स्वतंत्रता के मुहाने पर खड़े भारतीय ग्राम्य जीवन की गरीबी, जहालत, अशिक्षा और बीमारी से ग्रस्त एक ऐसी सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करता है जहां स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जीवन विकास और परिवर्तन के अनेक सपनों के बुने जाने और उनके सच होने की अपार संभावनाएं थीं पर होता है वही– ढाक के तीन पात। भारतवर्ष को राजनीतिक मुक्ति तो मिलती है पर गांवों की मुक्ति नहीं होती, उसका आंचल मैला का मैला रह जाता है। 'जो है उससे बेहतर चाहिए। इस दुनिया को साफ करने के लिए मेहतर चाहिए'– की कामना अधूरी की अधूरी रह जाती है क्योंकि स्वतंत्र भारत का नेतृत्व गांवों की गंदगी को साफ करने वाले 'मेहतर' बनने की मानसिकता से कोसों दूर 'पटनियारोग' से ग्रस्त है। लोकतंत्र बगुला तंत्र बन जाता है और 'जनता द्वारा, जनता के लिए, जनता का' प्रभृति भावनाएं बिल्कुल बेअसर साबित होती हैं। फलत: 'गोदान' का बेलारी और सेमरी मुक्ति की आकांक्षा और स्वप्न को बटोरे अधिक से अधिक 'मैला आंचल' का धूल, शूल ग्रस्त मेरीगंज ही बन पाता है जिसमें थोड़े बहुत फूल हैं जो कि उसके अपने हैं, शासन द्वारा नहीं खिलाये गए हैं जिसकी परिणति 'राग दरबारी' का शिवपालगंज है जहां 'इंसानियत' चोर, उचक्कों, जुआरिओं, बेइमानों और निठल्लों का जुमला बन चुका है और उसके सच्चे फूल कब के मुरझा चुके हैं। शिवपालगंज भारतीय लोकतंत्र की कागजी सफलताओं के नीचे दबी उसकी असफलताओं की वह सच्ची तस्वीर है जिसने गांवों के मैले आंचल को नरक के अंधेरे में डुबो दिया है। फलत: 'गोदान', 'मैला आंचल' और 'राग दरबारी' क्रमश: भारतीय ग्राम्य जीवन को उकेरने वाले ऐसे ऐतिहासिक पड़ाव हैं जो उनके उत्तरोत्तर पतन के ग्राफ को पूरी ईमानदारी के साथ अंकित करते हैं।

सन् 1936 से 1968 तक की तीन दशकों से कुछ अधिक अवधि में भारतीय गांवों का कुछ कायान्तरण तो अवश्य हुआ। जैसे कि 'मैला आंचल' के मेरीगंज में मलेरिया सेंटर का खुलना, डॉक्टर का आना, राजनीतिक पार्टियों की बढ़ती हुई सक्रियता आदि आधुनिकता की कुछ-कुछ क्षीण प्रकाश रेखाएं जो 'गोदान' में लगभग अनुपस्थित हैं। शिवपालगंज में आजादी के इक्कीस वर्षों बाद भी लोकतांत्रिक व्यवस्था के चिह्न देखने को तो मिलते हैं पर वे हैं नाममात्र के ही, क्योंकि वे जनता के लिए कम, शासन से मिले अपने अधिकारों के द्वारा उनके शोषण के लिए अधिक सक्रिय हैं। शिवपालगंज में ग्राम-सभा, ग्राम-पंचायत, कोआपरेटिव यूनियन, इंटर कॉलेज आदि बहुत कुछ है पर गांवों की वास्तविकता इन कायान्तरणों के बावजूद मूलरूप से वही है जो 'गोदान' और 'मैला आंचल' के जमाने में थी। इस अर्थ में गांव नहीं बदले हैं, उनका विकास नहीं हुआ है। उनकी जिंदगी मध्यकालीन की मध्यकालीन ही है यद्यपि उनमें आधुनिकता का रंगरोगन और तड़का खूब लगाया गया है। तौर-तरीके बदल गए हैं पर दृष्टि वही की वही, बल्कि कहा जा सकता है कि और भी घातक हो गई है। भूमि-समस्या, जातिगत वैमनस्य, स्वार्थपरता और भाई-भतीजावाद,

शोषण, कट्टर-संकीर्ण और रूढ़िग्रस्त जीवन-दृष्टि, अशिक्षा, भ्रष्टाचार, मूल्यहीनता, अकर्मण्यता की समस्याएं पहले से कुछ अधिक परिलक्षित होती हैं। कानून तोड़ने, दूसरों को धोखा देने तथा येन-केन प्रकारेण 'जो जीता वही सिकंदर' वाला सिद्धांत अपनाकर अपने साध्य को हथिया लेने वाला समाज का नायक या हीरो बन गया है। जो जितना तिकड़मी और अवसरवादी बनेगा, उसका कद समाज में उतना ही ऊंचा होगा। कुल मिलाकर मुक्तिबोध के शब्दों में बुद्ध के सपने जमींदोज हो गए हैं। सत्य की चोली उतार दी गई है, ईसा के देवदूती पंख झाड़ दिए गए हैं। मानव के सपनों की आतें फाड़ दी गई हैं और परिणाम यही हुआ कि- 'जिंदगी में झोल है। बाकी सब गोल है।' स्वतंत्रता प्राप्ति के दशकों बाद भी भारतीय गांव न तो मुक्त हो पाये और न विकास युक्त।

प्रायः आलोचकों के ऐसे मंतव्य पढ़ने को मिलते हैं कि 'गोदान' की अपेक्षा 'मैला आंचल' और 'राग दरबारी' में ग्राम्य जीवन को अधिक रस प्रवण दृष्टि के साथ उकेरा गया है। इस तरह रस जीविता रेणु और श्रीलाल शुक्ल जी की रचना की खास विशेषता है। हो सकता है आनुपातिक रूप से यह ठीक हो पर ऐसा प्रतीत नहीं होता कि 'गोदान' ग्रामीण जीवन के सरस प्रसंगों से विहीन एक रूक्ष और कठोर रचना का नाम है। 'गोदान' में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जो उसी रस प्रवण दृष्टि का परिचय देते हैं जो मैला आंचल या राग दरबारी में हैं। जैसे- जमींदार राय साहब के यहां का नाटकीय आयोजन, गोबर-झुनिया तथा मातादीन-सिलिया प्रसंग, होली का वर्णन, पिकनिक के अवसर पर वन युवती को निहारने का प्रसंग, कबड्डी प्रसंग आदि। इसलिए कहा यह जाना चाहिए कि प्रेमचंद ने 'शिरीष के फूल' की भांति ग्रामीण जीवन की भीषण शुष्कता और दाहकता से भी 'रस' खींच लेने की जिस प्रवृत्ति का बीज-वपन किया उसका अत्युत्तम पल्लवन-पुष्पन 'मैला आंचल' में हुआ तथा उसके पश्चात 'राग दरबारी' तक आते-आते यह अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई। इस दृष्टि से 'राग दरबारी' ग्राम्य जीवन के सरस चित्रण के त्रिक् को पूरा करता है। यह सच है कि 'मैला आंचल' और 'राग दरबारी' अपनी पूरी सम्पूर्णता में जिस रस प्रवणता को समेटे हुए हैं, वह 'गोदान' में नहीं है पर यह भी सच है कि रस-प्रसंगों को पकड़ने की दृष्टि में 'राग दरबारी', 'मैला आंचल' की अपेक्षा 'गोदान' के अधिक निकट है। 'मैला आंचल' में मोटे तौर पर दो तरह से रस उत्पन्न किए गए हैं। ग्रामीणों की जहालत और मूर्खता, उनकी बोली-ठोली के अनोखे ढंग, आपसी झगड़ों का वर्णन, मेले-ठेले या उत्सवों के वर्णन, ग्रामीणों के विभिन्न मनोरंजक क्रिया कलापों जैसे अखाड़े की गतिविधियां आदि के बड़े दिलचस्प और काव्यमय चित्रण से रसजीविता प्रकट होती है। दूसरे प्रकार में सेक्स और प्रेम प्रसंगों का खुला वर्णन आते हैं जिसकी 'मैला आंचल' में भरमार है। श्रीलाल शुक्ल जी ने प्रमुख रूप से पहले भाग को अपनाया है। 'गोदान' में भी ऐसी ही प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसी प्रकार अंदाजे-बयां या यूं कहिए कि घटनाओं को कहने के अंदाज के मामले में शुक्ल जी रेणु के निकट हैं तो पूरी कथा के ढांचे के निर्माण की शैली की दृष्टि से प्रेमचंद के। वस्तुतः रेणु ने कथानक के विकास के परम्परागत ढांचे को तोड़ा है। यद्यपि किस्सागोई रेणु जी में भी है पर आद्यन्त कथा-विकास की परम्परागत शैली के प्रति उनका रुझान कम दिखाई देता है। श्रीलाल शुक्ल प्रेमचंद की तरह एक कथा को आगे बढ़ाने की शैली को अपनाते हैं। इनके अतिरिक्त 'राग दरबारी' की एक खास विशेषता है। 'राग दरबारी' व्यंग्य नहीं, महाव्यंग्य है। आदि से अन्त तक व्यंग्यात्मक शैली का अभूतपूर्व प्रयोग किया गया है जो पाठक को चमत्कृत कर देता है। यह चमत्कार रीतिकालीन चमत्कार की तरह क्षण भर के लिए कौंधने वाला न होकर स्थायी प्रभाव छोड़ने वाला है। व्यंग्य का ऐसा आद्यन्त निर्वहण न तो 'गोदान' में है और न 'मैला आंचल' में। इस दृष्टि से 'राग दरबारी' विशिष्ट है। इसमें व्यंग्यों की भरमार है। इस तरह कहा जा सकता है कि प्रेमचंद ने उपन्यास की विदेशी विधा को ठेठ भारतीय बनाया और रेणु ने 'आंचलिक उपन्यास' की धारा का आगाज कर इस क्षेत्र में एक रचनात्मक ऊर्जा का विस्फोट किया तो श्रीलाल शुक्ल ने उपन्यास रचना की अभूतपूर्व व्यंग्यात्मक शैली की खोज की। इन तीनों उपन्यासकारों ने अपने रचनात्मक योगदान से हिन्दी उपन्यास लेखन को विश्वस्तरीय बना दिया है।

विवेच्य उपन्यासों में व्यवस्था-विरोध का एक तीव्र स्वर उभय रूप से प्राप्त होता है। 'गोदान' में पूंजीवादी-साम्राज्यवादी ब्रिटिश शासन की व्यवस्थाओं के साथ भारतीय समाज के यथास्थितिवाद को उखाड़ फेंकने की अनुगूंज सुनाई देती है तो 'मैला आंचल' और 'राग दरबारी' में देश की समूची लोकतांत्रिक व्यवस्थाओं से मोहभंग की स्थिति बिल्कुल साफ परिलक्षित होती है। जमींदार राय साहब, तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद एवं वैद्यजी प्रभृति लोग ग्रामीण समाज के उस वर्ग के प्रतिनिधि हैं जो भारतेन्दु के 'अंधेर नगरी' के साहबों की भांति 'सब कानून' और 'सारा हिन्द' हजम कर जाते हैं और लंगड़ और बावनदास जैसे लोग 'सत्त' की लड़ाई लड़ते रह जाते हैं। उनके चीथड़े उड़ा दिए जाते हैं। पर सनीचर जैसे धरती के बोझ ग्राम-सभा के कर्णधार बन जाते हैं। डॉक्टर प्रशांत और रंगनाथ जैसे बुद्धिजीवी अपने को मुक्तिबोध के 'ब्रह्मराक्षस' टाइप भूमिका में कैद कर मूक दर्शक ही बने रहते हैं, उनका कोई सक्रिय और सशक्त हस्तक्षेप दिखाई नहीं देता जिससे सामाजिक परिवर्तन की आशा को आघात पहुंचता है। गोबर और कालीचरन की तरह धधक उठने वाले और संघर्ष करने को उतावले नवयुवकों की पीढ़ी दिखाई ही नहीं देती, इसके बदले बद्री पहलवान और छोटे पहलवान जैसे नवयुवक ही दिखाई देते हैं जो एक तरह से राजनीतिक माफिया या राजनीति में 'मसलपावर' के प्रतीक कहे जा सकते हैं। कमली और बेलाओं को प्रेम करने का भयंकर दण्ड 'बदचलन' की उपाधि प्राप्त कर मुफ्त में बदनाम होकर मिलता है। पूरा का पूरा सामाजिक जीवन विषाक्त हो चुका है इसलिए उसके आमूल-चूल परिवर्तन की तीव्र आकांक्षा विवेच्य रचनाओं में प्रतिध्वनित होती है-'नव गति, नव लय, तालछंद नव. . .।' इस प्रकार 'राग दरबारी' असहमति, विरोध और सामाजिक परिवर्तन हेतु क्रांति का एक नया पाठ प्रस्तुत करता है।

रीडर, हिन्दी विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

तेजपाल चौधरी

रागदरबारी में उपमान योजना

उपमानों के द्वारा व्यापकतर संदर्भों को अपने केनवास में समेट लेना व्यंग्य की बहुप्रचलित शैली रही है। दरअसल समर्थ व्यंग्यकार कभी नाक की सीध में नहीं चलता। ताक-झांक करना उसके स्वभाव का अंग होता है। श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। 'राग दरबारी' हिंदी की उन इनी-गिनी कृतियों में से एक है, जिनके बल पर व्यंग्य साहित्य की सबसे लोकप्रिय विधा होने का दावेदार बन गया है।

'राग दरबारी' का रचनाकाल सातवें दशक का उत्तरार्ध है। यह वह समय था जब भारतीय राजनीति नीति का दामन छोड़कर सत्ता की ओर मुड़ रही थी। अधिकतर नेता आजादी की लड़ाई में किए गए त्याग की कीमत ब्याज सहित वसूलने में लगे थे। सत्ता की इस दौड़ में ऐसे लोग भी शामिल हो गए थे, जिन्होंने अंग्रेजों के खिलाफ राष्ट्रीय संघर्ष में खलनायक की भूमिका निभायी थी।

इस परिवर्तन ने ग्रामीण राजनीति को भी गहराई तक प्रभावित किया। चूंकि गांव ही इन नेताओं के असली वोट बैंक थे, अतः इनकी सूझबूझ से वहां छुटभैया नेताओं का एक ऐसा वर्ग उभरा जो अपने-अपने क्षेत्र के बेताज बादशाह थे, जिनके संरक्षण में गुंडागर्दी पनपती थी और जो पंचायतों पर कब्जा करके, सहकारी समितियों को हथियाकर, स्कूलों-कॉलेजों की मैनेजिंग कमेटियों पर अधिकार जमाकर अपना उल्लू सीधा करने में विश्वास रखते थे। 'राग दरबारी' उसी ग्रामीण राजनीति का प्रामाणिक दस्तावेज है, जिसका केन्द्र शिवपालगंज है।

उपन्यास का आरंभ ही काफी करारे-कटीले व्यंग्य से होता है, उपमान योजना जिसका प्रमुख उपकरण बनी है। उपन्यास का पहला ही वाक्य इसका उत्तम उदाहरण है। 'शहर का किनारा। उसे छोड़ते ही भारतीय देहात का महासागर शुरू हो जाता था।' वस्तुतः भारतीय देहात एक महासागर ही है, जहां तक न विकास की नाव पहुंच पायी है, न प्रकाश की किरणें।

वैद्यजी, 'राग दरबारी' के केन्द्रीय पात्र हैं, उनके सामने भारतीय प्रजातंत्र कितना दयनीय है, इसका चित्रण व्यंग्यकार ने एक अकिंचन व्यक्ति के उपमान के द्वारा किया है। 'वैदजी ने प्रजातंत्र का सपना देखा। उन्होंने देखा कि प्रजातंत्र उनके तख्त के पास पंजों के बल बैठा है। उसने हाथ जोड़ रखे हैं। उसकी शक्ल हलवाहों जैसी है और अंग्रेजी तो अंग्रेजी, वह शुद्ध हिंदी भी नहीं बोल पा रहा है। फिर भी वह गिड़गिड़ा रहा है और वैदजी उसका गिड़गिड़ाना सुन रहे हैं। वैदजी उसे बार-बार तख्त पर बैठने के लिए कहते हैं और समझाते हैं कि तुम गरीब हो तो क्या हुआ, हो तो हमारे रिश्तेदार ही। पर प्रजातंत्र उन्हें बार-बार हजूर और सरकार कहकर पुकारता है।'

सत्ता और अधिकार का इन नेताओं से भी ज्यादा दुरुपयोग इनकी संतानों ने किया है। वैद्यजी के सुपुत्र रूप्पन बाबू उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। श्रीलाल शुक्ल ने उसकी तुलना तेज-तर्राक बछड़े से की है। वे लिखते हैं, 'घर पर उसकी हैसियत तेज-तर्राक बछड़े जैसी थी और यह निश्चय था कि देश के राजनैतिक चरागाह में स्वच्छंद चरने वाली होनहार संतानों की तरह किसी दिन वह भी चरने की कला सीख जाएगा और बाप के मर जाने पर इधर-उधर के रास्तों में साल-छह महीने बिताकर किसी दिन वह अपने बाप की जगह पर ही जुगाली करता हुआ दिखाई देगा।'

बुद्धिजीवी वर्ग भी शुक्ल जी के व्यंग्य का मुख्य आलम्बन रहा है। स्वाभाविक है यह व्यंग्यकार का अपना क्षेत्र है। उन्होंने इस वर्ग के खोखलेपन को खुली आंखों से देखा है, शिवपालगंज में, हर गांव की तरह दलित वर्ग की अलग बस्ती थी। दोनों बस्तियों के बीच गांधी चबूतरा था।' वहां एक नीम का पेड़ था जो बहुत से बुद्धिजीवियों की तरह दूर-दूर तक अपने हाथ-पांव फैलाये रहने पर भी तने में खोखला था।' इन पंक्तियों में 'खोखला तना' कितना व्यंजक उपमान बन पड़ा है।

एक अन्य प्रसंग में छोटे पहलवान बद्री पहलवान से बहस कर रहे हैं। अचानक उनकी आवाज से आत्मविश्वास की खनक गायब हो जाती है। श्रीलाल शुक्ल लिखते हैं– 'जैसे शाश्वत साहित्य लिखने वाला क्रांतिदर्शी साहित्यकार रेडियो के अहलकारों के सामने झिझककर बात करता है, उसी तरह छोटे बद्री पहलवान के आगे सकपका गए।'

कहीं-कहीं तो उनका व्यंग्य अधकचरे बुद्धिजीवियों के प्रति आक्रोश बनकर फूट पड़ा है। एक प्रसंग में वे कहते हैं– 'जिस गधे की पीठ पर सारे वेदों, उपनिषदों और पुराणों का बोझ लदा होता है, वह अंतर्राष्ट्रीय विद्वत्परिषद का अध्यक्ष बन जाने के बावजूद मनुष्य नहीं हो जाता। वह होने के लिए विद्वत्ता का बोझ ढोने के सिवाय कुछ और भी करना होता है।

श्रीलाल शुक्ल की सूक्ष्म दृष्टि व्यवस्था की छोटी-से-छोटी विकृति को भी सहज ही देख लेती है। वहां उपमानों की विविधता ही सम्प्रेषण का माध्यम बनती है। कहीं-कहीं तो वे उपमानों की झड़ी ही लगा देते हैं। गांव की सड़कों पर निरंकुश दौड़ने वाले ट्रकों की भयंकरता और डरे हुए ग्रामीणों की स्थिति का एक चित्र देखिए– 'ट्रक तेजी से चलता रहा। उसे देखते ही साइकल सवार, पैदल, इक्के– सभी सवारियां कई फर्लांग पहले ही से खौफ के मारे सड़क से उतरकर नीचे चली जातीं। जिस

शेष पृष्ठ-93 पर. . .

सुरेश कांत

शिक्षा-क्षेत्र की दुर्दशा पर व्यंग्य

व्यंग्यकारों का प्रिय विषय क्या है? बेशक राजनीति। नेताओं ने देश को कुछ दिया हो या न दिया हो, व्यंग्यकारों को बहुत-कुछ दिया है जिसे व्यंग्य-साहित्य को नेताओं का योगदान भी माना जा सकता है। पर यही बात व्यंग्य में एकरसता, तात्कालिकता और दोहराव के आने का कारण भी बनी है। समर्थ व्यंग्यकारों ने इसीलिए अपने लेखन को केवल राजनीति पर ही केंद्रित होने से बचाया है और विषयों का वैविध्य कायम रखा है। देश और समाज में व्याप्त समस्त प्रकार की विसंगतियों पर जिन व्यंग्यकारों की नजर गई है, श्रीलाल शुक्ल उनमें से एक हैं।

यहां हम शिक्षा के क्षेत्र पर विचार करेंगे। श्रीलाल शुक्ल की पहली ही रचना, जो कविता के रूप में सामने आई थी, शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त विसंगतियों पर आधारित थी। उसके बारे में बताते हुए उन्होंने 1963 में 'धर्मयुग' में लिखा था, 1945 की बात है। तब तक विश्वविद्यालयों में विद्यार्थी को देखते ही उसे लफंगा मानने का चलन नहीं हुआ था। ऐसे प्रोफेसर काफी संख्या में थे जो लड़कों को 'जेंटिलमैन' कहकर संबोधित करते थे, यही नहीं, उन्हें ऐसा समझते भी थे।

मैं प्रयाग विश्वविद्यालय में था। वातावरण सब प्रकार से विद्यार्थी को जेंटिलमैन बना डालनेवाला था। हमारे छात्रावासों के मीटिंग-हॉल में योग्य और विशिष्टता पाने वाले विद्यार्थियों की वार्षिक सूचियां टंगी हुई थीं। ये आई. सी. एस. में, पी. सी. एस. में, उसमें-किसी भी तुक की सरकारी नौकरी की परीक्षा में सफल होनेवालों की सूचियां थी। हम किसी-न-किसी दिन इन्हीं सूचियों में टंगने की उम्मीद बांधे चुपचाप किताबें पढ़ते रहते, उससे भी ज्यादा चुप होकर खेलते और छात्रावास के पुरातनकालीन शौचालयों, गंध-भरे, लगभग गंदे भोजनालयों और बिना पानी के गुसलखानों में आते-जाते हुए अपने को जेंटिलमैन बनाए रखने की कला सीखते।

मेस और रेलवे बोर्ड की भाषा में संडास तो जैसे-तैसे चल जाते, क्योंकि वे जैसे-तैसे अपने उद्देश्य की पूर्ति कर देते थे, पर बिना पानी का गुसलखाना कहां तक सहा जाता? शायद पानी का दबाव कम था। जो भी हो, नल से बूंद-बूंद पानी टपकता था। बूंद-बूंद से घंटे-भर में बाल्टी भरती थी और चौथाई मिनट में रीती हो जाती थी। गुसलखाने के आगे 'क्यू' लगता था, पर 'क्यू' का कोई नियम जरूरी न था। नहानेवालों की भीड़ में दंगे की स्थिति पैदा हो जाती थी। इस स्थिति ने कुछ नेता पैदा किए। नेता ने नहाने की व्यवस्था में सुधार करना चाहा। तब तक हम सीख गए थे कि किसी भी सुधार के लिए धुआंधार आन्दोलन करना ही एकमात्र तरीका है। हम आन्दोलन पर उतर आए।

सिर्फ बाथरूमी चप्पल और पाजामा पहने हुए, हाथ में तौलिया और साबुन लिए नंगे बदन जवांमर्दों का एक जत्था हमारे छात्रावास से बाहर निकला। जुलूस की शक्ल में हम वाइसचांसलर डा. अमरनाथ झा (जो विश्वविद्यालय में खलीफा के नाम से विख्यात थे) के बंगले की ओर बढ़े। आसपास के छात्रावासों के लड़के भी हमारे दु:ख से दु:खित होकर जिस्म के कपड़े उतार-उतारकर तौलिया झटकारते हुए, जुलूस में शामिल हो गए। 'इन्कलाब जिंदाबाद' का वातावरण बन गया। 'लोटे-लोटे की झनकार, सारे बाथरूम बेकार' के नारों से खुद हमारे ही दिमाग गूंज उठे।

ऐसे मौके पर प्रयाण-गीत के लिए मैंने एक कविता लिखी थी, जिसे यहां दोहराना ही इस टिप्पणी का असली उद्देश्य है।

वह कविता उस जमाने के प्रसिद्ध प्रयाण-गीत

खिदमते हिंद में जो कि मर जाएंगे।
नाम दुनिया में अपना भी कर जाएंगे।।

के तर्ज पर लिखी गई थी और इस प्रकार थी–

हम बिना बाथरूम के मर जाएंगे।
नाम दुनिया में अपना भी कर जाएंगे।।
यह न पूछो कि मरकर किधर जाएंगे।
होगा पानी जिधर, बस उधर जाएंगे।।
जून में हम नहाकर थे घर से चले।
अब नहाएंगे फिर जबकि घर जाएंगे।।
यह हमारा वतन भी अरब हो गया।
आज हम भी खलीफा के घर जाएंगे।।
. . .आदि-आदि।

'यह मेरी पहली व्यंग्य रचना थी। पता नहीं, उस करुण-करुण मसृण-मसृण' वाले जमाने में जबकि ज्यादातर मैं खुद उसी वृत्ति का शिकार था– मैं यह प्रयाण-गीत कैसे लिख ले गया। जो भी हो, इसका यह नतीजा जरूर निकला कि दस साल बाद जब मैंने व्यंग्य लिखना शुरू किया तो मुझमें यह आत्मविश्वास था कि मैं दस साल की सीनियरिटी का व्यंग्य-लेखक हूं और दूसरों की तरह किसी भी पोच बात को सीनियरिटी के सहारे चला सकता हूं।' (कुछ जमीन पर, कुछ हवा में, मेरे व्यंग्य-लेखन का एक ऐतिहासिक क्षण, पृष्ठ- 107-09)

बेशक यह एक निजी एवं तात्कालिक प्रतिक्रिया-भर थी। पर यह उनके व्यंग्य के रास्ते पर चल निकलने का आधार बन गई और इसी का विस्तार आगे चलकर उनके व्यंग्य-संग्रह 'अंगद का पांव' की रचनाओं में हुआ। उस संग्रह के एक व्यंग्य में वे एक

पाठशाला की बदहाली का जिक्र करते हुए लिखते हैं, 'संस्कृत-पाठशाला का चबूतरा टूटकर धरती के ऊपर चिंताभार-सा टिका है। उस पर पड़ा हुआ छप्पर देखकर लगता है कि यहां प्रलय की लहरें आ चुकी हैं और उस पर पालना बनाकर निकल चुकी हैं। उस छप्पर में बर्र के छत्ते शीतल ज्वाला-सी जला रहे हैं। यत्र-तत्र फैली मक्खियों का समुदाय हृदय में बसी हुई सुधियों की बस्ती-सा जान पड़ता है।'

यही हाल 'राग दरबारी' के छंगामल विद्यालय इंटरमीडिएट कॉलेज का भी है, जहां से इंटरमीडिएट पास करनेवाले लड़के सिर्फ इमारत के आधार पर कह सकते थे कि हम शांति निकेतन से भी आगे हैं, हम असली भारतीय विद्यार्थी हैं, हम नहीं जानते कि बिजली क्या है, नल क्या है, पक्का फर्श किसको कहते हैं, सैनिटरी फिटिंग किस चिड़िया का नाम है। हमने विलायती तालीम तक देसी परंपरा में पाई है और इसीलिए हमें देखो, हम आज भी उतने ही प्राकृत हैं, हमारे इतना पढ़ लेने पर भी हमारा पेशाब पेड़ के तने पर ही उतरता है।'

देश के अनेक सरकारी स्कूल-कॉलेजों की भी स्थिति खस्ताहाल ही है। उनके पास अच्छा भवन नहीं, वे तंबुओं में लगते हैं, न्यूनतम सुविधाओं का भी उनमें अभाव है। उनमें अध्यापक भी पर्याप्त संख्या में नियुक्त नहीं किए गए हैं और जितने नियुक्त किए भी गए हैं, वे अध्यापन के अलावा सब कुछ करते हैं– 'राग दरबारी' के मास्टर मोतीराम की तरह, जो कक्षा में पढ़ाते कम हैं और ज्यादा समय अपनी आटे की चक्की को समर्पित करते हैं। जितने समय वे कक्षा में रहते भी हैं, उतने समय भी मानसिक रूप से वे अपनी चक्की के पास ही रहते हैं, उसी की बातें करते रहते हैं।

स्कूल-कॉलेजों में आज यह प्रवृत्ति आम है। मास्टर मोतीराम हमें सभी स्कूल-कॉलेजों में दिख जाते हैं। बल्कि ज्यादातर शिक्षक मास्टर मोतीराम ही हैं, नाम उनका कुछ भी हो। वे ट्यूशन करते हैं, दुकान करते हैं, निजी धंधे करते हैं। इन सबके बाद छात्रों को देने के लिए उनके पास समय ही कहां बचता है?

बेशक सभी शिक्षक ऐसे नहीं होते। कुछ शिक्षक अभी भी, सारे सामाजिक आर्थिक दबावों के बावजूद अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक हैं, अध्यापन के प्रति समर्पित हैं, उसमें शिथिलता नहीं बरतते और न कोई समझौता ही करते हैं। किंतु ऐसे अध्यापकों का क्या हाल होता है, इसकी ओर भी श्रीलाल शुक्ल की दृष्टि गई है। 'एक देहाती की नजर में शहर के सौ मीटर' रचना में उन्होंने आत्मकथात्मक शैली में एक ऐसे ही अध्यापक की कठिनाइयों और विपत्तियों का मार्मिक चित्रण किया है, 'सौ मीटर लंबी इस यात्रा का विवरण देने से पहले अपना परिचय दे दूं। यह यात्रा जितनी लंबी है, मैं उतना ही छोटा हूं। यानी, प्राइमरी स्कूल का एक मुअत्तल अध्यापक हूं। कई साल से मुअत्तल हूं और लगता है, कई साल तक रहूंगा। . . .अध्यापक पद पर मुझे नियुक्ति तो मिल गई, पर स्कूल नहीं मिला। दो महीने मैं अध्यक्ष के घर बैठा-बैठा मतदाताओं की सूचियां तैयार करता रहा, फिर सिर्फ तीन महीने उनके फार्म पर 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन करता रहा। आखिरकार एक दिन चोरी-चोरी मैं उस गांव पहुंचा, जहां के प्राइमरी स्कूल का मैं अध्यापक था। तब मैंने विद्रोह किया और इस बार अध्यक्ष की प्रतिष्ठा का सवाल बन गया। उसने मुझे मुअत्तल किया और भूल गया। कई बार याद दिलाने पर भी वह मुझे भूला ही रहा। तब उसके विरूद्ध एक शिकायती पत्र लिखकर मैं किसी को देने के लिए इस शहर में आया। बस, यहीं से मेरी सौ मीटर लंबी यात्रा शुरू हो जाती है।'

आगे श्रीलाल शुक्ल इस यात्रा के पड़ावों और उसमें आनेवाली बाधाओं का विस्तृत ब्योरा देते हैं और अंततः अध्यापक को इतना स्पष्ट हो जाता है कि 'सौ मीटर की यह यात्रा अभी खत्म नहीं हुई है।'

किंतु ऐसे अध्यापक अब बहुत कम रह गए हैं, ज्यादातर तो मास्टर मोतीराम ही दिखाई देते हैं वस्तुतः शिक्षा एक ऐसा क्षेत्र है, जिसकी सरकार द्वारा सबसे ज्यादा उपेक्षा की गई है। पंचवर्षीय योजनाओं/ वार्षिक बजटों में शिक्षा के लिए निर्धारित की जानेवाली राशि, जो प्रायः अन्य सभी मदों से कम होती है, इसका प्रमाण है। शिक्षा-प्रसार और शिक्षा-नीति के मूल में सिद्धांत और आदर्श तो बड़े महान रखे जाते हैं, भाषणों में बातें भी बड़ी-बड़ी की जाती हैं, आश्वासन भी खूब दिए जाते हैं, पर असल में इस ओर तवज्जुह बहुत कम दी जाती है। शिक्षकों से अपेक्षाएं बड़ी-बड़ी की जाती हैं, पर सुविधाओं के नाम पर उन्हें अक्सर ठेंगा ही मिलता है। शिक्षकों का कार्य और दायित्व आई. सी. एस., पी. सी. एस. अधिकारियों की तुलना में गुरुतर नहीं तो कुछ कमतर भी नहीं है, पर दोनों को उपलब्ध सुविधाओं में जमीन-आसमान का अंतर है। परिणामतः स्थिति यह हो गई है कि प्रतिभाएं पहले आई. सी. एस, पी. सी. एस, बैंकिंग तथा ऐसी ही अन्य आकर्षक सेवाओं में जाना चाहती हैं, और जब इनमें से कहीं अवसर नहीं मिल पाता, तब शिक्षा-सेवा की ओर उन्मुख होती हैं। दूसरे शब्दों में 'क्रीम' तो इन सेवाओं में चली जाती है, तलछट ही प्रायः शिक्षा-सेवा के हिस्से आता है। इस तरह अध्यापक बने लोगों से यह अपेक्षा कैसे की जा सकती है कि वे छात्रों को बेहतर शिक्षा दे सकेंगे?

रही-सही कसर राजनीति ने पूरी कर दी है। राजनीति की दूषित वायु ने शिक्षा के क्षेत्र को भी विषाक्त बना दिया है। शिक्षा के क्षेत्र में राजनीति का आक्रमण दोतरफा हुआ है– बाहर से अर्थात शिक्षा-जगत में राजनीतिकों का हस्तक्षेप और भीतर से अर्थात शिक्षकों तथा शिक्षार्थियों में राजनीतिक कूटनीतिक प्रवृत्ति का उभार। परिणामतः शिक्षालयों में पठन-पाठन के अलावा सब-कुछ होने लगा है। विद्यालय वस्तुतः राजनीति के अखाड़े बन गए हैं। परिणाम छात्रों की अनुशासनहीनता के रूप में सामने आया है। 'राग दरबारी' के रूप्पन उनका बखूबी प्रतिनिधित्व करते हैं– संभवतः इसी प्रयोजन से श्रीलाल शुक्ल ने उन्हें बहुवचन में संबोधित किया है। उनके शब्दों में, उन्हें बहुत प्रेम था, इसलिए वे उसमें पिछले तीन साल से पढ़ रहे थे।'

वे एक ऐसे जन्मजात छात्र-नेता हैं, जो छात्र कम और नेता ज्यादा होते हैं और शिक्षालय में केवल इसलिए प्रवेश लेते हैं ताकि छात्र-समुदाय के बीच रहकर

व्यावहारिक राजनीति की आरंभिक शिक्षा प्राप्त कर सकें। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये छात्र-नेता राजनीतिक उद्देश्यों से ही चालित रहते हैं और शिक्षालय उनके लिए राजनीति का स्थानीय अखाड़ा भर होता है।

स्कूल-कॉलेजों में पठन-पाठन नहीं होता, तो छात्र परीक्षाएं कैसे उत्तीर्ण करते हैं? दो तरीकों से। एक तो, जैसे हत्यारे किसी की हत्या के लिए 'सुपारी' लेते हैं, वैसे ही अध्यापक नकदी या कुछ वस्तुएं लेकर छात्रों को उत्तीर्ण करने का 'बीड़ा' उठा लेते हैं। ये चीजें वे ट्यूशन-फीस के नाम से लेते हैं और जो छात्र उनसे ट्यूशन पढ़ता है, अर्थात पढ़े या नहीं पर फीस दे देता है, उसका उत्तीर्ण होना निश्चित होता है, और जो नहीं पढ़ता, उसका अनुत्तीर्ण होना भी उतना ही निश्चित होता है। चूंकि कोई भी सच्चा अध्यापक अपने छात्रों को अनुत्तीर्ण होते नहीं देखना चाहेगा, अत: वह उन सभी को ट्यूशन पढ़ने के लिए हरसंभव तरीके से मसलन इशारों-इशारों में, एकदम सीधे कहकर, मार-पीटकर, तिमाही-छमाही परीक्षा में फेल करके प्रेरित करता रहता है। जो मूढ़ बालक उसके इशारों को नहीं समझते या ट्यूशन 'अफोर्ड' नहीं कर सकते या अपनी योग्यता और मेहनत पर भरोसा करने के कारण उसकी जरूरत नहीं समझते, वे बाद में पछताते हैं। दूसरा तरीका परीक्षा में नकल करने का है, जिसने अब एक कला का रूप ले लिया है और जिसके अपने तौर-तरीके हैं, अपने उपकरण हैं, अपनी कूट भाषा है। 'राग दरबारी' में श्रीलाल ने एक हाईस्कूल-कम-इंटरमीडिएट कॉलेज का बहुत सनसनीखेज नकल-नजारा पेश किया है।

स्कूल-कॉलेजों की ही नहीं, विश्वविद्यालयों की भी यही कहानी है। वहां भी अव्यवस्था और अराजकता का बोलबाला है। उनमें कोई अच्छाई ढूंढ़नी ही हो तो सिर्फ दूसरे विश्वविद्यालयों से तुलना करके ही ढूंढ़ी जा सकती है जो उनसे भी बदहाल हैं। लखनऊ विश्वविद्यालय की इसी 'अच्छाई' का चित्रण करते हुए शुक्ल लिखते हैं, 'विश्वविद्यालय लखनऊ में भी है। आप चाहे जितना आश्चर्य करें, पर यह सही बात है। पूर्ण विकसित विश्वविद्यालय है, जिसकी सबसे बड़ी सुंदरता यह है कि गोरखपुर विश्वविद्यालय इससे ज्यादा गया-बीता है।'

इस प्रकार शिक्षा-क्षेत्र की दुर्दशा को श्रीलाल शुक्ल ने बहुत बारीकी से और हर पहलू से देखा है तथा अपनी व्यंग्य-रचनाओं में उस पर तीखे प्रहार किए हैं।

7-बी/बी-2, हार्बर हाइट्स, एन. ए. सावंत मार्ग, कोलाबा, मुंबई-400 005

. . . पृष्ठ-90 का शेष

तेजी से वे भाग रही थीं, उससे लगता था कि उनकी निगाह में वह ट्रक नहीं है, वह आग की लहर है, बंगाल की खाड़ी से उठा हुआ तूफान, जनता पर छोड़ा हुआ बदकलाम अहलकार है, पिंडारियों का गिरोह है।' इसी प्रकार को-ऑपरेटिव फार्म का उद्घाटन करने आए अफसर की टाल-मटोल भरी बातें सुनकर वैद्यजी का क्रोध उफन पड़ता है। उसकी अभिव्यक्ति के लिए शुक्लजी ने इन उपमानों का प्रयोग किया है– 'सुनते ही वैदजी दुर्वासा का क्रोध, हिटलर की तानाशाही और जवाहरलाल नेहरू की झुंझलाहट को एक में मिलाकर उस अफसर पर बिगड़ पड़े।'

दूसरी ओर कई बार एक ही उपमान अर्जुन के तीर की तरह सारी विकृतियों को बेधता चला जाता है। जैसे ड्राइवर के मुख से शिक्षा की आलोचना सुनकर व्यंग्यकार का व्यंग्य इन शब्दों में फूट पड़ता है– 'वर्तमान शिक्षा पद्धति रास्ते में पड़ी हुई कुतिया है, जिसे कोई भी लात मार सकता है।'

श्रीलाल शुक्ल का व्यंग्य कभी उपमान में निहित होता है तो कभी उपमेय में। उपन्यास के प्रारंभ में रंगनाथ को ट्रक से यात्रा करनी पड़ती है। ट्रक का गियर खराब है और बार-बार फिसलकर न्यूट्रल में जा गिरता है। रंगनाथ कहता है, 'ड्राइवर साहब, तुम्हारा गियर तो बिल्कुल अपने देश की हुकूमत जैसा है, उसे चाहे जितनी बार टॉप गियर में डालो, दो गज चलते ही फिसल जाती है।' सरकार की निष्क्रियता की इससे उत्तम अभिव्यक्ति क्या हो सकती है?

एक प्रसंग में वे नैतिकता की तुलना टूटी-फूटी चौकी से करते हैं। 'उनकी निगाह एक कोने की ओर चली गयी। वहां लकड़ी की एक टूटी-फूटी चौकी पड़ी थी। उसी ओर उंगली उठाकर गयादीन ने कहा– 'नैतिकता, समझ लो, यही चौकी है। एक कोने में पड़ी है। सभा-सोसायटी के वक्त उस पर चादर बिछा दी जाती है। तब बड़ी बढ़िया दिखती है। इस पर चढ़कर लेक्चर फटकार दिया जाता है।'

वस्तुत: उपमान योजना उनके व्यंग्य का प्रमुख उपकरण है। जीप की जगह घोड़ों और आधुनिक हथियारों की जगह पुरानी बंदूकों से सज्जित थाने को वे मध्य युग की चीज बताते हैं। इमारतों के अभाव में खुले आकाश के नीचे लगती कक्षाओं वाले कॉलेज की शांति-निकेतन से तुलना करते हैं तथा पाठ्य-पुस्तकों को सड़े-गले फल कहते हैं, जिन्हें कई लड़के पचा नहीं पाते और कै कर देते हैं। एक प्रसंग में वे गयादीन के भावहीन चेहरे की तुलना रामलीला के राम-लक्ष्मण से करते हैं तो एक जगह बेवकूफी को 'वैल्यू' कहकर मूर्खता पर करारी चोट करते हैं– 'जैसे बुद्धिमत्ता एक वैल्यू है, वैसे ही बेवकूफी भी अपने आप में एक वैल्यू है। बेवकूफी की बात तुम चाहे काट दो, चाहे मान लो, उससे उसका न कुछ बनता है, न बिगड़ता है।'

कभी-कभी श्रीलाल शुक्ल उपमानों में कन्ट्रास्ट का प्रयोग करते हैं तो व्यंग्य बहुत पैना हो जाता है। जैसे– 'स्टेशन वैगन से एक अफसरनुमा चपरासी और एक चपरासीनुमा अफसर उतरे।' इस कथन के व्यंग्य को पकड़ने के लिए किसी स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं।

श्रीलाल शुक्ल के उपमानों की संप्रेषण क्षमता को कुछ पृष्ठों में समेटना संभव नहीं। एक जगह वे लिखते हैं– 'कुछ ही दिनों में रंगनाथ को शिवपालगंज के बारे में ऐसा लगने लगा कि महाभारत की तरह जो कहीं नहीं है, वह यहां है। जो यहां नहीं है, वह कहीं नहीं है।' बिल्कुल यही बात 'रागदरबारी' के संबंध में कही जा सकती है। इस कालजयी कृति में व्यंग्य उस ऊंचाई तक पहुंचा है, जिसे छूने के लिए बहुत साधना की जरूरत होती है।

56, रामदास कॉलोनी, जलगांव (महाराष्ट्र)

संतोष खरे

'राग दरबारी' : फलक के विभिन्न कोण

'राग दरबारी' पढ़ने के पूर्व मैंने श्रीलाल शुक्ल की कुछ रचनाएं पत्रिकाओं में पढ़ी थीं। उनके लेखन का वास्तविक परिचय मुझे इस उपन्यास को पढ़ने पर ही मिला। उपन्यास के हर पैराग्राफ में समाज की विसंगतियों, आडम्बर, ढोंग, पाखण्ड आदि के जो चित्र देखने को मिले वे अविस्मरणीय हैं। भारत के ग्रामीण क्षेत्र का ऐसा सटीक और व्यंग्यात्मक वर्णन पहली बार पढ़ने को मिला। इसे पढ़ते समय कई बार मन ही मन हंसता रहा। हास्य और व्यंग्य का अनूठा सम्मिश्रण इस पुस्तक में देखने को मिलता है। वे स्वयं भी हास्य में व्यंग्य का तत्व सन्निहित मानते हैं तथापि व्यंग्य के लिए हास्य अनिवार्य नहीं मानते। मुझे उनका व्यंग्य लेखन इसीलिए रोचक लगता है कि उसमें हास्य के पर्याप्त तत्व रहते हैं।

'सापेक्ष-41' में महावीर अग्रवाल के प्रश्नों के उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा है, 'हास्य व्यंग्य का विरोधी नहीं है। व्यंग्य को अधिक मनोरंजक और स्वीकार्य बनाता है, किंतु हास्य जिन परिस्थितियों में उत्पन्न होता है उसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। प्राचीन काव्य-शास्त्र के अनुसार श्रृंगार और शांत रस से भी हास्य की सृष्टि हो सकती है। मगर व्यंग्य का कार्य मुख्यत: आलोचनात्मक है, जो चारों ओर से जीवन का बारीकी से निरीक्षण करके उसकी खामियों को उजागर करने में निहित है। व्यंग्य वस्तुत: एक सुशिक्षित मस्तिष्क की देन है और पाठक के स्तर पर भी सुशिक्षित प्रतिक्रिया की मांग करता है। वह पाठक को गुदगुदाने के लिए नहीं, बल्कि किसी विसंगति या विडम्बना के उद्घाटन से उसके संपूर्ण संस्कारों को विचलित करने की प्रक्रिया है। व्यंग्य के लिए हास्य का होना अनिवार्य तो नहीं। मगर व्यंग्य के कई तत्व हैं जैसे– विडम्बना, अन्योक्ति, अतिशयोक्ति, फंतासी, पैरोडी आदि। उनमें हास्य का तत्व बहुत हद तक अपने आप सन्निहित होता है। कुछ ऐसे ही समर्थ लेखक होते हैं, जैसे मेरे ही समकालीनों में शरद जोशी और केशवचंद्र वर्मा जिन्होंने अपनी रचनात्मक क्षमता द्वारा व्यंग्य की परिभाषागत सीमाएं ध्वस्त होती हुई नजर आती हैं।' मुझे उनका व्यंग्यकार उत्कृष्ट रूप में 'राग दरबारी' में देखने को मिलता है। उपन्यास के पात्र विषय-वस्तु और परिस्थिति के अनुसार सटीक हास्य, व्यंग्य और करुणा उत्पन्न करते हैं।

'बीसवीं शताब्दी : उत्कृष्ट साहित्य-व्यंग्य रचनाएं' के संपादक प्रेम जनमेजय ने लिखा है, 'हिंदी व्यंग्य साहित्य में 'राग दरबारी' का प्रकाशन एक महत्वपूर्ण घटना है। वस्तुत: इस कृति ने व्यंग्य के प्रचार में बहुत सहायता की है। विषय की शैली की दृष्टि से जो विविधता इस व्यंग्य उपन्यास में एक साथ मिलती है, उसे आज तक कहीं अन्यत्र खोज पाना संभव नहीं है। श्रीलाल शुक्ल की यह व्यंग्य कृति स्वतंत्रता पश्चात भारतीय समाज की शैक्षिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि विसंगतियों का साक्षात ही नहीं कराती है अपितु उन पर सार्थक दिशायुक्त प्रहार भी करती है। व्यंग्यकार ने कहीं भी अनावश्यक हास्य का प्रयोग नहीं किया है अपितु उसका एकमात्र लक्ष्य तो प्रहार का रहा है। 'वर्तमान शिक्षा पद्धति तो रास्ते पर पड़ी कुतिया है, जिस पर हर कोई लात लगाकर चला जाता है।' राग दरबारी का यह वाक्य तो वर्तमान शिक्षा पद्धति पर सार्थक व्यंग्य करने वाला सूत्र बन गया है।

श्रीलाल शुक्ल की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वे व्यंग्य के साथ ही अन्य विधाओं के भी सफल लेखक हैं। उन्होंने उपन्यास, कहानी, निबंध, नाटक, रेखाचित्र, जीवनी और आलोचनात्मक निबंध लिखे हैं। उनके प्रमुख उपन्यास हैं– मकान, पहला पड़ाव, सूनी घाटी का सूरज, अज्ञातवास, सीमाएं टूटती हैं, बिश्रामपुर का संत और राग दरबारी। वे अपनी अधिकांश रचनाओं को घोषित रूप से व्यंग्य नहीं मानते। उनका कथन है कि 'मकान और पहला पड़ाव में व्यंग्य कथ्य में ही संश्लिष्ट हो गया है। राग दरबारी जिसे व्यंग्य उपन्यास कहा जाता है, कोलाज की शैली में लिखा गया एक उपन्यास है। व्यंग्य के जितने उपादान हैं वे पाठकों को उसमें मिलते हैं। यहीं पर राग दरबारी को व्यंग्य का उपन्यास कहना उसका परिसीमन है. . .' (सापेक्ष-41)

उनके विविध संकलन हैं 'यह घर मेरा नहीं', 'अगली शताब्दी का शहर'। कहानी संग्रह है सुरक्षा तथा अन्य कहानियां। जीवनी-भगवती चरण वर्मा और अमृत लाल नागर। उनकी कई रचनाओं का कई भारतीय एवं अंग्रेजी भाषा में अनुवाद हुए। 1969 में उन्हें 'राग दरबारी' पर साहित्य अकादमी पुरस्कार, 1978 में 'मकान' पर म.प्र. साहित्य परिषद् का देव पुरस्कार, 1989 में उ.प्र. हिंदी संस्थान द्वारा साहित्य भूषण सम्मान, 1994 में अतिविशिष्ट लोहिया सम्मान तथा उसके बाद मैथिलीशरण गुप्त सम्मान, व्यास सम्मान एवं अन्य पुरस्कार प्राप्त हुए हैं। जिस कुशलता के साथ वे व्यंग्य लेखन करते हैं उतनी ही कुशलता के साथ वे साहित्य के गंभीर विमर्श में भी भागीदारी करते हैं। मैंने उनके समीक्षात्मक लेख पत्रिकाओं में पढ़े हैं। इसके अलावा समय-समय पर साहित्यिक गोष्ठियों में व्यक्त किए गए विचार पढ़कर मुझे सुखद आश्चर्य होता है कि एक व्यंग्यकार होने के साथ-साथ शुक्ल जी साहित्य के गंभीर अध्येता और समीक्षक हैं। वे एक साथ कई विधाओं के समान ढंग से सार्थक लेखन करने में सक्षम हैं।

श्रीलाल शुक्ल के लेखन की जो बात पाठकों को विशेष रूप से प्रभावित करती है वह है उनकी भाषा। 'हिंदी व्यंग्य का इतिहास' में सुभाष चंदर ने लिखा है, 'श्रीलाल शुक्ल

जी की भाषा व्यंगानुकूल है। वह रचना की प्रकृति के अनुसार व्यंग्य भाषा का चयन करते हैं। मसलन राग दरबारी की भाषा उत्तर प्रदेश के मध्य अंचल की ग्राम्य भाषा का गुण लिए हुए है। जहां देशज भाषा के शब्दों का प्रयोग रचना में यथार्थता का पुट लाता है। इसके अलावा शुक्ल जी की भाषा में अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू, अरबी-फारसी, बंगला, अवधी आदि भाषाओं के लोक प्रचलित शब्द खूब मिलते हैं। मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग के द्वारा वह भाषा में माधुर्य लाते हैं, उनकी शैली एकदम अनूठी है जिसमें वह वक्रोक्ति, वाग्वैदग्ध, परिहासबोध आदि सभी भाषिक शक्तियों का सिद्ध प्रयोग करके व्यंग्य में धार लाते हैं।'

हरिशंकर परसाई की तरह श्रीलाल शुक्ल भी व्यंग्य को विधा नहीं अभिव्यक्ति की एक शैली मानते हैं। इस संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि 'व्यंग्य विधा नहीं अभिव्यक्ति की एक शैली है। जो अपने आप को व्यंग्य लेखक कहता है, वह भ्रम में है। भटकाव की स्थिति में है। व्यंग्य की परिभाषागत अलग पहचान करना कठिन है। व्यंग्य करुण कथा के मूल स्वर में बदल गया है। फंतासी पहले व्यंग्य का ही हथियार था। अब कथा लेखन के शिल्प में फंतासी स्वीकार्य है। अधिकांश व्यंग्य लेखक इस बात से बेखबर हैं कि व्यंग्य का अधिकांश कार्य यथार्थवाद की प्रतिष्ठा के बाद कविता, कहानी, उपन्यास और नाटक द्वारा पूरा हो रहा है। विदेशी साहित्य में व्यंग्य समाप्त हो गया है जबकि हिंदी साहित्य में वह अपने उत्कर्ष की ओर है। जुगुप्साजनक स्थितियों का चित्रण भी व्यंग्य का एक उपादान है जो उदयप्रकाश की कहानी 'छप्पन तोले की करधन' में अभिव्यक्त हुआ है। प्रेमचंद की कहानी बड़े भाई साहब, अमृतलाल नागर के नौरंगीलाल, निराला की कुल्लीभाट और बिल्लेसुर बकरिहा, धूमिल की पटकथा, रघुबीर सहाय की आत्महत्या के विरुद्ध, धर्मवीर भारती के अंधायुग और अमरकांत की कहानी हत्यारे में व्यंग्य का प्रखर स्वरूप मौजूद है। (सापेक्ष-41)

यह पूछे जाने पर कि वे व्यंग्य क्यों लिखते हैं उनका उत्तर था कि 'पहली बात तो यह है कि मैं मूलतः एक लेखक हूं। और व्यंग्य के रूप में मैं व्यंग्य नहीं लिखता। उपन्यास, कहानी, जीवनी, हास्य कथाएं और साहित्यिक आलोचनाएं लगातार लिखता रहा हूं। व्यंग्य स्केच भी लिखे हैं। अब भी लिखता हूं। विषय-वस्तु और अभिव्यक्ति की मांग को देखते हुए जहां मुझे लगता है कि व्यंग्यात्मक शैली का उपयोग अधिक उपयुक्त और स्वाभाविक होगा वहां मैं व्यंग्य की भाषा का प्रयोग करता हूं। हिंदी का अधिकांश कथा साहित्य और व्यंग्य साहित्य और विशेषतः म.प्र. से थोक में आने वाला व्यंग्य साहित्य केवल इन दो-तीन बातों पर आश्रित है कि सारे नेता भ्रष्टाचारी हैं, सब बड़े अफसर संवेदना शून्य हैं और समाज रसातल को जा रहा है। सवाल उठता है कि ऐसा क्यों है? यदि आपकी आंख खुली हुई है, कान आवाज को सुनते हैं और बुद्धि आपका साथ दे रही है तो थोड़ा गहरा जाते ही आपकी ऊपरी अवधारणाएं बदलने लगती हैं। आप इन स्थितियों को 'कल क्या था?' यानी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखना शुरू कर देते हैं। इस प्रकार व्यंग्य को व्यापक क्षेत्र और बड़ा कैनवास मिलता है। प्रत्येक लेखक की अपनी दृष्टि होती है लेकिन मैं व्यंग्य के लिए भी व्यंग्य नहीं लिखता। व्यंग्य का प्रयोग मेरे लिए रचना की अभिव्यक्ति संबंधी आवश्यकता से जुड़ा हुआ है।

श्रीलाल शुक्ल की रचनाएं और विचार पढ़ते समय मैंने अनुभव किया है कि वे हर विषय पर पूरी बेबाकी के साथ स्पष्ट ढंग से अपनी बात कहते हैं। कहीं कोई शंका या भ्रम नहीं रहता। उनके वक्तव्यों से प्रकट होता है कि वे उसे पूरी गंभीरता से लेते हैं। अपनी रचना-प्रक्रिया तथा विषय-वस्तु के संबंध में उनके विचार दृष्टव्य हैं, 'विषय-वस्तु का चुनाव किया नहीं जाता। रचनाशील मस्तिष्क द्वारा अपने आप हो जाता है। लेखकीय संवेदना को जो भी स्थिति झकझोरती है और प्रेरित करती है वही लेखन का विषय बन सकती है। जहां तक मेरी रचना प्रक्रिया का प्रश्न है लेखन के समय मेरे लिए एकांत अनिवार्य है। पारिवारिक या जीविका संबंधी कार्य से अगर जरा भी तनाव या उलझन हुई तो उस समय मैं लिख नहीं सकता। मैंने नियमित रूप से या दिन-रात किसी नियत समय पर कभी नहीं लिखा। मेरा लेखन कार्य अत्यंत अनियमित है। कभी-कभी कई हफ्तों तक दिन और रात के अनियमित घंटों में लगातार काम किया है। कभी-कभी महीनों निष्क्रिय रहा हूं। लिखना आरंभ करते समय मेरे मन में रचना को एक केन्द्र बिंदु भर होता है, जिसका विस्तार लिखते समय ही हो पाता है। मैंने भी नवभारत में 'आओ बैठ ले कुछ देर' नाम से स्तम्भ लिखा है। अनुभव के आधार पर मैंने यह समझा है कि तात्कालिक मांग पर अखबारी ढंग का लेखन करने में मैं सवर्था असमर्थ हूं। पूर्व निर्धारित क्रम के आधार पर मैं कोई सृजनात्मक लेखन नहीं कर पाता, क्योंकि उसमें सर्जना का उल्लास या आनंद नहीं रहता। वह खाना पूरी जैसा होगा। यही कारण है कि मुझे अपनी प्रत्येक रचना बार-बार लिखनी पड़ती है। 'राग दरबारी' मैंने पांच बार लिखा। सामान्यतः तीसरे ड्राफ्ट तक पहुंचते-पहुंचते रचना को अंतिम स्वरूप मिल जाता है। (सापेक्ष-41)

7, राजेन्द्र नगर, सतना (म.प्र.)

पर्वत राग

साहित्य-सृजन, कला व संस्कृति का प्रतिबिंब

अक्टूबर-दिसंबर अंक के कवि
मंगलेश डबराल

संपादकः गुरमीत बेदी

संपर्क-
एम.आई.जी.-41 रक्कड़ कॉलोनी
ऊना-174303 (हि.प्र.)

पंचशील शोध समीक्षा

त्रैमासिक हिंदी शोध पत्रिका
संपादक : डॉ. हेतु भारद्वाज
संपर्क-
पंचशील प्रकाशन फिल्म कॉलोनी
चौड़ा रास्ता जयपुर -302003

रमेश सोबती

'राग दरबारी' और मूल्यबोध

पिछले चार दशकों तक के हिन्दी उपन्यास साहित्य की उपलब्धियों तथा अभावों का विश्लेषण करना खतरे से खाली नहीं है क्योंकि इन चालीस वर्षों में इतनी कहानियां तथा उपन्यास रचे गए हैं उन सब का अध्ययन करने के बाद समीक्षा करते समय ज्ञान संकोच का अनुभव होता है। इन उपन्यासों में बहुत प्रयोग किए गए यहां तक शिल्प का प्रश्न है इसमें बिखराव प्रचुर मात्रा में हुआ है। कहानी को लेकर भावोर्मियां प्रस्तुत हुई हैं। ढेरों आयाम होते हुए भी सब कुछ ठीक-ठाक है और विश्व साहित्य में औपन्यासिक तत्वों का संरक्षण हुआ है तथा यह विधा सशक्त मानी गई। 'मैरियन फाक्स' (विदेशी विद्वान) ने यहां तक कह दिया कि यह विधा 'पाकेट थियेटर' है। इन चार दशकों में भारतीय प्रकाशकों ने उपन्यास विधा को खूब प्रकाशित किया हालांकि अन्य विधाओं (कविता, कहानी, नाटक, एकांकी, व्यंग्य आदि) में भी काफी कृतियों को प्रकाशित किया गया लेकिन उपन्यास अपने आयाम को वृहद रूप देने में बहुत कामयाब हुआ है। डॉ. धर्मवीर भारतीकृत अंधायुग, बाणभट्ट चांद और टूटे हुए लोग, की कहानियां तथा हरिशंकर परसाई रचित रानी नागफनी की कहानी, नागार्जुन कृत हीरक जयंती, श्रीलाल शुक्ल कृत राग दरबारी, बदीउज्जमाकृत चूहे की मौत, डॉ. लक्ष्मीनारायणकृत कलंकी, विनोद रस्तोगीकृत जनतंत्र जिन्दाबाद, तथा डॉ. बालेन्दु शेखरकृत रिसर्चगाथा, रविन्द्र वर्मा कृत गाथा शेखचिल्ली और डॉ. प्रेम जनमेजय रचित राजधानी में गंवार जैसी व्यंग्य प्रधान रचनाओं के साथ डॉ. मधुसूदन पाटिल कृत अथ व्यंग्यम्, हम सब एक हैं, डॉ. सुदर्शन मजीठिया रचित डिस्को कल्चर, इक्कीसवीं सदी की ओर तथा शंकर पुणतांबेकर कृत विजिट यमराज की जैसी कृतियों को विशेष रूप से देखा जा सकता है। हिन्दी में हास्य की बजाए व्यंग्य प्रधान उपन्यास अधिक लिखे जाने का कारण था भारतीय समाज की विसंगत परिस्थितियां, क्योंकि भारत का सामान्य वर्ग स्वाधीनता से पूर्व साम्राज्यवादी और सामंती शोषण का शिकार रहा और स्वाधीनता के पश्चात् नेताओं, नौकरशाहों और पूंजीपतियों के मिले-जुले षड्यंत्र ने ऐसे प्रजातंत्र की नींव रखी जिसमें मानवीय मूल्यों के ह्रास और उपभोक्ता संस्कृति के विकास को आश्रय मिला। प्रयोगवाद या नई कविता की तरह उपन्यास क्षेत्र में भी पंच-पात्र बड़े प्रसिद्ध हुए हैं। लघु उपन्यास, आंचलिक उपन्यास नायकहीन उपन्यास, सहकारी उपन्यास एवं व्यंग्य उपन्यास। सन् 1968 के आसपास सर्वाधिक प्रचलित, चर्चित एवं विवादास्पद नाम आंचलिक उपन्यास हैं। फणीश्वरनाथ रेणु के 'मैला आंचल' तथा श्रीलाल शुक्ल कृत 'राग दरबारी' के साथ ही हिन्दी जगत में इन दोनों नामों ने प्रवेश किया। वैसे आंचलिक प्रयोग परोक्ष या प्रत्यक्ष में थोड़ा बहुत इन उपन्यासों से पूर्व भी प्राप्त है। आंचलिक का अर्थ एवं संबंध किसी अंचल विशेष से होता है। अंचल या उस भूमिक्षेत्र के सामाजिक व सांस्कृतिक उल्लेखों के समावेश को ऐसे उपन्यासकार अपने उपन्यासों में प्रधानता देते रहे हैं। थोड़ा गहराई में जाएं तो ऐसे उपन्यास वास्तव में राष्ट्रीय उपन्यासों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति होते हैं। 'राग दरबारी' उपन्यास को आंचलिक मानते हुए भी व्यंग्य विधा की श्रेणी में रखा गया है। शुक्ल जी का यह उपन्यास मानवीय जीवन के व्यापक फलक को स्पर्श करने में समर्थ रहा है। स्वतन्त्रता पश्चात साठोत्तर काल में अत्यंत क्षीप्रता एवं तीव्रता के साथ विकसित होने वाली घनीभूत विषाक्त-विषम विसंगतियों के परिणामस्वरूप हिन्दी के व्यंग्य साहित्य ने भी अपने नित्य नये-नये बदलते हुए तेवरों का परिचय दिया है। हिन्दी व्यंग्य अपनी तथाकथित नई-नई उपलब्धियों के कारण आज साहित्य की प्रभुसत्ता प्राप्त कर स्वतंत्र तथा पूर्ण विधा के रूप में स्थापित हो चुका है।

राग दरबारी व्यंग्य प्रधान उपन्यासों में एक उत्कृष्ट कृति है और श्रीलाल आधुनिक युग में सर्वश्रेष्ठ शैलीकारों में गिने जाते हैं। उन्होंने इस कृति के अतिरिक्त 'सूनी घाटी का सूरज, अज्ञातवास, सीमाएं टूटती हैं, आदमी का जहर, मकान, यहां से वहां आदि उपन्यासों की रचना की है जो जासूसी से लेकर विभिन्न सामाजिक अनुभव क्षेत्र से संबद्ध हैं। परन्तु राग दरबारी जैसे सामाजिक यथार्थ की व्यंग्यता का विशिष्ट तेवर और शैली किसी अन्य उपन्यास में प्राप्त नहीं होती। इस उपन्यास को हिन्दी व्यंग्य साहित्य में मील का पत्थर इसलिए माना गया है कि वह व्यंग्य चेतनायुक्त है और सामाजिक यथार्थ की सम्प्रेषण भंगिमा का ऐसा सुपुष्ट विधान अन्यत्र दुर्लभ है। डॉ. नामवर सिंह 'श्रीलाल शुक्ल संचयिता' में लिखते हैं कि श्री शुक्ल जी की कथाकृतियों का रस बहुत कुछ उनकी भाषा की अनन्यता में है। वे अपनी वाक्य रचना को आराम से उसी तन्मयता के साथ रचते हैं जैसे 'मकान' उपन्यास का नारायण बनर्जी अपने सितार पर किसी राग को घंटों तबीयत से साधता है—'मीड़ और मुरकियों के साथ पूरी बंदिश को तरह-तरह से खेलते हुए, जैसे द्रुत पर पहुंचने की कोई हड़बड़ी न हो।' वे वर्तमान भारतीय समाज, राजनीति धर्म एवं मानसिकता में घटित होते हास्यास्पद परिवर्तनों पर गम्भीर तथा वैचारिक टिप्पणी करने वाले समर्थ व्यंग्यकार बनकर उभरे हैं। राग दरबारी उपन्यास में कहीं-कहीं सूत्रात्मक टिप्पणियां की गई हैं। उनके प्रसंगों को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि वे मार्क्सवादी जीवन दर्शन से प्रभावित एक प्रगतिशील उपन्यासकार हैं। अन्य समालोचक शायद मेरी इस टिप्पणी से सहमत न हों पर मैं स्पष्ट अनुभव करता हूं कि उनके कुछ उपन्यासों में पूंजीवादी व्यवस्था

सेतु

साहित्य, संस्कृति और कला की
अर्द्धवार्षिक पत्रिका

जनवरी-जून 2009 में
ओमराज गुप्त, चंद्रकांत सिंह, गुरदीप खुराना
बलदेव सिंह, वीरेंद्र मेंहदीरत्ता आदि

संपादक
देवेंद्र गुप्ता

संपर्क : आश्रय खलीनी, शिमला-2

की विसंगतियों– वर्ग वैषम्य, शोषण आदि का व्यंग्यात्मक दिग्दर्शन मिलता है।

'राग दरबारी' के कथानक में शिवपालगंज कोई एक गांव नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारत है, यहां प्रजातंत्र की शक्ल हलवाहों जैसी है, प्रजातंत्र, कुर्सी के नीचे पंजों के बल बैठा गिड़गिड़ाता रहता है, विश्वविद्यालयों की दशा अश्वशालाओं जैसी है और विद्वान प्राध्यापक केवल भाड़े के टट्टू हैं। यहां का थाना प्रागैतिहासिक युग से गुजर रहा है। छुआछूत धर्म पर्याय है, और आबोहवा दुर्गंधयुक्त होने के बावजूद धार्मिक संभावनाओं से भरा-पूरा है। शुक्ल जी की पैनी दृष्टि कचहरी से लेकर मिठाई की दुर्गति तक भी गई है। उनके व्यंग्यकार की प्रतिभा जोगनाथ की सर्फरी भाषा या बेला के फिल्मी पात्रों तक ही सीमित नहीं है। वैद्य जी, सनीचर, रामधीन, रंगनाथ, गयादीन, लंगड़, बद्री पहलवान, सभी पात्रों में शुक्ल जी ने सूक्ष्म मौलिकताओं की खोज करते हुए, समाज में व्याप्त झूठ को नंगा करने का प्रयास किया है। उन्होंने हमेशा झूठ की तलाश की है और उसे अनावृत करते हुए अपनी रचनाओं में उक्त किया है और सच्चाई की खोज की है। 'यहां से वहां' कृति का परिचय पढ़ते हुए तो ऐसा लगता है कि शुक्ल जी का व्यक्तित्व विकृति की सृष्टि नहीं बल्कि विकृतियों का संधान है। राग दरबारी पढ़ते हुए यह कहीं भी आभास नहीं होता कि वे स्फुलिंग छोड़ रहे हैं बल्कि उनकी आद्यंत भंगिमा ही ऐसी है जिसके बूते पर वे इस कृति को व्यंगोक्ति से भरपूर कर देते हैं जो एक चुनौती भरा है, इसलिए यह महाकाव्यात्मक उपन्यास ऊंचाई को स्पर्श करता है। राग दरबारी की सबसे बड़ी भाषागत ग्रामीण भावबोध और चुटीले उपमानों की योजना उपन्यास को साहित्यिक स्तर पर विशिष्ट प्रखरता प्रदान करती है।

व्यंग्य ही एक ऐसी विधा है जो मनुष्य के जीवन को सार्थक बना सकता है, इसलिए मनुष्य और उसकी संवेदनाओं के बिना मूल्य की कल्पना नहीं की जा सकती। मनुष्य में मूल्य का बोध होना या मूल्य की चेतना जागृत करना या मूल्य का एहसास होना अतिआवश्यक है। यह मूल्यबोध व्यंग्य का अनिवार्य अंग है और व्यंग्य सुशिक्षित मस्तिष्क की विधा है। वैचारिक परिपक्वता है तो अभिव्यक्ति का सामर्थ्य हो तो लेखक संवेदनाओं को पूरी समर्थता से व्यक्त कर सकता है। यही कारण है कि आज हिन्दी व्यंग्य रचनात्मकता की नई गहराई और विस्तार को अपने में आत्मसात करता जा रहा है। आधुनिक युग में व्याप्त अनेक विकृतियों-विसंगतियों को उधाड़ता-खुरचता हुआ वह एक ऐसी तड़प हम सबके भीतर उत्पन्न कर रहा है कि हमारे मन में इनके प्रति क्षोभ उमड़ता है और उन्हें निर्मूल-निराकृत कर डालने का सकारात्मक विचार भी पैदा करता है। श्रीलाल जी ने राग दरबारी में भारतीय जन-जीवन का प्रतिनिधित्व किया है और मजे की बात यह है कि उन्होंने व्यंग्य के लिए किसी फैंटेसी या प्रतीकों का आलम्बन नहीं लिया, इसी कारण यथार्थ संवेदन अथवा जीवनानुभूति की वास्तविकता से जुड़ कर वे व्यंग्य की तीक्ष्णता के साथ-साथ औपन्यासिक रचनाधर्मिता का अच्छा निर्वाह कर सके हैं। राग दरबारी का सम्पूर्ण परिवेश व्यंग्यप्रधान और वास्तविक है यही उनका रचना कर्म कौशल है।

निष्कर्षत: आज के चरित्र संकट और अंतर्विरोधों के युग में श्रीलाल जी ने राग दरबारी में अनेक मूल्य दृष्टिगत किए हैं और जीवन दर्शन का साक्षात्कार भी इसमें उपलब्ध है। इस कृति में उन्होंने 'ज्याँपाल सार्त्र' के मूल्यबोध को साकार किया है तथा दूसरी ओर राजनीतिज्ञ शासकों को अशिव रूपी जहर सम्प्रेषित न करने का संकेत दिया है।

एन. आर. आई. एवेन्यू
सुखचै

'व्यंग्य यात्रा' के निम्नलिखित शुभचिंतकों से आप 'व्यंग्य यात्रा' के अंकों के लिए संपर्क कर सकते हैं

श्री अशोक आनंद
103/2-1 गुरू रोड, देहरादून
दूरभाष : 9410394466 (मोबाइल)

श्री रमेश सैनी
245, एफ.सी.आई.लाईन, त्रिमूर्ति नगर
दमोह नाका, जबलपुर-482002 (म.प्र.)
दूरभाष : 09425866402

श्री तरसेम गुजराल
46 हरबंस नगर, जालधंर (पंजाब)

श्री अरविंद विद्रोही
बिरसानगर रोड नं.-2 पूर्व, जोन-2
गुप्ता गैस गोदाम के पीछे
जमशेदपुर (झारखंड)

रामबहादुर चौधरी चंदन
फुलकिया, बरियारपुर
मुंगेर-811211 (बिहार)

श्री अतुल चतुर्वेदी
380 शास्त्री नगर
दादाबाड़ी, कोटा (राजस्थान)
दूरभाष : 9414178745

प्रेम विज, 1284 सैक्टर 37 बी
चंडीगढ़ 7110036
दूरभाष : 2688139

परिदृश्य प्रकाशन
दादी संतुल लेन, धोबी तालाब
मरीन लाईन, मुंबई
दूरभाष : 20192689

श्री विदित कुन्द्रा
2 डी-802, एन जी सिटी फेज़-2
कांदिवली (पूर्व) मुंबई
दूरभाष : 9820059601

श्री अनंत श्रीमाली
4/64 'गीतांजली' समता नगर
कांदिवली (पूर्व) मुंबई
दूरभाष : 9819051310

पंजाब बुक सेंटर
एस सी ओ नं. 1126
सैक्टर 22 बी, चंडीगढ़

श्री शिवानंद सहयोगी
ए-233 गंगानगर, मवाना रोड, मेरठ
दूरभाष : 9412212255

व्यास रोजगार सेंटर
महेश नगर
जयपुर (राजस्थान)

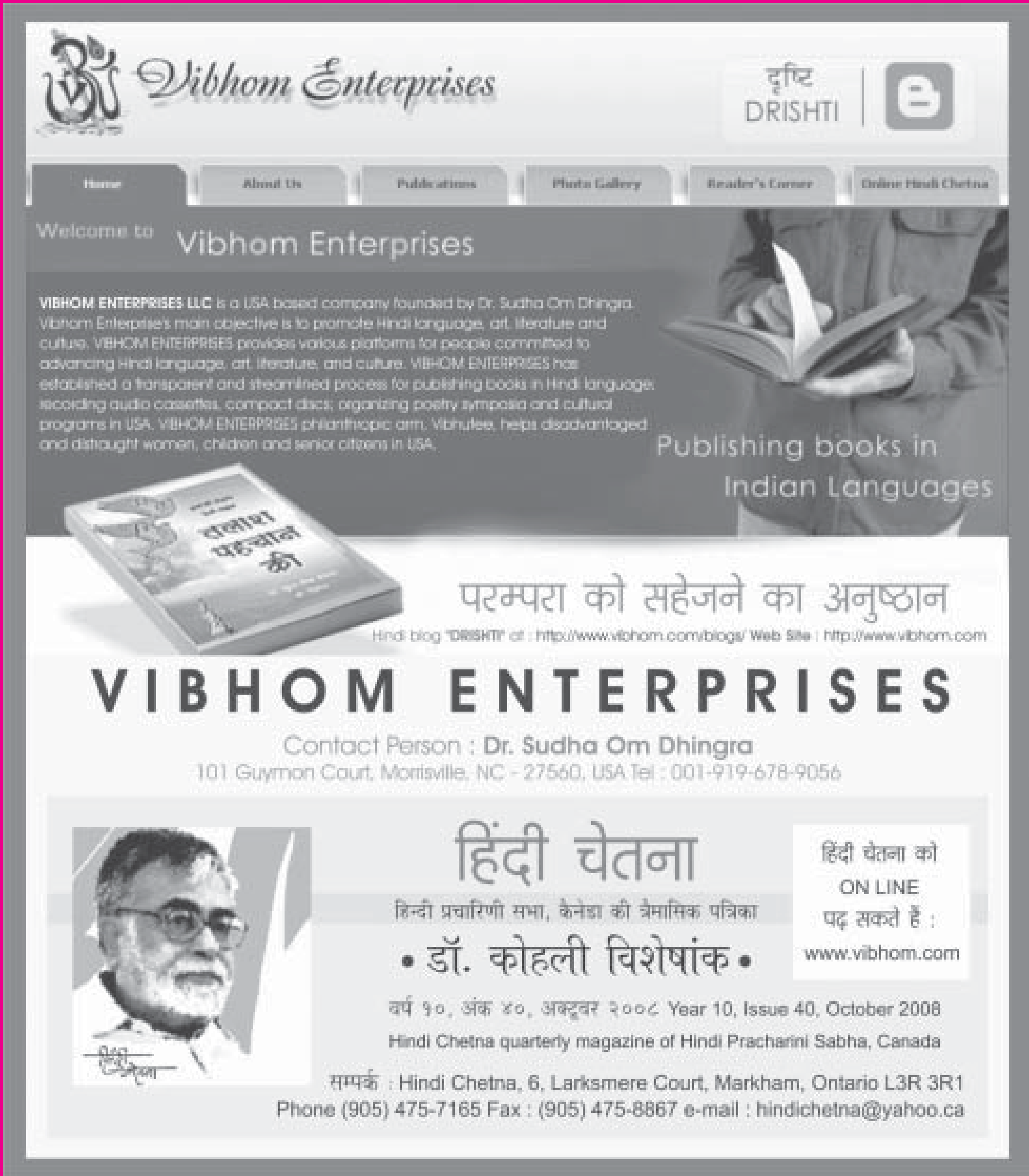
Vibhom Enterprises
दृष्टि
DRISHTI
Home
About Us
Publications
Photo Gallery
Reader's Corner
Online Hindi Chetna
Welcome to Vibhom Enterprises
VIBHOM ENTERPRISES LLC is a USA based company founded by Dr. Sudha Om Dhingra. Vibhom Enterprise's main objective is to promote Hindi language, art, literature and culture. VIBHOM ENTERPRISES provides various platforms for people committed to advancing Hindi language, art, literature, and culture. VIBHOM ENTERPRISES has established a transparent and streamlined process for publishing books in Hindi language; recording audio cassettes, compact discs; organizing poetry symposia and cultural programs in USA. VIBHOM ENTERPRISES philanthropic arm, Vibhutee, helps disadvantaged and distraught women, children and senior citizens in USA.
Publishing books in Indian Languages
परम्परा को सहेजने का अनुष्ठान
Hindi blog "DRISHTI" at : http://www.vibhom.com/blogs/ Web Site : http://www.vibhom.com
VIBHOM ENTERPRISES
Contact Person : Dr. Sudha Om Dhingra
101 Guymon Court, Morrisville, NC - 27560, USA Tel : 001-919-678-9056
हिंदी चेतना
हिन्दी प्रचारिणी सभा, कैनेडा की त्रैमासिक पत्रिका
• डॉ. कोहली विशेषांक •
वर्ष १०, अंक ४०, अक्टूबर २००८ Year 10, Issue 40, October 2008
Hindi Chetna quarterly magazine of Hindi Pracharini Sabha, Canada
सम्पर्क : Hindi Chetna, 6, Larksmere Court, Markham, Ontario L3R 3R1
Phone (905) 475-7165 Fax : (905) 475-8867 e-mail : hindichetna@yahoo.ca
हिंदी चेतना को
ON LINE
पढ़ सकते हैं :
www.vibhom.com

अनुराग वाजपेयी

राग दरबारी: मेरे विचार

राग दरबारी के एक दृश्य से मैं अपनी टिप्पणी की शुरुआत करना चाहूंगा। रंगनाथ बाल कटवाने शिवपालगंज के पास के गांव गए हैं। वापसी में वे सनीचर के साथ लौटते हैं। वो खुद भी वहीं बाल कटवाकर लौट रहा है। खेतों की मेंड़ पर चलते समय रंगनाथ चतुराई से सनीचर के आगे हो लेते हैं। ऐसा वे इसलिए करते हैं ताकि सनीचर के ताजे कटे बाल हवा के साथ उड़कर उन पर न आएं। यह दृश्य वही लेखक उपस्थित कर सकता है जिसका नाम श्रीलाल शुक्ल है। इतना सूक्ष्म निरीक्षण साधारण आंखों की पकड़ में नहीं आ सकता।

मुझे बड़ा अजीब लगा जब कहा गया कि राग दरबारी पर लिखो, मेरे लिए यह उतना ही कठिन है जितना आदरणीय शुक्ल जी के लिए उस महाग्रंथ की शुरुआत करना रहा होगा। कठिन इसलिए कि कॉलेज में आने के बाद मेरी बड़ी बहिन ने राग दरबारी से परिचय करवाया, हम दोनों ने इसे इतनी बार पढ़ा कि मुझे लगभग कण्ठस्थ हो गया और हम दोनों भाई-बहन घर में टिचन्न, फंटूश, झाड़े रहो पट्ठे, चुरेंट जैसे शब्द बोलने लगे। यह बड़ा अजीब था कि राग दरबारी की कथाभूमि अवध से सैकड़ों किलोमीटर दूर राजस्थान के धुर रेगिस्तानी क्षेत्र में जिन बच्चों की परवरिश हो रही हो, वे बैसवाड़े की मिट्टी से सने मुहावरों की भाषा बोलने लगें। आज इतने साल बाद मेरे घर पर राग दरबारी नहीं है। पहले दो-तीन बार खरीदी पर लोगों को दे दी। मुझे कभी जरूरत ही नहीं पड़ती कि राग दरबारी को पढ़ा जाए, वह तो नस-नस में घुल गई है।

इतनी सब निजी बातें मैं इसलिए लिख रहा हूं कि यह बता सकूं, कोई व्यंग्य उपन्यास कितना सशक्त और असर पैदा करने वाला हो सकता है। इसके बाद 1993 से 1995 के बीच जब मैं धुंआधार व्यंग्य लिख रहा था तो एक दूसरी घटना हुई। मैंने एक व्यंग्य लिखा, वह राजनीति पर था, जब तीन-चार पृष्ठ लिख लिए तो कुछ खटका सा हुआ। मैंने उसे पढ़ा तो पाया कि पैराग्राफ-के-पैराग्राफ राग दरबारी की नकल थे। मैंने मिलान भी किया। और लिखना रोक दिया। इसके बाद मैंने करीब महीनेभर कुछ नहीं लिखा। सिर्फ इसलिए कि राग दरबारी का खुमार उतरे। वह लेख अब भी मेरे पास सुरक्षित है। अब मैं कह सकता हूं कि खुमार उतर गया है, लेकिन राग दरबारी की दृष्टि कायम है। जिस गांव में मुर्गा नहीं होगा वहां क्या सवेरा नहीं होगा, हम यहीं चुरेंट हैं गुरू, 'कल के जोगी चूतड़ तक जटा' जैसे मुहावरे जिसे मिल चुके हों उसे व्यंग्य तो आ ही जायेगा।

मैं राजस्थान के गांव-गांव में घूमा हूं, चुनाव से लेकर रैलियों और विकास योजनाओं से लेकर अकाल तक के कवरेज में, पास से पाया है कि गांव चाहे राग दरबारी वाला हो या बाड़मेर का, उसकी विसंगतियां एक ही तरह की हैं। हर गांव में कोई बैद्यजी हैं तो कोई बद्री और कोई सनीचर, वही दरोगा जी का मनोहारी भेस और वही प्रिंसिपल साहब की सुनियोजित मूर्खताएं, सब एक जैसा है। फर्क है तो रूप्पन और रंगनाथ की स्पिरिट का। वे मुझे हर जगह नहीं मिले।

राग दरबारी दरअसल, भारतीय देहात के बहाने से पूरे देश की असलियत सामने लाता है। लंगड़ जैसी ईमानदारी की छोटी-छोटी लड़ाइयां हर जगह लड़ी और हारी जा रही हैं। दुनिया के सिमटते जाने और लैपटॉप के बहुप्रचलित होने के बावजूद सच तो यही है कि आज भी अदालतें उसी ढर्रे पर चल रही हैं जिसमें बेला का चरित्र उछालने के बाद छोटे पहलवान बद्री से कहते हैं कि कुछ भी बोल दिया गुरू, अदालत थी वहां कौन सच बोलना था।

यह विद्रूप महज व्यंग्य नहीं है। राग दरबारी उन अज्ञात कोनों-खुदरों तक ले जाता है जहां व्यंग्य की गुंजाइश भी नजर नहीं आती। प्रिंसिपल की मूर्खताओं के बीच उसका यह प्रलाप कि मेरी जवान बहन है, शादी करनी है, आज बैद्य जी कान पकड़कर निकाल दें तो ठौर नहीं मिलेगा।

लगे रहो मुन्नाभाई के बाद गांधीगिरी शब्द बड़े प्रचलन में आया। याद कीजिए कहां से आया? इसकी उत्पत्ति राग दरबारी में है। छोटे पहलवान ने अपने बाप कुसहर को मारा, कुसहर ने बैद जी से शिकायत की तो उन्होंने गीता-सार सुना दिया कि क्रोध शोक का मूल है तब कुसहर कहते हैं कि तुम हमीं पर गांधीगिरी ठांस रहे हो, जब बद्री तुम्हारी छाती पर चढ़ बैठेंगे, तब पूछूंगा। ये है राग दरबारी का असर, एक-एक शब्द मन में इतना अटक जाता है कि बरसों तक नहीं निकलता।

मैं भी श्रीलाल शुक्लजी से नहीं मिला। इंदिरा नगर कई बार जाने के बावजूद नहीं मिल सका। मेरी पहली किताब छपी तो मैंने उन्हें डाक से भेजी, उनका औपचारिक उत्साहवर्धक पोस्टकार्ड भी मेरे पास सुरक्षित है। इच्छा है उनसे मिलूं। न भी मिल पाया तो कोई रंज नहीं है। मुझे पता है आदमी की सूक्ष्म प्रवृत्तियों और व्यवस्था के सभी छिद्रों से परिचित इस लेखक की सोचने की प्रक्रिया क्या होगी। मैंने राग दरबारी को जमकर पढ़ा है, मुझे लगता है कि मैं उनसे कभी मिला नहीं हूं। एक बात जरूर कहना चाहूंगा- राग दरबारी का दूसरी भाषा में अनुवाद नहीं हो सकता। बेला को लिखे गए रूपन्न के प्रेमपत्र का अंग्रेजी या किसी भी भाषा में अनुवाद कैसे हो सकता है?

39, टाईप-4, सी.पी.डब्ल्यू.डी.
निर्माण विहार-2, विद्याधर नगर जयपुर- 302020

आशा जोशी

भाषा की जादूगरी

श्रीलाल शुक्ल का जिक्र करते ही 'राग दरबारी' स्वयमेव उभर कर मानस-पटल पर आ जाता है। यह एक ऐसी रचना है जो स्वतंत्रता के बाद के भारत का चित्र इतनी सजीवता से उकेरती है कि पाठक हतप्रभ-सा रह जाता है– यह सोचता हुआ 'हां ऐसा ही तो है।' यही तो मैं भी कह रहा था।

वैसे तो इस कृति का कथानक शिवपालगंज तक सीमित है लेकिन इसमें प्रयुक्त प्रतीकात्मक शैली ने इसे स्वातंत्र्योत्तर भारत के संपूर्ण समाज की रग-रग में व्याप्त अराजकता, अवसरवादिता, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, चुनाव का खोखला व झूठा तंत्र का साक्षात, जीता-जागता चित्र बना दिया है। यह कोई राजनैतिक उपन्यास नहीं है लेकिन इसकी कथा के घटनाक्रम में, पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं में राजनैतिक तथ्यों पर इतने गहरे ढंग से कटाक्ष किया गया है कि संवेदनशील पाठक का मर्म बिंध जाता है। यह व्यंग्य रचना भारतीय ग्रामीण समाज की वास्तविक विचित्र स्थिति तो प्रस्तुत करती ही है स्वाधीनता के बाद दिन-पर-दिन देश के राजनैतिक चरित्र के पतन को भी उजागर करती है। देश के विकास के लिए न जाने कितनी योजनाएं बनीं लेकिन उनसे प्राप्त होने वाला लाभ केवल संपन्न वर्ग, बिचौलियों व दलालों तक सीमित रहा। आज भी स्थिति कहां बदली है। डी. डी. ए. के मकान के सपने की ताजा घटना तो सभी के सामने है। केवल 'दरबार' से संपर्क व संबंध बनाए रखने वालों की चांदी है। आम जन तो जस-का-तस है। लाभ तो उसी को मिलेगा जो 'दरबार' का 'राग' अलापेगा।

विषय के इस तीव्र-तीखे तेवर को और भी अधिक प्रखर बनाने का कार्य भाषा ने किया है। व्यंग्य शैली के माध्यम से शुक्ल जी अपनी भाषा की अभिव्यक्ति क्षमता को तीव्रतम कर देते हैं। ग्रामीण व आंचलिक शब्दावली के प्रयोग से उन्होंने कथ्य को सत्य में बदलने का जादू किया है। पात्रों के अनुरूप शब्दों का प्रयोग और वाक्य का लहजा बदल जाता है। कई ऐसे शब्द हैं जो अपने जुगलबंदी और ध्वन्यात्मकता से रचना को और पठनीय बना देते हैं। उदाहरण के लिए चकाचक, फंटूश, फुट्टफैरी, लफ्फेबाज, हंसी-ठट्ठा, तिड़ी-बिड़ी, गिचिर-पिचिर आदि। छोटे पहलवान के एक कथन से हम भाषा की रंगत समझ सकते हैं– 'तन पर नहीं लत्ता, पान खांय अलबत्ता'। लखनऊ में दिनरात फुट्टफैरी करता था।... फुट्टफैरी नहीं समझे। वह ससुरा बड़ा लासेबाज था। तो लासेबाजी कोई हंसी ठट्ठा है!. . . जमुनापुर की रियास इसी में तिड़ी-बिड़ी हो गई।. . .अरे गुरू मुंह न खुलवाओ। वैद्य जी तुम्हारे मामा हैं, पर हमारे कोई बाप नहीं। सच्ची बात ठांस दूंगा कलेजे में कल्लाएगी हां।'

किस तरह वाक्य-दर-वाक्य भाषा प्रबल होती गई और पाठक की आंखों के सामने इस वार्तालाप का पूरा चित्र खिंच जाता है। 'राग दरबारी' में रचनाकार ने हिन्दी की प्रचलित शब्दावली के साथ-साथ लोकजीवन के क्षेत्रीय शब्दों का प्रयोग किया है। तत्सम, तद्भव, अंग्रेजी, अरबी, फारसी आदि शब्दों के मिले-जुले प्रयोग ने बड़ी से बड़ी बात को सहजता से अपने पाठक के सामने साक्षात रख दिया है।

लोकजीवन के संस्पर्श के कारण कुछ मुहावरे और लोकोक्तियां भी सहजता से चली आई हैं। लाक्षणिक शब्दावली से चित्रात्मकता उपस्थित की गई है। 'भूदानी हंसी', 'वैष्णवजन वाली हंसी' आदि ऐसे ही शब्द हैं। अनेक ग्रामीण शब्दों का प्रयोग बिल्कुल मुहावरों की तरह किया गया है। कई शब्द अपनी व्यंजना से ही पूरी बात स्पष्ट कर देते हैं– नक्शेबाजी, हड़काना, टें बोलना, टिप्पस आदि ऐसे ही शब्द हैं। चित्रात्मकता और व्यंजना के साथ बिम्बात्मकता ने भी 'राग दरबारी' की भाषा को महत्वपूर्ण बनाया है। बहुत सारे उदाहरण इस संदर्भ में दिए जा सकते हैं। गयादीन के भावहीन चेहरे को रामलीला के राम-लक्ष्मण के भावहीन चेहरे से जोड़ना, छंगामल कॉलेज के संविधान और नियमों को भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों वाले अध्याय से व सनीचर की साक्षात प्रजातंत्र से तुलना करना ऐसे ही प्रसंग हैं।

किस्सागोई का सहारा पूरे उपन्यास में लिया गया है। किस्सागोई ने उसकी पठनीयता बढ़ाई है। बात में से बात निकालने की कला उन्हें खूब आती है। अनेक स्थलों पर उनकी किस्सागोई यह कहती दिखाई देती है–

'बात बोलेगी हम नहीं, भेद खोलेगी बात ही।'

कहना न होगा कि श्रीलाल शुक्ल का व्यंग्यकार 'राग दरबारी' में पूर्ण प्रखर, जागरूक, बाखबर करने वाले के रूप में कार्य करता दिखाई देता है। उनका चिंतन राष्ट्रीय स्तर से अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक सक्षम व्यंग्य की धार पर चलता हुआ देखा जा सकता है। सूक्ष्म विवेचन का पैना औजार ही तीव्र व्यंग्य को जन्म देता है। विद्रूप से ही व्यंग्य के व्यापक प्रयोग को बल मिलता है। इसी शक्ति के सहारे वे ठेठ ग्रामीण शब्दों का भी जिन्दादिली से प्रयोग कर पाए हैं। उपन्यास के ताने-बाने में कहीं भी वह शब्दावली अभद्र या असंस्कृत नहीं लगती।

कथा की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि लेखक ने 'राग दरबारी' के सभी पात्रों को उपहास के आधार पर प्रस्तुत किया है जिसमें भविष्य का कोई संदेश-सूत्र नहीं मिलता। सामाजिक विषमता की स्थितियां जस की तस रहती हैं। समस्याओं को उठा कर पाठकों को सोचने के लिए विवश तो किया गया है, पर कोई एक निश्चित दिशा नहीं दी गई। यहीं शायद हरिशंकर परसाई व श्रीलाल शुक्ल की व्यंग्य दृष्टि अलग हो जाती है। लेकिन नारमन फर्लांग के अनुसार– 'व्यंग्य का कार्य मात्र रोशनी दिखाना है रास्ता चुन कर देना नहीं।'

69 साक्षर अपार्टमेंट्स, ए-3, पश्चिम विहार
नई दिल्ली-110063

हरजेन्द्र चौधरी

बिस्रामपुर का संत

(भूमि-संबंधों और मानवीय संबंधों का समांतर आख्यान)

1998 में प्रकाशित 'बिस्रामपुर का संत' उपन्यास को जब पहली बार पढ़ा था, तब मन के किसी कोने में 'राग दरबारी' एक मापदण्ड के रूप में उछलकूद मचा रहा था। दोनों उपन्यासों की प्रारंभिक तुलना करता मेरा अवचेतन धीरे-धीरे पृष्ठभूमि में चला गया और दोनों रचनाओं के बीच का मूलभूत अंतर स्पष्ट से स्पष्टतर होने लगा। 'राग दरबारी' में गहरे व्यंग्य के साथ-साथ कहीं-कहीं उथला हास्य भी दिखाई पड़ता था, पर 'बिस्रामपुर का संत' एक बहुत गंभीर व्यंग्य उपन्यास है। यहां व्यंग्य का साधन, स्रोत, आधार भाषा, शब्दावली या व्यापकतर परिप्रेक्ष्य से कटी हुई इकहरी-इकलौती-सी 'स्थिति' न होकर 'भूदान' आन्दोलन और कुंवर जयंती प्रसाद सिंह के 'मूल चरित्र' के निरावरण होते जाने की रचनात्मक प्रक्रिया है। 'व्यंग्यात्मकता' इस तथ्य में भी है कि यहां नायक असल में 'खलनायक' है, 'संत' असल में 'महादुष्ट' है, 'भूदान' करना असल में प्रतिष्ठा पाने की ओछी ललक का प्रतिफलन है, विनोबा भावे द्वारा शुरू किया गया 'प्रारंभत: अहिंसक' स्वरूप वाला भूदान आन्दोलन असल में 'अन्तत: हिंसक' परिणति तक पहुंच रहा है।

'मानवीय संबंध' और 'भूमि-सम्बंध' दोनों बहुत जटिल हैं, दोनों के बारे में भविष्यवाणी कर सकना या अंतिम निष्कर्ष दे पाना संभवत: संभव नहीं है। श्रीलाल शुक्ल ने 'बिस्रामपुर का संत' उपन्यास के माध्यम से इन दोनों सम्बंध-प्रकारों की जटिलता को अपने ढंग से समझने-समझाने का रचनात्मक और प्रशंसनीय प्रयास किया है। 'भूदान आन्दोलन सम्बंधी मुद्दों के माध्यम से भूमि संबंधों और 'कुंवर जयंती प्रसाद सिंह' के 'चरित्र' के 'नग्नीकरण' द्वारा 'मानवीय (या अमानवीय) सम्बंधों' की अन्तर्भूत जटिलताओं का उद्घाटन उपन्यास में किया गया है। पृष्ठ-संख्या (208 पृष्ठ) और कथा-फलक की दृष्टि से ही नहीं, अपितु 'अन्तर्वस्तु' की दृष्टि से भी यह उपन्यास 'वृहद्' रचना की श्रेणी में आता है।

> 'राग दरबारी' व्यापक रूप से चर्चित हुआ। उसके उपरांत श्रीलाल शुक्ल के कुछ अन्य छोटे-बड़े उपन्यास भी सामने आए। उन्हें पढ़ा गया परंतु जितनी चर्चा उनकी परवर्ती कथा-कृति 'बिस्रामपुर का संत' की हुई, उतनी तवज्जो उनकी दीगर कथा-कृतियों को नहीं मिली। 'राग दरबारी' और 'बिस्रामपुर का संत' के बीच में उनका 'पहला पड़ाव' शीर्षक उपन्यास प्रकाशित हुआ, उनकी कथा लीक पर होते हुए भी उसका अनेक आयामों पर अतिक्रमण करने वाले। इस उपन्यास को भी जितनी तवज्जो मिलनी चाहिए थी, शायद इस कारण नहीं मिल पाई कि उसमें श्रीलाल शुक्ल संवेदना की एक नई जमीन पर खड़े दिखाई दिए। नकारात्मक और निषेधवादी सोच के जो आरोप उन पर 'राग दरबारी' उपन्यास के संदर्भ में लगे थे, उन्हें लगभग निरस्त करते हुए इस उपन्यास में श्रीलाल शुक्ल की मानवीय संवेदना और सकारात्मक जीवन दृष्टि मानो उमगती हुई सतह पर आ गई हो। मेरे अपने विचार में यह उपन्यास उनके कथाकार की कई मायनों में एक रचनात्मक उपलब्धि है, उन पर लगाए गए आरोपों का सटीक जवाब। इसे लेकर भले 'राग दरबारी' जैसी धूम न मची हो, उनकी कथा-यात्रा का यह एक अविस्मरणीय पड़ाव जरूर है।
>
> **–शिवकुमार मिश्र**

भूमि और उसके उपयोग सम्बंधी अधिकारों को लेकर पूरी दुनिया में मारामारी रही है, आज भी है। भारत में विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न काल-खण्डों में 'भूमि-व्यवस्था' के अनेक रूप रहे हैं। भूमि को लेकर लड़ाइयां होती रही हैं, होती रहती हैं। भूमि-संबंधी अधिकारों का हस्तांतरण या उनके रूप में परिवर्तन 'मानवीय संबंधों' के रूप परिवर्तन के लिए प्राय: उत्तरदायी रहे हैं। भारत में राजाओं द्वारा सामंतों, जमीदारों और बेवफा वफादारों को गांव के गांव 'दान' में दिए जाते रहे हैं। ताकि भूमि-लगान से होने वाली कमाई को नियमित– सुनिश्चित किया जा सके। 'अग्रहार', 'भोग', 'इक्ता', 'मुकद्दम', 'खूत', 'लगान', आदि शब्द 'ग्रामदान', 'जमींदार' व भूमि कर से जुड़े हुए 'ऐतिहासिक' शब्द हैं। भूमि उत्पादन का आधार भी है और शक्ति का स्रोत भी। कृषि-कर्म मनुष्यों का मूल व्यवसाय रहा है क्योंकि अन्न और अन्य खाद्य पदार्थों की आपूर्ति के लिए हम कृषि पर ही निर्भर हैं। पर विभिन्न क्षेत्रों व कालखण्डों में कृषि और भूमि सम्बंधी व्यवस्था में भिन्नता होने के बावजूद एक समानता रही है– भूमि का असमान बंटवारा और किसानों व कृषि-श्रमिकों का चौतरफा शोषण। प्राचीन काल में भूमि-कर एकत्र करने की प्रशासकीय व्यवस्था हो या शेर शाह सूरी द्वारा भूमि संबंधी 'रिकॉर्ड' को 'अपडेट' करवाने का प्रयास हो अथवा अठारहवीं सदी के अंतिम दशक में 'ब्रिटिश बादशाही' द्वारा भूमि के स्थायी बंदोबस्त ('परमानेंट सैटलमेंट') के माध्यम से नियमित-निरापद लगान वसूलने की कोशिश हो, इनमें से कोई भी कदम उन किसानों या कृषि-श्रमिकों के जीवन की बेहतरी के लिए नहीं उठाया गया था जो अपना पसीना बहाकर सबकी भूख मिटाते हैं। 'भूदान-आन्दोलन' 'आदर्श' प्रस्तुत करने वाला आन्दोलन था, पर अन्तत: और व्यावहारिक रूप में इस आन्दोलन ने भी किसानों व 'दान' में भूमि प्राप्त करने वालों की जीवन-स्थिति में कोई मूलभूत परिवर्तन लाने

में कोई कारगर व प्रभावी भूमिका नहीं निभाई। 'बिस्रामपुर का संत' में इसी बात का खुलासा किया गया है।

आज पौने अट्ठावन साल होने को आए, पर अप्रैल 1951 में शुरू हुए भूदान-आन्दोलन की परिणति प्रत्याशाओं और उन आदर्शों के अनुरूप नहीं रही, जिन्हें लेकर आचार्य विनोबा भावे ने यह आन्दोलन शुरू किया था। 'भूदान आन्दोलन का लक्ष्य है कि गांव में कोई भूमिहीन न रहे, और ग्रामदान का लक्ष्य है कि गांव में कोई भू-स्वामी न रहे, वहां की सारी भूमि गांव-सभा की मिल्कियत में आ जाए।' 'परिशिष्ट' पृष्ठ 207। हालांकि 1964 तक खेतिहर मजदूरों के पक्षधर संगठनों का परिदृश्य सबसे ज्यादा हमें वहीं देखने को मिल रहा है।' (पृष्ठ-208). . .तो क्या हम इस आन्दोलन के गंभीर विश्लेषण के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचने को मजबूर हैं कि यह आन्दोलन 'प्रारंभत:' तेलंगाना के भूस्वामियों के विरूद्ध 1950-51 में चल रहे हिंसक और उग्र आन्दोलन की धार को कुंठित करने वाला एक 'सेफ्टी वॉल्व' मात्र था। लेकिन उपन्यास की रचना (1997) के समय तक भूदान-आन्दोलन और उसके व्यावहारिक परिणामों ने अपना एक चक्र पूरा कर लिया था, किसानों का आक्रोश फिर से हिसंक रूप धारण करने लगा था।. . . यह भोगने के बाद प्रधानमंत्री और राजनैतिक दलालों की 'लल्लो-चप्पो' करते दिखाई पड़ते हैं ताकि किसी महादेश के राजदूत बन सकें। नहीं बन सके, तो बिस्रामपुर गांव के 'फार्म' पर जाकर रहने लगे, 'संत' का तमगा सीने पर टंग गया। शारीरिक और राजनैतिक रूप से क्षीण से क्षीणतर होते जाने वाले एक 'बुढ़ऊ जमींदार' को 'संत' होना भाया तो नहीं, पर और कोई विकल्प न बचा हो तो वह क्या करे! बिस्रामपुर की यात्रा और वहां का आवास प्रकारान्तर से अतीतगमन और पश्चदर्शन (रेट्रॉस्पेक्शन) बनकर रह गया। 'उनका सारा ध्यान सुंदरी पर और उसके बहाने जीवन और मृत्यु की, उनकी

कभी मैंने 'बिस्रामपुर का संत' को राजनीतिक उपन्यास कहा था। आज लगता है यह राजनीति चौहद्दी के बाहर भारतीय समाज की विडम्बनाओं को बड़े फलक पर ले जाता है। पुरुष-प्रभुत्वशाली वर्चस्व के विमर्श में एक कड़िचल भूदानी कार्यकर्त्री भी हाशिए पर चली जाती है। उसके जीवन का बहुत कम हिस्सा हम जान पाते हैं। कुंवर जयंती प्रसाद का अंत भी अकेले उसकी यातना और मौत का प्रायश्चित नहीं है। वहां भी जमीन जायदाद के झगड़ों का जिक्र है। वह तो जयंती प्रसाद का पत्र आत्महत्या ही बताता है। डूबने या डूबकर मरने की पीड़ा भयावह है। एक दागनुमा चेहरे पर पानी के छींटे डालने जैसा प्रसंग है।

लेखक अपनी सीमा और दिशा तय करता है। वास्तविकता तो यह है कि जयंती प्रसाद सिंह की कथा में एक युग की दास्तान निहित है। ऐसी कथा में कथात्मक अतिक्रमण के क्षण आते हैं। यहां भी ऐसे क्षण मौजूद हैं। यह तत्व 'राग दरबारी' में न हो, 'बिस्रामपुर का संत' में है। औपन्यासिकता यहां व्यंग्य में नहीं, इसी काव्याभिमुख प्रस्थान में निहित है। इस आख्यान में एकस्वरता नहीं है। इसमें बहुध्वन्यात्मकता की भी संभावना है। राजनीतिक दृष्टि से एक विफल आंदोलन में नयी कथादृष्टि की संभावना खोज लेना महज साहित्यिक कौतुक या 'गिमिक' नहीं है। नॉस्टेल्जिया भी यहां वर्जित नहीं है, पर यथार्थ का अवसाद गहनतर है। यहां उपन्यास का पाठ अंत: मंथन की मांग करता है। यहां 'उम्र' सिर्फ डरावना रूपक नहीं है, आत्मपरीक्षण का हिस्सा भी है। श्रीलाल शुक्ल के उपन्यासों के महत्व क्रम से असहमति हो सकती है पर 'बिस्रामपुर का संत' हर बार एक नये पाठ की मांग करेगा। यहां 'पाठ' के बाहर का पाठ भी एक नयी चुनौती की तरह है। फ्रेडरिक जेम्सन ने किसी प्रसंग में कहा है कि वस्तुगत यथार्थ उस चमड़ी की तरह है जिसे ऊपर से देखें तो देखें, उसकी आत्मा में झांकना कठिन है। 'बिस्रामपुर का संत' में इसका विलोम भी सच है। सर्जनात्मक अंतर्दृष्टि के बगैर यह असंभव है।

–परमानंद श्रीवास्तव

भूदान के रूप में भूमिहीनों के निमित्त 42 लाख एकड़ से अधिक जमीन मिल चुकी थी। 31 जुलाई 71 तक 1,68,000 से ऊपर गांव ग्रामदानी बन चुके थे।' (वही, पृष्ठ 207)। परन्तु इतनी विस्तृत परिव्याप्ति के बावजूद 'यह आन्दोलन गांवों में एक जटिल,आर्थिक और सामाजिक दुर्व्यवस्था का कोई उल्लेखनीय व्यावहारिक और स्थायी समाधान नहीं दे पाया है।' (वही, पृष्ठ 207) शुक्ल जी इसी तीन-पृष्ठीय परिशिष्ट के अंतिम अनुच्छेद में स्पष्ट करते हैं कि आंकड़ों की दृष्टि से भूदान व ग्रामदान के मामले में बिहार राज्य सबसे अग्रणी रहा है, फिर भी 'बड़े भूस्वामियों के खूंख्वार संगठनों का भयावह विस्तार तथा छोटे किसानों और उपन्यास 'हृदय परिवर्तन' के गांधीवादी सिद्धांत का प्रतिकार करता है। और स्पष्ट करता है कि 'आदमी' नाम का 'जानवर' मूलत: कमीना होता है, इसका पेट तो दो-तीन सेर तरल-ठोस ठूंस कर भर जाता है, पर इसका मन कभी नहीं भरता। बल्कि उल्टा होता है, जितना यह जोड़ता जाता है, उतना ही उसकी लिप्सा बढ़ती जाती है। सचमुच मनुष्य बहुत 'विवेकशील' और बहुत 'विवेकहीन' प्राणी है! उसे हमेशा ज्यादा चाहिए, और ज्यादा चाहिए, और 'सबों' से ज्यादा चाहिए। प्रत्येक सत्तावान-सम्पन्न व्यक्ति के भीतर एक 'हिटलर' बैठा होता है। क्या नहीं?

कुंवर जयंती प्रसाद सिंह 'गवर्नरी' सार्थकता और निरर्थकता की समस्याओं पर केन्द्रित हो रहा था।' (पृष्ठ-36) भूदान-यज्ञ के दौरान भूदान करने की ख्याति या किन्हीं अन्य कारणों से वह संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य होकर गए तो इस उपलब्धि को वे अपनी 'बैरिस्टरी' की ख्याति का कमाल बताने से नहीं चूके और इस बात पर उल्लसित होते रहे कि 'साउथ ब्लॉक के गलियारों में चक्कर काटने वाली भीड़ को तोड़कर किसी की निगाह इस दूर के गांव पर पड़ी-यह बड़ी बात है।' (पृष्ठ-47) अपने परिवार के एक परिचित जमींदार के शहरी घर में विद्यार्थी के रूप में रहते हुए कुंवर साहब उस परिवार की बहू जयश्री– 'भाभी जी'– से लुका-छिपी

भरा शरीर-सुख वाला रिश्ता जोड़ बैठे और उसके काफी वर्षों बाद अधेड़पन के दौर में एक सर्वोदयी जीवनदानी महिला सुंदरी के साथ शारीरिक छेड़छाड़ कर बैठे। गवर्नरी के दौरान उनके स्वप्नों और दिवा-स्वप्नों के केन्द्र में राज्य की प्रशासकीय समस्याएं या नागरिकों की जीवन-स्थितियों के सुधार की चिंताएं न होकर ये जयश्री और सुंदरी ही बनी रहती है। बुड्ढा सचमुच बहुत लोलुप है। 'बिस्रामपुर आश्रम' में भी वह सुंदरी के प्रति अपने दुराचरण के अपराध-बोध के दबाव में पहुंचता है। जब उसके लिए तमाम सत्ता-पहुंचायक मार्ग बन्द हो जाते हैं तो वह 'संत' हो जाता है। बेचारा क्या करे? ऐसे में तो इंसान को 'संत' होना ही पड़ता है।

पर इस दुनिया में 'संत' को भी चैन कहां?!. . .बिस्रामपुर आश्रम में पहुंची सुशीला बेन उनकी (यानी 'संत' की) 'शान्ति' छीन लेती है। वह सुंदरी की पुरानी सहेली और कुंवर साहब के सुंदरी के प्रति 'छेड़-छाड़ात्मक' दुर्व्यवहार की जानकार है। . . .हद तो तब होती है, जब वह 'एक अजीब-सी प्रतिशोध-भावना' के वश होकर सुंदरी का एक पुराना पत्र विनोबा भावे की 'नित्य-पठनीय' पुस्तक 'गीता-प्रवचन' के बीच में दबाकर वह पुस्तक कुंवर जयंती प्रसाद सिंह को भेज देती है। (पृष्ठ-166) इसी से कुंवर साहब को पता चलता है, उनका अधेड़ हो चुका अर्थशास्त्री-पुत्र विवेक असल में सुंदरी से गहरा प्रेम करता था और उससे विवाह करना चाहता था। जिस दिन सुंदरी विवाह-प्रस्ताव को स्वीकार करने का मन बना रही थी, उसी दिन अपने प्रेमी विवेक के पिता कुंवर जयंती प्रसाद सिंह द्वारा उसके साथ दुव्यवहार किया गया और सामाजिक परिणति पर पहुंचने की प्रक्रिया में गतिमान वह सम्बंध केवल बौद्धिक मित्रता तक सिमट कर रह गया। विवेक और सुंदरी के संबंध की गंभीरता और विवेक के अविवाहित रह जाने के 'कारण' (जो कि वे स्वयं हैं) के बारे में जानने के बाद कुंवर साहब के पाप की ज्वाला उन्हें बाहर-भीतर से झुलसाने लगती है। दबा हुआ अपराध-बोध तीखा होता जाता है, अवसाद और निरर्थकताबोध भी अस्तित्व को दबोचने लगता है। 'एक मंजे हुए हत्यारे की तरह वे ठंडे दिमाग से अपनी हत्या के तरीके के बारे में सोचते रहे थे और कई विकल्पों को खारिज करके उन्होंने बेतवा (नदी) की धारा को इस काम के लिए चुना था।' (पृष्ठ. 192-193) और इस तरह अन्ततः 'बुढ़ऊ' डूब मरा! चुल्लू भर में नहीं, नदी-भर पानी में डूब मरा!

'संत' तो 'परमधाम' चला गया, पर इस धरती पर बसे बिस्रामपुर का क्या? भूदान आन्दोलन की परिणति का क्या? किसानों ने 'भूदान' में मिली जमीन को अपने पसीने से सींच कर उपजाऊ बनाया, पर वह जमीन असल में उनकी नहीं हुई, नहीं हो सकी। उस पर अधिकार या दबदबा तो जयंती प्रसादों और दुबे जैसे दुराचारी, आक्रामक भूस्वामियों का ही रहा है, है। पानी किसानों की नाक को छूने लगा है, वे हिंसक होंगे ही। जमीन उनकी माँ है, भूस्वामियों की रखैल नहीं, इस अहसास से भरे किसान उग्र हो उठे हैं तो यह स्वाभाविक ही है। वे निरक्षर हैं, पर मूर्ख नहीं है। एक किसान रामलोटन कहता है, 'आदमी से मैं नहीं डरता मालिक, न बाघ-बघर्रा से। डर मुझे कागज से लगता है। कागज ने हमारी जमीन कैसे ले ली, मैं नहीं जानता।' (पृष्ठ-114) इस छोटे से देसी संवाद में हमारी कानून-व्यवस्था की मूल प्रकृति का सहज उद्घाटन है। इसी निरक्षर रामलोटन का एक और संवाद देखें, 'कुछ नहीं होगा मालिक, . . .एक बार जब हमने अपना खेत जोत लिया तो दुबे के पुरखे भी उतर आवें, खेत की मेंड़ पर पांव नहीं धरने पाएंगे।' (पृष्ठ-150) रामलोटन जैसे अनेक किसान अपना डर पीछे छोड़ कर अंतिम युद्ध के मोर्चे पर पहुंच गए हैं। कुंवर जयंती प्रसाद सिंह के बहाने श्रीलाल जी कहते हैं, 'इतिहास की यह कैसी विडंबना है कि सारा आन्दोलन पूरे वृत्त का चक्कर काटकर फिर उसी बिन्दु पर आ गया है, जहां से तेलंगाना में सशस्त्र क्रांति की शुरूआत हुई थी, जहां– ग्रामदान के बावजूद– बिस्रामपुर के किसान फिर अपनी जोत के लिए हाथियार तानकर खड़े हो गए हैं।' (पृष्ठ-152) इस पूरे उपन्यास को एक विजन-सूत्र में पिरोया गया है, इस विजन-सूत्र ने ही इसे 'व्यवस्था' और शक्ति दी है। दो समान्तर तत्त्वों– भूमि संबंधों और मानवीय संबंधों– को रचनात्मक ढंग से संभाला-समेटा गया है। कथानक और अन्तर्वस्तु में सुगठन और कसावट इसे बौद्धिक और सौन्दर्यपरक दृष्टि से रोचक और पठनीय बनाते हैं।

उपन्यास के केन्द्रीय पात्र– नायक नहीं, खलनायक– के रूप में अभिजात वर्ग का व्यक्ति है, कथा उसी के इर्द-गिर्द और इससे कोई आंच नही आती है। किसानों और किसान-जीवन के विवरण यहां लगभग नदारद हैं, फिर भी इस उपन्यास के 'चरित्र' का 'नग्नीकरण' उसी वर्ग के 'बकलम खुद' किया गया है। इस वर्ग पर 'जैविकता' कुछ ज्यादा ही हावी रहती है, इसलिए इसमें 'पशु-भाव' कुछ ज्यादा ही है। इस वर्ग का– और इसके प्रतिनिधि कुंवर जयंती प्रसाद सिंह का– केन्द्र इसका पेट और उसके आसपास का अंग-मण्डल है, दिल-दिमाग तनिक परिधि पर हैं। जो मनुष्य होगा, उसके दिमाग-दिल (विवेक, संवेदनशीलता) ऊंची जगह पर मौजूद होंगे, बाकी चीजें (अंग) बीच में या नीचे। लेकिन अभिजात वर्ग का मूल चरित्र 'चौपाया-चरित्र' ही है, उसका मुख्य भाव भूख और लिप्सा है, वही केन्द्र में है। किसान वर्ग– जो उपन्यास में लगभग अनुपस्थित है– और श्रमिक वर्ग के प्रति अपनी पक्षधरता बनाए रख सकना एक चमत्कार जैसा लगता है, जो श्रीलाल शुक्ल ने 'बिस्रामपुर का संत' में कर दिखाया है। इसी सन्दर्भ में मुझे सत्येन कुमार के उपन्यास 'नदी को याद नहीं' की याद आ रही है, उसमें भी अभिजात वर्ग की बखिया उधेड़ी गई थी, सामंतवाद के ह्रास का दिलचस्प आख्यान प्रस्तुत किया गया था। पर उसमें जनसाधारण के प्रति 'पक्षधरता' वाला तत्त्व नदारद था। 'बिस्रामपुर का संत' एक 'बड़ी' रचना है, क्योंकि इसमें उपन्यासकार ने लगभग 'अनुपस्थितों' के प्रति पक्षधरता बरतने का चमत्कार कर दिखाया है। हिन्दी कथा-साहित्य में इस कथात्मक प्रविधि, इस बात के प्रति ('बिस्रामपुर का संत' पढ़ने के बाद) हम आश्वस्त हो सकते हैं।

ई-1/32, सै
नई दिल्ली-110085

जवाहर चौधरी

'सूनी घाटी का सूरज' में 'राग दरबारी' के बीज

सन् 1968 में राग दरबारी से लगभग ग्यारह वर्ष पहले व्यंग्यकार श्रीलाल शुक्ल का पहला उपन्यास 'सूनी घाटी का सूरज' 1957 में प्रकाशित हुआ। राग दरबारी हिन्दी व्यंग्य साहित्य की ऐसी कृति है जो पाठकों, आलोचकों, समीक्षकों द्वारा बार-बार मथी गई, और आज भी मंथन में बनी रहती है। यही स्थिति रचना को कालजयी बनाती है। यह कहना गलत नहीं होगा कि राग दरबारी आज एक पैमाना है, कोई रचना या कृति इसके कितना नीचे या उसके कितने करीब है इससे उसकी गुणवत्ता तय होती है। किसी लेखक की कालजयी रचनाएं एक या दो ही होती हैं। अक्सर इस तरह की महान कृति इतनी चमक या चौंध पैदा करती है कि उसकी अन्य रचनाओं की उपेक्षा हो जाती है या फिर उस पर कम ध्यान जाता है। यही 'सूनी घाटी का सूरज' के साथ हुआ है।

श्रीलाल शुक्ल का जन्म 31 दिसंबर 1925 को हुआ। 19-20 वर्ष की आयु में उन्होंने कविताएं छोड़ कहानियां लिखना आरंभ की। 'धोखा' शीर्षक से उनकी एक कहानी बाद में भी याद की जाती रही है। लेकिन उनका नियमित लेखन 27 वर्ष की आयु में, 1953 से आरंभ हुआ। इस दौरान उनके लेख, हास्य-व्यंग्य, कहानियां आदि धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, सारिका जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में लगातार छपे और वे बाकायदा स्थापित लेखक हो गए। श्री शुक्ल कहते हैं कि ''मुझे लेखन के क्षेत्र में अपने को स्थापित करने के लिये संघर्ष नहीं करना पड़ा। साहित्य में मुझे सामान्यतया प्रोत्साहन और सद्भाव के साथ ग्रहण किया गया।''

'सूनी घाटी का सूरज' तात्कालिक ग्रामीण समाज में एक युवक 'रामदास' के संघर्ष की कहानी है जिसने पिता को कर्ज के बदले ठाकुर के यहां बंधुआ मजदूरी करते देखा। मां का देहांत पहले ही हो चुका था। एक दिन गन्ना पेराई करते चरखी में दोनों हाथ जा फंसे, घायल पिता मरते-मरते रामदास को कह गए कि- ''अपना अपना प्रारब्ध है बेटा, घबराना नहीं, भगवान सबका प्रतिपालक है। उन्हीं के सहारे काम किये जाना। पढ़ाई न छोड़ना'' थोड़ी देर चुप रह कर फिर बोले- ''बड़े ठाकुर के घर काम न करना बेटा।'' अनाथ रामदास ठोकरें खाता हेडमास्साब के पास सेवक हो कर जीने लगा। यहां उसके पास पढ़ने के कुछ अवसर मिले जिसका उसने पूरा लाभ उठाया। आगे चल कर ट्यूशनों और वजीफों की सहायता से उसने प्रथम श्रेणी से डिग्रियां हासिल की। बिना सिफारिशी और सहायता के यहां तक रामदास की कहानी एक मेधावी और संघर्षशील युवा की कहानी है। लेकिन इसके बाद उसे सामाजिक यथार्थ के कठोर धरातल का सामना करना पड़ता है जहां सिफारिशी व अयोग्य, ओहदों पर बैठे हैं और प्रतिभाएं उपेक्षा, अपमान और तिरस्कार पातीं हैं। कुव्यवस्था के इस किले को भेदने की क्षमता न देख, रामदास अपनी तमाम निराशाओं को छोड़ कर उसी गांव में जाने का निर्णय लेता है जहां, उसे लगता है, कि उसकी सबसे ज्यादा जरूरत है। इस तरह यह उपन्यास एक आदर्शवादी युवक रामदास के वापस गांव पहुंचने के साथ समाप्त होता होता है। लेकिन पाठक महसूस करेंगे कि यहीं से 'राग दरबारी' की जमीन तैयार होती प्रतीत होती है। रामदास को गांव में जो देखना पड़ा है उसी का विस्तार राग दरबारी में दिखाई पड़ता है।

जहां तक व्यंग्य का सवाल है 'सूनी घाटी. . .' में प्रवेश करते ही इसके दर्शन होते हैं- उपन्यास के नायक रामदास और उसकी साथी सत्या गांव में पहुंचते हैं तो सामने पड़े एक आदमी से गांव के बारे में जानकारी लेना चाहते हैं। जवाब में वह कई गैरजरूरी सवाल पूछता है। कौन है ये आदमी?- 'सफेद कमीज और खाकी हाफ पेंट वाला वह आदमी कभी पुलिस का दारोगा रह चुका था। लगभग पांच साल हुए, उसने पेंशन ले ली थी। अब गांव में अनाज और आटा चक्की का कारोबार करके दिन गुजार रहा था। इन दोनों के कुछ दूर आगे निकल जाने पर उसने घूम कर इनकी ओर देखा और सोचा, 'लड़का भाग्यवान है जो उसे साथ लिये जा रहा है। लड़की बड़ी फारवर्ड है। दोनों बदमाश हैं। न हुए पहले वाले दिन, नहीं तो दोनों को पहले हवालात दिखाता, फिर बाद में पूछता कि कहो मेमसाब क्या हाल हैं? हजारों दफाएं निकल आतीं। पर, दिन बदल गए हैं। अब के थानेदारों की यह हिम्मत कहां कि इनको बंद कर दें। सब जमाने से डरते हैं, अब नौकरी का धर्म नहीं रहा। अच्छा हुआ पेंशन मिल गई। नहीं तो दिन रात मन मसोसता रहता, बाहर के लोग कहते कि थानेदार है, पर अंदर से. . .।'

गांव में पुलिस का आतंक तब भी आज से भिन्न नहीं था- 'रामचरन कुएं की जगत पर बैठा गुड़ खा रहा था. . . बोला- अरे मुंसीजी, गांव में अब कैसे रह सकता हूं वे लोग रहने ही नहीं देते।' कह कर उसने इशारे से सिर का साफा बांधने वाले पुलिस के सिपाहियों का संकेत किया।

पंडितजी ने कहा- 'कायदे से रहो तो कोई न बोले।'

वह सिर हिला कर धीरे-धीरे कहता रहा- 'नहीं मुंसीजी, उनको भी वारदात होने पर मुलजिम ढूंढने पड़ते हैं। हम लोग तो मुंसी जी के घर की बकरी हैं। जब चाहा गरदन पर छूरा चला दिया, नहीं तो घर के सामने चरने दिया।'' इसके बाद उसने कुंए से एक लोटा पानी खींच कर पिया और फिर सिर पर अंगोछा बांध कर पश्चिम की राह चला गया। गांव के पश्चिम में ढाक और खजूर का जंगल था। उधर ही वह धीरे-धीरे लंगड़ाता-सा चला गया।. . .उसके बाद

वह गांव फिर नहीं लौटा। एक डकैती में उसे सजा हुई। वहीं वह जेल में मर गया।

गांव हो और जाति का असर न हो यह आज भी संभव नहीं है। 'सूनी घाटी...' में स्कूल का एक दृश्य है- एक कहता- 'अरे चमरवा ने मेरे ऊपर गुठली थूक दी। इसके दांत तोड़ दूंगा।' दूसरा कहता- 'यह हमेशा हम पर थूकता है। इसका पहाड़ा पढ़ा जाए।'

तब कुछ बांभन और ठाकुर के लड़के हरिराम को पकड़ लेते। वह चमार का लड़का था। एक बंदर के बच्चे की भांति वह चिचियाने लगता। उसकी आंखें हाथों से बंद करके दूसरे लड़के उसके सिर पर चपत मारते और हर चपत पर कहते- दो एकम दो, दो दूने चार, दो तिया छे . . .' राग दरबारी के वैद्यराज की तरह वैद्य धारणीधार भी हैं। '. . .तभी एक मजदूरनी आकर उनके पैरों पर पड़ गई। वैद्यजी चौंक कर पीछे हट गए, बोले- ''शिव शिव शिव, न जाने कौन जाति है? अपना रोग तो बताओ?' उसने बताया कि उसके दो बच्चों को एक साथ चेचक निकल आई है। वैद्यजी ने उसे आदेश दिया, 'शीतला का स्मरण करो, वही रक्षा करेंगी। इसमें औषधि व्यर्थ है।' अपनी दवाओं की रहस्यमयता को बनाए रखते वे कहते हैं- 'यह गुप्त रहस्य है। औषधि का तत्व जान लेने से उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। जैसे मंत्र का अर्थ जान लेने से मंत्र का फल नष्ट हो जाता है।'

रामदास इसी वातावरण में पढ़ रहा था कि एक दिन ठाकुर ने उसके पिता को कहा- 'काका, रमदस्सा को भैंसों के पीछे भेज दिया करो।. . .आगे पढ़ा-लिखा कर इसे जज-बालिस्टर तो बनाना नहीं है। यहीं घूमेगा। वैसे भैंसों के पीछे लगा रहेगा तो तुम्हें भी रुपिया-धोला बरक्कत हो जाएगी।' लेकिन रामदास ने पिता से पढ़ने की जिद की तो वे बोले- 'पढ़ ले तो अच्छा ही है। पर पैसा कमाना हमारे भाग में नहीं लिखा है।' फिर रुक कर बोले- 'अच्छा, देखेंगे।'

आगे जब रामदास कानपुर आगे की पढ़ाई के लिये जाने वाला होता है मुंशीजी को दूसरे नौकर का इंतजाम जरुरी हो जाता है तो पत्नी कहती है- 'अब दूसरे मुलाजिम का इंतजाम करो। रामदास तो अब कानपुर में अंग्रेजी पढ़ेंगे।' आगे धीरे से कहती हैं- 'सब कुकुरिया जगन्नाथन जाएंगी तो पत्तल कौन चाटेगा।'

गांव में ठाकुरों के घर का विवरण राग दरबारी की तर्ज पर रोमांचक है- 'छोटका बड़े ठाकुर की दूसरी स्त्री थी। बड़ी को बड़का कहा जाता था। वह तो दिन-रात नशे में धुत्त पड़ी रहती थी। छोटका की शादी हुए दो ही चार साल हुए थे। उसके आचरण के बारे में न जाने कितनी कथाएं फैली हुई थीं, फिर भी बड़े ठाकुर छोटका की इज्जत करते थे। उस दिन जाना कि छोटका भी घर का अनाज चुरा कर बेचती है। गांव में गृहस्थी के भार से दबी स्त्रियां यह सब कुछ करती हैं। सासों के डर से चुराकर वे घी-दूध व शक्कर खा सकतीं हैं। पति से छुपाकर घर का अनाज बेच सकतीं हैं।. . .अपनी ऊब और घुटन मिटाने का उनका यही साधन है।'

आमतौर पर ग्रामीण समाज में लोगों के नाम भगवान के नाम पर रखने का चलन है, किन्तु दुनिया बदल रही थी तो सोच भी बदल रहा था। 'कभी कभी वह सिर हिला कर मुझसे कहता- 'जिस आदमी का नाम भगवान के नाम पर होता है, उसे जूते खाने पड़ते हैं। भगवान बदला लेता है। देखो, रमचरना को जेहल हो गई। वह वहीं मर गया।. . .इसलिए हमारे बाप ने अपना नाम रक्खा छोटूसिंह, मेरा नाम नन्हूसिंह और छुटकन्नू का नाम रखना चाहा तो भगवान सिंह या दशरथ सिंह नहीं रखा। उसका नाम रक्खा बालिस्टर सिंह। अबकी भइया होगा तो उसका नाम रखेंगे कलक्टर सिंह।'

अमजदअली रामदास के साथ ही पढ़ता था। उसमें अपने धर्म के प्रति श्रेष्ठता का भाव छलका करता था। एक दिन बोला- 'अरे रामदास, इन जिननात की न पूछो। कहने को ये मुसलमान हैं, पर ये तुम्हारे हिन्दू भूतों से बढ़ कर भयानक हैं। तुम्हारे यहां तो भूत पटकता है, प्रेत खाने दौड़ता है, अगिया बैताल बदन झुलसाता है, चुड़ैल पास लेटकर आदमी का खून चूस लेती है, बरम राक्षस पीपल का पेड़ सिर पर गिरा देता है, पर लेता क्या है? ज्यादा से ज्यादा साल-छः महीने का बुखार आ जाता है। पर ये जिन्नत और खबीस सबके चाचा होते हैं।. . .बरम राक्षस लग जाए पर खबीस से किसी का पाला न पड़े।'

शिवपालगंज में कॉलेज है, मेनेजमेंट और प्रिंसिपल की उठापटक है, इन सबके बीज 'सूनी घाटी का सूरज' में दिखाई देते हैं। 'कुछ दूर चलने के बाद उसने पूछा- ''कॉलिज की पॉलटिक्स का कुछ हाल मालूम है?'' अनभिज्ञ होने पर उसने बताया- ''मैनेजर की पार्टी हेडमास्टर से नाराज है। ये मैनेजर साला बड़ा खूंसट है। कॉलिज को अपनी जीविका का साधन बनाए हुए है। .... अब उसने हेडमास्टर साहब को अपमानित करने की सोची है।....स्कूल इस वर्ष से कॉलिज हो गया है। दो महीने से हेडमास्टर साहब प्रिंसिपल का काम कर रहे हैं। मैनेजर उन्हें हेडमास्टरी पर उतारना चाहता है। इसी स्कूल से निकाले हुए पुराने मास्टर हैं बाजपेयी साहब, उनको प्रिंसिपल बनाने की सोच रहा है।... इलाके के चार बदमाश बुलाकर मैनेजर के सिर पर सौ जूते लगवा दिये जाएं। सब ठीक हो जाएगा। बेईमानी की दवा जूता।...'

कुंवर साहब का चरित्र राग दरबारी में रुप्पन बाबू के रूप में विस्तार पाता महसूस होता है। 'रेडियो में वे फिल्मी गाने सुनते। पत्रिकाओं में केवल स्त्रियों के चित्र देखते। जिन विज्ञापनों की प्रशंसा किसी फिल्म तारिका ने की होती, उन्हीं से संबद्ध वस्तुएं मंगवाते। अंग्रेजी फिल्म केवल आलिंगन दृश्यों के लिये देखते। गाना केवल स्त्री कंठ का ही पसंद करते। कमरे में भांति-भांति चेष्टाओं वाले स्त्रियों के चित्रों की भरमार थी। एक तमोली की दुकान पर लगे हुए चीनी, रूसी, हब्शी स्त्रियों के चार चित्र वे दो सौ रुपए में खरीद लाए थे। केवल वे केलेन्डर उनके अध्ययन कक्ष में टंगे हुए थे जिनमें विभिन्न रूपों की आकर्षक स्त्रियां अपने विभिन्न अंग दिखा रही हों। . . . वे विवाहित थे। फिल्म तारिकाओं के अर्धनग्न चित्रों के बीच उन्होंने अपनी पत्नी के भी कई चित्र उन्हीं मुद्राओं में खिंचवा कर लगा रखे थे।

नगरीय परिवेश में कॉलेज विसंगतियों से अछूते नहीं हैं। वहां भी जातिवाद विकट रूप में है। यही नहीं शोषण के निर्लज्ज तरीकों की भरमार है। प्रतिभाशाली रामदास से लिखवा कर प्रोफेसर सिन्हा किताब अपने नाम से छपवा लेते हैं। शोध अन्य करते हैं। लेख उनके नाम से प्रकाशित होते हैं। चाह

शेष पृष्ठ-109 पर. . .

निर्मला एस. मौर्य

'बिस्रामपुर का संत' और 'इस उम्र में' : सामाजिक सरोकार

जीवन का आनंद हास्य अर्थात् ह्यूमर और व्यंग्य अर्थात् सटायर के बीच होता है। ये दोनों जब तक जुड़े ने हों तब तक व्यक्ति को वह आनंद नहीं मिलता जो मिलना चाहिए। केवल हास्य हो तो कई बार वह भौंड़ा हो जाता है और केवल व्यंग्य हो तो तीखा हो जाता है। जब दोनों मिल जाते हैं तब हास्यात्मक व्यंग्य बनकर पाठक के मन और मस्तिष्क के तंतुओं को झकझोर देते हैं। ये दोनों ही लेखक की जीवनानुभूतियों के सहयात्री हैं। व्यंग्य का डंक हास्य के मधु में डुबो कर भी चुभोया जा सकता है और आक्रोश की अधीरता में तीव्र व्यंग्य भी किया जा सकता है। व्यंग्यकार के तीखे आक्रोश में स्वत: हास्य का पुट आ जाता है और वह हास्य की सान पर तीखे व्यंग्य बाणों को चढ़ा कर सन्धान करने लग जाता है। हास्य एवं व्यंग्य के मूल में सामाजिक अंतर्विरोध, विषमता एवं दुर्बलता मानी जाती है अर्थात् इन दोनों वृतियों का कारक तत्व समान है। मानव, प्रकृति का सबसे संवेदनशील और बुद्धिमान प्राणी है। अपने आसपास हो रही विसंगतियों के प्रति वह जो प्रतिक्रिया व्यक्त करता है उसका एक रूप हास्यात्मक व्यंग्य है। व्यंग्य का संबंध संसार के समस्त प्राणियों से है। संसार का कोई भी प्राणी निष्प्रयोजन कोई भी कार्य नहीं करता। संपूर्ण सृष्टि में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा जो पूर्ण रूप से अपने आसपास की परिस्थितियों से संतुष्ट हो। उसके हृदय में कुछ व्यवस्थाओं के प्रति विद्रोह अवश्य रहता है। वह कई बार बिना किसी को दुखी किये कुछ ऐसी बात कह जाता है जो सुनने वाले के मर्म को चोट अवश्य पहुंचाती है परन्तु उसका कार्य संपन्न हो जाता है। साहित्यकार उसी समाज का प्रहरी है अत: उसका उत्तरदायित्व सामान्य व्यक्ति से अधिक होता है। यही कारण है कि वह जो कुछ भी देखता, भोगता और अनुभूत करता है उसे समय आने पर इस प्रकार व्यक्त करता है कि व्यंग्य भी हो जाये और उसके लक्ष्य की पूर्ति भी हो जाये। श्रीलाल शुक्ल की दुनिया सामाजिक सरोकारों से जुड़ी है और इनके व्यंग्य सामाजिक सरोकारों से जुड़कर चलते हैं। चाहे राजनीति हो, धर्म हो, सांस्कृतिक परंपराएं हो, आर्थिक स्थितियां हो, नैतिकहीनता या भ्रष्टाचार हो, सभी पर उनकी लेखनी खूब चली है। इनके व्यंग्य का मूल हंसी-हंसी में करारी चोट पहुंचाना होता है। यदि इनके व्यंग्यों में हास्य की भावना न होती तो शायद व्यंग्य इतने प्रभावी न बन पाते। इन्होंने अति चतुराई से अपने कर्तव्य का निर्वाह करते हुए दोषी व्यक्ति या व्यवस्था की त्रुटियों का आभास उसे करा दिया है और किसी के मन में कलुष या कटुता की भावना भी नहीं आने दी है। आइरनी अर्थात् वक्रोक्ति वास्तव में शब्दों का विलक्षण व्यापार है। यह एक विशिष्ट शैली है जिसका अर्थ भी विशिष्ट ही निकलता है। वक्रोक्ति को 'काव्य जीवितम्' मानने वाले आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति को साहित्य का सर्वस्व माना है। आचार्य भामह ने समस्त अलंकारों को वक्रोक्ति मूलक माना है। इसी संदर्भ में डॉ. नगेन्द्र ने भी यह स्पष्ट किया है कि वक्रोक्ति का तात्पर्य वक्र उक्ति है। जयदेव ने इसे अर्थालंकार के रूप में स्वीकार किया। आचार्य केशव ने इसी वक्रोक्ति को व्यंग्य का पर्याय माना। कवि कुलपति इस पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं–

कहै बात और कछू, अर्थ करै कछू और।
वक्र उक्ति ताको कहै, श्लेष काकु द्वै ठौर।।

व्यंग्य साहित्य का ऐसा तत्व है जो साहित्य की हर एक विधा जैसे काव्य, उपन्यास, नाटक, निबंध आदि में विद्यमान है। व्यंग्य भ्रष्ट सामाजिक व्यवस्था के प्रति न सिर्फ आक्रोश प्रकट करता है बल्कि मनुष्य को उसके बारे में सोचने पर विवश करता है। व्यंग्य को ग्राह्य बनाने के लिए उसे हास्य से जोड़ा जाता है। यह एक ऐसा अस्त्र है जो समाज में प्रचलित कुप्रथाओं और कुरीतियों पर प्रहार करता है। व्यंग्य अधिकतर कटु होता है। इस प्रकार व्यंग्य अभिव्यक्ति का वह प्रखरतम माध्यम है जो व्यक्ति के मन को झकझोर कर उसे सोचने पर मजबूर कर देता है। 'बिस्रामपुर का संत' में श्रीलाल शुक्ल एक स्थान पर सुंदरी के बालविहार का वर्णन कुछ इस प्रकार करते हैं– जो कुछ है, यही बाल विहार है। अब भी फलफूल रहा है। विद्यालय भी है– हायर सैकेन्ड्री तक, पर वैसे स्कूल तो बहुत हैं और यह भी उन्हीं जैसा है। नकल से इम्तहान पास करने वालों का मशहूर सेंटर! बाल विहार का भी आगे क्या होगा कौन कह सकता है। प्रसिद्ध व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई ने कहा है व्यंग्य जीवन से साक्षात्कार करता है और जीवन की आलोचना करता है। यह बात पूरी तरह से इस उपन्यास पर खरी उतरती है। इस उपन्यास में शुक्ल जी ने पाठक का आम आदमी के जीवन से साक्षात्कार कराया है। यह उपन्यास आचार्य विनोबा भावे के भूदान आन्दोलन पर केन्द्रित है। शुक्ल जी ने इस आन्दोलन की भूमिका पर बड़े विस्तार से प्रकाश डालते हुए इसे सामाजिक सरोकारों से जोड़ दिया है। इस उपन्यास के केन्द्र में कुंवर जयंती प्रसाद सिंह हैं। इनके बड़े भाई राजनीति से संबंध रखते हैं और बड़े लंबे समय तक कांग्रेस के साथ जुड़कर समाजवादी बने रहे। हाई कोर्ट की प्रैक्टिस को छोड़कर जयंतीप्रसाद जी उनकी रियासत की देखभाल करते हैं लेकिन वे अपने भाई की तरह साधारण लोगों के बीच रह नहीं पाते। वे बड़े अड़ियल थे और स्वयं को बड़ा चतुर समझते थे। उनकी सोच और समझ पर व्यंग्य करते हुए शुक्ल जी कहते हैं कि– जब कुंवर साहब ने अपने पद की शपथ ली तो कुछ लोगों के साथ उन्हें चाय पीनी पड़ी। सबके जाने के बाद राजभवन

के कई पर्दों, सोफों और गलीचों की शामत आयी।

यह उपन्यास कुंवर साहब के सपने से शुरू होता है जबकि राज्यपाल के रूप में उनका कार्यकाल थोड़े समय का रह गया है तब वे सपने में पच्चीस साल पहले युवा कुंवर के रूप में देखते हैं। कहानी आगे बढ़ती चली जाती है। इसमें जयश्री का जिक्र होता है जिसका पति इंग्लैंड में पढ़ रहा होता है और वह उनके जीवन में आयी पहली स्त्री थी। दूसरी स्त्री सुंदरी थी। भूदान आन्दोलन में अपने ग्रामदान की बाद ही उनकी मुलाकात उससे हुई थी। इसमें उनके चरित्र को भी दिखाया गया है। सुशीला का यह कहना कि हमने कुंवर साहब की बात सुन ली है निर्मल भाई, मच्छर यहां सचमुच ही नहीं सोने दे रहे हैं। क्यों सुंदरी, चलोगी कुंवर साहब के हरम में? राजनीति में ऐसी बातें बहुत छोटी समझी जाती हैं। यह उपन्यास अपने समय की राजनीति पर एक तीखी लेखकीय प्रतिक्रिया है। राजनीति से जुड़े बड़े-बड़े लोग जो अपने को अभिजात्य वर्ग का कहते और मानते हैं वे चरित्र की दृष्टि से कितने छोटे होते हैं यही इस उपन्यास में व्यंग्य के द्वारा प्रस्तुत है। जिस तरह आज बड़े-बड़े नेता और औद्योगिक घराने साठ-गांठ कर लेते हैं वैसी ही कुछ स्थिति इस उपन्यास में है। शुक्ल जी ने व्यंग्य द्वारा इस उपन्यास को समाज और राजनीति से जोड़ दिया है तथा यह प्रश्न उठाते हैं कि अनेक लोग अपना सब कुछ लुटाकर भूदान आन्दोलन से जुड़े थे किन्तु उसका हस्र ऐसा क्यों हुआ? जो वास्तव में त्याग करते हैं वे कहीं गुमनामी के अंधेरे में खो जाते हैं और दूसरे लोग इसका फायदा उठाते हैं। व्यंग्य की सार्थकता इसी में होती है कि यह पाठक को इतना अधिक संवेदनशील बना देता है कि पाठक रचना को पढ़कर भाव-विभोर हो जाता है। इस रचना के परिप्रेक्ष्य में इसे देखा जा सकता है।

व्यंग्य एक ऐसी सतर्क दृष्टि है जो समाज में व्याप्त दुर्बलता, अनैतिकता और विकृति पर प्रहार करता है। व्यंग्य एक ऐसी साहित्यिक अभिव्यक्ति या रचना है, जिसमें व्यक्ति तथा समाज की कमजोरियों, दुर्बलताओं, करनी एवं कथनी के अंतरों की समीक्षा अथवा निंदा, भाषा को टेढ़ी भंगिमा देकर अथवा कभी-कभी पूर्णत: सपाट शब्दों में प्रहार करते हुए की जाती है। 'बिस्रामपुर का संत' में लेखकीय सतर्कता दृष्टिगोचर होती है। समाज, राजनीति में व्याप्त अनैतिकता और विकृति इस उपन्यास में हर जगह चित्रित हुए हैं। जैसे लेखक का कहना कि आज तीस वर्षों बाद जब उनकी गोद में फटी बिवाई वाले किसानों की जिंदगी पर सुंदरी की किताब खिली पड़ी है, सुंदरी की एड़ियों की त्वचा की तरह उनका मन भी दरक रहा है, दर्द की आड़ी-तिरछी रेखायें एक दूसरे को काट रही हैं। यह कथन पाठकों के दिल को कहीं अंदर तक दरका जाता है।

इयान जैक ने व्यंग्य को मनुष्य की अपने बचाव की इच्छा शक्ति से उद्‌भूत माना है। व्यंग्य सामाजिक शिवत्व की एक साधना है, यह साहित्यकार की विशेष अनुभूति है। विषम परिस्थितियों पर प्रहार करने के कारण व्यंग्य का स्वरूप आक्रामक होता है। इसके तेवर बड़े ही कटु होते हैं। इसे ग्राह्य बनाने के लिए इसमें हास्य को भी जोड़ा जाता है अत: यह मान सकते हैं कि व्यंग्य शक्कर की चासनी में लिपटी हुई एक ऐसी गोली है जिसमें कड़वाहट अवश्य है परन्तु सुधार की भावना भी है। व्यंग्यकार उपदेशक नहीं होता बल्कि सत्य की प्रतिष्ठा पर बल देते हुए पाप का भांडाफोड़ करता है। शुक्ल जी के व्यंग्य स्पिरिट के समान हैं जो जलन देते हैं और ठंडक भी पहुंचाते हैं। 'इस उम्र में' श्रीलाल शुक्ल का कहानी संग्रह है। इस संग्रह की कहानियों में यथार्थता, गंभीरता, बौद्धिकता, संवेदनशीलता और सांकेतिकता अपनी भरपूर शक्ति के साथ प्रयुक्त हुए हैं। पहली कहानी का नाम ही 'इस उम्र में' है, इसमें जरा शब्दों का प्रयोग देखें– इस निबंध से शायं गायब हो गई थी, सिर्फ आयं-बायं बची थी। इसमें एक बूढ़े आदमी को केन्द्र में रखकर कहानी का विकास हुआ है और इसे सामाजिक सरोकार से जोड़ा गया है। वह बूढ़ा दुर्घटनाग्रस्त हो जाता है। जब वहां पुलिस आती है तो वह उस व्यक्ति से बहुत अच्छी तरह बात करती है जिसके घर के सामने दुर्घटना हुई थी। लेखक कहते हैं पता नहीं क्यों, वे मुझसे पुलिस की तरह नहीं, सभ्य पुरुषों की तरह बात कर रहे थे. . . शायद इसलिए कि मैं खूब साफसुथरा खादी का कुर्ता और पायजमा पहने था। उनकी निगाह में मेरा अपरिचय इज्जत का हकदार था। जिंदगी के कुचक्र, जिजीविषा, सकपका गया, चमकदार आकाश का टुकड़े-टुकड़े होकर झांकना, आंखों के आगे काले-काले धब्बे तैरना, बाहर भीतर सब ओर सन्नाटा, बचेखुचे समय को निकृष्टता के दलदल में धंस जाने दो जैसे शब्दों का प्रयोग कर लेखक ने विभिन्न सामाजिक सरोकारों को अभिव्यक्ति दी है।

'चंद अखबारी घटनाएं' एक ऐसी कहानी है जिसमें बाढ़ की स्थिति का जायजा लेने हेलीकाप्टर पर चढ़कर मुख्यमंत्री काफी ऊंचाई पर उड़ते हैं और उनसे राजस्व मंत्री पूछते हैं कैसा महसूस कर रहे हैं। यहां जो धारदार व्यंग्य दिखाई देता है उसके पीछे छिपा एक बहुत बड़ा अर्थ पाठकों के समक्ष खुल जाता है। बाढ़ आने पर मंत्रियों और उनके लग्गुओं-भग्गुओं की चांदी बन आती है। कई बार सत्ता पर बैठी हुई पार्टी रैलियां निकालती है, मंत्रियों का मंच पर सम्मान करती है, मंत्री भाषण देते हैं और कई बार मंचों का टूटकर गिर जाना बड़ी हास्यास्पद स्थिति पैदा करता है। जैसे एक जगह पर शुक्ल जी कहते हैं– जिनकी सभा थी, जिनका पंडाल टूटकर गिरा, वह खुद जांच की बात करें तो और बात है। एक और राजनैतिक व्यंग्य की स्थिति देखिये– यह सम्मान प्राय: इस प्रकार होता– शंख, घंटा, घड़ियाल, तुरही, डफ आदि लोकवाद्यों के साथ और जिंदाबाद-जिंदाबाद के नारों के बीच मुख्यमंत्री का स्वागत, उनके सर पर सोने या चांदी का मुकुट रखा जाना या उनके अभाव में सर पर एक बड़ा सा पगड़ बांध देना, उनके हाथ में तलवार या गदा पकड़ा देना। आज भी ऐसे तमाशे राजनीति में रोज ही देखने को मिल जाते हैं। राजनेता स्वयं को हेलीकाप्टर में बैठा पाकर ऐसा महसूस करते हैं जैसे हेलीकाप्टर के भीतर धरती को पांवों के नीचे और आकाश को अपने सिर से बालिश्त भर ऊपर समझने का एहसास उन्हें संतोष दे रहा था। राजनीति में रहते हुए कई बार मंत्री या नेता ऐसी स्थिति में पहुंच जाते हैं कि उन्हें अपनी अंतरात्मा को जवाब देना पड़ता है जैसा कि इस कहानी के अंत में होता है। मुख्यमंत्री बांध के किनारे जब अकेले खड़े होते हैं तो वे

आधी सदी पहले एक निर्धन, बदहाल गांव की धूल भरी गली में जो कुछ अपना पीछे छोड़कर वे बाहरी दुनिया में आये थे उसकी धुंधली अस्थिर छाया सामने पानी पर मंडराती-सी जान पड़ी। ये पंक्तियां पाठक के मानस को झंकझोर देती हैं।

'पंतग के लुटेरे' कहानी में बड़े ही साधारण किन्तु सधे शब्दों में लेखक ने उच्चवर्ग और निम्नवर्ग के बीच की खाई को स्पष्ट कर दिया है। पंतग लूटते हुए लड़कों का झुंड डॉक्टर को यह सोचने पर विवश कर देता है कि क्या एक साथ इतनी संख्या में इतने बदहाल लड़के उन्होंने कभी देखे थे? उन्हें याद नहीं पड़ा। यह उनकी सामूहिक मौजूदगी की चोट थी जो उनके सीने पर मुक्के जैसी पड़ी थी। डॉक्टर की हैसियत से उन्होंने हजारों बीमार बच्चे देखे थे पर उनमें से हर बच्चा एक अलग मरीज था, जिसके साथ डॉक्टर मरीज के रिश्ते का सामंजस्य बन सकता था। आज उनके सामने अचनाक एक तिरते हुए क्षण में कुछ अप्राकृतिक, कुछ अयथार्थ जैसा चमक कर बुझ गया था। यह कहानी सामाजिक सरोकारों से जुड़ी हुई है। 'सुखांत' कहानी में एक मध्यवर्गीय सपने को उकेरा गया है। कहानी का प्रारंभ ही होता है जीवन का एक चमत्कारी दिन। मेरा अपना मकान बनने जा रहा था। सात पीढ़ी ऊपर और उनसे भी ऊपर के पूर्वजों के आशीर्वाद। ऐसा सपना हर मध्यवर्गीय व्यक्ति की चेतना में सदैव पलता है। मकान बनवाने के लिए पूजा करने की आवश्यकता होती है तो एक पंडित जी ढूंढे जाते हैं। शुक्ल जी ने बड़ी ही हास्यमयी शैली में धर्मांधता तथा पाखंड पर प्रहार किया है– जिसे आप धार्मिक ढकोसला कहेंगे उसे संपन्न करा देने वाला पुरोहित– वह लुप्तप्राय है, फलों में जामुन, खिरनी, फालसे जैसा या जानवरों में शार्दूल जैसा। इस कहानी में बाबुओं पर भी खूब व्यंग्य हुआ है। वास्तव में पूजा करवाने वाला पुरोहित दुबला-पतला खोखले चेहरे वाला घबराया बौखलाया-सा सैंतालिस साल का बाबू होता है। लेखक ने इस कहानी में परिवारिक समस्या भी उठाई है कि किस प्रकार एक निम्नमध्यवर्गीय परिवार में बेटियों को दहेज की बलि चढ़ना पड़ता है और जब बेटी अपनी पसंद से विवाह कर लेती है तो उसके परिवार को समाज द्वारा अवहेलना झेलनी पड़ती है– पर वह होगा नहीं। लौंडिया तो आठ दिन पहले ही भाग गई है। सांप निकल गया है, वह साला कहीं उसकी लकीर पीट रहा होगा। पड़ोसी का यह कथन पाठक को गहराई तक घायल कर जाता है।

'जिंदगी' कहानी में समसामयिक स्थितियों पर करारी चोट है। जैसे लेखक कहते हैं– बिना किसी प्रसंग के मुझे याद आया, मुझे कसरत, ताजी हवा और खेलकूद की जरूरत है। काश कोई इन्हें बटोरकर शीशी में रख सकता और ऐसे मौकों पर टानिक की तरह इस्तेमाल करता। भले ही यह कथन हंसी उत्पन्न करता हो किन्तु पाठक को यह सोचने पर विवश करता है कि अब वो दिन दूर नहीं जब ऐसी ही स्थितियां मनुष्य को झेलनी पड़ेंगी। आज वह हंस नहीं सकता और उसे हंसने के लिए पार्कों का सहारा लेना पड़ता है। बोतलों में बंद पानी पीना पड़ता है। शुद्ध आक्सीजन के लिए आक्सीजन पार्लर जाना पड़ता है। लोगों के पास व्यायाम के लिए, खेलने के लिए वक्त नहीं क्योंकि, वक्त तो टी. वी. के आगे खत्म हो जाता है। हर व्यक्ति के लिए सुख अलग-अलग होता है। लेखक भी कहते हैं– मेरा सुख? क्या सुख को तुम इतना सस्ता समझती हो?

'चारो ओर अंधेरा घना जंगल था' कहानी में नया भाषिक प्रयोग दिखाई देता है जिसे विभिन्न सामाजिक संदर्भों से जोड़ा गया है। देखिये– कड़ाके की सर्दी थी, अंधेरा भी कांप रहा था। इसी प्रकार– मेरे कमरे की आतिशदानी में चीड़ की लकड़ी भरभरा कर जल रही थी। यह कहानी एक ऐसे लेखक की है जो किसी डाकबंगले में आकर रुका था और उपन्यास की रचना कर रहा था। उसी समय उसी डाकबंगले में चीफ कंजर्वेटर ऑफ फारेस्ट आ जाते हैं जिन्हें लेखक का वहां रहना बड़ा नागवार गुजरता है। वह गुस्से में सबको देख लेने की बात कहते हैं किन्तु जब लेखक उन्हें अपना पूरा परिचय देते हैं तो दोनों बैठकर शराब पीते हैं और कंजर्वेटर साहब अपनी शादियों की बात उन्हें बताते हैं कि किस प्रकार उनकी पहली पत्नी मर गई और उस पर वे जिस अंदाज में अफसोस जताते हैं लगता है– जैसे किसी छिपकली ने अपनी दुम गंवा दी हो और उसके तुरंत बाद दीवार के कीड़ों पर मुंह मार रही हो। यहां लाक्षणिक भाषा द्वारा व्यंग्य की स्थिति उत्पन्न हुई है। नारियों पर भी उनकी सोच कैसी है– नारी बेचारी है, पुरुष की मारी है! मनुष्य नाम का प्राणी है जो, उसकी मादा को प्रकृति ही ने इन्फीरियर बनाया है। नारी बेचारी है। समाज में नारियों के प्रति यह घटिया और पिलपिली सोच बहुत से पुरुषों में देखी जा सकती है। कंजर्वेटर साहब विवाह करते जाते हैं और पत्नियों को छोड़ते जाते हैं। दूसरी पत्नी ने उनके कथनानुसार जहर खाकर जान दे दी थी और तीसरी के पास इतना पैसा था कि उनका खर्चा बड़े आराम से चलता था किन्तु उसकी एक टांग कट जाने पर वह उनके लिए बेकार हो जाती है। इस कहानी में लेखक भूख की बड़ी लाक्षणिक परिभाषा देते हैं, वे कहते हैं– खाने के लिए भूख होना जरूरी नहीं है। यह एक सिविलाइज्ड एक्विटी भी है। फिर उनकी पांचवीं शादी का तजुर्बा वे इस प्रकार सुनाते हैं– वह लड़की जिसके साथ मेरे संबंधों को सुनयना देवी शक की निगाह से देखती थीं. . . सीधी-सादी बिस्तरबाजी थी।

'इतिहास का अंत' कहानी में राजनैतिक सरोकारों को व्यंग्य से जोड़ा गया है। एक ओर बड़े जमींदार जो अब मंत्री बन गये हैं राजा स्वयंवर सिंह हैं। वे राजनीति में चले आते हैं और एम. एल. ए. बन जाते हैं। फिर सिंचाई विभाग के मिनिस्टर– जो बहुत विराट होते हुए भी भ्रष्टाचार के ढप्पे के कारण बहुत जलील (साथ ही बहुत दिलकश) माना जाता था। इसे संतुलित करने को एक दूसरा विभाग भी दिया गया जो बहुत गौरवशाली और पवित्र होते हुए भी दयनीय रूप से क्षुद्र था। इस विभाग का नाम था स्वतंत्रता संग्राम सेनानी कल्याण विभाग। इस विभाग का काम था देश के स्वतंत्रता आन्दोलन में जिन लोगों ने त्याग-बलिदान किया या उनके या उनकी संतानों के कल्याण के लिए पेंशन से लेकर अनेक प्रकार की दूसरी कल्याणकारी योजनाएं चलाना। हम सभी जानते हैं कि ऐसी कल्याणकारी योजनाओं के पीछे क्या-क्या हुआ करता है। इसमें भी यही भ्रष्टाचार दिखाया गया है। किसी नुक्कड़ पर स्वतंत्रता संग्रामी अमर शहीद बख्तावर सिंह की आदमकद प्रतिमा घोड़े और तलवार

के साथ लगाई जाती है जिसके उद्घाटन के लिए मंत्री जी को बुलाया जाता है और यह भी कहा जाता है कि यदि शहीद बख्तावर सिंह के परिवार का कोई व्यक्ति जीवित हो तो उन्हें भी यहां लाया जाये। उनका पड़पोता जो बहत्तर साल का होता है वह उसी शहर में अपनी रोजी चलाने के लिए प्राइवेट टाइपिंग करता है। आज भी हमारे देश में ऐसी ही स्थितियां दिखाई देती हैं जहां शहीद हुए लोगों के वंशज दाने-दाने को मुहताज रहते हैं और जो लोग राजा स्वयंवर सिंह की तरह होते हैं वे हर तरह का सुख भोगते हैं। ये मंत्री अर्थात् राजा स्वयंवर सिंह के पूर्वजों ने अंग्रेजों की सहायता की थी जिसके फलस्वरूप उन्हें राजा का खिताब दिया गया था। इस विषय पर उनका कहना था– कुछ अंग्रेज परिवार उनकी शरण में आये तो इन्सानियत के नाते उन्होंने उनकी रक्षा की। इस कहानी का अंत दिल पर गहरी चोट करता है। मंत्री जी को सब कुछ मिलता है और बख्तावर सिंह के पड़पोते दिलीप सिंह को नया टाइपराइटर दिया जाता है ताकि वह इसी प्रतिमा के चरणों में बैठकर अपनी रोजी कमाये। लेखक कहते हैं राजा स्वयंवर सिंह मिनिस्टर की हैसियत से स्वतंत्रता संग्राम के बलिदानियों और उनके वारिसों का कल्याण कर रहे हैं।

'शिष्टाचार' कहानी में बड़ी ही सुंदर भाषा का प्रयोग करते हुए व्यंग्य का ढेला फेंका गया है। एक परिवार में बाबू जगन्नाथ हैं जो पहाड़ी पर आये हैं जहां उनका बेटा इंजिनीयर बनकर आया है। उनके घर में आठ बरस का पोता और रमेसर नामक नौकर है। बहू है। बाबू साहब को रमेसर धीरे-धीरे सर कहने लगता है क्योंकि, उनके बेटे को बाबू साहब कहना अच्छा नहीं लगता–नये जमाने ने अब इतनी तरक्की कर ली है। मालिक के सिंहासन से उतारकर उन्हें सर की कुर्सी पर बिठा दिया गया है। यानी अब वे बाबू साहब नहीं रहे, कोई पंचायत राज अधिकारी बन गये। उनका पोता नौकर को रमेसर कहकर बुलाता है जो बाबू साहब को अच्छा नहीं लगता और वह बबलू को बुलाते हैं– यहां आवो, सधी आवाज का नया प्रयोग, जैसे पत्थर के टुकड़े को ढेले जैसा न फेंककर उसे चौथी मंजिल से, अंगूठे और तर्जनी की चोंच खोलते हुए नीचे टपका भर दिया गया हो। एक अभिजात्य परिवार में भाषा का प्रयोग कैसे किया जाता है इसे लेखक ने सौन्दर्यपरक भाषा में व्यंग्य का पुट देकर व्यक्त किया है। एक तरफ बाबू साहब अपने पोते को यह सिखाते हैं कि वह नौकर को रमेसर भैया बुलाये और जब बबलू उसे रमेसर भैया बुलाता है तो उन्हें ऐसा लगता है– यह नये जमाने के छिछलेपन पर परम्परा की जीत थी। लेखक यहां परंपरा की नई परिभाषा पर व्यंग्य करते दिखाई देते हैं। किन्तु रमेसर भैया नहीं बन पाता और परिवार छोड़कर भाग जाता है। बबलू कहता है बाबा-बाबा! रमेसर भाग गया। इस बार उन्होंने गहरी सांस ली, यह देखकर उन्हें कुछ चैन मिला कि बबलू सही भाषा बोल रहा है। इस तरह रिश्ते और संबोधन भी स्वार्थ से जुड़े होते हैं। श्रीलाल शुक्ल की साहित्यिक दुनिया व्यंग्य से परिपूर्ण है। इनके उपन्यास और उपर्युक्त कहानियों में पारिवारिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, भ्रष्टाचार आदि विभिन्न सरोकार दिखाई देते हैं और हर जगह व्यंग्य की व्याप्ति उन्हें और धारदार बनाती है।

श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास 'बिस्रामपुर का संत' और 'इस उम्र में' संग्रह की कहानियां इस बात की ओर संकेत करती हैं कि जीवन के किसी भी अस्वाभाविक पहलू पर व्यंग्य हो सकता है। व्यंग्य में भावुकता कम और बुद्धि पक्ष प्रबल होता है। जहां हास्य मन को सहलाता है, घाव पर मरहम रखता है वहीं व्यंग्य मन पर वार करता है और घाव को कुरेद देता है। इसके साथ सदैव समाज की सहानुभूति रहती है। शुक्ल जी के व्यंग्य में भावनाएं एवं संवेदनाएं जगाने की क्षमता है। इनके व्यंग्य में भाषा और शैली बड़ी नपी-तुली और तराशी हुई है। शब्दों का प्रयोग औचित्य बनकर उपस्थित हुआ है। मुहावरों के प्रयोग से व्यंजना शक्ति में अकथनीय सौन्दर्य उपस्थित हो गया है। साहित्य जितने सामाजिक सरोकारों से जुड़ा होगा और उसमें जितना जीवन संघर्ष होगा व्यंग्य की शक्ति उतनी बढ़ जायेगी। शुक्ल जी के साहित्य में जीवन का संघर्ष है और उनका साहित्य सामाजिक सरोकारों से जुड़ा है।

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, उच्च शिक्षा औ
द.भा.हि.प्र.सभा मद्रास, चेन्नै

. . .पृष्ठ-105 का शेष

कर भी आपत्ति नहीं कर सकता है। आज के समय में भी उच्च शिक्षा परिसरों में ये घटनाएं बराबर ध्वनित होती रहती हैं।

पहले उपन्यास में ही लेखक के अनुभव-संसार की व्यापकता और संवेदना की गहराइयों का परिचय मिलता है, 'जिस अभिशप्त देश में मैं खड़ा हूं वहां सब कुछ देखने के लिये ही है। यहां एक ओर आठ आने के पीछे कोई स्त्री सांप और बिच्छुओं को रौंदती हुई दो रोगी बच्चों के भविष्य की आशंका से कांपते हुए प्राणों के साथ, मन मन भर के पत्थर सिर पर लाद कर, पहाड़ियों की ऊंची-नीची पगडंडियों पर टकराती चलती है। यहां अशिक्षा और दरिद्रता के क्रूर आतंक में मानव शरीर का अब भी दासों जैसा व्यापार होता है। रोगों के संक्रामक आघातों और प्राकृतिक विपत्तियों को झेलने की, सिवाए भाग्य के, और कोई औषधि नहीं है।. . .यहां सब कुछ देखने के लिये है। मैं देखता रहा।'

'सूनी घाटी का सूरज' एक छोटा उपन्यास है किन्तु वह अपने में सम्पूर्ण समय को समेटता प्रतीत होता है। यह प्रतीति तब और स्पष्ट हो कर सामने आती है जब हम 'राग दगबारी' पढ़ चुके होते हैं। इस तरह सूनी घाटी के सूरज में 'राग दरबारी' के बीज बिखरे दिखाई देते हैं। केवल यही नहीं इसमें श्रीलाल शुक्ल की उस दृष्टि के दर्शन भी होते हैं जो बड़ी सूक्ष्मता से विकृति की पहचान करती है। यही नहीं लेखक अपनी पूरी सामर्थ्य से मूल्यों के विखण्डन के विरुद्ध लड़ता दिखाई देता है। बावजूद इस सबके उनकी पुस्तक 'कुछ जमीन पर, कुछ हवा में' में श्रीलाल शुक्ल का यह वक्तव्य सम्पूर्ण लेखन जगत के लिये महत्वपूर्ण है– "महान बनना सिर्फ लेखक पर नहीं कई कारणों पर भी निर्भर है। जैसे उसके देश का इतिहास, उसका भूगोल, उसकी आबोहवा, वहां की जनता, वहां की साहित्यिक सभ्यता, उसके पाठक, प्रकाशक, अनुवादक, उसके दोस्त, उसके दुश्मन, उसकी तंदुरुस्ती, उस लेखक की सूरत, उसकी सूझ-बूझ या जिन्दगी के बारे में उसका रुख, उसकी महत्वाकांक्षा आदि।"

16 कौ

देवशंकर नवीन

आत्मविज्ञापन से निर्लिप्त लेखक

श्रीलाल शुक्ल जितने बड़े लेखक हैं, उससे अधिक बड़े मनुष्य हैं। बड़ा लेखक होने की आवश्यक योग्यता मेरी समझ से बड़ा मनुष्य होना है। जो व्यक्ति मानवीय नहीं होगा, वह सामाजिक कैसे होगा? और सामाजिक नहीं होगा, तो साहित्य कैसे रचेगा? हिन्दी में वैसे उस तरह के लेखकों की कमी नहीं है, जिन्होंने लेखक के रूप में तो अपनी बड़ी इमारत खड़ी कर ली है, पर व्यक्ति के रूप में वे बहुत नीचे हैं। उनके लेखन से उनके व्यक्तित्व, आहार-व्यवहार, मान्यताएं आदि कहीं मेल नहीं खातीं। श्रीलाल जी इस मामले में बिल्कुल भिन्न हैं। संभव है कि हिन्दी में उनके जैसे चन्द लेखक और हों, पर यहां हमें श्रीलाल जी की बात करनी है, जिन्होंने साहित्य-सृजन में प्रबंधन-क्रम को कभी महत्व नहीं दिया।

श्रीलाल जी के स्थापना काल और घनघोर लेखन का जो दौर था, वह हिन्दी साहित्य में कई मायनों में विचित्र था। सन् 1945 की अपनी कहानी बताते हुए वे अपनी एक व्यंग्यात्मक कविता की चर्चा करते हैं, जो उन्होंने बीस वर्ष की आयु में लिखी थी। गो कि रचने की कुलबुलाहट उन्हें उसी उम्र में होने लगी थी। स्वाधीन आंदोलन की परिस्थितियों और आन्दोलनकारियों की करतबें निश्चय ही उनके समक्ष रही होंगी। वे खुद अपने सक्रिय लेखन का शुभारंभ सन् 1954 से मान रहे हैं, अर्थात स्वाधीनता प्राप्ति के सात वर्ष बाद। तब तक देश आजाद हो गया, कुछ चालाक शिक्षित और कुछ प्रशिक्षित चालाक स्वाधीन भारत की व्यवस्था में अपने लिए कुर्सी, या थोड़ी-सी जगह पा लेने के उद्योग में लगे हुए थे, कम-से-कम कुर्सी के आस-पास भी बने रहने की जुगत बैठा रहे थे। साहित्य का आंगन इस वृत्ति से बचा नहीं रहा था। स्वाधीनतापूर्व के समय जिस साहित्य ने फिरंगी-वर्चस्व को धूल चटा दिया था, स्वातंत्र्योत्तरकाल में पांव स्थिर करने वाले कई साहित्यजीवी, साहित्यभोगी उसी भाषा-साहित्य के आंगन में धंधा और प्रबंधन की विद्यापीठ स्थापित कर लिए। चुनावी घोषणा पत्र की तरह साहित्य में भी घोषणाएं होने लगीं। साहित्य को आत्म-स्थापन और आत्म-प्रचार का माध्यम बनाया जाने लगा था। बदकिस्मती से सक्रिय लेखन में श्रीलाल शुक्ल का आगमन उसी दौर में हुआ और उन तमाम विसंगतियों को झेलते हुए, उन्हें अपनी अलग छवि दृढ़ करने की मशक्कत करनी पड़ी। हिन्दी कहानी के मद्देनजर तो गत शताब्दी का छठा दशक कई तरह से चर्चा में है।

स्वातंत्र्योत्तरकाल के प्राथमिक दो दशक (सन् 1947-1967) भारतीय लोकतंत्र के लिए विकराल हलचल का समय है। श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास– 'सूनी घाटी का सूरज', 'अज्ञातवास', 'रागदरबारी' और 'अंगद का पांव' (व्यंग्य-संग्रह) इसी दौरान लिखे गए। इन दो दशकों के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और साहित्यिक परिदृश्य का जैसा चेहरा श्रीलाल शुक्ल के समक्ष था, उसके बरबस साहित्य में व्यंग्य से बड़ा हथियार कुछ नहीं हो सकता था। सत्ता के गलियारे में अंधे खान की तरह भटक रहे बुद्धिजीवियों, वणिक् धर्म अपनाकर आत्म विज्ञापन, और आत्मोन्नयन के प्रबंधन में लिप्त हो गए साहित्य सेवियों को देखकर निश्चय ही श्रीलाल शुक्ल के समक्ष सन्नाटे की स्थिति खड़ी हो गई होगी। आजादी की खुशी, उन्माद और उल्लास के आनन्द में विभोर रहने के बावजूद सन् 1947 से 1967 तक के अंतराल में देश का विभाजन, सीमा संघर्ष, प्राकृतिक आपदाओं, विप्लवों, राजनीतिक दलबंदियों, हत्याओं, बलात्कार, दंगों, तानाशाही और शासकीय बेहयाई का जो ताण्डव मचा उससे मानवता शर्मसार हुई। मुक्तिकामी भारतीय जनता ने इन तमाम विसंगतियों के समक्ष खड़े होकर अनाज-पानी के देवताओं और भारत के नवनिर्वाचित भाग्य विधाताओं को अपनी क्षमता का परिचय दिया। श्रीलाल शुक्ल के साहित्य लिखने की मजबूरी ये ही स्थितियां बनीं। और, इन परिस्थितियों के बीच साहित्य का धंधा करना उनसे संभव नहीं हुआ। संभवतः यही कारण हो कि उन्होंने सघनता और सक्रियता से कहानी लिखकर नई कहानी अथवा समांतर कहानी के विद्यालयों में शामिल होने की बजाए व्यंग्य का मार्ग अपनाया। व्यंग्य श्रीलाल जी की अभिव्यक्ति का मूल धर्म है, यह उनके उपन्यासों में भी बखूबी दिखता है। उनके अभ्यासकाल की रचनाओं में भी व्यंग्य के तीखे स्वर ही दिखाई देते हैं। अपनी युवावस्था के आवेशपूर्ण क्षण में ही उन्होंने देश की जैसी दशा देखी थी, उसमें संभवतः अनुमान कर लिया था कि इस देश में आम नागरिक के जगने से अधिक आवश्यक है बुद्धिजीवियों का जगना। और, बुद्धिजीवियों को जगाने के लिए सहज रास्ता सही नहीं होगा, व्यंग्य से ही उन्हें सही तरीके से जगाया जा सकता है। व्यंग्य के मामले में उनकी राय सही है कि 'व्यंग्य वस्तुतः एक सुशिक्षित मस्तिष्क की देन है और पाठक के स्तर पर भी सुशिक्षित प्रतिक्रिया की मांग करता है। वह पाठक को गुदगुदाने के लिए नहीं, बल्कि किसी विसंगति या विडंबना के उद्घाटन से उसके संपूर्ण संस्कारों को विचलित करने की प्रक्रिया है। तभी उसमें इकहरापन नहीं होता, अभिव्यक्ति-शिल्प के अधिकाधिक उपादानों का खुलकर प्रयोग होता है।' वैसे यह वक्तव्य उनका बहुत बाद का है, पर उनके व्यंग्य की धार में यह बात शुरू से दिखती है। ऐसे विराट व्यक्तित्व, उदार स्वभाव के महान लेखक के पूरे साहित्य पर

श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास आजाद भारत के सत्ता चरित्र के प्रभाव से उपजे भीतरी-बाहरी विकारों की कहानी कहते हैं। सारे उपन्यासों को मिलाएं तो जैसे सैंकड़ों चरित्रों का मेला बन जाता है। जाने-पहचाने देखे-भाले चरित्र। विभिन्न स्वभाव के लोगों का मेला। ऐसा मेला जो भीड़ नहीं है जिसमें हर चेहरे की नागरिकता है जो टाइप होकर निजी भी है। वे अपनी-अपनी नियति लेकर नहीं आते। जीवन और समाज की स्थितियों के साथ हैं। वे इसी समाज में ढलते और पहचाने जाते हैं। प्रमुख पात्र गौण पात्रों की हैसियत का भक्षण करने की कोशिश करते हुए समर्थ नहीं होते। पुराने लोग परिवर्तन का बोझ नहीं ढो पाते। आत्महत्या करते हैं। प्रेम-प्रसंगों में इनके उपन्यास बहुत दूर तक उलझे हुए हैं। प्रायः कोई जोड़ी अपने रोमांस को परवान नहीं चढ़ा पाती। दृश्यों का अंकन बड़ी कुशलता से हुआ है। कथाकारों की परवाह नहीं चढ़ा पाती। दृश्यों का अंकन बड़ी कुशलता से हुआ है। कथाकारों की परवाह उतनी नहीं की गई है, जितनी स्थितियों के चित्रांकन और पात्रों के स्वभाव अंकित करने की है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के यथार्थ को निष्कलंक ढंग से रेखांकित करने में श्रीलाल जी की अद्वितीयता है। लेखक अपनी प्रकृति से शोषितों का पक्षधर है। उन्होंने नए यथार्थ के दस्तावेजीकरण के कोताही नहीं की। छिपाया नहीं।

– कमला प्रसाद

पूरी किताब का लिख जाना भी कम पड़ेगा। यहां उनकी टिप्पणियों के एक संग्रह पर बात करते हैं।

'खबरों की जुगाली' (श्रीलाल शुक्ल) का प्रकाशन सन् 2006 में हुआ। इस संकलन में श्रीलाल जी की छियालीस व्यंग्यात्मक टिप्पणियों को संकलित किया गया है। ये टिप्पणियां वर्ष 2003-2005 में 'इंडिया टुडे' (हिन्दी) पत्रिका के पाक्षिक स्तंभ में प्रकाशित हुई थीं, जिनमें बकौल श्रीलाल जी पाठकों को रिझाने के बजाए तत्कालीन घटनाओं, स्थितियों के परीक्षण और उनमें अंतर्निहित विडंबनाओं-विकृतियों को उजागर करने की कोशिश थी। संभवतः इसीलिए इस पुस्तक का नाम 'खबरों की जुगाली' रखा गया। राजकमल प्रकाशन द्वारा प्रकाशित 148 पृष्ठों की इस पुस्तक का मूल्य एक सौ पचहत्तर रूपए है, मगर अपनी अंतर्वस्तु के कारण यह अमूल्य है। दस उपन्यास, चार कहानी संग्रह, एक साक्षात्कार संग्रह, नौ व्यंग्य संग्रह, एक आलोचना पुस्तक, दो विनिबंध, चार अनूदित पुस्तक, एक संपादित पुस्तक के रचनाकार श्रीलाल जी का जितना विराट लेखकीय व्यक्तित्व है, यह पुस्तक उसे कोई खास ऊंचा नहीं करती। वैसे इन निबंधों की लेखन प्रक्रिया और पुस्तक के प्रस्तावना वाक्य के आधार पर गौर करें तो लेखक की ऐसी कोई मंशा भी नहीं थी। वैसे निर्धारित तिथि के अंदर निर्धारित विषय पर तयशुदा शिष्टाचार में लिखी गई रचनाओं को श्रेष्ठ होने में जितनी कसर रहनी चाहिए, इसमें उतनी नहीं है। धारावाहिक अथवा स्तंभ लेखन करते वक्त प्रायः लेखक मजबूर हो जाते हैं, कई-कई घटक उसके सौष्ठव को प्रभावित करते हैं।

विराट फलक के रचनाकार श्रीलाल जी ने कई विधाओं में रचना की है। मगर सबसे अधिक जमे हैं उपन्यास, व्यंग्य गद्य और वैचारिक लेख में। कथा लेखन में वे अपने को अक्षम मानते हुए घोषित करते हैं कि कथा लिखने के लिए निरंतर नई जमीन तोड़ने की घोषणा, अपने लेखन की व्यापारिक व्यवस्था, समीक्षादि के लिए पत्रचार करते रहना जरूरी था, और यह उनके लिए असंभव था– इसलिए उन्होंने उपन्यास और कुछ विनोदपूर्ण लघु रचनाएं लिखने शुरू किए। जो कि उनके जमाने के कथा लेखक ऐसे ही किया करते थे। खूब किया करते थे, और यह राय केवल उनकी ही नहीं, उनके समकालीन कई लोगों की है। उम्र में श्रीलाल जी से करीब चार वर्ष कम, मगर लेखन में उनके समकालीन राजकमल चौधरी ने भी उस काल के कथा लेखन पर इससे मिलती-जुलती प्रतिक्रिया की थी। फिलहाल चर्चा का विषय यह नहीं।

करीब ढाई दर्जन पुस्तकों के लेखक श्रीलाल शुक्ल आज हिन्दी व्यंग्य के मानक स्तंभ में गिने जाते हैं। उनकी प्रसिद्ध कृति 'राग दरबारी' को पाठकों के बीच 'रामचरित मानस' और 'गोदान' की तरह प्रशस्ति मिली। उस पुस्तक का मूल स्वर व्यंग्य ही है। इसे व्यंग्य-लेखन की दिग्दर्शिका कहें तो अति न होगा।

सन् 1945 में प्रयाग विश्वविद्यालय के छात्रावास में रहते हुए श्रीलाल जी ने कुलपति के विरूद्ध खड़े होने के लिए एक प्रयाण-गीत लिखा था, जिसमें व्यंग्य की तीखी धार है। वैसे नियमित लेखन सन् 1954 से शुरू हुआ और क्रोध के साथ शुरू हुआ। आकाशवाणी से प्रसारित किसी कार्यक्रम पर क्रोधित होकर 'स्वर्णग्राम और वर्षा' शीर्षक एक लेख लिखा और धर्मवीर भारती को भेज दिया। लेख 'निकष' नामक प्रसिद्ध पत्रिका में प्रकाशित हुआ था और श्रीलाल जी की खोज-पूछ की जाने लगी थी। श्रीलाल जी स्वयं स्वीकार करते हैं कि उन दिनों जिस तरह की ऊर्जा और लड़ाकू स्वभाव की अपेक्षा की जाती थी, वे उनमें थीं, मगर उनके पेशे में उसके कम इस्तेमाल करने प्रशिक्षण दिया गया था। लिहाजा श्रीलाल जी ऊबे हुए सिविल सर्वेंट के बजाए लेखक ही हो सकते थे। जाहिर है कि क्रोध में सांघतिक असर डालने के लिए उन्हें व्यंग्य का रास्ता अपनाना पड़ा।

श्रीलाल शुक्ल जी की पहली पुस्तक 'सूनी घाटी का सूरज' उपन्यास सन् 1957 में प्रकाशित हुआ। सन् 1968 में 'राग दरबारी' का प्रकाशन हुआ। सन् 2006 में जब 'खबरों की जुगाली' पाठकों के हाथ आई, तो उनके सामने एक विचित्र स्थिति खड़ी हुई। किसी लेखक का कद जब विराट हो जाता है, खास-खास रचना के कारण पाठक अपने मन-मस्तिष्क में उनकी महान छवि अंकित कर लेता है, तब वह उससे नीचे उतरना नहीं चाहता। मगर 'खबरों की जुगाली' से गुजरते हुए यह हर समय याद रखने की जरूरत है कि यह तत्कालीन घटनाओं और परिस्थितियों पर चिंतनशील लेखक का क्षणिक, मगर जागरूक टिप्पणी है। इसे प्रस्तुत करते हुए लेखक ने साफ-साफ

कहा है कि यह एक तरह की जुगाली है, पर निरूद्देश्य नहीं है, इनमें दर्ज शंकाओं, संभावनाओं, प्रश्नों का जिक्र लेखक ने पाठकों की तरफ से किया है। पुस्तक के अच्छादप पृष्ठ पर सही लिखा गया है कि ये रचनाएं भारतीय लोकतंत्र के धब्बों, जख्मों, अंतर्विरोधों और गड्ढों का आख्यान प्रस्तुत करती हैं। हमारे विकास के मॉडल, चुनाव, नौकरशाही, सांस्कृतिक क्षरण, विदेश-नीति, आर्थिक नीति आदि अनेक जरूरी मुद्दों की व्यंग्य विनोद से संपन्न भाषा में तल्ख और गंभीर पड़ताल है।

स्तम्भ लेखन की सारी सीमाओं को ध्यान में रखकर इन रचनाओं को पढ़ते हुए ही श्रीलाल जी का विराट व्यक्तित्व सामने खड़ा हो सकता है– 'राग दरबारी' या उनकी अन्य प्रसिद्ध कृतियों के प्रभाव के साथ इन्हें पढ़ना पुस्तक और पाठक दोनों के लिए सुखकर नहीं होगा। यहां देखना यह है कि समाज व्यवस्था, सत्ता व्यवस्था, व्यापार व्यवस्था, और राजनीति में श्रीलाल जी की संवेदना साधारण नागरिक की जीवन प्रक्रिया से जुड़ी रहती है। वे साफ-साफ कहते हैं कि 'जिंदगी की असाधारण संभावनाओं को समझते हुए भी मैं सीधी-सादी साधारण जिंदगी की कद्र करता हूं।' पाब्लो नेरूदा के हवाले से उन्होंने कहा है कि कैडिलक पर चढ़कर सैर कर रहे नागरिक और नंगे पांव सड़क पर भटक रहे नागरिक में, उन्हें दूसरे के साथ खड़ा होना मुनासिब लग रहा था। इस आलोक में उन्होंने मुफलिसी, अशिक्षा, बेरोजगारी और ऐसी ही अनेक दुर्गतियों से जूझते भारतीय समाज के सुख-दुख, राग-विराग के प्रति सजगता और संवेदना रखी है। अपने लेखन के हर मौके पर उन्हें पाठकों की रुचि और अनुभव की गहराइयों की चिंता रही है। जो साहित्य उदात्त संवेदनाओं को पनपने न दे, अनुभूति जगत की ऊपरी सतह खुरचकर ही हरी-हरी फसल उगाने की कोशिश करे, उसे वे घटिया साहित्य मानते हैं, पाठक वर्ग और समाज के लिए अहितकर मानते हैं। जाहिर है कि इस संकलन की सभी रचनाओं में श्रीलाल जी की उक्त धारणाएं परिपुष्ट हो रही हैं। वे अपनी मान्यताओं, मानदण्डों के अनुकूल अपनी अन्य कृतियों की तरह यहां भी सावधान हैं।

इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ होते ही, देश की व्यवस्था में राज-काज और धन, समाज के स्तर पर कोई चमत्कार जैसी बात नहीं हो गई। विकास प्रक्रिया की सहज विधि से देश में सब कुछ चलता रहा। मगर श्रीलाल जी के प्रस्थान बिन्दु से देखें तो स्थितियों में विराट परिवर्तन आ गया। जिस दौर में ये रचनाएं लिखी गईं और प्रकाशित होकर पाठकों के मन-मिजाज में बैठी हैं, वह दौर पूरी तरह से अराजकता की हद पार का दौर था। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, बौद्धिक, व्यापारिक. . . हर संकाय से नैतिक मूल्यों का लोप हो चुका था। मूल्यों का लोप और मानवीयता का निरंतर पतन आज भी बदस्तूर जारी है। अपने को इफरात संपत्ति का स्वामी बनाने में लोग सारी ऊर्जा और सारी रचनात्मकता लगा रहे हैं। इन कर्मों में तल्लीन लोगों का सारा विधान अनीति की बुनियाद से शुरू होता है। गत शताब्दी के अंतिम चरण में घटी कुछ महत्वपूर्ण घटनाएं– आपातकाल, कांग्रेस सरकार का पतन, विरोधी स्वरों का संयुक्त मोर्चा और फिर लाभ-लोभ की तिकड़म में आपसी कलह, अनस्थिर राजनीतिक माहौल, कमजोर शासन तंत्र, मंदिर-मस्जिद विवाद, स्वार्थ केंद्रित राजनीति, राजनीति का अपराधीकरण, प्राकृतिक आपदाओं का अमानवीय और संवेदनाशून्य राजनीतिकरण, भाषा की राजनीति, जातीय-द्रोह, सांप्रदायिक शक्तियों का वर्चस्व, मानवीय संवेदना का लोप, रोजगार की तिजारत, बौद्धिक पाखंड, चिंतकों की दायित्वहीनता, रक्षकों का भक्षक होना भारतीय नागरिक इन तमाम दुरवस्थाओं में सिर पटकता रहा है। संचार माध्यम तक इन तमाम खबरों की जुगाली करता रहा और सनसनी उत्पन्न करता रहा है। श्रीलाल शुक्ल जी इन जुगालियों को एक सचेतन लेखक और साधारण नागरिक की तरह इन स्थितियों की खबर लेते रहे हैं। खबरों की इन जुगालियों में उन्होंने कभी किसी को नहीं बख्शा। श्रीलाल शुक्ल जी साहित्य से हमेशा कोई बड़ी उम्मीद नहीं रखते, कोई बहुत बड़ी अपेक्षा नहीं रखते। वाकई, यदि ऐसा होता, तो श्रीलाल जी की इन जुगालियों से देश में बहुत कुछ परिवर्तन हो जाता। पिछले पच्चीस-तीस बरस के हिन्दी सिनेमा पर नजर दौड़ाएं, तो वह सारा का सारा, देश के राजनीतिक कुकर्मों, पुलिस और प्रशासन की विकृतियों, सामंतों-जमींदारों की हैवानियों और देश के गद्दारों, माफियाओं, तस्करों, स्मगलरों की दुर्गंधियों, न्यायिक प्रक्रिया की दुर्शक्तियों से भरा पड़ा है। मगर इस देश की जीवन-व्यवस्था में आज तक कोई परिवर्तन हो पाया?

मगर, इस निराशा में हाथ-पैर मोड़कर बैठ जाना भी उचित नहीं। यही कारण है कि श्रीलाल जी इन तमाम स्थितियों पर गुस्सा करते हैं, और अपने गुस्से को व्यंग्य में व्यक्त करते हैं, अर्थात देश के प्रबुद्ध नागरिकों को एक कुंजी देते हैं। वे चाहें तो इसे जेब में रखे रहें, या चाहें तो सही इस्तेमाल से सही रास्ता अपनाएं। व्यंग्य, वाकई प्रबुद्ध मस्तिष्क वाले पाठकों की प्रतीक्षा करता है।

केवल पाक्षिक स्तंम्भों की ये कड़ियां ही नहीं, उनकी किसी भी रचना को उठाएं, तो यह साफ दिखता है कि उनका दृष्टि-फलक, कैनवस विराट है। चिंतन की पद्धति विराट व्यंजना से भरी हुई है। बहुपठित और विज्ञ होने के साथ-साथ नागरिक संवेदना से ओत-प्रोत लेखक श्रीलाल जी ने हर जगह अपने जनसंबंध और नागरिक चिंता का संकेत दिया है। छोटे-छोटे विषय की व्याख्या करते वक्त उन्होंने विराट लक्ष्य की ओर संकेत किया है। लेखक की पूर्व स्थापित ऊंचाई को छू पाने के बावजूद यह कृति भारतीय लोकतंत्र और भारत की समाज व्यवस्था का वह विद्रूप चेहरा अत्यंत प्रभावकारी शिल्प में हमारे सामने प्रस्तुत करती है, जहां भारत की तस्वीर बदल डालने की हरेक विधि अपने पूरे वजूद के साथ मौजूद है। भारतीय लोकतंत्र की विकृतियों की धज्जियां उड़ाती ये रचनाएं, शायद नागरिक जीवन की तस्वीर बदलने में सफल हो पाएगी। आने वाले दिनों में यदि भारत की तस्वीर किसी और कारण से भी बदल पाई, तो उसमें 'खबरों की (इस) जुगाली' का भी महत्वपूर्ण अंशदान माना जाएगा।

नेशनल बुक ट्रस्ट
नेहरू भवन, 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया
वसंतकुंज, फेज-2, नई दिल्ली-70

बलराज पांडेय

दलित जीवन का संदर्भ और श्रीलाल शुक्ल की कहानी

बीसवीं शताब्दी का अन्तिम दशक राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि से बड़े परिवर्तनों का दशक रहा है। समाज के पिछड़े वर्ग के लिए सरकारी नौकरियों में आरक्षण, आत्महत्याएं, सवर्ण-अवर्ण के संघर्ष, राजनीतिक अस्थिरता, गठबंधन सरकारों का बनना, बाबरी-विध्वंस, स्त्री-विमर्श, दलित जागरण, उदारीकरण आदि ने हिन्दी साहित्य को, विशेष रूप से कथा साहित्य को सबसे ज्यादा प्रभावित किया। यह वह समय था, जब हाशिए के लोग महत्वपूर्ण हो गए। इसकी अभिव्यक्ति कथा साहित्य में खूब हुई। दलित साहित्य आलोचकों के विमर्श का केन्द्र बन गया। सवाल उठा कि दलित ही दलित पर लिखे तो उसे दलित साहित्य माना जाय या सवर्ण का दलित पर लिखा हुआ साहित्य भी दलित साहित्य के अंतर्गत स्वीकार किया जाय? इस प्रकार के विवादों से अलग रहकर श्रीलाल शुक्ल ने दलित जीवन को अपने कथा साहित्य में महत्व दिया, जो एक सच्चे रचनाकार से समय की मांग थी।

प्राय: होता यह है कि जब किसी रचनाकार की कालजयी कृति सामने आ जाती है, तो बाद की रचनाओं पर लोग ध्यान नहीं देते। 'राग दरबारी' जैसी महान कृति का आस्वाद लेने के बाद श्रीलाल शुक्ल की रचनाओं के साथ भी लगभग वैसा ही हुआ। इन सबकी परवाह किए बिना श्रीलाल शुक्ल ने समय और समाज में आए परिवर्तनों की पहचान की और अपने कथा साहित्य में उसे यथेष्ट स्थान दिया।

श्रीलाल शुक्ल एक महत्वपूर्ण उपन्यासकार के साथ ही कहानीकार भी हैं। कहानी विधा में हुए आन्दोलनों से या उनके प्रभावों से अपने को बचाते हुए श्रीलाल शुक्ल ने कहानियां लिखीं। यहां हम सिर्फ एक कहानी की चर्चा करेंगे, जो उन्होंने सन् 1992 में लिखी थी और वह इसी वर्ष मई महीने के 'हंस' में छपी थी। 'दुराचरण' नाम से छपी इस कहानी की रचना एक दलित नौजवान को केन्द्र में रखकर की गई है।

वैसे, किसी एक कहानी को आधार बनाकर समीक्षा लिखने की परंपरा नहीं रही है। हम पूरे कहानी संग्रह की समीक्षा लिखने-पढ़ने के आदी रहे हैं। ग्वालियर में कहानी विधा पर आयोजित एक संगोष्ठी में बोलते हुए प्रसिद्ध आलोचक नामवर सिंह ने कहा था कि किसी एक लेखक के एक संग्रह की कई कहानियों की समीक्षा एक ही लेख में ठीक-ठीक नहीं हो पाती। इसलिए बेहतर हो कि लेखक की एक ही कहानी की विस्तृत समीक्षा की जाय। इससे हम रचना की गहराई में जाकर उसकी अंतर्वस्तु की ठीक-ठीक पड़ताल कर पाएंगे। आश्चर्य तो यह है कि दलित विमर्श के जोर-शोर में दलित जीवन पर आधारित श्रीलाल शुक्ल की कहानी 'दुराचरण' पर लोगों का ध्यान नहीं गया। क्या इसलिए कि यह सवर्ण द्वारा लिखी कहानी थी? या उसकी विश्वसनीयता पर संकट था? या उसका यथार्थ लेखक की पकड़ से बाहर का था? जो भी हो, है यह एक दलित नौजवान के स्वाभिमान की कहानी। यह नरइना पासी के लड़के नेतराम की कहानी है जो 'सूअरों के पीछे गांव के खेतों में नंगे पांव भटकता-फिरता था, जो काम मिलने पर कड़ी जमीन में दिन भर फावड़ा चलाने की ताकत रखता था, इस ऊबड़-खाबड़ मैले दांतों और मोटे ओठों वाले' लड़के को गांव के ही कॉलेज के सवर्ण प्रिंसिपल ने झूठे आरोप में कॉलेज से नाम काट दिया था।

जिस तरह 'राग दरबारी' में एक कॉलेज की कथा है, उसी तरह 'दुराचरण' में भी शिक्षण संस्था के प्रिंसिपल और मैनेजर की तिकड़मों का खुलासा किया गया है। इससे लगता है कि श्रीलाल शुक्ल शिक्षण संस्थाओं में फैले भ्रष्टाचार से कितने चिन्तित रहे हैं। ऊपर से देखने पर तो लगता है कि प्रिंसिपल और मैनेजर में कभी पटती नहीं, लेकिन नेतराम के मसले पर दोनों में एक सहमति बन जाती है।

कहानी में 'आभिजात्य की आभा' से परिपूर्ण कॉलेज के मैनेजर कुंवर साहब, उनकी कोठी और उत्तर आधुनिकता के रंग में पूर्ण रूप से अपने को रंग चुकी उनकी बेटी का श्रीलाल शुक्ल ने बड़ा यथार्थ चित्र खींचा है। 'बीघे भर की हरी-भरी लॉन, रंग-बिरंगे विलायती फूलों की क्यारियों, दूधिया रंग के पेंट में झलमलाती कुर्सियों और झकाझक बेंत की मेज से सजी उनकी कोठी' किसी मायाजाल से कम नहीं थी। लेकिन कुंवर साहब के इस मायाजाल को भेदने की हिम्मत जुटाता है नेतराम पासी, जो कुंवर साहब के लिए निरीह, दया का पात्र, अछूत से ज्यादा कुछ नहीं है। अपनी हर कक्षा में अव्वल नंबर से पास होने वाला नेतराम कुंवर साहब के हर सवाल का जवाब देता है, लेकिन अपने जवाब में एक बार भी उन्हें 'मालिक' नहीं कहता। श्रीलाल शुक्ल ने दलित युवा पीढ़ी के प्रतिरोध की इस शैली को बहुत बारीकी से पकड़ा है। इससे हमें लेखक की सूक्ष्म निरीक्षण की शक्ति का पता चलता है। यह दलित वर्ग की ही पुरानी पीढ़ी और नयी पीढ़ी की सोच में आए बदलाव का संकेत है। जहां नेतराम का मामा गुर्दान कुंवर साहब के सामने हमेशा हाथ जोड़े फरियादी मुद्रा में बातें करता है, वहीं नेतराम कुंवर साहब की बातों का जवाब उन्हीं के 'टोन' में देता है। वह कुंवर साहब के इस प्रस्ताव को साफ ठुकरा देता है कि पिछली कक्षा में ही वह फिर से नाम लिखवा ले। इससे स्पष्ट है कि श्रीलाल शुक्ल इस कहानी के माध्यम से

सवर्णों की उस सामंती मानसिकता की पोल खोलते हैं, जिसके चलते प्रतिभाशाली दलित विद्यार्थी अच्छी और ऊंची शिक्षा से वंचित कर दिए जाते हैं। क्या ऐसे षड्यंत्रों की प्रतिक्रिया में दलित युवा का क्रोध जायज नहीं कहा जा सकता? नेतराम तो छोटी उम्र में ही इतने आत्मविश्वास से भरा है कि कुंवर साहब की कोठी पर काम करने के प्रस्ताव को भी स्वीकार नहीं करता। उसकी सिर्फ एक ही मांग है जो जिद बन गई है और वह है पढ़ने की– बिना साल बरबाद किए परीक्षा देने की।

श्रीलाल शुक्ल ने इस कहानी में कुंवर साहब का उनके पूरे आभिजात्य के साथ वास्तविक चित्र खींचा है। कुंवर साहब के चरित्र से 'राग दरबारी' के वैद्य जी अथवा 'गोदान' के रायसाहब की याद ताजा हो उठती है। आजादी मिलने के बाद पुराने सामंतों–जमींदारों ने इस तरह रंग बदला कि लोकतांत्रिक सत्ता के वे अनिवार्य अंग बन गए। उनकी संपत्ति बढ़ी, सुविधाएं बढ़ीं, प्रभाव बढ़ा और जमींदार के बदले अब जनता के 'सेवक' कहलाने लगे। 'दुराचरण' कहानी के कुंवर साहब बदली हुई शासन व्यवस्था में 'भारत सेवक समाज' के अध्यक्ष हैं, लेकिन 'नकली विनम्रता' से काम लेते हैं। जबान से तो वे नेतराम को कलक्टर, कमिश्नर बनने का ख्वाब दिखाते हैं, लेकिन सामने खड़े नेतराम की कमीज, पतलून, कलाई घड़ी उन्हें खटकती है। कुंवर साहब ऐसी चालाकी करते हैं कि नेतराम के वे हितैषी तो बनते हैं, लेकिन नेतराम का सदा अहित ही होता रहता है। वे महसूस करते हैं कि नेतराम के साथ जो भी गड़बड़ी हुई है, उसके वे भी जिम्मेदार हैं। कुंवर साहब में खुलकर किसी का पक्ष लेने की क्षमता नहीं है। वे अपनी अच्छी छवि के लिए सबको खुश रखना चाहते हैं और इस खुश रखने की प्रक्रिया में जो कमजोर है, पीड़ित है, उसके साथ न्याय नहीं हो पाता।

श्रीलाल शुक्ल ने कुंवर विश्वेश्वर दयाल सिंह की बेटी के माध्यम से मुक्त होने की आकांक्षा रखने वाली उत्तर आधुनिक उन नौजवान लड़कियों के चेहरे को भी दिखाने का प्रयास किया है, जो परंपरागत सौंदर्य के नकार में विश्वास करती हैं और उसकी जगह ऐसे सौंदर्य की पक्षधर हैं, 'जो सेक्स को विस्फोटक सीमा तक उकसाने वाला है।' स्वयं कुंवर सिंह अपनी बेटी के बारे में सोचते हैं कि 'यह चेहरा नौजवानों को टीस, असंतुलन, पागलपन, हिंसा, आत्महत्या इनमें कहीं भी गर्क कर सकता है।' स्पष्ट है कि खुलेपन की बयार को महसूस करने वाली लड़कियों के बारे में ये विचार खुद लेखक के हैं। वह जींस–पुलोवर पहननेवाली लड़कियों के सौंदर्य की तुलना में गांव की के सौंदर्य का पक्षधर है। लेखक को 'गांव की लड़कियों के गोल–गोल भरे चेहरों के मुकाबले शहर का यह चेहरा 'खपटा' 'खड्डूस' लगता है। 'खपटा' यानी मिट्टी की हांडी का टूटा टुकड़ा।' सवाल यह है कि क्या श्रीलाल शुक्ल खुलेपन के विरोधी हैं या खुलेपन का जो वर्तमान स्वरूप है, जो दिशा है, उसके विरोधी हैं? क्या ऐसा नहीं लगता कि परंपरा को तोड़कर बाहर निकलने वाली लड़कियों का मूल्यांकन आज भी हम सामंती सोच वाले पुरुष मन से करते हैं? क्या यह हमारी पिछड़ी हुई संवेदना का संकेत नहीं है?

'दुराचरण' कहानी में श्रीलाल शुक्ल देश में हुए सामाजिक–राजनीतिक परिवर्तन पर जबर्दस्त व्यंग्य करते हैं। इसके लिए समय के अंतराल की वे परवाह नहीं करते। वे नेतराम की (जो कुंवर साहब और प्रिंसिपल के लिए नितुआ है) नाम काटे जाने की घटना के बीस साल बाद के बदलाव को कहानी में समेटने का प्रयास करते हैं। बीस साल बाद– जबकि कुंवर साहब राज्य विधान परिषद् के सभापति हैं, प्रिंसिपल देवीदयाल वर्मा विधान परिषद् के सदस्य बन चुके हैं– विधान परिषद् यानी लोकतांत्रिक सत्ता का पिछला दरवाजा। इनके साथ ही नेतराम पासी विरोधी पार्टी के सत्तारूढ़ होने पर राज्य के शिक्षा मंत्री के रूप में है। श्रीलाल शुक्ल नेतराम पासी का शिक्षा मंत्री बनना एक नई राजनीतिक घटना के रूप में देखते हैं। इधर पन्द्रह–बीस वर्षों में जो दलित जागरण हुआ है, उसी का परिणाम है कि दलित वर्ग सत्ता में प्रभावकारी भूमिका में आया है– अपनी मेहनत से, अपनी लगन से, और अपने को योग्य सिद्ध कर। मास्टर दया राम से बाकायदा शिक्षित होकर, अपने घर पर अध्ययन कर नेतराम अपने गांव की, अपने समाज की और खुद अपनी ऊर्जा की तलाश करता है। वह श्रम करता है, थककर बिरहा गाता है– पुश्तैनी बिरहा नहीं–वह नए गीत गाता है–ये नए गीत नए जीवन के गीत हैं, नई आशाओं–आकांक्षाओं के गीत हैं, जिन्दगी को नई ऊंचाइयों तक ले जाने की प्रेरणा देने वाले गीत हैं। इस प्रकार उसके जीवन को संवारने के लिए श्रम और संगीत साथ–साथ चलते हैं।

श्रीलाल शुक्ल ने नेतराम को अपनी कहानी में एक आदर्श चरित्र के रूप में प्रस्तुत किया है। आज की युवा पीढ़ी जब असफलताओं के कारण निराश हो रही है, टूट–बिखर जा रही है, उसके लिए नेतराम एक आदर्श हो सकता है, लेकिन सामाजिक यथार्थ का दूसरा पहलू भी है, जिसकी ओर लेखक का ध्यान जाना चाहिए था। हमारी लोकतांत्रिक व्यवस्था में ऐसे अनेक विद्रूप हैं, जिनका सामना सामान्य व्यक्ति नहीं कर पाता।

'दुराचरण' कहानी दलित– सवर्ण की सोच के भेद को उद्घाटित करती है। अपना काम निकालने के लिए सवर्ण किस प्रकार सत्ता से संगति बैठा लेता है, इसे प्रिंसिपल देवीदयाल वर्मा के चरित्र में देखा जा सकता है। नेतराम उर्फ नेतुआ का शायद दुराचरण यही था कि स्कूल के दिनों में वह प्रिंसिपल के भतीजे के कंधे पर हाथ रखकर घूमता था– 'इस सूअर की औलाद की यह हिम्मत कि सड़क पर तेरे कंधे पर हाथ रखकर घूमे!' कहते हुए प्रिंसिपल ने कभी अपने भतीजे को दो–चार झापड़ लगाए थे। वही प्रिंसिपल वर्मा, नेतराम–शिक्षा मंत्री नेतराम के साथ संबंधों में अपने भतीजे का स्वर्णिम भविष्य देख रहे हैं। सत्ता के रंग में रंग जाने वाली एक ऐसी गिरगिट संस्कृति वाले लोग हमारे समाज में बहुत पहले से रहे हैं, जो किसी बड़े बदलाव में बाधक हैं। श्रीलाल शुक्ल ने चूंकि सत्ता के चेहरे को बहुत करीब से देखा है, इसलिए उसके स्वर की भी बहुत सही पहचान उन्होंने इस कहानी में की है। वे उस विचार विहीन राजनीति की ओर भी संकेत करते हैं,

शेष पृष्ठ–117 पर. . .

विनोद शाही

व्यंग्य-बोध का भारतीय रूपाकार और श्रीलाल शुक्ल

जोसेफ कॉनरड, ई.एम. फोर्स्टर या आर्थर कॉनम डॉयल जैसे कथाकारों ने अपने बहुत से पात्रों और कथास्थितियों के साथ व्यंग्य से 'भोंडेपन' तक (फ्रॉम सेटायर टू ग्रोटेस्क) का जो सफर तय किया है, वह इतना परेशानकुन और खतरनाक नहीं, जितना श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' जैसे महाकाव्यात्मकता को विखंडित कर सकने वाले एक पूरे उपन्यास का अपनी समग्र संरचना में व्यंग्य-वस्तु हो जाना।

पश्चिम में विकसित हुए व्यंग्य के विधा हो जाने के हालात के मुकाबले में, भारत में प्रकट हो रही यह व्यंग्य विधा कितनी अलग है?

पश्चिम में व्यंग्य का 'भौंडा' (ग्रोटेस्क) पहलू अमूमन 'अन्य' (द अदर) के प्रति मुखातिब रहता है और उसे मूलकथा व कथ्य के 'बाहर' एक प्रतिस्थिति या समांतर स्थिति से ज्यादा बड़ा दर्जा नहीं दिया जाता और वह जो केंद्रीय पात्र या स्थिति का हिस्सा होकर 'कथ्य' बनता है, वह अमूमन एक इस तरह के आत्म-व्यंग्य की स्थिति होती है, जो 'दार्शनिक', 'तरल' या 'अमूर्त' होकर कृति को व्यंग्य की यथार्थ दुनिया से ऊपर उठाने में मदद करती है. . .कॉनरड, फोर्स्टर या डॉयल की कथाओं में बहुत दफा, व्यंग्य के भोंडेपन को उभारने के लिए भारतीय पात्रों व स्थितियों का सहारा भी लिया गया है। वहां जो भारत है, वह इन पश्चिमी कथाओं का 'अन्य संसार' है, इसलिए वहां भोंडापन ही नहीं, वीभत्स और रौद्र तक भी मौजूद दिखायी दे सकता है। वहां इस वीभत्स भोंडेपन का आधार कहीं हमारी काली माता हो सकती है, जो विकराल रूप में जीभ लपलपाती कटे हुए सिर से गिरते राक्षस के रक्त को पी रही होती है या गुफाओं के भित्तिचित्रों में उकेरी नग्न नारी-देहें पुरुषों में बलात्कारी चेतना को उकसाती यूरोपीय महिलाओं का पीछा करती हैं और या फिर बरसों से न नहाने के कारण दुर्गन्ध फेंकते बाबा लोग या भयभीत करने वाले संपेरे संस्कृति और लोकचेतना के असभ्य और जंगली पहलुओं को उभार रहे होते हैं।

इस तरह पश्चिमी व्यंग्य में 'ग्रोटेस्क' वहां की औपनिवेशिक मानसिकता का एक आईना बन कर हम तक पहुंचता है।

इसलिए भारत में व्यंग्य मूलतः प्रतिक्रियात्मक व आत्मरक्षात्मक (रिएक्शनरी एण्ड डिफेंसिव) किस्म का दिखाई देता है, जो आत्मव्यंग्य के तल पर अपनी खिसियाहट और हीनता को छिपाने की कोशिश करता है। रचनात्मक अभिव्यक्ति के तल पर इस भारतीय व्यंग्य ने अकारण ही 'बहक' जैसा रूप नहीं लिया होगा। वह नशेड़ियों की 'विवेकपूर्ण पीनक' की तरह आया और एक साथ प्रतिक्रियात्मक व आत्मरक्षात्मक दोनों तरह का होने में समर्थ हो गया। फिर वह चाहे बालमुकुंद गुप्त के 'शिवशंभु के चिट्ठे' का व्यंग्य हो या भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'अंधेर नगरी' का, पीनक की गहरी विवेकपूर्णता सभी जगह हैरानी में डालती है।

भारत में व्यंग्य बुनियादी तौर पर आत्म विखण्डक है।वह एक तरह की रचनात्मक 'पाखण्ड खण्डिनी पताका' की तरह है।

और इसे महज एक व्यंग्य कथन कह कर उड़ा देना ठीक नहीं होगा, अगर हम कहें कि भारत में अभी तक जितने भी सांस्कृतिक जागरण या नवजागरण हुए हैं, उन सभी का प्रवर्तन किसी-न-किसी संत या अचार्य के द्वारा लहरायी गयी पाखण्ड-खण्डिनी पताकाओं के परिणाम स्वरूप हुआ है।

रचनात्मक व्यंग्य अधुनातन जागरण का मूल अस्त्र है। पूरा भारत जिस तरह से एक 'बहक' की तरह अपनी और पूरी दुनिया की 'गहन आलोचना के शगल' में रात-दिन उसी तरह डूबा दिखाई देता है, जैसे मध्यकाल में हरिसिमरन के जाप में डूब गया था, उसे देखते हुए लगता है कि यह नवजागरण दूर नहीं।

और श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' में वैद्यजी की उस बैठक में जहां 'भारत के गांवों की आत्मा निवास करती है'- यों ही रात-दिन भांग घोंटने की प्रथा का धार्मिक कट्टरता के साथ पालन नहीं किया जाता। यह भंग स्वास्थ्यकारी है, सब तरह की बीमारियों का इलाज है। शहर में बीमार रहने वाले रंगनाथों के लिए वैकल्पिक जीवन-शैली का पैगाम है। भांग एक अचूक दवा की तरह काम करती है, क्योंकि वह विवेक को मारती नहीं, परंतु उतना भर जगाने में मदद करती है कि वह विद्रोही होकर रास्ते से भटक न जाए।

पिशेक फूको ने इधर जिसे एक अहम उत्तर आधुनिक विमर्श की तरह विकसित किया है, उस 'सत्ता और ज्ञान के विमर्श' का मूलस्रोत भारत जैसे मुल्कों में, वैद्य जी जैसों की बैठकों में घोंटी जाने वाली भांग के अजस्र प्रवाह से निकलता और बहा करता है।

पीनक की बहक हमारे यहां एक कथास्थिति के रूप में इसलिए अहम हो गयी मालूम पड़ती है, क्योंकि सच बोलने के लिए इसके अलावा दूसरे रास्ते बंद कर दिए गए हैं, परंतु यह एक गहरी दार्शनिक विमर्शभूमि भी है। मनुष्य का जिंदा होना और जिंदा बने रहकर अस्तित्व के बोध या संघर्ष की चेतना जैसे अपने मानवीय सारतत्व को पाना तभी मुमकिन है, अगर कहीं किसी तल पर किसी रूप में उसे जगत या समाज के सच को अपने सच की तरह पा सकने की कोई जमीन मिल सके। भारत जैसे तीसरी दुनिया के मुल्कों में आदमी की उसकी यह अपनी जमीन अब पीनक जैसी अर्धतंद्रा या अवचेतन की स्थितियों में मिलती है और आत्माभिव्यक्ति की रचनाशीलता

एक 'बहक' की तरह प्रकट होकर उसे कैसी 'आत्मा' प्रदान करती है, इसका अनुमान ही लगाया जा सकता है। औपनिवेशिक दौर से चला रहा हमारा यह व्यंग्य-यथार्थ, हमारे मौजूदा उत्तर-औपनिवेशिक हालात में भी बना रह गया है– विकल्पहीन रूप में इसे अगर 'राग दरबारी' जैसी कृति की मार्फत हम एक विश्वसनीय रचना-अनुभव की तरह फिर से पाते हैं, तो यही सुबूत है, इस कृति के एक बड़ी कृति होने का।

अब एक तुलना करें मुक्तिबोध का कालजयी कविता 'अंधेरे में' के अवचेतन से 'राग दरबारी' की पीनक का, जो 'बहक' से आगे बढ़कर जोगनाथ की 'सर्फरी बोली' तक की शक्ल ले लेती है। 'अंधेरे में' के अवचेतन में 'इतिहास' बिम्बों की एक श्रृंखला की तरह टूटता हुआ सचेतन-यथार्थ को स्वप्न-यथार्थ के रूप में विखंडित करता है। इससे भागता हुआ नायक जिस संघर्ष स्थिति को खोजता है, वह खुद एक स्वप्न दशा जैसी वस्तु बन जाती है। इसका अर्थ साफ है। क्रूर, अमानवीय और विसंगत यथार्थ को एक व्यंग्य स्थिति के रूप में तो जिया जा सकता है– भले ही पीनक के हालात में गर्क होकर, जहां से आगे 'डेढ़ इंच ऊपर' का स्वप्नलोक है, जिसमें जा घंसने से लौटना मुमकिन नहीं और जो संघर्ष को भी 'यथार्थ' के तल पर उपलब्ध होने लायक नहीं रहने देता। परंतु व्यंग्य स्थिति सदाबहार है। वह यथार्थ की वस्तु होकर भी 'वहां' नहीं होती और फिर भी उससे 'परे' नहीं कहलाती बेशक 'राग दरबारी' में भी पलायन से निजात नहीं मिलती, परंतु यह इस रूप में कुछ बेहतर मालूम पड़ता है, क्योंकि स्वप्नवत होकर अमूर्त होने से बच जाता है। यह भारत के औपनिवेशिक और उत्तर औपनिवेशिक हालात का नतीजा है कि हमारे यहां यथार्थ से सीधी रचनात्मक मुलाकात या मुठभेड़ असंभव हो गयी है। इसलिए नवजागरण के दौर में जो नववेदांतिक रास्ता खुला था– वह यथार्थ को स्वप्नवत बनाकर संघर्ष को ताकतवर बनाने की कोशिश करता था। यहां मुक्तिबोध निराला के वारिस मालूम पड़ते हैं। 'जागो फिर एक बार' निराला का संघर्ष यथार्थ को– 'माया है, माया है' कहकर 'पदरज बराबर विश्व-भार' में बदलता है, ताकि संघर्ष में 'जागना' मुमकिन हो सके। यहीं व्यंग्य ज्यादा काम की चीज हो उठता है। वह यथार्थ से मुंह नहीं चुराता। परंतु जैसा नंददुलारे वाजपेयी ने लक्ष्य किया था कि वह 'दुधारी तलवार की तरह सामने की वस्तु को ही नहीं, तलवार चलाने वाले हाथों को भी काटकर लहूलुहान कर देता है।'

फिर भी व्यंग्य काम की चीज है, क्योंकि वह संघर्षचेताओं के अहं और दैन्य दोनों को तार-तार करता है और यथार्थ को उसकी वस्तुनिष्ठता में जानने-समझने के लिए तैयार करता है। तैयार होना बहुत अहम चीज है, क्योंकि वह विकल्प न होने पर भी, उन्हें खोजने की मानसिकता प्रदान करता है। यह तैयारी राग-दरबारी का उत्तर-राग है या कहें कि वह कृति के व्यंग्य-रूप का व्यंग्यार्थ है। व्यंग्यार्थ थोड़ा मुश्किल से पकड़ में आता है। वह कई दफा कृति में होकर भी, उससे बाहर पूरे समाज की संरचना में छिपा रह जाता है। परंतु इस अर्थ को पकड़े बिना हमारा काम नहीं चल सकता। इससे यह तो बताया जा सकता है कि फलां कृति महत्वपूर्ण है। परंतु महत्वपूर्ण क्यों है, इसका विश्वसनीय जवाब दूर कहीं और छिटका पड़ा रह गया मालूम होता रहता है। इसके लिए दृश्य से परिदृश्य में कूदना होता है। बेशक इस खतरे को उठाते हुए कि कृति की बिना पर जो 'फोकस' होता है, उसे परिदृश्य पहले तो बिखेरता है, फिर एक नये कृति पाठ की तरह पुन: रचता है। यहां इसी पुनर्रचना के लिए थोड़ा प्रयास किया जाएगा।

सबसे पहले तो कृति के रूप में 'राग दरबारी' पुराण-कथा-शैली की विरासत का विखण्डन करता है– उसे अर्थ की दृष्टि से विद्रूप का हिस्सा बनाकर। 'वैद्य जी हैं, थे और रहेंगे' वाला अंदाज़ पौराणिक अवतारवाद की अनुगूंज लिए है। वैद्यजी के साथ 'राग दरबारी' की शास्त्रीय जमीन सत्ता के मौजूदा उत्तर-राग में बदलती है। सांस्कृतिक परंपराओं की बड़ी भव्य, उदात्त व विराट पृष्ठभूमि विरासत की तरह आती है और उत्तर-राग के लय-भंग का शिकार हो जाती है। वैद्य जी को आयुर्वेदिक स्वास्थ्य फार्मूला जड़ी-बूटियों के विशद ज्ञान के भांग में रगड़ता डुबोता है और उनकी योगमूलक मानसिकता से आया ब्रह्मचर्य उन्हीं के पहलवान और गैर-पहलवान बेटों के द्वारा व्यभिचार के खेल में बदल दिया जाता है। फिर एक 'छोटे पहलवान' और प्रकट होता है, जो वैद्यजी के इस 'हनुमान अखाड़े' को स्वामिभक्ति व पितृभक्ति की विरासत से तोड़ता हुआ, अपने पिता को पीटने से जुड़े शौर्य के प्रदर्शन तक ले आता है।

परंतु संस्कृति के ऐसे व्यंग्य-विखण्डन के बाद किसी 'आत्मा' या 'अस्मिता' को पाने का कौन-सा उपाय बचा रह जाता है? क्या सत्ता-विमर्श (राग दरबारी) अपने आप में पर्याप्त है– जीवन के सामाजिक पहलू को सभ्यता के विकास की जमीन बनाने के लिए? संस्कृति का विखण्डन जरूरी है तो सभ्यता के विकास वाली चेतना अनिवार्य हो जाती है। परंतु इन दोनों का अभाव होने का अर्थ है– आत्महीनता का खतरनाक अराजक परिदृश्य, जो हमें आत्महंता बना कर कहीं का नहीं छोड़ेगा।

यहां हिंदी आलोचक के मौजूदा परिदृश्य पर एक अवांतर टिप्पणी जरूरी लग रही है। हमारे ज्यादातर आलोचक उथले विश्लेषण और उत्तरदायित्वविहीन नतीजों तक इसलिए रुके रहते हैं, क्योंकि उनके पास आरोपित दार्शनिक आधार और आयातित विश्लेषण औजार होते हैं। इससे हमारा साहित्य जो है, उसी रूप में समाज को दिशा दिखाने से चूक जाता है। वह असंतुष्ट करता है, पर विवेक जागृत नहीं करता। विचारधाराओं की बित्ताभर जमीन रौशन करने वाली टॉर्च-निगाहें अपनी तमाम सीमाओं व कमजोरियों के साथ, बदकिस्मती से हिंदी आलोचना के मौजूदा परिदृश्य को घेर-घार लेने की कोशिशों से ऊपर उठकर देखना नहीं चाहतीं।

लौटकर अब चलिए, 'राग दरबारी' के सांस्कृतिक विखण्डन वाले पहलू के व्यंग्यार्थ की तरह मौजूद सभ्यता के विकास वाले रास्ते को खोजने की कोशिश करते हैं।

यहां रंगनाथ के रूप में 'शहर का बीमार' गांव की ओर मुड़ा और लौटा है। आधुनिक सभ्यता के विकास के एकमात्र लक्षण की तरह भारत के ऊबड़-खाबड़ शहरी विकास का विकृत या बीमारी से ग्रस्त होना इस कृति की आधार-स्थिति की तरह है। परंतु जैसा आर्थिक विकास का पूरा ढांचा है– उसमें गांव के महासागर जैसा शिवपालगंज की दूसरी तरह से विकृत 'गंजही

संस्कृति' कोई विकल्प नहीं बनती। भारत के गांवों का अपना 'आत्मस्वायत्त आर्थिक ढांचा' तो औपनिवेशिक दौर में साम्राज्यवादी अंग्रेजों के द्वारा कब का नष्ट किया जा चुका है और गांवों को एक 'परजीवी' की तरह ही जीने और कुछ पसरने की मोहलत दी गयी है। विद्यालय, ग्रामसभा, को-ऑपरेटिव और थाने जैसी तमाम संस्थाएं वहां भी शहरी सभ्यताकरण का अधूरा और विकृत विस्तार-भर हैं। सारा सत्ता-विमर्श इन्हीं 'लाभदायक संस्थाओं' के आसपास केंद्रित होकर रह गया है। यह किसी भी तरह से किसी 'ग्रामीण भारतीय यथार्थ' से मुलाकात या मुठभेड़ नहीं है। यह सब तो महज लखनऊ जैसे महानगर का आसपास के गांवों तक फैलता शहरी सभ्यता का आधुनिक अभिशाप भर है। 'शहर के आदमी' के रूप में रंगनाथ की इस 'शहर-परजीवी' सत्ता - विद्रूप' से संतुष्टि नहीं हो सकती। इससे तो बेहतर है- 'शहर के बीमार' की तरह रहना और जीने के हालात खोजना। परंतु रंगनाथ की शहर वापसी कृति का व्यंग्यार्थ नहीं है, हालांकि इस कृति के एक नाट्य-रूपांतर में इसी ओर ज्यादा तवज्जो दी गयी है। कृति के अंत में जो मदारी आता है, वह इस कृति के बाहर छलांग लगाने के लिए एक खिड़की का काम करता है। मदारी कृति के पूरे सत्ताविमर्श के ताने-बाने के बाहर का आदमी है, परंतु उसका खेल कृति के व्यंग्यार्थ को रंगनाथ के अंतर्विवेक के रूप में प्रकट करने के लिए एक बहाना बन जाता है। मदारी कृति का जनपक्ष है। वह ठीक से न शहर का है, न गांव का। एक तरह से वह शहर व गांव दोनों का 'अन्य पक्ष' है उसके साथ दूसरे सामान्यजन वहां कहीं पीछे खड़े दिखायी दे सकते हैं। वे अपने जमीनी अर्थवत्ता और सभ्यता की उपज हैं। वे अभी विनष्ट नहीं हुए हैं। उनकी मानसिकता अभी तक किसी गहरी 'प्राकृतिक न्याय' की मौजूदगी में यकीन से बंधी है। कहीं-कहीं यह प्राकृतिक न्याय कृति के विरूप सत्ताविमर्श के भीतर भी एक 'भोंडे संघर्ष' की तरह प्रवेश करता है। जैसे लंगड़ के भ्रष्ट न्यायपालिका से न्याय पाने की उम्मीद के संघर्ष में। सामान्यजन इस तरह का संघर्ष नहीं करता है। उसे सभ्यता के विकास की प्रतीक इन शहरी संस्थाओं पर कुछ खास भरोसा नहीं है। परंतु अपने भीतर अंतर्भूत प्राकृतिक न्याय को लेकर वह कभी नाउम्मीद भी नहीं होता है। यह भारत का 'जनपक्षीय अन्य' है, जिसे पश्चिम ने अपने सभ्यतामूलक विकास की झोंक में अपने समाजों में नष्ट कर दिया है।

इसीलिए, जैसा कि आलेख के आरंभ में संकेत छोड़ा गया था कि पश्चिम भारत व अन्य तीसरी दुनिया के यथार्थ को 'विद्रूप भोंडेपन' वाले व्यंग्यबोध में बदलता है- वैसा भारत के व्यंग्य की रचनाशीलता का बोध नहीं है। 'राग दरबारी' का मदारी इस 'अन्य पक्ष' को खारिज नहीं करता, उल्टे उसे व्यंग्यार्थ की तरह समेटकर कृति के संभावनापूर्ण अंतर्विकास का रास्ता खोल देता है।

मुख्यधारा से बाहर हाशिये पर होने के बावजूद, 'अन्यपक्ष' या जनपक्ष को केंद्रीय यथार्थ की तरह फोकस में लाने वाला 'खालिस भारतीय व्यंग्यबोध', एक तरह से अन्य-हंता पश्चिमी व्यंग्यबोध का 'पोलेमिक्स' खड़ा करता है, वह कहीं ज्यादा मानवीय है और नवविकास का हेतु भी।

9, चीमानगर एक्स, मिट्ठापुर रोड
पो.आ. टावर टाऊन कालोनी, जालंधर-144014

. . .पृष्ठ-114 का शेष

जिसके चलते विधायक दल-बदल करने में देर नहीं लगाते। विधान परिषद् के सभापति पद पर रहते हुए कुंवर साहब के निधन और शोक सभा में शिक्षा मंत्री नेतराम पासी की 'भाव विकलता' आंखों में आंसू के साथ रुंधे गले से कहना कि 'वे मेरे पिता के समान थे' क्या सवर्णों के प्रति दलित भाव के परिवर्तन का संकेत नहीं है? हिन्दी क्षेत्र में जब सवर्ण सत्ता से दलितों के मन में दूर-दूर तक समझौते की संभावना नहीं दिखती थी, श्रीलाल शुक्ल शायद बहुत पहले यह सही अनुमान लगा चुके थे कि बिना सवर्ण-दलित गठजोड़ के दलित का सत्ता में स्थायित्व पाना मुश्किल है, जबकि पिछड़े वर्ग के एक बड़े हिस्से से उसका टकराव लगातार जारी है।

वास्तव में 'दुराचरण' कहानी के माध्यम से श्रीलाल शुक्ल यह भी कहना चाहते हैं कि हमारे लोकतंत्र में सिद्धांतों, मूल्यों और विचारों के लिए कोई जगह नहीं रह गई है। सब कुछ अब प्रबंधन की कुशलता और जातिवादी गणित से निर्धारित हो रहा है। आज के राजनेता हमारी समस्याओं को दूर करने के नाम पर खूद एक समस्या बनते जा रहे हैं। अब तो चाहे सवर्ण हो या दलित, सबका एक ही लक्ष्य है- किसी न किसी प्रकार से सत्ता सुख भोगना। कुंवर साहब, प्रिंसिपल और नेतराम पासी तीनों सत्ता के अंग बन चुके हैं, लेकिन किसी के मन में जन-हित की बात नहीं है। कहानी में नेतराम के संघर्ष को जिस तरह दिखाया गया है, उस तरह कहीं यह जिक्र नहीं आता कि उसका संघर्ष किन मूल्यों के लिए है, किस प्रकार के समाज की स्थापना के लिए है। आज दलित जागरण का स्वागत तो हम कर रहे हैं, लेकिन हमें इसका भी इंतजार है कि यह जागरण व्यवस्था परिवर्तन में किस प्रकार की भूमिका निभाएगा।

'दुराचरण' कहानी से स्पष्ट है कि श्रीलाल शुक्ल को गांव सबसे ज्यादा आकर्षित करता है। जिस बस्ती का वे वर्णन करते हैं, उसमें 'बांसों के झुरमुट, नीम-जामुन-आम के पेड़, बेहया की ऊंची बाड़, पोखरों के सड़ते-सूखते पानी से उठने वाली बू, कातिक में सिंघाड़ों से दबे हुए तालाब, माघ में मूली-मटर-प्याज से भरे खेत, बैसाख में मछलियों की खेप देने वाले सूखते पोखर, जेठ-असाढ़ में घूरों को खोदकर निकाली गई खाद और सड़े गोबर की बासी बू' से गंवई वातावरण का जीवन्त रूप हमारे सामने आ जाता है। अब ताजा बू और बासी बू का सूक्ष्म भेद क्या है, यह कोई श्रीलाल शुक्ल से सीखे। कहानी में एक साथ आए ये वर्णन कहानी को समृद्ध ही करते हैं। इनसे कहानी में घटनात्मक वर्णन की नीरसता नहीं आ पाती। श्रीलाल शुक्ल ने कहानी में व्यंग्य का बड़ा सधा हुआ प्रयोग किया है। वह कहानी के प्रभाव को तीव्र करने में सहायक है। इन सभी दृष्टियों से 'दुराचरण' दलित विमर्श की एक महत्वपूर्ण कहानी बन जाती है।

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005 (उ.प्र.)

अरविंद विद्रोही

आक्रोशित संवेदना के व्यंग्य लेखक

श्रीलाल शुक्ल को मुझे प्रथम बार देखने-सुनने का मौका जनवादी लेखक संघ के राष्ट्रीय अधिवेशन, जयपुर में मिला था। लेकिन व्यंग्य साहित्य में एक मानक स्थान रखने वाले शुक्ल जी से मेरी साहित्यिक निकटता नहीं रही है। एक बार उन्हें जमशेदपुर में विदूषक पत्रिका द्वारा आयोजित स्वतंत्रता सेनानी जगन्नाथ राय शर्मा स्मृति समारोह के अवसर पर जरूर आमंत्रित किया था। वह इसलिए कि वह समारोह व्यंग्य विधा पर केन्द्रित होता है। शुक्ल जी से मुख्य अतिथि पद की स्वीकृति हेतु आग्रह किया था। उन दिनों वे काफी अस्वस्थ चल रहे थे इसलिए उन्होंने समारोह में शामिल होने की अपनी स्वीकृति प्रदान नहीं की थी।

लेकिन शुक्ल जी के रचना संचार से काफी परिचित रहा हूं। उनकी तमाम कृतियों को लगभग पढ़ गया हूं, चाहे उनका उपन्यास 'आदमी का जहर' हो, 'सूनी घाटी का सूरज' हो अथवा व्यंग्य साहित्य को मर्यादित करने वाला उपन्यास 'राग दरबारी' हो। उन्हें पढ़कर मुझे ऐसा लगता है कि वे नि:संदेह आक्रोशित संवेदना को आकार देने वाले व्यंग्य लेखक हैं। व्यंग्य का प्रस्फुटन वास्तव में आक्रोश से ही होता है। आक्रोश ही व्यंग्य लेखन के लिए जमीन भी तैयार करता है। मैं मानता हूं कि जब आक्रोश संवेदना के धरातल पर उतरता है तब व्यंग्य का सृजन संभव होता है। व्यंग्य कोई साधारण विधा नहीं है कि उसे खींच-खांचकर परोस दिया जाए। व्यंग्य पुरोधा हरिशंकर परसाई के व्यंग्य पढ़कर समझ सकते हैं। उनकी तमाम रचनाएं आक्रोश के बीच से ही निकलती नजर आती हैं।

राष्ट्रीय आंदोलन के गर्भ से जो सरकार निकली और बनी उसने जन विश्वासों पर तुषारापात किया। जिस आदर्श समाज व्यवस्था की स्थापना के लिए देश के नौजवानों ने अपना सर्वस्व बलिदान दिया और हंसते-हंसते फांसी के फंदे को गले लगाया उनका वह आदर्श सपना बनकर चूर-चूर हो गया। शोषणविहीन सरकार का उद्देश्य अधूरा रह गया और सरकार का चरित्र देखकर लोगों का विश्वास हिल गया। इस स्थिति में आक्रोश का जन्म होना स्वाभाविक है। परसाई जी ने देखा कि बदलाव कि प्रक्रिया हाशिए पर चली जा रही है और सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था घिनौने रूप से अपना विस्तार कर रही है तो उनके भीतर का आक्रोश व्यंग्य के रूप में फूटता है। वे जहां जिस जगह जिस रूप में कुरीतियों को देखते हैं निर्ममतापूर्वक उस पर प्रहार करते हैं। व्यंग्य के माध्यम से उन चरित्रों को अनावृत करते हैं जो समाज के लिए कोढ़ हैं तथा परिवर्तन का दिशाबोध कराते हैं।

श्रीलाल जी का व्यंग्य लेखन भी आक्रोश के बीच से जन्मता है और हरिशंकर परसाई की विरासत को और आगे बढ़ाने का काम करता है। उनकी भावभूमि वही है जो परसाई की है। वही आक्रोश, वही वेदना, वही पीड़ा उन्हें सालती है जिस पीड़ा को परसाई ढोते चलते हैं। शुक्ल जी कहीं घुमावदार रूप में तो कहीं सीधे रूप में प्रहार करते दिखते हैं। कहीं से उनके आक्रोश की प्रवृत्ति को खारिज नहीं किया जा सकता है। गहराई में झांककर देखने पर मुझे ऐसा लगता है।

भारतीय लोकतंत्र में किसी प्रशासनिक अधिकारी को यह छूट नहीं है कि अपने आक्रोश को सीधे व्यक्त कर सके। चाहे वह व्यक्ति शिक्षण संस्था में कार्यरत हो अथवा प्रशासनिक सेवा में। शुक्ल जी को बहुत निकट से जन की पीड़ा देखने-सुनने को मिलती रही होगी। कहीं लोगों का आक्रोश झेलना पड़ता होगा तो कहीं उच्चपदाधिकारियों से मत मिलता भी हुआ करता होगा। वह सब उनके लिए तनाव का कारण बन जाता होगा। मुझे ऐसा लगता है कि उन्होंने तनाव से मुक्ति के लिए अपनी कलम को औजार बनाया होगा। तभी तो उनके उपन्यासों में व्यंग्य रचनाओं में जीवन की घुटन आकार लिए हुए दिखती है।

व्यंग्यकार जितना संवेदनशील होता है, उतना ही वह कठोर भी होता है। कठोरता व्यंग्यकार का तराजू होता है तो दूसरी ओर कठोरता उसके न्याय का पलड़ा होता है। वह विभेद की भाषा नहीं जानता है। विभेद का स्वर जहां कहीं भी फूटता है व्यंग्यकार वहां चुप नहीं बैठता है बल्कि तीखा प्रहार कर कर्त्तव्यबोध जगाता है। सच कहा जाए तो व्यंग्यकार भविष्य का चितेरा होता है। अगर कोई व्यंग्यकार दोहरे चरित्र में जीता है तो वह बिकाऊ माल होगा।

शुक्ल जी का उपन्यास 'आदमी का जहर' यद्यपि अपराध कथा पर आधारित है किंतु आज की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थितियों के बीच के घालमेल से वह परिचित कराता है। जिन पात्रों का चरित्र उपन्यास में हमें देखने को मिलता है उसे दूरगामी सोच वाला लेखक ही सृजित कर सकता है। 'सूनी घाटी का सूरज' उपन्यास एक ग्रामीण नौजवान के टूटते-बिखरते सपने और संघर्ष की कहानी है, जो वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के चरित्र को उजागर करती है। सामंती दासता के बीच से निकला युवक समाज में अपनी हैसियत कायम करने के लिए ट्यूशन कर अपनी पढ़ाई पूरी करता है और प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हो जाता है। लेकिन उसकी योग्यता किसी पैरवी के अभाव में किसी काम की नहीं रह जाती है। वह स्वयं को ऐसे समाज में अपने को पाता है जहां उसकी सोच, प्रतिभा का कोई महत्व नहीं है। हर जगह आदर्श के व्यापारी प्रतिष्ठित हैं। फलस्वरूप युग के आकर्षण, अतीत की प्रताड़ना और वर्तमान की निराशा को झांककर

शेष पृष्ठ-122 पर. . .

वीरेन्द्र मोहन

श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास

कथाकार और गद्य लेखक श्रीलाल शुक्ल की ख्याति का आधार 'राग दरबारी' जैसा उपन्यास है, जिसे हिन्दी जगत में अपेक्षित सम्मान मिला। निश्चय ही राग दरबारी में लेखक का व्यंग्य स्वभाव मौजूद है, किन्तु उस व्यंग्य स्वभाव के मूल में जो कथ्य-व्यंग्य है, वह हमारे लिए कहीं अधिक प्रासंगिक है। आजादी के बाद भारतीय समाज के हम स्वयं नियंत्रक बने, हम ही शासक और हम ही योजनाकार भी बने। हमारा विवेक और हमारी रीति-नीति पराधीन नहीं रही और हम अंग्रेजी साम्राज्यवाद के नक्शे से भौगोलिक रूप से मुक्त हो गये। परन्तु हमारी स्वतंत्रता ने हमें स्वच्छन्द बनाया और हम अपने ही समाज के ध्वंसकर्ता भी बन गये। हमने अनेक बुराइयों को अपना स्वभाव और चरित्र बना लिया। श्रीलाल शुक्ल ने स्वाधीनता के पूर्व के भारत और स्वाधीन भारत के विकास और विनाश, उत्थान और पतन को अपनी रचनाओं का आधार बनाया।

स्वाधीनता के पूर्व प्रेमचन्द ने अवध के ही गांव सेमरी और बेलारी को आधार बना कर पराधीन भारत की अनेक स्थितियों-समस्याओं को घटनाओं चरित्रों के माध्यम से व्यक्त किया। गांव और नगर की स्थितियों का विवेचन किया। स्वतंत्रता के पश्चात फणीश्वरनाथ रेणु ने मेरीगंज को आधार बना कर स्वाधीनता आन्दोलन की पृष्ठभूमि में भारतीय समाज की विकृतियों और कुरीतियों के मध्य फंसे मनुष्य की स्थितियों को घटनाओं और चरित्रों के माध्यम से व्यक्त किया। ठीक उसी तरह से श्रीलाल शुक्ल ने शिवपालगंज को केन्द्र बनाकर स्वाधीन भारत के बदरंग स्वरूप को घटनाओं और चरित्रों के माध्यम से व्यक्त किया है। होरी से रंगनाथ तक की इस चरित्र यात्रा का यह रहस्य भारतीय समाज की अनेक नई स्थितियों पर प्रकाश डालता है। उपन्यास के आरम्भ में ट्रक-ड्राइवर को केन्द्र बना कर सत्ता और उसके संचालकों तक लेखक पहुंचता है और देश का नक्शा धीरे-धीरे खुलने-साफ होने लगता है। 'राग दरबारी का संबंध एक बड़े नगर से कुछ दूर बसे हुए गांव की जिन्दगी से है, जो आजादी के बाद की प्रगति और विकास के नारों के बावजूद निहित स्वार्थी और अनेक अवांछनीय तत्वों के आघातों के सामने घिसट रही है। यह उसी जिन्दगी का दस्तावेज है'। उपन्यास के आरम्भ में ही यह संकेत कर लेखक स्पष्ट करना चाहता है कि वास्तविक भारत की तस्वीर कितनी धूसर और मटमैली है। इसका आंचल मैला है। यह ठीक है कि उपन्यास की व्यंग्य शैली कथ्य के स्थान पर कहीं अधिक प्रभावशाली है और इसीलिए राग दरबारी को एक व्यंग्य उपन्यास कहा गया है। वस्तुत: यहां उपन्यास का कथ्य ही व्यंग्य हो गया है।

श्रीलाल शुक्ल ने इस उपन्यास के द्वारा लेखकीय अभिजात्य के ताने-बाने को अस्वीकार किया है। यह जिस काल का उपन्यास है, उस समय की उपन्यास रचना में शहरी मध्य वर्ग की जिंदगी को मासूमियत और बेहद शालीन भाषा में बिना किसी मारक क्षमता के साथ प्रस्तुत किया जाता रहा है। यह भी देखने में आया है कि समूचे कथा साहित्य में केवल ज्ञानरंजन या काशीनाथ सिंह ने परम्परागत कथा भाषा के स्थान पर सामान्य जन की बोलचाल की भाषा के मुहावरे और उसकी प्रभाव क्षमता को कथा-भाषा बनाया। श्रीलाल शुक्ल ने 'राग दरबारी' में इसी भाषा को व्यापक परिधि प्रदान की और ठेठ अवधी के गंवई व्यक्तित्व को राष्ट्रीय स्तर पर एक जीवन्त मुहावरा बना दिया। छंगामल विद्यालय इण्टरमीडिएट कॉलेज, शिवपालगंज इसका एक प्रांगण है। रंगनाथ इसका एक प्रतिनिधि चरित्र है। क्या इसे नेहरू-युग के भारत के स्वप्नों से मोहभंग का आख्यान नहीं कहा जा सकता है? क्या इसे एक न बन पाने वाले आकांक्षी मूल्य-संसार के भरभरा कर टूट जाने की कथा नहीं कहा जा सकता है? क्या इस रचना के मूल में कहीं एक गहरी पीड़ा और करुणा नहीं मौजूद है?

भारतीय ग्राम समाज राजनीति, सत्ता और पूंजी के लिए सबसे मुलायम चारा रहा है। पराधीन भारत में यह सच था तो स्वाधीन भारत के लिए भी यह एक विकराल सच कहा जा सकता है। एक तरह से भारतीय समाज समान्तर व्यवस्था की दो नावों की तरह है, जिसे डूबना, बर्बाद होना और मिटना ही था। हम भारतीय और पाश्चात्य बनने का ढोंग करते रहे, फलत: इस ढोंग के पाखण्ड में हम कहीं के न रहे, सिर्फ अपनों से घृणा करने वाले हम स्वयं अपनों के बीच घृणा के पात्र बन गये, स्वाधीन भारत का यह सच श्रीलाल शुक्ल के राग दरबारी के अतिरिक्त 'उमराव नगर में कुछ दिन' तथा 'बिश्रामपुर का सन्त' जैसी रचनाओं में भी देखा जा सकता है। सत्ता सामन्त जो स्थानीय स्तर के मुखिया होते हैं, ग्रामीण योजनाओं के नाम पर आने वाली राशि से अपना उत्थान करते हैं और शहरी तथा ग्रामीण अधिकारियों के साथ मिलकर सरकारी विकास योजनाओं का बंटाधार करते हैं। भले ही वे योजनाएं सहकारी संस्थाओं के माध्यम से संचालित की जा रही हों! श्रीलाल शुक्ल के राग दरबारी तथा अन्य रचनाओं में यह सचाई देखने को मिलती है। यहीं से सरकारी दलालों का एक नया वर्ग स्वाधीन भारत में उत्पन्न हुआ। ऐसा ही राग दरबारी का एक प्रतिनिधि चरित्र कालिका प्रसाद है, जिसके विषय में कहा गया है– 'कालिका प्रसाद का पेशा सरकारी ग्रान्ट और कर्जे खाना था। वे सरकारी पैसे के द्वारा सरकारी पैसे पर

जीते थे। इस पेशे में उनके तीन सहायक थे-क्षेत्रीय एम. एल. ए. खद्दर की पोशाक और उनका यह वाक्य, 'अभी तो वसूली की बात ही नहीं कीजिए। आपको कार्यवाही रोकने में दिक्कत न हो, इसलिए मैंने ऊपर भी दरख्वास्त लगा दी है।' विकास के नाम पर सरकार की तमाम कागजी योजनाएं आज भी बदस्तूर जारी हैं, वे नये-नये हलकों में पहुंच रही हैं। चारा घोटाला या स्टाम्प घोटाला तो मात्र उदाहरण है। श्रीलाल शुक्ल ने इन सबका आभास बहुत पहले कर लिया था।

श्रीलाल शुक्ल ने आजादी के बाद विकसित हुई शिक्षा व्यवस्था की विसंगतियों को स्थान-स्थान पर चित्रित किया है। उपन्यास के आरम्भ में ही ट्रक-ड्राइवर व रंगनाथ को लक्षित करते हुए एक वाक्य कहा गया है-वर्तमान शिक्षा पद्धति रास्ते में पड़ी हुई कुतिया है, जिसे कोई भी लात मार सकता है' उपन्यास में शिवपालगंज के छंगामल कॉलेज के माध्यम से अध्ययन-अध्यापन और चयन की स्थितियों को देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि कितनी चतुराई से शिक्षा को सबसे अधिक फायदे का कारोबार हमारे शासनतंत्र ने बना दिया है कि आज हर राजनेता, मंत्री, एम.एल.ए. और सेठ-साहूकार तरह-तरह के कॉलेज और संस्थाएं खोलता जा रहा है और सरकारी महकमे की शिक्षा के समान्तर प्रायवेट शिक्षण संस्थाएं, अंग्रेजी माध्यम की शिक्षण संस्थाएं अनाप-सनाप पैसा कूट रही हैं और काले धन की एक समानान्तर अर्थ व्यवस्था हमारे देश में, सरकार की आंख के नीचे चल रही है और सरकार उसे बढ़ावा भी दे रही है। रूप्पन बाबू जैसे नेता इसी जमीन से पैदा होते हैं। यद्यपि श्रीलाल शुक्ल ने राग दरबारी में राजनीति और समाजनीति पर खुल कर बातें की हैं, पर शिक्षानीति के विषय में विस्तार से प्रकाश डाला है, जिससे आटा चक्की चलाने वाला बेईमान मुन्नू का संदर्भ भी जुड़ जाता है।

'राग दरबारी' की कथा के सामाजिक और राजनीतिक पहलू अलग-अलग नहीं हैं। हर छोटा-बड़ा पात्र अपनी राजनीति चलता है और सामाजिक स्तर पर राजनीति के साथ अपने कुलाबे मिलाता है। इस क्रम में सामाजिक नैतिकता का भी क्षरण होता है। वैद्यजी और उनके बेटे तथा सनीचर जैसे पात्र इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं, जो राजनीतिक भ्रष्टाचार के पावर हाऊस बने हुए हैं। इसी क्रम में पं. राधेलाल, बद्री पहलवान, खन्ना मास्टर और रूप्पन बाबू को याद किया जा सकता है।

स्वाधीनता के पश्चात् कर्ज और अनुदान के नाम पर हमने विश्व बैंक और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष से जो धन प्राप्त किया, उस धन के साथ पश्चिम की उस अपसंस्कृति को भी स्वीकार कर लिया जो हमारी जमीन की नहीं थी पर हमारी जमीन पर आकर उसको जो खाद-पानी मिला उसने हमें ही बदल दिया। हम पश्चिम के नक्काल बन गये। गैर सरकारी संगठन और संस्थाएं, स्वयंसेवी संगठन, समितियां बनाकर सरकारी धन को लूटने का जो तंत्र स्वाधीनता के पश्चात् देश में विकसित हुआ उसने अमीर और गरीब की खाई को चौड़ा किया है। स्वाधीनता के बाद का यह प्रजातंत्र लूटतंत्र में बदल गया है। इसी लोकतंत्र या प्रजातंत्र का एक उदाहरण छंगामल विद्यालय है। फलतः प्रजातंत्र का हर अंग, हर पाया भ्रष्टाचार और अनैतिक कार्यों में लिप्त होता गया है। श्रीलाल शुक्ल का राग दरबारी इन सब की एकत्र अभिव्यक्ति करता है।

शिक्षा संस्थानों में शोषण और लूट का सिलसिला केवल 'राग दरबारी' में ही देखने को नहीं मिलता यह श्रीलाल शुक्ल के आरम्भिक उपन्यास 'सूनी घाटी का सूरज' में भी मौजूद है। इस उपन्यास में रामदास और बड़े ठाकुर के द्वारा इस पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। 'सूनी घाटी का सूरज' में ग्रामीण पृष्ठभूमि पर सामन्ती विधान की परम्परा से ही ये तथ्य देखने को मिलते हैं। मुंशी नवरतन लाल का चरित्र भी इस संदर्भ में महत्वपूर्ण हो जाता है। यहां शिक्षातंत्र के शोषण और भ्रष्टाचार के नये-नये रूप गांव से शहर तक देखने को मिलते हैं। शहर में प्रो. सिन्हा उसका बौद्धिक शोषण करते हैं। इस संदर्भ में प्रो. भट्टाचार्य का कथन महत्वपूर्ण है। 'क्या बकता है यंग मैन! सच्चाई को मुकदमे से कभी छिपाया जा सकता है? यह भी छिपाया जा सकता है कि इस साल रामदास सिंह को लेक्चरार किस कारण नहीं बनाया गया? क्या यह किसी खास आदमी का दामाद है? इस गरीब लड़के को इसलिए दो साल से धोखा देते चले आ रहे हैं कि लेक्चरार बना देने के बाद उसके दिमाग का व्यापार न हो पायेगा।' राग दरबारी में भी बुद्धिजीवियों की सुविधाभोगी रीढ़विहीन प्रवृत्ति को दिखाया है और 'यहै पढ़ि रहे हौ?' के द्वारा अध्ययन की रुचियों का भी खुलासा किया गया है। गंजहों का अलग समाजशास्त्र और राजनीति शास्त्र है। उनका अपना प्रजातंत्र है, जो उपन्यास में जगह-जगह अपनी उपस्थिति दर्शाता है, कॉलेज प्रबंधन का चुनाव भी एक ऐसे ही प्रजातंत्र का नमूना है।

श्रीलाल शुक्ल की रचनाओं का एक बड़ा भाग गांव के जीवन से संबंध रखता है। ग्राम जीवन के व्यापक अनुभव और निरन्तर परिवर्तित होते परिदृश्य को लेखक ने जिस गहराई से विश्लेषित किया है, वह खेल सुना-सुनाया या कल्पना से विकसित किया वृत्तान्त नहीं है। लेखक ने अपनी जड़ों तक जाकर और व्यापक रूप से छान-बीन कर उस समाज की नब्ज को पकड़ा है। यह ग्रामीण संसार 'सूनी घाटी का सूरज', 'अज्ञातवास', 'राग दरबारी' तथा 'बिश्रामपुर का सन्त' में समान रूप से देखने को मिलता है। यहां उन्नत कृषि, सिंचाई सुविधाएं, उत्पादन-विपणन की कोई सुगबुगाहट तक नहीं है। आजादी के बाद पंचवर्षीय विकास योजनाओं में कितना भी दावा किया गया हो, किसान आज भी हर तरह से दीन-हीन, कर्जदार और सताया हुआ है तथा मजदूर वर्ग पीढ़ी-दर-पीढ़ी उस कर्ज को चुकाने में लगा हुआ है। वह सरकारी योजनाओं के द्वारा भी छला जा रहा है। यहां जाति-धर्म या वर्ण-सम्प्रदाय बाधा नहीं बनते हैं। 'सूनी घाटी का सूरज' के रामनाथ सिंह अपने ही सजातीय ठाकुर के द्वारा शोषित हैं। रामचरण भी इस शोषण का शिकार हैं। चैतुओं का शारीरिक शोषण तक किया जाता है। श्रमिकों के शोषण का वृत्तान्त 'सूनी घाटी का सूरज' में विस्तार से चित्रित है। 'अज्ञातवास' में किसान-जमींदार संबंध और सिंचाई व्यवस्था में व्याप्त विसंगतियों को चित्रित किया गया है। यहां तो जमीन हड़पने के षड्यंत्रों में सरकारी कारिन्दे भी जमींदारों और बड़े किसानों की सहायता करते हैं। बहरैची की जमीन इसी तरह से हड़प ली जाती है। इसी

की परिणति है कि गांव से लगातार पलायन हो रहा है। रजनीकान्त (अज्ञातवास) गांव से शहर चला जाता है। भ्रष्टाचार के नये दरवाजे भी इसी के भीतर से खुलते हैं। यहीं से वर्ग चरित्र में परिवर्तन होता है। 'पहला पड़ाव' में ईंट-भट्ठे में मेहनत करने वाले श्रमिकों के जीवन की अवस्था के मार्मिक प्रसंग आये हैं। इसी के साथ भवन निर्माण से जुड़े राजमिस्त्रियों की जीवन पद्धति का भी यथार्थ चित्रण यहां देखने को मिलता है।

श्रीलाल शुक्ल की पहचान भले ही 'राग दरबारी' अथवा व्यंग्य लेखन के कारण हो, पर उनके लेखन के क्षेत्र और दिशाएं व्यापक हैं। वे जासूसी तिलिस्मी कथानक की पृष्ठभूमि वाली रचनाओं के भी सर्जक हैं। 'आदमी का जहर' उपन्यास ऐसा ही है। इस उपन्यास का एक राजनीतिक आशय भी है। यहां चुनाव, अपराध, राजनीति और भोगवाद के संबंध हैं। यह आजादी के बाद की सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि है, जो कि श्रीलाल शुक्ल के करीब-करीब सभी उपन्यासों में देखने को मिलती है। संदर्भ, पात्र और घटनाओं के परिवर्तन द्वारा उपन्यासकार नवीनता की सृष्टि करता है। 'आदमी का जहर' में चुनाव और अपराध का गठजोड़ देखने को मिलता है। जसवन्त और बादशाह का मिलना ऐसा ही है। एक यदि भ्रष्ट राजनीति का अंग है तो दूसरा छंटा हुआ अपराधी। चुनाव जीतने के जितने भी हथकण्डे हो सकते हैं, उनकी बानगी इस उपन्यास में भी देखने को मिलती है। यहां हम 'राग दरबारी' के छंगामल कॉलेज की प्रबंध समिति के चुनाव को फिर याद कर सकते हैं और चाहें तो मैला आंचल के चुनावों को इन सबकी पृष्ठभूमि कह सकते हैं। 'आदमी का जहर' में पुलिस और हत्यारे भी देखने को मिलते हैं। यहां वासना, व्यभिचार और ब्लैक मेल के नये अध्याय जुड़ जाते हैं। यहां सफेदपोश महिला अपराधियों का नया रूप देखने को मिलता है। वीणा गहलोत ऐसा ही चरित्र है। महिलाओं के उत्थान के लिए काम करने वाली संस्थाओं और उनके कर्ता-धर्ताओं की ये गतिविधियां आज एक समानान्तर सत्ता और जायज-नाजायज व्यवसाय का प्रमुख केन्द्र बन गयी है। आदमी का जहर, तक आते-आते भ्रष्टाचार समाज सेवा के नये-नये क्षेत्रों तक पहुंच जाता है, चाहे वह चिकित्सा सेवा हो या पत्रकारिता। यहां तक कि इन क्षेत्रों में अलग-अलग तरह के गठबंधन बनने लगते हैं। राजनीति का अपराधीकरण हो जाता है। पीत और सनसनीखेज पत्रकारिता का जमाना आ जाता है। श्रीलाल शुक्ल का कथा साहित्य इस अर्थ में दूसरों से अलग दिखाई देता है कि वे अपने पाठकों को एक-एक कर लोकतंत्र के उन हिस्सों तक ले जाते हैं जो सामाजिक और नैतिक पतन के लिए जिम्मेदार हैं। यही कारण है कि उनके उपन्यास केवल वर्णन के रूप में हमारे सामने नहीं आते बल्कि वे एक्शन के रूप में भी हमें प्रेरित करते हैं।

श्रीलाल शुक्ल के उपन्यासों की मूल पृष्ठभूमि ग्राम समाज है यद्यपि नगरीय जीवन की भी सभी छवियां यहां देखने को मिलती हैं। आज के समकालीन उपन्यास ग्राम समाज के जीवन से शून्य होते जा रहे हैं, फलतः वे अपनी समस्त क्षमताओं के बावजूद पाठकों से भी दूर होते जा रहे हैं, आज भी गोदान, मैला आंचल या आधा गांव और राग दरबारी जैसे उपन्यास हमारी चेतना को सबसे अधिक प्रभावित करते हैं। इसलिए श्रीलाल शुक्ल के उपन्यासों के इस ग्राम्य परिवेश को फिर से खोजना होगा। आज तो बहुत कुछ बदल चुका है और इस बदलाव को अभी रचना का विषय बनना बाकी है। काशीनाथ सिंह के उपन्यास 'रेहन पर रग्घू' में इसे स्पर्श किया गया है। भ्रष्टाचार और अनीति की गंगा आज सब जगह बह रही है। श्रीलाल शुक्ल ने अपने उपन्यासों को इन्हीं विषयों से सम्बद्ध किया है।

श्रीलाल शुक्ल ने भूमि और कृषि से संबंधित बिनोवा भावे के भूदान आन्दोलन की पृष्ठभूमि में बिश्रामपुर का सन्त नामक महत्वपूर्ण उपन्यास लिखा है। यहां कृषि जीवन की विडम्बनाओं को विस्तार से चित्रित किया गया है। बिनोवा भावे के भूदान आन्दोलन की विफलताओं को भी यहां खोजा जा सकता है। यहां जयन्ती प्रसाद सिंह के माध्यम से अनेक तरह की महत्वाकांक्षाओं को विकसित होते देखा जा सकता है, जिनको अनीति की बुनियाद पर विकसित होते दिखाया गया है। जयन्ती प्रसाद को भूदानी नेता के रूप में विकसित कर उपन्यासकार ने स्वाधीन भारत के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक यथार्थ की नयी पर्तों को उद्घाटित किया है। जयन्ती प्रसाद सिंह ऊसर-बंजर जमीन को दान कर सत्ता की सीढ़ियों पर चढ़ते जाते हैं। वे बड़े जमींदार और स्वाधीनता सेनानी हैं। यहां विनोबा के आन्दोलन से एक नयी सीख और सोच चतुर लोगों को मिलती है। जयन्ती प्रसाद सिंह इसी नीति का प्रयोग करते हैं। मिश्रित शासन, मिश्रित अर्थ व्यवस्था और मिश्रित विचारधाराओं के सम्बन्धों की ओर भी लेखक ने ध्यान दिया है। यही कारण है कि उपन्यास में विरोधी विचारों के बीच भी समानता के आधार और सामंजस्य की युक्तियों की खोज की गयी है। यहां आधुनिक भारत में अब तक प्रयोग किये गये सभी सामाजिक प्रयासों को भी रेखांकित किया गया है। यहां भूदान आन्दोलन, अन्त्योदय आन्दोलन, सहकारी आन्दोलन, सर्वोदय आन्दोलन तथा गांधीवाद, साम्यवाद और लोहियावाद को खंगाला गया है। वस्तुतः बिश्रामपुर का सन्त भी गोदान की परम्परा का उपन्यास है, जहां भारतीय किसान और भारतीय ग्राम समाज की खूबियों और खराबियों की पहचान की गयी है। इसके लिए लेखक ने भूदान आन्दोलन की पर्तों को उलटा है। कहीं-कहीं गांधी और बिनोवा के वैचारिक संबंधों और अन्तर्विरोधों को भी खोजा गया है 'आचार्य बिनोवा भावे मामूली संत नहीं हैं। उन्होंने भूदान आन्दोलन नाम के हथियार की ईजाद की है। उसके पहले ही वार में एक तरफ तेलंगाना में साम्यवाद अधमरा होकर रह गया, दूसरी तरफ बिहार और उत्तर प्रदेश में गांधीवाद के हाथ-पांव टूट गये।' वस्तुतः उपन्यासकार अपनी रचना को व्यापक संदर्भों से जोड़ना चाहता है। इसी के साथ वह समस्याओं के मूलस्रोत तक जाना चाहता है। वह किसान, जमीन और गांव को जानना चाहता है। जिस तरह से प्रेमचन्द का किसान सताया जाता है, इसी तरह से श्रीलाल शुक्ल का भी किसान सताया जाता है, तभी किसान राम लोटन कहता है—'आदमी से मैं नहीं डरता मालिक, न बाघ बघर्रा से। डर मुझे कागज से लगता है। कागज ने हमारी जमीन कैसे ले ली, मैं नहीं जानता। सारी बात मंत्रीजी जानते हैं। वही बतायेंगे।' लेखक ने

ग्रामीण जीवन की स्थितियों को जिस तरह से बिश्रामपुर का सन्त में चित्रित किया है, वैसा प्रेमचन्द ने भी किया है। यहां लेखक के अनुभव जगत और प्रत्यक्षीकरण को सफलता मिली है। किसान से मजदूर बनने की प्रक्रिया यहां भी किसी-न-किसी रूप में उपलब्ध होती है। यहां भी किसान और श्रमिकों का गांव से शहर की ओर पलायन है। यहां जयन्ती प्रसाद सिंह जैसे भ्रष्ट और पाखण्डी नेता को हमारी पत्रकारिता बिश्रामपुर का सन्त घोषित करती है। शिक्षा का पिछड़ापन और हमारे राजनेताओं की मक्कारी गांव के जीवन को नरक बना रही है। हमारे समाज के नियंता सामाजिक नव निर्माण और समाज सुधार की बातें करते हुए किस तरह से अपना वैयक्तिक उत्थान करते हुए, विलासिता का जीवन जीते हुए समाज को रसातल और पतन के रास्ते पर ले जा रहे हैं, 'बिश्रामपुर का सन्त' इन सभी तथ्यों पर रोशनी डालता है। श्रीलाल शुक्ल राजनीति को हर तरह से दोषी मानते हैं। जयन्ती प्रसाद सिंह के स्वाधीनता सेनानी से राज्यपाल तक की चरित्र यात्रा इसी राजनीति के पतन की यात्रा है। राजनीति के साथ विलासिता का संबंध यहां भी बदस्तूर जारी है। भोगवाद यहां भी अपने चरम पर है। यह आत्महत्या का कारण भी बनता है।

श्रीलाल शुक्ल के उपन्यासों में स्त्री-पुरुष संबंधों की कई व्याख्याएं देखने को मिलती हैं, पर सर्वत्र इन्हीं सम्बन्धों का विस्तार देखने को मिलता है जो भोग और वासना पर आधारित हैं तथा अनैतिक भी। इससे अलग हटकर स्त्री-पुरुष संबंधों के रूप बहुत कम देखने को मिलते हैं।इसका क्या कारण हो सकता है, यह तो खुद लेखक ही बेहतर तरीके से बता सकता है। प्रेमचन्द और रेणु या राही मासूम रजा के कथा साहित्य में स्त्री-पुरुष संबंधों तथा स्त्री के विविध रूप को सहजता के साथ देखा जा सकता है। वस्तुतः श्रीलाल शुक्ल ने एक वर्ग विशेष और समाज विशेष के स्त्री-पुरुष संबंधों को अपनी रचनाओं में प्रमुखता से प्रस्तुत किया है। उन्हें इसमें अपेक्षित सफलता मिली है, तो प्रामाणिकता भी। बिश्रामपुर का सन्त में भी स्त्री की महत्वाकांक्षाओं को बढ़ाने में राजनीति और उसके आन्दोलनों की विशिष्ट भूमिका है। सुन्दरी का चरित्र ऐसा ही है। वह भूदान आन्दोलन के माध्यम से आगे बढ़ती है, अविवाहित जीवन बिताती है और जयन्ती प्रसाद सिंह तथा इनके बेटे के निकट आती है। निश्चय ही इसी त्रिकोण में जयन्ती प्रसाद सिंह आत्महत्या करते हैं। सुन्दरी की जीवनगाथा के अनेक पक्ष हैं और वह कहीं से भी कमजोर नहीं लगती। सुन्दरी और विवेक के मध्य संवादों से इसे जाना जा सकता है।

श्रीलाल शुक्ल के उपन्यासों में सामाजिक और राजनीतिक चेतना की विशिष्ट भूमिका है। स्वाधीनता के बाद के भारत को विशेषतः उत्तर भारत को उनकी रचनाएं अपना क्षेत्र बनाती हैं। वे अलग तरीके से चरित्रों की सृष्टि करते हैं। वस्तुतः उनके उपन्यास चरित्र प्रधान उपन्यास हैं। केन्द्रीय चरित्रों के इर्द-गिर्द वे घटनाओं को बुनने की कला जानते हैं। फलतः घटनाएं और चरित्र आपस में संग्रहित हो जाते हैं और अपना स्थायी प्रभाव डालते हैं। रंगनाथ हो या जयन्ती प्रसाद सिंह सभी अपनी जगह महत्वपूर्ण हैं। श्रीलाल शुक्ल ने जहां ग्रामीण जीवन की विसंगतियों, विडम्बनाओं और अन्तर्विरोधों को प्रस्तुत किया है, वहीं उन्होंने राजनीति और प्रशासन की विकृतियों को भी इसी सिद्धांत के साथ प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्वाधीन भारत के विकसित हुए नये-नये सत्ता द्वीपों को भी अपनी जद में लिया है और इस तरह से स्वाधीन भारत की लोकतांत्रिक संस्थाओं और व्यवस्थाओं के अलोकतांत्रिक चरित्र को उद्घाटित करने में सफलता पाई है। निश्चय ही हिन्दी उपन्यास की सशक्त परम्परा में श्रीलाल शुक्ल के उपन्यासों का स्थान सुरक्षित रहेगा।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

. . .पृष्ठ-118 का शेष

वह उसी अंधेरी और सुनसान घाटी में उतरने का फैसला करता है जहां उसकी सर्वाधिक आवश्यकता है। 'सूनी घाटी का सूरज' वह कृति है जो सामाजिक द्वंद्व की वास्तविकता से न केवल परिचित कराती है बल्कि वैचारिक दिशा का संकेत कराती है। शुक्ल जी उन प्रवृत्तियों को प्रकाश में लाकर खड़ा कर देते हैं जो आक्रोश की जमीन तैयार करती है।

आजादी के पूर्व कथा सम्राट प्रेमचंद के 'गोदान' उपन्यास में हम ग्रामीण जीवन की तस्वीर देखते हैं तो आजादी के बाद के ग्रामीण जीवन का चित्र हमें श्रीलाल जी के व्यंग्य उपन्यास 'राग दरबारी' में देखने को मिलता है। प्रेमचंद के गंवई जीवन शैली में कुछ हद तक गुणात्मक परिवर्तन आ गया है। अब हल-बैल की जगह ट्रक और ट्रैक्टर है। धोती-कुर्ता की जगह फुलपेंट और शर्ट है। लेकिन बोलचाल की भाषा और शैली में खास बदलाव नहीं आया है। 'राग दरबारी' में शुक्ल जी ने जिस तरह व्यंग्य के अनुरूप ग्रामीण शब्दों का इस्तेमाल किया है वह अपने आप में अनूठा है। यही नहीं वे सम्पूर्ण वर्तमान व्यवस्था के उभरते चरित्र की तस्वीर भी प्रस्तुत करते हैं। हंसते-हंसाते चुभते शब्दों के साथ। कुछ एक बानगी के रूप में हम प्रस्तुत करना चाहते हैं। (देखें राग दरबारी पृष्ठ-8 पर) 'घरघराकर ट्रक चला। शहर की टेढ़ी-मेढ़ी लपेट से फुरसत पाकर कुछ दूर आगे साफ और बीरान सड़क आ गयी। यहां ड्राइवर ने पहली बार टॉप गियर का प्रयोग किया, पर वह फिसल-फिसल कर न्यूट्रल में गिरने लगा। हर सौ गज के बाद गियर फिसल जाता है और एक्सिलेटर दबे होने से ट्रक की घरघराहट बढ़ जाती रफ्तार धीमी हो जाती है। रंगनाथ ने कहा- 'ड्राइवर साहब, तुम्हारा गियर तो बिल्कुल अपने देश की हुकूमत जैसा है' यहां हम व्यंग्य की धार और मार देखते हैं। एक पंक्ति व्यवस्था के चरित्र को उजागर कर देती है। जरा प्रशासनिक अधिकारियों के एक पात्र को देखें- 'दरोगा जी किसी को भुनभुनाते हुए गाली देने लगे। थोड़ी देर में उनका यह मतलब निकला कि काम के मारे नाक में दम है। इतना काम है कि अपराधों की जांच नहीं हो पाती, मुकदमों का चालान नहीं हो पाता, अदालतों में गवाही नहीं हो पाती। इतना काम है कि सारा काम ठप्प पड़ा है।'

सचमुच देश ही ठप्प पड़ा है, यह है व्यंग्य का संकेत।

बिरसानगर रोड नंबर-2, जोन नंबर-2
जमशेदपुर-831004 (झारखंड)

रमेश तिवारी

श्रीलाल शुक्ल की रचना-दृष्टि

श्रीलाल शुक्ल की रचनादृष्टि उनकी जीवनदृष्टि से निर्मित है। वह जिस तरह जीवन को देखते-समझते हैं वह दृष्टि उनकी रचनाओं में देखी जा सकती है। श्रीलाल शुक्ल का रचना संसार बहुत विस्तृत है। उनका रचना संसार विस्तृत इसलिए भी है क्योंकि उनका अनुभव संसार विस्तृत है। उनके अनुभव से जीवनसंसार के विविध अनुभवों को निकाल दीजिए तो न उनकी जीवन दृष्टि की व्यापकता का पता चलेगा और न ही रचनादृष्टि की व्यापकता का। लेखक या रचनाकार अपनी रचना के लिए किस प्रकार के विषय चुनता है, इससे उसकी रचनादृष्टि का पता चल सकता है। श्रीलाल शुक्ल लिखते हैं 'जिंदगी की असाधारण संभावनाओं को समझते हुए भी मैं सीधी-सादी साधारण जिंदगी की कद्र करता हूं' यह उनकी रचनादृष्टि का मूल है। जिंदगी में सिर्फ असाधारण या साधारण ही नहीं होता है इससे इतर भी बहुत कुछ होता है किन्तु लेखक को सीधी-सादी साधारण एवं सामान्य जिंदगी ही रास आती है। ऐसा क्यों है? इस पर गंभीर विवेचन-विश्लेषण आवश्यक है। मेरी समझ में जो कारण हैं उनमें एक तो यह कि साधारण जिंदगी में कृत्रिमता नहीं होती है उनमें बनावट की संभावना नहीं होती है। दूसरा यह कि भारतीय समाज का 70-80 प्रतिशत साधारण एवं सामान्य है जो गांवों-कस्बों में रहता है। अभिप्राय यह है कि 70-80 प्रतिशत आबादी के सहज-सरल जीवन और उनके अनुभव लेखक को सृजन की प्रेरणा के साथ-साथ विषय प्रदान करते हैं। इन तथ्यों के आलोक में हम देखते हैं कि श्रीलाल शुक्ल के जीवन एवं साहित्य के सरोकार आम आदमी से जुड़े हैं। उन्होंने 'तलाश जारी है आम आदमी की, शीर्षक से एक लेख लिखा है। वे लिखते हैं 'वास्तव में आम आदमी को पहचानने का काम, मेरा मतलब है कि राजनीति, समाजशास्त्र, साहित्य और कला आदि के स्तर पर आम आदमी को पहचानने का काम इतना असान नहीं है, बल्कि ऐसा भी है कि शताब्दियों से कला और साहित्य के क्षेत्र में जो रूढ़ियां पनपी हैं उन्होंने आम आदमी की पहचान को और भी मुश्किल बना दिया है।' दरअसल जिधर देखिए उधर आम आदमी मिल जाएंगे। इतने बड़े देश में आम आदमी की कमी नहीं है किन्तु अब तक राजनीति, समाजशास्त्र, साहित्य एवं कला के क्षेत्र में जो रूढ़ियां पनपी हैं, उसने आम आदमी की तलाश को मुश्किल कर दिया है। क्योंकि इन रूढ़ियों ने उसे धकेल कर हाशिए पर फेंक दिया है राजनीति, समाज, साहित्य और कला उससे कोसों दूर है, इनमें आम आदमी की चर्चा तो है लेकिन आम आदमी नदारद है।

इस क्रिया में श्रीलाल जी इतिहास की यात्रा करते हैं उसमें वह आम आदमी को तलाशते हैं। वे कहते हैं– 'एक जमाना था जब राजा ईश्वर का अंश माना जाता था और पूरा समाज राजा, सामंत, प्रजा और दासों के वर्ग में बंटा हुआ था। उस समाज में ये सब थे पर आम आदमी नहीं था। आम आदमी इसलिए नहीं था कि सामाजिक जीवन में उसे कहीं भी सामूहिक स्तर पर आत्म निर्णय का हक नहीं था।' यानी आम आदमी सामाजिक जीवन में भी सामाजिक नहीं माना गया, स्वीकारा गया। बाद में ऐतिहासिक प्रक्रिया में जब समाजवाद की प्रतिष्ठा हुई तो आम आदमी का चेहरा बार-बार स्टेज पर आने लगा। पर श्रीलाल जी के अनुसार 'बहुत जगहों पर समाजवाद या तो सिर्फ नारे की तरह या मुखौटे की तरह इस्तेमाल हो रहा है और उसके प्रभाव से स्टेज पर आम आदमी का चेहरा जो बार-बार सामने आता है, वास्तविक चेहरा नहीं है वह भी एक मुखौटा है।' इसलिए वाद कोई हो आम आदमी तक पहुंच नहीं पाया है आम आदमी किसी भी कद में मुखौटे से ज्यादा कुछ नहीं। मुखौटा हटाए बिना आम आदमी की तलाश संभव नहीं। दुनिया का सारा साहित्य, कलाएं, दर्शनशास्त्र, विज्ञान यह सब आम आदमी के लिए नहीं बल्कि खास आदमी के लिए लिखा जाता रहा है। बेशक उसके लिखने वाले आम आदमी ही क्यों न हों। श्रीलाल कहते हैं कि आम आदमी की तलाश तब तक शायद कामयब न होगी जब तक आप खुद खास आदमी बनकर किसी ऊंची मीनार में बैठे हों। आम आदमी को खोजने के लिए आप को खुद आम आदमी बनकर ठोस जमीन पर आना होगा।' यही कारण है कि श्रीलाल शुक्ल सामान्य एवं साधारण जिंदगी की कद्र करते हैं और आजीवन आम आदमी की तलाश एवं उसकी प्रतिष्ठा के लिए साहित्य कर्म करते हैं। यही कारण है कि उनका लेखन 'लघुता की महागाथा' के रूप में पहचाना गया है।

आम आदमी की पक्षधरता के साथ ही श्रीलाल शुक्ल साहित्य की जन पक्षधरता की वकालत करते हैं और कहते हैं, साहित्य का समाजोन्मुखी होना ही काफी नहीं है, यह भी जरूरी है कि वह लोकमंगल की अवधारणा का पोषक हो।' यही लोकमंगल उनके सृजन कर्म का मूल आधार है, उनकी रचनाधर्मिता का उत्स है। हालांकि श्रीलाल जी नौकरी पेशा व्यक्ति थे। देखा जाय तो मध्यवर्गीय सफलता का जीवन जीते रहे किन्तु उन्होंने कभी आर्थिक समृद्धि एवं सुरक्षा का अनुभव नहीं किया। उनका विद्यार्थी जीवन अभावग्रस्त, मेहनत एवं चिंताओं से भरा रहा। उन्होंने गांव और गरीबी का प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया था। अवध के किसान की जिंदगी को बहुत निकट से और खुली आंखों से देखा है। किस तरह बच्चों को गरीबी जल्दी ही सयाना बना देती है यह जान लिया था उन्होंने। 'छः वर्ष की उम्र में ही उन्होंने

जान लिया था कि गन्ना पैदा करने और गुड़ बनाने वाले किसान के बच्चों के खाने के लिए गुड़ नहीं होता। वह सारा-का-सारा बिक जाने के लिए होता है फिर भी किसान का लगान चुका नहीं जाता और खेत हाथ से निकल जाते हैं।' यह कोई जरूरी नहीं है कि जीवन को अभावों में बिताने वाला व्यक्ति गर कुछ दिनों के लिए सुख पा लेता है तो अभावग्रस्त जीवन का अनुभव मिट जाएगा या उसका अनुभव ही नहीं रहेगा। प्राय: भारतीय समाज के ग्रामीण परिवेश एवं किसान परिवार में सुख थोड़े दिन के लिए ही होते हैं शेष अभाव में ही गुजर जाते हैं। श्रीलाल जी की एक आत्मस्वीकृति है जिसमें वे कहते हैं 'प्रकटत: लखनऊ के हैसियतदार मुहल्ले में, एक मध्यवर्गीय मुहल्ले में रहते हुए मैं एक मध्यवर्गीय सरकारी अफसर की जिंदगी गुजार रहा हूं। पर एक पैर गरीबी के खेमे में है जिसे मैं जीवन के पूर्वार्द्ध में जान चुका हूं और दूसरा पैर सफलता के उस खेमे में है जो मेरे पास-पड़ोस में दिखाई देता है। और उन दोनों में से किसी भी खेमे में सुकून और अपनेपन का अनुभव नहीं कर पाता हूं।' यही पीड़ा और छटपटाहट लेखक के लिए बहुत बड़ी चुनौती है। इसलिए उनके लिए 'लेखन लेखनी विलास नहीं बल्कि लिखने की मजबूरी है।' 60 के दशक की सामाजिक स्थिति का वर्णन वे यूं करते हैं जमींदारी टूटने का यह नतीजा तो नहीं निकला कि 'चमरही गांव के भीतर समा जाती या वहां ढंग के दो-चार कुएं और मकान बन जाते पर इतना तो हो ही गया कि किसी के निकलने पर पहले जैसा गॉड ऑफ ऑनर न दिया जाए।' जिस यथार्थ का अवलोकन श्रीलाल शुक्ल ने किया है वह उन्हें बेचैन कर देने वाला है, यही लेखक या रचनाकार की अकादमिक ईमानदारी है वही उद्देश्य बनकर उन्हें लेखनी विलास से रोकता है। इसलिए वह लिखने की मजबूरी बन जाता है। आजादी के बाद तमाम राजनीतिक दल, पार्टियां पंचवर्षीय योजनाएं, सरकारी रियायतें-घोषणाएं, तमाम नियम, कानून, कोर्ट कचहरी, न्याय किसके लिए? भारतीय ग्रामीण समाज के लिए इसके क्या मायने हैं? यह सब खोखला साबित होता है। जिसे श्रीलाल शुक्ल करीब से देखते हैं। उनके रचना-संसार में दलित, शोषित समाज की पीड़ा और छटपटाहट कपोल कल्पना नहीं बल्कि करवटें लेते दलित जीवन की सामाजिक-आर्थिक सच्चाई है। ग्रामीण और किसान जीवन की महागाथा कहता 'राग दरबारी' दरबार का राग है। सुवास कुमार लिखते हैं– 'परिवर्तन और विकास के आधुनिक चिह्नों को भी मध्यकालीन भ्रष्टता में जो व्यवस्था बदल रही है वस्तुत: वह बद्धमूल सामंती मानसिकता वाली है और वह मानो संपूर्ण राष्ट्रीय परिदृश्य को बड़े से बेडौल आइने में तब्दील किए दे रही है। ऐसी हालत में व्यंग्यकार अपना तीव्र असंतोष जाहिर करते हुए इस व्यवस्था को लगातार, मुंह बिराता जा रहा है। यह मुंह बिराना समन्वयवादी होना नहीं बल्कि गहरा असंतोष होना है, इसलिए यह लिखने की मजबूरी बन जाता है।

श्रीलाल शुक्ल सरकारी अमले में कार्यरत रहे, वे चाहते तो अन्य सरकारी अफसरों की तरह इसे 'डाइल्यूट' और 'डाइवर्ट' कर देते। इतने पढ़े-लिखे भी थे कि इसे बौद्धिक विलास में बदल देते किन्तु वे ऐसा जानबूझकर नहीं करते। यह उनकी अकादमिक ईमानदारी और सामाजिक प्रतिबद्धता का सबसे बड़ा प्रमाण है।गांधी जी का जंतर जिसमें दिया गया मंत्र हो अथवा उनके अंतिम आदमी की आंखों में आजादी देखने का सपना हो। उनकी मृत्यु के उपरान्त नेहरू के संसदीय जनतंत्र में वह दिखाई ही नहीं पड़ता। देश की गरीबी और गरीब को इस तरह प्रोजेक्ट किया गया कि जैसे देश में समानता, भाईचारा की लहर दौड़ गई किन्तु यथार्थ में ऐसा कुछ नहीं हुआ। सिर्फ सरकारी कागजों और फाइलों में विकास दिखाया गया जबकि समाज उसी पुराने ढर्रे पर चलता दिखाई पड़ता है। श्रीलाल शुक्ल इस सचाई को बखूबी जान रहे हैं, देख रहे हैं– उनका समूचा कथा-साहित्य, सारा रचना-संसार उसी का प्रत्याख्यान करता है। यही उनकी प्रतिबद्धता एवं जन पक्षधरता है। इस दृष्टि से उनका लेखन लेखनी विलास नहीं रह जाता।

भोग और उपभोग के वर्तमान माहौल में जहां सबकुछ दिखावा, प्रदर्शन तक सीमित हो, जहां लेखन लेखनी विलास बन जाए वहां इन सारे प्रपंचों से अपने को बचा पाना एक बहुत बड़ी चुनौती है। यह चुनौती वही स्वीकार कर सकता है जिसका सरोकार समाज के दबे-कुचले वर्गों से होगा। कहना गलत न होगा कि श्रीलाल शुक्ल के सरोकार समाज के ग्रामीण, किसान, मजदूर, श्रमिक, दलित एवं शोषितों से हैं। यही कारण है कि श्रीलाल शुक्ल आम आदमी को वरीयता देते हैं उसकी कद्र जीवन और साहित्य दोनों में करते हैं। 'हम्बग' से बचने-बचाने का उनका संकल्प सामाजिक प्रतिबद्धता के चलते है। वरना जिस तरह से मध्यवर्ग के बुद्धिजीवियों के बारे में राग दरबारी में पलायन संगीत लिखा गया है उसे भी ध्यान रखना चाहिए। श्रीलाल लिखते हैं– तुम मझोली हैसियत के मनुष्य हो और मनुष्यता के कीचड़ में फंस गये हो, तुम्हारे चारों ओर कीचड़ ही कीचड़ है। कीचड़ की चापलूसी मत करो, इस मुगालते में मत रहो कि कीचड़ से कमल पैदा होता है, कीचड़ से कीचड़ पनपता है। वही फैलता है, वही उछलता है– कीचड़ से बचो। यह जगह छोड़ो, यहां से पलायन करो। वैसे भी यह पलायन सत्ता सुख की खोज में, रोजी-रोटी की खोज में, शोषण-दमन से मुक्ति की खोज में गांव से शहर की ओर पलायन है। कीचड़ से निकलकर बहुत कुछ पाने, हासिल करने के लिए है। समाज का निम्न वर्ग ही नहीं मध्यवर्ग का रचनाकार, बुद्धिजीवी, नेता, दार्शनिक, आदि सभी पलायन करना चाहते हैं, करते भी हैं किन्तु श्रीलाल शुक्ल पलायन नहीं करते। वे चाहते तो पलायन कर सकते थे, किन्तु उनकी जनपक्षधरता, आम आदमी के प्रति उनकी प्रतिबद्धता उन्हें पलायन से रोकती है। समाज में जहां कहीं भी विद्रूप है, ईमानदारी से गहराई में जाकर श्रीलाल उसका चित्रण करते हैं। उनकी रचना दृष्टि के केंद्र में आम आदमी ही है।यहां यह कहना जरूरी है कि इस रचना दृष्टि की निर्मिति के लिए वे राजनीतिक लामबंदी को गैरजरूरी मानते हैं। यही दृष्टि श्रीलाल के लिए उनकी ताकत है और उनसे असहमत विद्वानों के लिए उनकी सीमा भी. . .।

श्रीलाल ने अभिव्यक्ति और चिंतन की स्वतंत्रता पर अपने से जुड़े सवालों के जवाब में सन् 1973 में ही स्पष्ट कर दिया था। उनका वह लेखन आज भी प्रासंगिक है।

उस लेख के अंतिम हिस्से में श्रीलाल कहते हैं 'व्यापार' सरकारी नौकरी या अर्थोपार्जन के ऐसे धंधे, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हमें राज-सत्ता पर आश्रित रखते हैं, सही-गलत के बारे में हमारी कल्पना को धीरे-धीरे पराश्रित बनाने लगते हैं। तब वे स्थितियां जिनसे किसी विस्फोट की संभावना निकल सकती थी, सिर्फ फाइल और कॉफी के प्याले पर होने वाली बहस का हिस्सा बन जाती हैं, कुव्यवस्था से चिपके रहने के कारण उसे व्यवस्था का सहज अंग मानने की आदत पड़ जाती है और संवेदना, जो सृजन की बुनियादी शर्त है, भोथरी पड़ने लगती है।' तात्पर्य यह है कि प्रतिष्ठान से संलग्नता का लेखन पर पड़ने वाले प्रभाव से श्रीलाल इनकार नहीं करते किंतु वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि 'इन खतरों का एहसास उनके बारे में थोड़ी सी भी सजगता अगर मुझमें रही तो मैं समझता हूं कि कुछ हद तक वह मेरे लिए रक्षाकवच का काम करती रही। इसी सजगता के ही सहारे किसी प्रतिष्ठान से संबद्ध होकर भी कोई रचनाकार, कोई लेखक, कोई स्वतंत्रचेता मनीषी कुछ हद तक अपने आपकी रक्षा कर सकता है। आगे लेखक की दृष्टि की चर्चा करते हुए श्रीलाल परिवेश की भूमिका स्वीकार करते हुए कहते हैं कि विशेष रूप से कोई भी भारतीय लेखक अपने परिवेश को– बल्कि अपने समसामयिक, तात्कालिक परिवेश को नजरअंदाज करके रचनात्मक लेखन नहीं कर सकता। उसे नजरअंदाज करना बड़ा कठिन होगा, चाहे वह प्रतिबद्ध लेखक हो या अप्रतिबद्ध। 'स्वयं मैं किसी लेखकीय संघ या संस्था का कभी सदस्य नहीं रहा, न हूं, वैसे समाज के आकलन के विषय में मैं शोषण-विरोधी विचारधाराओं से प्रभावित होते हुए भी किसी राजनीतिक सिद्धांत से आबद्ध नहीं हूं। . . .मेरे लेखन में (प्रतिबद्ध लेखकों की तुलना में) कोई मूलभूत अंतर नहीं है।

श्रीलाल ने लूकाच का उदाहरण देते हुए संवेदनाओं की महत्ता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि लेखक की संवेदनशीलता उसकी पक्षधरता पर कभी-कभी हावी पड़ जाती है, विशेषत: तब जबकि उसकी सैद्धांतिक परिस्थितियों के नग्न यथार्थ से, उनकी गहराई न मेल खाती हो। वे प्रेमचंद में भी इस प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हैं। उनका कहना है कि प्रेमचंद शुरू-शुरू में गांधीवादी थे, सुधारवादी थे, लगभग समझौतावादी थे। . . .पर प्रेमचंद की निजी सहानुभूति, संवेदना, शोषितों के साथ उनका तादात्म्य गांधीवाद से ज्यादा मुखर सिद्ध हुआ, उसका अवक्रमण कर गया। गांधी के प्रति उनकी श्रद्धा पीछे रह जाती है और कमजोर आदमी के प्रति उनका तादात्म्यभाव सबल होता जाता है। उनकी रचना प्रेमाश्रम में एक स्थान पर जहां गांधीवादी पद्धति का धरना और सत्याग्रह असफल हो जाता है वहां प्रेमचंद पात्र के माध्यम से कहते हैं। 'चलो, यह भ्रांति भी टूटी।' ध्यान रखना चाहिए कि इस स्थिति से गांधी के प्रति श्रद्धा खत्म नहीं होती। बस इतना है कि संवेदनात्मक धरातल पर उस समय की परिस्थिति के आकलन कथा चरित्र ज्यादा प्रखर है और गांधीवाद के प्रति प्रेमचंद की अवधारणा यहां कमजोर होती दिख रही है।

जो लोग प्रतिबद्धता, पक्षधरता को लेकर श्रीलाल की दृष्टिसंपन्नता पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं उन्हें इस लेख का यह वाक्य ध्यान से पढ़ना चाहिए 'सामाजिक परिस्थितियों के संदर्भ में अधिकांश समाजवेत्ता लेखकों को– और मुझको भी यह चुनाव करने में कोई कठिनाई नहीं हुई है कि मैं कमजोर के साथ खड़ा हुआ हूं। जो पहले से ही सशक्त है, (और जिन स्रोतों से उसने शक्ति प्राप्त की है, उन स्रोतों की मुझे पहले से ही जानकारी है।) उन सबको देखते हुए मैं उससे विपरीत खड़ा हुआ हूं। मेरे मन में उसके लिए कहीं-न-कहीं आक्रोश है। पाठक कह सकते हैं कि रचनादृष्टि की इस संपन्नता के बावजूद उन्हें घोषित रूप से प्रगतिशीलता या मार्क्सवादी धारा को अपनाने में परेशानी क्यों है? इस सवाल का जवाब भी श्रीलाल इसी लेख में आगे देते हुए कहते हैं कि मुझसे ज्यादा समर्थ कृतिकार भी हैं जो इस अमानवीय शोषण के खिलाफ खड़े होकर बिना किसी सैद्धांतिक आग्रह के, कमजोर का पक्ष लेते हैं और जो प्रतिक्रिया संवेदनात्मक आवेग से शुरू होती है, उसका पर्यवसान एक सैद्धांतिक आग्रह में होता है। श्रीलाल इस संवेदनात्मक अनुभव को तो स्वीकार करते हैं किंतु सैद्धांतिक प्रतिबद्धता को स्वीकार करने में घबराहट का अनुभव करते हैं। श्रीलाल के शब्दों में आजीवन एक सैद्धांतिक प्रतिबद्धता से मुझे घबराहट होती है। श्रीलाल के लिए लेखन एक स्वच्छंद क्षेत्र है, सीमाओं, आग्रहों या प्रतिबद्धताओं का नहीं। उनकी मान्यता है कि 'आखिरकार प्रतिबद्धता भी एक प्रकार से व्यक्तित्व का परिसीमन ही है।' बावजूद इसके उनकी दृष्टि में कोई दुविधा या ऊहापोह की संभावना नहीं है। वे कहते हैं किसी राजनीतिक आंदोलन का अंग न होते हुए भी मेरे मन में इस विषय को लेकर कोई ऊहापोह नहीं है कि इन दो व्यक्तियों में से मुझे किसके साथ खड़ा होना है।' इन पंक्तियों को पढ़ने के बाद श्रीलाल की रचना दृष्टि पर 'विजन' संबंधी अभाव का आरोप स्वयं खारिज हो जाता है। हालांकि श्रीलाल की दृष्टि मात्र यथार्थ की अभिव्यक्ति तक सीमित नहीं रहती, बल्कि यथार्थ को अन्वेषण पर भी बल देती है। इस क्रम में वे 'वी. एस. नॉयपाल की ऐन एरिया आफ डार्कनेस' पुस्तक में प्रेमचंद की साहित्य दृष्टि के विश्लेषण का अंश उद्धृत करते हैं। इसमें नायपाल प्रेमचंद को 'माइनर फैबुलिस्ट' (अदना नीति कथाकर) बताते हुए सारे भारतीय लेखन को 'अवसाद का साहित्य' (सैड लिटरेचर) कहते हैं, जहां उत्सव के अवसर पर, शादी-ब्याह के अवसर पर, मृत्यु के अवसर पर और तो और भोजन के अवसर पर (दोपहर का भोजन, कफन आदि) भी अवसाद की ही व्याप्ति है। श्रीलाल इस कारण के आधार में परिवेश की भूमिका को स्पष्ट करते हुए कहते हैं 'बीसवीं शताब्दी का शायद ही कोई अंग्रेजी लेखक हो– बढ़िया लेखक– जिसने उत्तम भोजन के सुखों-'गैस्ट्रोनामिक प्लेजर्स' पर अपने ग्रंथों में कुछ न कुछ नहीं लिखा हो। भुखमरा भारतीय साहित्य उसकी चेतना से बाहर है। . . .बहरहाल, जहां उत्तम भोजन और पेय का विवरण अपने आप में एक 'वैल्यू' हो, वहां यथार्थपरक भारतीय लेखन तो अत्यंत अवसादपूर्ण– 'सैड लिटरेचर' माना ही जाएगा। यानी परिवेश का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में सभी लेखकों को प्रभावित करता है और श्रीलाल स्वयं को भी

इससे अलग नहीं मानते। इसी संबंध में श्रीलाल यथार्थ की अभिव्यक्ति या यथार्थ–चित्रण से भी अधिक महत्त्वपूर्ण यथार्थ का अन्वेषण को मानते हैं।

भ्रष्टाचार या सामाजिक दुर्व्यवस्था को अभिव्यक्त करते हुए श्रीलाल उन तत्वों, कारणों का अन्वेषण करते हैं जो इस दुर्व्यवस्था को जीवन देते हैं। उनकी धारणा है कि 'यदि हम पूरे प्रकरण की चेतना में प्रविष्ट नहीं होंगे तो मात्र एक खबर पढ़ेंगे। किन्तु जैसे ही इस प्रकरण में कोई जीवंत मानवीय तत्व समाविष्ट हो जाएगा, वहीं हमारा पात्र एक 'टाइप' नहीं रहेगा, वह गृहस्थ में संघर्ष करता हुआ व्यक्ति बनकर हमारे आगे खड़ा हो जाएगा। और तब हमारी और उसकी वेव–लेंथ एक बनेगी, इसी प्रक्रिया को मैं 'यथार्थ का अन्वेषण' जैसे पद से अभिहित करता हूं।' इस पहचान के लिए किसी समाजशास्त्री अध्ययन की आवश्यकता नहीं है। बल्कि इसके लिए केवल साहित्यिक रूढ़ियों की काई हटाने और अपनी नजर से देखने की जरूरत है। लेखकीय परसेप्शन की, उसकी अपनी संवेदनशीलता के इस्तेमाल की जरूरत है। हिन्दी कथा–साहित्य में किसान को 'बेचारा' के रूप में प्रस्तुत करना 'रूढ़ि' हो गया था। इस रूढ़ि को श्रीलाल ने 'राग दरबारी' में छिन्न–भिन्न कर दिया है। इस पहल के खतरों से श्रीलाल स्वयं को बचा नहीं पाते और आलोचकों ने उनके इस पहल को 'सिनिकल दृष्टि' कहकर उपहास भी किया। बावजूद इसके श्रीलाल ने दिखाया कि गांव में मात्र 'होरी' (गोदान) नहीं रहते उसमें शिवपालगंज के गंजहे भी हैं जिनसे कोई रुपया दो रुपया तो दूर चवन्नी–अठन्नी भी ठगकर नहीं ले सकता है। छप्पर के नीचे विपन्नता में जीने वाले मात्र विलाप ही नहीं करते। उनकी परिहास प्रियता जीवन के प्रति उनकी सहजता, एक दूसरे की टांग खिचाई की प्रवृत्ति आदि भी देखी जा सकती है। श्रीलाल उनके जीवन से जुड़े यथार्थ के इन्ही पक्षों का अन्वेषण करते हैं। श्रीलाल इन पात्रों और गांवों को नए किन्तु असली रूप के साथ प्रस्तुत करने के बारे में कहते हैं 'वहां जिंदगी के हाशिए पर ढकेले हुए बहुत से 'मार्जिनलाइज्ड' पात्र अपनी–अपनी स्वतंत्र मुद्राओं में आपके सामने आते हैं और आपको सूचित करते हैं कि अगर आप अपना दृष्टिकोण बदल दें तो यही लोग आपको दिल्ली दरबार के कैबिनेट मंत्रियों जैसे दिखेंगे, उनकी मनोवृत्तियां, उनके वैल्यू सिस्टम एक जैसे हैं, सत्ता हाथ में आते ही ये दोनों समुदाय एक ही तरह से किसी हिचक के बिना उसका दुरुपयोग करेंगे, अपने वंश का प्रभुत्व बढ़ाने में जरा भी संकोच नहीं करेंगे और आज वे भले ही शिवपालगंज के हों, उतनी ही सहजता से वे कल दिल्ली में भी खप जायेंगे।' निष्कर्ष यह कि 'राग दरबारी' के द्वारा गंवार ग्रामीणों के सीधे–सादे–बेचारे वाली रूढ़ि को श्रीलाल ने पूरी तरह तोड़ा है।

इन तमाम तर्कों– विश्लेषणों के बावजूद कुछ ऐसे साहित्यप्रेमी हैं जो श्रीलाल की रचनाओं का 'शुक्ल पक्ष' नहीं देख पाते। इन सावन के अंधों को सब हरा–ही–हरा दिखता है। वे श्रीलाल की रचनाओं में 'कृष्ण पक्ष' ढूंढते फिरते हैं। बिना इस बात की चिंता किए कि है या उनकी 'दृष्टि' में! वे रचनाओं का मूल्यांकन अपने 'दृष्टि–विशेष' से करने में सिद्धहस्त हैं। श्रीलाल की रचनाएं उनकी इस आदत का स्वाद बिगाड़ती हैं। उनके द्वारा आलोचना के बंधे–बंधाये 'फ्रेम' को ध्वस्त करती हैं। श्रीलाल की ये दो महत्त्वपूर्ण विशेषताएं हैं– प्रत्येक रचना को दुहराव की स्थिति से बचाये रखना तथा रचना द्वारा आलोचना के परंपरागत प्रतिमानों की अपर्याप्तता को दर्शाना। आलोचना को ध्यान में रखकर रचना की जानी चाहिए या रचना को ध्यान में रखकर आलोचना! श्रीलाल की रचनाएं ऐसे कई सवाल खड़ा करती हैं। श्रीलाल रचना की मांग के अनुरूप आलोचना प्रक्रिया के हिमायती हैं। 'तद्भव' के प्रवेशांक में अखिलेश को दिए गए साक्षात्कार में उनकी यह धारणा दिखाई पड़ती है। एक बात और– जिस 'विजन' के अभाव को लेकर विद्वज्जन शोर मचाते हैं वह 'विजन' सिर्फ गले में पट्टा डालने से नहीं मिल जाता। अगर ऐसा होता तो चोटी के व्यंग्यकारों में परसाई 'अकेले' नहीं दिखाई पड़ते। तात्पर्य यह है कि दृष्टि संपन्नता दलगत राजनीति से ऊपर की चीज है। यह दृष्टिसंपन्नता जमीनी सरोकारों से जुड़कर प्राप्त की जा सकती है न कि गले में पट्टा डालकर घूमने से।

एक दौर वह था जब भारतीय व्यंग्यकार ने सहजता से यह कहने का साहस किया था– 'संतन को कहा सीकरी सो काम'। लेकिन आज का दौर ठीक उल्टा है, आज तो 'संत सीकरी में बड़े व्यस्त हैं'–(शरद जोशी)। महत्वपूर्ण बात यह है कि श्रीलाल 'सीकरी' की लालसा में अपने 'संत भाव' को नहीं छोड़ते। और इस तरह बदलते हुए दौर में भी विरासत की थाती' को संभाले रचनाकर्म में रत हैं। उन्हें मालूम है कि लेखन और जीवन में ईमानदारी के बगैर आप 'विजन' का ढोंग तो कर सकते हैं, 'विजन' के प्रति वास्तविक ईमानदारी नहीं बरत सकते। परसाई की बात करें तो परसाई जितना लेखन में ईमानदार अभिव्यक्ति के पक्षधर हैं उतना ही जीवन में भी। तमाम हिंसक–अहिंसक प्रतिरोधों के बावजूद न परसाई का व्यक्तित्व बदलता है और न लेखन की प्रतिबद्धता। वे आजीवन अपने पंथ और पक्षधरता से अविचलित हैं इसलिए वे अपवाद रूप में दिखाई पड़ते हैं। श्रीलाल परसाई के बिल्कुल निकट हैं। परसाई घोषित मार्क्सवादी हैं जब कि श्रीलाल मार्क्सवाद से प्रभावित होकर भी मार्क्सवादी नहीं हैं। मार्क्सवादी विचारधारा की शक्तियों का वे अपनी दृष्टिसंपन्नता में उपयोग करते हैं और इसकी सीमाओं से स्वयं को मुक्त भी रखते हैं। 'लकीर का फकीर' बनने की दृढ़ता उनमें नहीं मिलती। उनकी रचनाओं में उदारता (और एक हद तक वैष्णव भावना भी) मौजूद है जो आजीवन (यानी अब तक) उन्हें क्रांतिकारी नहीं बनने देती। उनका लेखन यथार्थ का अन्वेषण और यथार्थ की अभिव्यक्ति एक साथ करता है। धूमिल, मुक्तिबोध, परसाई, यशपाल, अज्ञेय आदि श्रीलाल के प्रिय रचनाकार हैं बावजूद इसके उनका लेखन अपना रास्ता स्वयं गढ़ता है। इस मायने में ये प्रेमचंद के यथार्थवाद से आगे बढ़कर यथार्थ का अन्वेषण करते हुए भी अज्ञेय के 'नई राहों के अन्वेषी' नहीं हैं बल्कि इनका लेखन इनकी एक अलग पहचान निर्मित करता है। इस दृष्टि से श्रीलाल हिन्दी साहित्य को समृद्ध करते हैं। यह श्रीलाल की उपलब्धि है और हिन्दी साहित्य की भी. . .।

64 बी, फेज–2, डी.डी.ए. फ्लैट
कटवारिया सराय, नई दिल्ली–110016

राधा दीक्षित

यहां से वहां

'यहां से वहां', श्रीलाल शुक्ल के बीस व्यंग्यात्मक निबंधों, स्केचों तथा कहानियों का संग्रह है। विभिन्न शैलियों में लिखी गई ये रचनाएं वर्तमान भारतीय समाज और चिन्तन की क्षुद्रताओं, कुंठाओं, विषमताओं और कुटिलताओं का विद्रूपात्मक चित्र प्रस्तुत करती हैं। व्यंग्य सहज और सटीक हैं, तीखे और बाशऊर हैं, यत्न-साध्य नहीं। लेखक का व्यंग्य क्षुद्र स्तर से पाठक को ऊपर उठाकर व्यंग्य की बौद्धिक बारीकियां समझने को विवश कर देता है।

संग्रह की प्रथम रचना 'लखनऊ' रिपोर्ताज शैली में है। आधुनिक महानगर के छद्मपूर्ण, दम्भी व नाटकीय जीवन, बांझ बुद्धिजीवी बहसों, शारीरिक व्यापार तथा ज्योतिषी व बाबा प्रेम जैसे धनाढ्यों के चोंचलों एवं पाखण्ड को उजागर करती यह रचना इस संग्रह की श्रेष्ठ रचनाओं में से है। 'एक हारे हुए नेता का इंटरव्यू' एक नये स्वर में देश-सेवा के नाम पर राजनीति करने वाले, जातिवादी सांप-सीढ़ी पर चढ़ने वाले तथा ज्योतिषी-अधीन नेताओं पर चुटकी है। 'जीवन का एक सुखी दिन' में एक अध्यापक के जीवन के माध्यम से आज के औपचारिकतामय जीवन पर व्यंग्य है। संग्रह की चौथी रचना 'एक खानदानी नौजवान' है जिसमें चिरंजीत नामधारी डाक्टर लड़कियों से फ्लर्ट करता है, उसकी नियुक्ति शहर से कुछ दूर स्थित एक गांव में होती है, वह रोज कार द्वारा शहर से गांव आने-जाने की बात सोचता है और इस हेतु दहेज में कार मिलने की लालच में मां-बाप के द्वारा बतायी गयी लड़की से विवाह को तैयार हो जाता है। 'भारतीय इतिहास का एक स्वर्णिम पृष्ठ' में वर्तमान व्यवस्था द्वारा साहित्य, संगीत तथा कला के उन्नयन हेतु किये गये कार्यों और उनमें व्याप्त सार्वजनिक अपव्यय वृत्ति तथा दिशाहीनता पर चोट है।

संग्रह की छठी रचना 'एक पद्मभूषण का अभिनंदन' में संस्थाओं-समितियों के माध्यम से निजी हित साधन पर कटाक्ष है। 'खलनायक की कहानी' में प्रमोद-लता के माध्यम से आज के युवक-युवतियों के रोमानी प्रेम पर व्यंग्य है। लता का विवाह बाद में विनोद से हो जाता है। प्रमोद-विनोद की इस बहस के साथ कि कहानी का नायक-खलनायक कौन है, कहानी समाप्त होती है। 'हम बहशी नहीं हैं: एक परिसंवाद' में दो मित्रों के संवाद के माध्यम से अंग्रेजों से उत्तराधिकार में प्राप्त सड़ी-गली व दीर्घसूत्री न्याय व्यवस्था पर आक्षेप है। 'यहां से वहां' में दर्शाया गया है कि किस प्रकार एक स्टेडियम के पास एक के बाद एक 'श्री जनता होटल', होजरी-सिलाई की दुकानें तथा डिस्पेन्सरी खुलती है तथा आगे चलकर किस प्रकार डिस्पेन्सरी की दो नर्सों के आकर्षण से वह स्थान गुलजार हो जाता है। 'भगोड़े: पत्नीवादी साहित्य का एक नौसिखिया प्रयास' में चार दृश्यों मे माध्यम से पत्नी के अतिशय प्रेम से ऊबे दो व्यक्तियों द्वारा तीन दिन के लिए अज्ञातवास में चले जाने का वर्णन है।

'नसीहतें' में एक बुजुर्गवार की अयाचित नसीहतों पर, 'हमारे विचित्र पशु-पक्षी' में जिंदा अजायबघर में भ्रमण कर रही महिला, उसके पति तथा अन्य व्यक्तियों की मनोवृत्तियों पर, 'बेचारे डाकू' में डाकू हमले के फलस्वरूप उत्पन्न पुलिस तथा ग्रामीणों के भ्रष्ट आचरण पर, 'जैसी करनी वैसी भरनी: एक बोध कथा' में एक बोध कथा के माध्यम से घूसखोरी तथा लालची प्रवृत्ति पर तथा 'मृत्यु: एक दिग्दार्शनिक निबंध' में हार्ट फेल, दिमाग की नसें फट जाने या हवाई दुर्घटना में हुई मृत्यु को स्टेटस सिम्बल बताते हुए आभिजात्य प्रतीकों पर व्यंग्य किया गया है।

संग्रह की सोलहवीं रचना 'देवता-पुराने और नये' में एक देव-मंदिर में विभिन्न प्रकार के भक्तों का चित्रण है। मंदिर में जब अमरीकी शान्ति सेना के तीन नौजवान तथा एक तरुणी का प्रवेश होता है, तो भक्तगण अपने देवताओं को छोड़कर इन नये देवताओं की ओर आकर्षित हो जाते हैं और तब तक उनके पीछे लगे रहते हैं जब तक कि वे पास के विलायती शराबखाने पर जाकर अन्तर्धान नहीं हो जाते। 'एक मुकदमा' में कवि-स्वभाव तथा न्यायालय के निर्णयों पर चुटकी है। 'कुत्ते और कुत्ते' में खुशामदी व्यापारियों तथा उनके खुशामदी उकसावे में जाकर अकस्मात् कुत्ता प्रेमी बने इन्कम टैक्स महकमे के एक उच्च अधिकारी पर करारी चोट है। 'भविष्य-निर्माण का कारखाना' में एक कैफे में जमा चार कोटि के लोगों—नेता, जनता, पुलिस तथा विद्यार्थी की दिशाहीनता, विवेकहीनता तथा उत्तरदायित्वहीनता पर कटाक्ष है। संग्रह की अंतिम रचना 'एक शरीफ दोस्त के नाम चार पत्र' में चार पत्रों मे माध्यम से क्रमश: विदेश-भ्रमण तथा उसके संस्मरण लिखे जाने की ललक पर (विदेश भ्रमण पर), रेलयात्रियों तथा भ्रष्ट राजनेताओं पर (राजनीति और रेलगाड़ी पर), परिचय के अभाव में कहीं भी कार्य न करने की प्रवृत्ति पर (अपने आदमियों पर) तथा एक कलाकार की मृत्यु पर होने वाली शोक-सभा की कोरी औपचारिकता पर (एक शोक-प्रस्ताव पर) व्यंग्य है।

'यहां से वहां' संग्रह की रचनाओं का मूल स्वर व्यंग्य है। अधिकांश रचनाओं में कूट-कूट कर व्यंग्य भरा है। 'लखनऊ' रचना में आधुनिक भक्तों की मनोवृत्तियों का अत्यंत सूक्ष्म विवेचन हुआ है, जैसा कि निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट है:

'कुछ पैंट-कमीज वाले बाबू लोग झेंप-झेंपकर हनुमानजी को प्रणाम कर रहे थे। कुछ बिना झेंपे हुए, उन्हें प्रसाद चढ़ाकर, तिलक लगवाकर हमें चुनौती-सी देते हुए आगे बढ़े जा रहे थे। मैं भारतीय तटस्थता

की नीति से चुपचाप खड़ा था।'

'दो-तीन ऐंग्लो इंडियन लड़कियां फुटपाथ पर खड़ी होकर हनुमान जी को घूरने लगीं।' जवाब में हनुमान जी के भक्त लड़कियों को घूरने लगे।

'एक खानदानी नौजवान' रचना में दो छोटे संवादों के माध्यम से देश की नियतिवादी मनोवृत्ति पर लेखक ने चुटीला कटाक्ष किया है:

'तुम किस्मत को मानते हो?'

'क्यों न मानूं? क्या मैं हिन्दुस्तानी नहीं हूं?'

लेखक ने आज की व्यवस्था पर कितनी गहरी चोट की है और उसकी व्यंग्य विधा पर कितनी मजबूत पकड़ है, इसे सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित उदाहरण पर्याप्त होंगे:

'पहले दस मिनट तक दोनों में वही बात चलती रही जिसे देसी कहानीकार प्रेम प्रकट करने का कोड वर्ड मानते हैं। यानी दोनों एक-दूसरे से इसरार करते रहे कि उन्हें एक दूसरे को 'आप' नहीं, 'तुम' कहना चाहिए।'

(खलनायक की कहानी)

'दूसरी मेज पर पुलिस के कुछ सिपाही हैं। वे वहां पर न जाने क्या समझकर, या हो सकता है कि बिना कुछ समझे हुए ही, अकड़कर बैठे हुए हैं। खाने-पीने से उनका कोई मतलब नहीं है। वे वहां पर हैं और उनका होना भर अपने-आप में एक घटना है।'

(भविष्य निर्माण का कारखाना)

'मिठाइयों की रक्षा मक्खियां कर रही थीं, मक्खियों की रक्षा अहिंसा कर रही थी।'

(एक शरीफ दोस्त के नाम चार पत्र)

'ये उनमें हैं जो शराफत नहीं छोड़ते और शराफत में ही नौकर को अपना बाप और बाप को अपना नौकर बना सकते हैं।'

एक शरीफ दोस्त के नाम चार पत्र

श्रीलाल शुक्ल यद्यपि गद्य के लेखक हैं, परंतु उन्होंने कहीं-कहीं गागर में सागर भर दिया है। 'जैसी करनी वैसी भरनी' नामक रचना में एक ही वाक्य में उन्होंने भूरे साहबों की संस्कृति का वह खाका खींचा है जो संभवत: दसियों वाक्यों में भी न हो पाता, 'भूरेशाहों की बस्ती नयी है—कोटा-परमिट, योगक्षेम वहाम्यहम्, इन्कम टैक्स की चोरी, सिफारिश, परद्रव्येषु लोष्ठवत्, भतीजावाद, वसुधैव कुटुम्बकम्, काल गर्ल्स, समाजवादी समाज के ढांचे, और हाउसिंग स्कीमों की उपज।' लेखक की वर्णन शैली अद्भुत है। 'नसीहतें में एक बुजुर्ग, सज्जन व्यक्तित्व का अत्यंत सूक्ष्म व रोचक खाका खींचा गया है।:

'वे एक संक्षिप्त से महापुरुष थे। खानसामों की-सी पतलून, टेनिस कालर की कमीज, जवाहरकट जैकेट, चन्द्रशेखर आजाद की डंक-मार्का मूंछें, अबुलकलाम आजाद की दाढ़ी, शेख अब्दुल्ला वाली टोपी।'

लेखक ने नयी उपमाओं, नये प्रयोगों तथा नये ढंग की प्रस्तुति पर बल दिया है। निम्नलिखित उदाहरणों में नयी, सटीक उपमाएं मिल जायेंगी:

भावों की अभिव्यक्ति देने के लिए, अधिकाधिक संप्रेषणीयता लाने के लिए कहीं-कहीं अत्यंत कलात्मक एवं अजुबे प्रयोग हुए हैं। 'भगोड़े : पत्नीवादी साहित्य' नामक रचना में एक परेशानहाल दोस्त का चित्रण यों हुआ:

'— पतलून पर शिकन नहीं थी, वहां से तब्दील होकर वह चेहरे पर आ गयी थी।'

ए-130, पाण्डव नगर, मेरठ-250003 (उ. प्र.)

दामोदर दत्त दीक्षित को आचार्य निरंजननाथ सम्मान

साहित्यिक पत्रिका 'सम्बोधन' के सौजन्य से दसवां आचार्य निरंजननाथ सम्मान दामोदर दत्त दीक्षित के उपन्यास 'धुआं और चीखें' पर प्रदान किया गया। अणुव्रत विश्व भारती, राजसमंद के आडिटोरियम में आयोजित एक भव्य समारोह में उपन्यासकार दामोदर दत्त दीक्षित को वरिष्ठ साहित्यकार मधुसूदन पाण्ड्या ने शॉल एवं श्रीफल, समारोह के मुख्य अतिथि वेद व्यास ने प्रशस्ति पत्र, कमर मेवाड़ी ने श्रीजी का प्रसाद, समारोह के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र मोहन भट्नागर ने स्मृति चिन्ह, एम.डी. कनेरिया ने श्रीनाथजी का चित्र एवं बीड़ा तथा कर्नल देशबंधु आचार्य ने पन्द्रह हजार रुपए की सम्मान राशि भेंट कर सम्मानित किया।

पुरस्कृत कृति के रचनाकार दामोदर दत्त दीक्षित ने उपन्यास के एक महत्वपूर्ण अंश का पाठ करते हुए उपन्यास की रचना प्रक्रिया पर प्रकाश डाला।

कार्यक्रम का संचालन युवा कवि नरेन्द्र निर्मल ने किया।

प्रस्तुति— कमर मेवाड़ी

ग्रंथलोक द्वारा प्रकाशित
सुप्रतिष्ठित कवि दिविक रमेश की
सद्य: प्रकाशित गद्य कृति
मूल्य : 400 रुपए

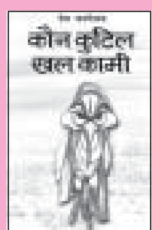

आधुनिक हिंदी व्यंग्य के
सशक्त हस्ताक्षर प्रेम जनमेजय
का बहुचर्चित ताजा व्यंग्य संकलन
प्रकाशक :
ग्रंथ अकादमी 1659 पुराना दरियागंज नई दिल्ली

उमाकांत त्रिपाठी

व्यंग्य के पुरोधा का व्यंग्य : जायजा और जायका

व्यंग्य स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा है। व्यंग्य-प्रधान साहित्य को निम्न कोटि का साहित्य मानना उपयुक्त नहीं और न तो व्यंग्यकारों को फुटकर साहित्यकारों के खाते में डालना ही। हिन्दी में शिष्ट-व्यंग्य रचनाओं की स्वल्पता जैसी बात भी संगत नहीं और न तो यही कि भारतेन्दु युग के व्यंग्य जैसी रचनाएं बाद में हुई ही नहीं। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व आक्रोश, विरोध, अंधविश्वास तथा रूढ़िवादिता की अपेक्षा स्वतंत्रता के बाद हुए राजनीतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक क्रिया-कलाप व्यंग्य-रचनाओं में अधिक उग्र हुए हैं। पूर्व की अपेक्षा आज का व्यंग्य अधिक चुटीला और मार्मिक है साथ ही साहित्यकारों के पास अपना आक्रोश व्यक्त करने के लिए एक सशक्त और स्वतंत्र विधा भी। स्वतंत्रता के पूर्व देश की जनता ने जो सपने देखे थे, साकार नहीं हुए और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शासन और समाज का एक घिनौना दृश्य उभर कर सामने आया, जिसकी कल्पना भी जनता को न थी। फलस्वरूप समाज टूटा, परिवार टूटा और व्यक्ति भी टूटने के कगार पर आ पहुंचा। आदर्श और यथार्थ की दीवारें टूटीं, मानवीय मूल्यों के महल चरमरा कर गिर पड़े। अत: व्यक्ति और समाज के मध्य एक संघर्ष छिड़ गया जिसकी प्रतिक्रिया साहित्य के क्षेत्र में व्यंग्य की तीव्रता में प्रकट हुई।

इस वैषम्यपूर्ण आधुनिकता की रिक्तता ने साहित्यकार को समाज के समस्त खोखलेपन को अस्वीकारने को विवश कर दिया और वह बहिर्मुखी न रहकर अन्तर्मुखी हो गया। इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर युग के साहित्यकारों का जो स्वर मुखर हुआ वह व्यंग्य का संवादी बन गया। फलस्वरूप व्यंग्यकारों और व्यंग्य रचनाओं में वृद्धि हुई। अनुभूति की गहनता ने विनोद की बात ही मास्तिष्क में न आने दी और इस युग का व्यंग्य सहज ही हास्य से बिछुड़ विशुद्ध व्यंग्य की कोटि में आ गया एवं उत्तरोत्तर आत्मपरक और गहरा होता गया। इस युग के व्यंग्य ने जीवन के विभिन्न संदर्भों को स्पर्श करने की कोशिश की है, जीवन-संघर्ष से प्रेरणा प्राप्त कर उत्तरोत्तर विकसित हुआ है और जीवन की विसंगतियों के थपेड़े से क्रमागत तीक्ष्णतर, तीव्रतर एवं बौद्धिक हुआ हैं। श्रीलाल शुक्ल इसी युग के व्यंग्य विधा के सशक्त हस्ताक्षर हैं। आपने भाषिक स्तर पर कई एक प्रयोगों के द्वारा अपने व्यंग्य की धार को पैना किया है। ये प्रयोग शब्द, वाक्य, विशेषण, सादृश्य, संगति, विसंगति, विपरीत लक्षणा, विपर्यास, अतिरंजना, अतिरेक, क्रम-भंग, तुलना, अप्रासंगिक वर्णन, विषय-परिवर्तन, परोक्ष कथन, तर्कपूर्ण संगति, तर्क सिद्ध संगति, नवीन एवं निरर्थक शब्दों और विकृत पदों के आधार पर किये गये हैं। आइए कुछेक प्रयोगों का जायजा लेते हुए रसास्वादन करें। शुक्ल जी ने विषय के अनुरूप एवं व्यंग्य को तीव्रता प्रदान करने के लिए शब्द-स्तर पर व्यंग्य की भाषा में कई एक परिवर्तन किये हैं। उन्होंने शब्दों को तोड़ा है, मरोड़ा है और उन्हें नया रूप दिया है। कई-कई भाषाओं के शब्दों का प्रयोग किया है। तद्भव, तत्सम, देशज एवं सामान्य जीवन से शब्दों को लेकर विषय के संदर्भ में प्रयुक्त किया है। निरर्थक शब्दों के प्रयोग से भी अपना मतलब गांठने के यत्न में उन्होंने कोई कोताही नहीं बरती है। यही नहीं एक प्रकार के शब्द की आवृत्ति और लड़ी के आधार पर भी आपने अपने व्यंग्य को धारदार किया है। प्रस्तुत है तत्सम शब्दावली के प्रयोग की एक बानगी–

'साहित्योद्यानसुमनगुच्छा जिसे आनन्दकन्द-सच्चिदानन्द निर्द्वंद्व चरणानुरागी मुंशी दुर्गाप्रसाद कायस्थ के आत्मज मुंशी रामखेलावन मुहर्रिर डिस्ट्रिक्ट बोर्ड उन्नाव ने अति प्रयास करके भाषा में लिखा एवं जिसे श्री गोपीबल्लभकृष्णचन्द्रचरणारविन्द-मकरन्दमानसमलिन्द सेठ जदुचन्द पूरनचन्द मारवाड़ी ने उदार व्यवहार द्वारा भोजराज श्रीरामदास के छापाखाना मुम्बई में मुद्रित कराया।' इसी प्रकार तोड़ एवं निरर्थक शब्द प्रयोग का साक्ष्य है–'आवेश, कल्पना तथा अधिष्ठिति के आयामों पर लवणायुध का कवि अपने प्रयोग करता है। उसका आवेश युद्धोत्तर कवि का आवेश है।'

व्यंग्य के अंतर्गत जहां पर आक्षेप या प्रहार के अन्य माध्यम कारगर सिद्ध नहीं हो पाये हैं, शुक्ल जी ने वहां नवीन मनगढ़ंत शब्दों के प्रयोग द्वारा व्यंग्य को तीखा बनाने का प्रयास किया है। उन्होंने समाज, व्यक्ति, स्थान आदि को लक्ष्य कर सादृश्य एवं वजन के आधार पर नये एवं विकृत शब्द गढ़े हैं। बतौर उदाहरण– 'अदरखजन्यस्वादोपाख्यान',[1] 'बन्दरादरख',[2] 'बन्दर की बदरख',[3] 'अदरख का आद',[4] 'कुलकुलायमान',[5] 'तमतमायमान',[6] 'कोकाबेली',[7] 'टिकियाचोर',[8] जैसे शब्दों पर विचार किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में कुछ ऐसे पद जो बहुचर्चित, बहुप्रचलित और प्रसिद्ध कवियों द्वारा रचित हैं, उनकी पंक्तियों के साथ किंचित, विकृत-नवसर्जित पंक्तियों के प्रयोग भी देखने योग्य हैं–

'संबत एक सहस्र पुनि नवम पंच अरु सात।
गुच्छा हौं अरपित करौं सिकुरि, सहमि, सकुचात।।'

'अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहां पहुंच 'सुनसान' क्षितिज को मिलता एक सहारा।।

'राधेश्याम! राधेश्याम!! राधेश्याम!!!
गोकुल की रातें रंगीली
रास, रस, उल्लास, विलास
(बरेली की परिधि मैंने छू ली।)

'हौं पण्डितन केर पछिलागा।
(यहि विधि सकल जगत का ठगा)

'कुत्ते का मुंह काला है,
तू हमारा साला है।'

'विफल जीवन व्यर्थ बहा बहा,
सरस दो पद भी न हुए अहा:
सफल है कविते तव भूमि भी:
पर यहां श्रम भी सुख-सा रहा:
(सुकवि तो सबने मुझको कहा)'

शैलीगत वाक्य विन्यास के धरातल पर रचना की दृष्टि से श्रीलाल शुक्ल ने सरल या साधारण वाक्यों का सर्वाधिक प्रयोग किया है जो उनके सीधे प्रहार की प्रवृत्ति का परिचायक है। भूमिका और घुमाव से दूर रह कर आपने संक्षिप्त मार्ग को ही वरीयता प्रदान की है। सुबोधता, सरलता और व्यंग्य की तीव्रता हेतु सरल वाक्यों का प्रयोग बड़ा ही सटीक एवं उपयुक्त है। कहीं-कहीं तो पूरा का पूरा अनुच्छेद ही सरल वाक्यों से समाप्त किया गया है। इस प्रकार के सरल वाक्यों के प्रयोग प्रसंगानुकूल व्यंग्य की दृष्टि से अल्पज्ञता और मिथ्या तारतम्य मिलाने की बात प्रदर्शित करते हैं। इस सन्दर्भ में शोध छात्र की अज्ञानता को प्रगट करने के लिए श्रीलाल शुक्ल के साधारण वाक्यों का प्रयोग देखा जा सकता है–

'इस प्रकार रहते-रहते माघ का महीना आया। पाला गिरने लगा। पछुआ जोर से बहने लगी। शीत और तुषार के मारे हाथ-पैर ठिठुरने लगे। बबूल के पीले फूल झर गये। उसकी बीजदार फलियां कड़ी पड़ गयीं। उसकी शाखाएं और भी काली हो गईं। तने में चिपका हुआ गोंद सूख गया। उसमें दातून लायक कोमल लकड़ी का मिलना भी कठिन हो गया। उसके कांटे तक सड़ गये। परन्तु, बया आनन्दपूर्वक, सपत्नीक, सन्तानसहित, अपने शान्तिमय घोंसले में जीवनयापन करता रहा।'

उपर्युक्त साधारण वाक्यों की लड़ी स्थूल और रचना के स्तर पर तारतम्य की बात तो द्योतित करती ही है किन्तु सूक्ष्म और अर्थ में प्रवेश करने से शोधकर्ता की अल्पज्ञता को स्पष्ट करने में भी उससे कम महत्वपूर्ण नहीं है।

शुक्ल जी ने सामान्य भाषा के अतिशयता, असम्बद्धता एवं लड़ीदार विशेषण-प्रयोग से व्यंग्य की सृष्टि का भरपूर प्रयास किया है। नीचे असम्बद्ध विशेषणों की लड़ी का एक उदाहरण देखने योग्य है–'लंगोटी लगाये हुए, तन पर भस्म मले हुए, रूखे बाल, फलाहारी (अर्थात आम का रस हाथ में और जामुन का रस मुंह पर पोते हुए), कृष्णानुरागी (अर्थात् काले-कलूटे), गोरक्षक (अर्थात गाय-बैलों की चरवाही करते हुए), शुकदेव समान (अर्थात दस वर्ष की आयु में ही जंगल में घूमने वाले), परम प्राकृत रूप– यह मेरी बाल्यावस्था थी।'

सादृश्य विधान के आधार पर अलंकार प्रयोग की दृष्टि से विभिन्न प्रकार के विचित्र उपमानों के प्रयोगों द्वारा भी आपने अपने व्यंग्य को उत्कर्ष प्रदान किया है। यद्यपि मूर्त उपमेय-उपमानों की तुलना में अमूर्त उपमेय-उपमानों का प्रयोग आपने अपेक्षाकृत कम किया है, किन्तु यत्र-तत्र जहां भी ये प्राप्त हैं व्यंग्य का तीखापन वहां पराकाष्ठा पर पहुंच गया है यथा-अमूर्त उपमान मूर्त उपमेय के लिए– 'यत्र-तत्र फैली मक्खियों का समुदाय हृदय में बसी हुई सुधियों की बस्ती-सा जान पड़ता है।'

इसी प्रकार शुक्ल जी ने पारम्परिक रूढ़ उपमानों का प्रयोग भी कम किया है, जहां हैं भी वहां नूतन परिवेश में। वे यथातथ्य भले ही न दृष्टिगत हों किन्तु आन्तरिक (अर्थ) वातायन से झांकते नजर आते हैं। विशेषकर विसंगति एवं विरूपता के भाव को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए ही आपने रूढ़ उपमानों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए– 'कई ऐसे आये जो भर्तृहरि की तरह अपनी बीबी के हाथों चोट खा चुके थे और 'धिक् तां च तं च का पहाड़ा पढ़ रहे थे। कई ऐसे थे जो विश्वामित्र की भांति उमर भर की कमाई किसी अप्सरा के चरणों में लुटा चुके थे।'

शुक्ल जी द्वारा सामान्य जीवन से लिए गये उपमान जीवन के हर क्षेत्र का स्पर्श करते हुए जीवन की हर एक बात अपने ढंग से मधु-तिक्त व्यक्त करने में सक्षम है। प्रस्तुत है एक उदाहरण– 'इण्डिया में अभी तो जैसे हम बैलगाड़ी के लेवल से ऊपर नहीं उठे वैसे ही फूलों के मामले में गेंदे से ऊपर नहीं उभर पाये। गाड़ियों में बैलगाड़ी, मिठाइयों में पेड़ा, फूलों में गेंदा, लीजिए जनाब, यही है आपकी इण्डियन कल्चर!'

संगति, विसंगति, तर्कपूर्ण संगति तथा तर्क सिद्ध संगति के द्वारा भी शुक्ल जी ने अपना मंतव्य प्रगट किया है। संगति के अन्तर्गत जहां दो समान कोटियों, व्यक्तियों एवं वस्तुओं का मेल करा कर आप द्वारा व्यंग्य की सृष्टि की गयी है, वहीं विसंगति में दो भिन्न (बेमेल) कोटियों की संगति करा कर व्यंग्य उत्पन्न किया गया है। विसंगति का एक नमूना द्रष्टव्य है– 'यह दूसरी बात है कि पहलवान छाप या दूसरे प्रकार की नौटंकी में दो शीर्षक मिलें पर उनमें भी एक शीर्षक उच्चकोटि की प्रतीकात्मक शैली पर होगा और एक जनभाषा में। संगीत-ध्रुव उर्फ छलावा परी, संगीत हरिश्चन्द्र उर्फ सच्चाई का नतीजा जैसे शीर्षक आपको कभी भुलावे में नहीं डाल सकते। हमारे साहित्यकारों को इस स्वस्थ और सच्ची परम्परा का अनुसरण करना चाहिए। जहां वे कोई आलंकारिक शीर्षक दें वहीं 'उर्फ' का प्रयोग पाठकों के लिए बड़ा हितकर सिद्ध होगा। तब ऐसे नाम आ सकते हैं: (1) चित्रलेखा उर्फ पाप-पुण्य का पचड़ा। (2) मैला आंचल उर्फ पूर्णियां का प्रताप।

कहीं-कहीं एक ही वस्तु का वर्णन दो ढंग से या दो स्थितियों में करने जैसा अनूठा प्रयोग करके आपने व्यंग्य की प्रभावोत्पादकता में वृद्धि की है। शैली पर व्यंग्य करते हुए शुक्ल जी ने एक ही बात को दो भिन्न शैलियों में प्रस्तुत किया है जो निम्नांकित है–'अहा इस लोक में प्रणय की भी कैसी महिमा है।– 'न तात, न माता, न भ्राता, न भ्रातृज– कोई सत्य नहीं है। प्रणय तत्व ही चरम सत्य है। इसी के आधार पर मानव रोदसीरमण करता है, आकाश आस्फालन करता है, महीधरों का मर्दन करता है। विच्छुरित बसन बनता है। भवन-भस्मीकर की उपाधि पाता है। प्रणय परम पवित्र है।'

(दुनियां में मुहब्बत भी क्या चीज है। न बाप, न माँ, न भाई, न भतीजा कोई सच्चा नहीं है। सच्ची अगर कुछ है, तो मुहब्बत है। इसी के सहारे इंसान हवा से लड़ता है, आसमान से भिड़ता है, पहाड़ों से टकराता है, अपना गरेबां फाड़ सकता है, अपना घर उजाड़ सकता है। मुहब्बत बहुत ही नेक पाक है।)

श्रीलाल शुक्ल ने व्यंग्य की भाषा को कई प्रकार की तकनीकों से प्रभावपूर्ण बनाया है। इस लेख में उनके मात्र एक निबंध संग्रह (अंगद का पांव) के कुल बीस निबंधों का कुछ ही संभावनाओं एवं नियत परिमिति के अन्तर्गत प्रविधि के नियत स्तरों पर ही परखने का उपक्रम किया गया है। भाषा और व्याकरण की बहुस्तरीय संकल्पना के आधार पर गहराई में जाने पर और भी संभावनाएं हो सकती हैं। इस लेख का उद्देश्य दिङ्मात्र निदर्शन है न कि पूर्णता।

डाफी (बी.एच.यू.), जनपद-वाराणसी (उ.प्र.)

डॉ. सूर्यकांत त्रिपाठी

'अंगद का पांव' में प्रयुक्त विशेषणों की पार्श्वच्छवियाँ

साहित्यिक भाषा में कथन का चयन ऐसा सुगठित होता है कि उस जगह दूसरा प्रयोग करने से यथातथ्य अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यंजना संभव नहीं हो पाती। रचनाकार अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण मनोयोग से विशेषणों का चयन एवं प्रयोग करता है। विशेषणों के अध्ययन से रचनाकार के अभिव्यक्ति-कौशल का परिचय प्राप्त होता है। विशेषण चाहे जिस रूप में हो (विशेष्य-विधेय, सादृश्य या असादृश्य), वर्णन का समर्थ माध्यम विशेषण ही है। भावना की तीव्रता के कारण विशेषण जब अलभ्य हो जाता है तब विशेषणरहित भाषा का प्रयोग प्राप्त होता है। विशेष्य जहां नहीं प्राप्त हो पाता वहां विशेषण का प्रयोग होता है। इस प्रकार विशेषणों के प्रयोग, न्यूनाधिक प्रयोग, पुनर्वार प्रयोग और प्रयोग के कौशल को ध्यान में रखकर हम रचनाकार के मानसिक चिंतन की भाव-भूमि को स्पर्श करने में सक्षम होते हैं।

'अंगद का पांव' श्रीलाल शुक्ल के चर्चित व्यंग्य निबंधों का संग्रह है। इसमें क्रमागत संस्कृत पाठशाला में प्रसाद, साहित्योद्यानसुमनगुच्छा : एक समीक्षा, शीर्षकों का शीर्षासन, सकल बन ढूंढूं एक संगीतक, पुराना पेंटर और नयी कलम, प्रभात समीरण उर्फ सुबह की हवाएं, शेर का शिकार, आधा तीतर, बया और बंदर की कहानी, बैलगाड़ी से, शॉ का भूमिका-भाष्य, सुकवि सदानन्द के संस्मरण, स्वर्णग्राम और वर्षा, दो पुराने आदमी, पहली चूक, दुभाषिए, साहब का बाबा, कालिदास का संक्षिप्त इतिहास, अखिल भारतीय शीर्षक से आत्महत्या निवारण समिति का इतिहास और अंगद का पांव शीर्षक से कुल बीस निबंध हैं। इन निबंधों में विशेषण की विभिन्न स्थितियों, कोटियों अथवा प्रकारों के आधार पर प्रयुक्त विशेषणवाची शब्दों की पार्श्वच्छवियों को परखने का प्रयास किया गया है। यह प्रयास न तो निबंध है और न ही भाषाविज्ञान की दृष्टि से किया गया शोध-कार्य। यह व्यंग्य को धारदार बनाने में समर्थ विशेषणवाची शब्दों की मात्र एक मनमौजी पैमाइश है। पेश है, इस पैमाइश की यह खतौनी—

भ्रमण करती हुई आत्मा, पानी पीते हुए बैल, सुनते ही वे, चीखती हुई वह, छलांग लगाता हुआ जानवर, आती हुई आवाज, जुते हुए खेतों, भागते हुए जानवर, हंसते हुए उसने, चमकती धूप, मदमाती युवतियां, खिलखिलाती युवतियां, काम करते हुए किसान, आता हुआ आदमी, हंसते हुए वे, डरते हुए मैंने, बताते हुए मुझे, तरंगायित तड़ाग संरचना के स्तर पर वर्तमानकालिक कृदन्तीय विशेष्य विशेषण हैं और पछताती हुई अंतर्हित हो गयी, संबोधित करते हुए कहा, दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कहा, पैंतरा बदलते हुए कहा, जामिनी राय को बचाते हुए कहा, तस्वीरें बोलती हुई होनी चाहिए, निठल्लू बाबू रोते हुए बोले, प्रणवोच्चार करते हुए, विलाप करते हुए बोले, वही गान गाते हुए लौट रहे थे, मैं देखता हुआ आगे बढ़ा, बनाते हुए टहलता रहा, सिद्धांत समझाते हुए कहा, तबीयत से गाता हुआ लौटा, हवाएं फुरफुराती हुई बहती रहीं, हंसते हुए बैलों को जोत दिया, नाचता हुआ घूम रहा है, हीरो जाते हुए बातें करता है, गाना बंद करते हुए मैंने पूछा, किसान हंसते हुए वहीं आ गए, बात पलटते हुए मैंने कहा, मैं सीटी बजाता हुआ चल दिया, वे पूंछ उमेठते हुए चले गए, आंख सिकोड़ते हुए उन्होंने पूछा, छत पर होती हुई आ गयी है, लहराता हुआ नजर आएगा संरचना के स्तर पर वर्तमानकालिक कृदन्तीय विधेय विशेषण हैं। इन दोनों के प्रयोग में बहुत ही कम अंतर है। ये कृदंतीय विशेषण व्यंग्यलेखों में स्थिति और गति की जानकारी हेतु विशेष रूप से प्रयुक्त हैं।

पड़ा हुआ छप्पर, बसी हुई बस्ती, सटी हुई अलमारियां, लिखी गयी एक पुस्तक, लिखा हुआ एक ग्रंथ, बिछे हुए कालीन, रंगे हुए पदों, बनी हुई तस्वीरें, बढ़ी दाढ़ी, फैला हुआ मुंह, मरी हुई चिड़िया, चिपका हुआ गोंद, उजड़े हुए घोंसले, सड़े हुए दांतों, रटी हुई तानें, खरीदा हुआ चारण, लिखी हुई भूमिका, लिखी गई कहानियां, झिलमिले तारों, सोई हुई कल्पना, लौटा पैदल, पहनी हुई धोती, गड़े हुए धन, ढकी तिजोरी, समझे हुए रामानंद, बैठे हुए लोगों, छूटी हुई घोड़ी, बंधी हुई भैंस, खुले गले भूतकालिक कृदंतीय विशेष्य विशेषण हैं एवं कफन बांधे ढूंढते हैं, तमतमाए हुए कह रहे थे, ढांचों में मढ़े हुए हैं, नजर नीची कर भाग निकले, गाय मारी हुई पायी गई, मुंह फाड़े खड़ा था, बात में कही गयी जान पड़ती है, शांति के साथ पड़े सोया करते थे, मुंह छिपाए बैठा था, बैल पूंछ फटकार कर खड़े हो गए, पैर फैलाकर बैठ गए, जगा हुआ देखकर, बैठा हुआ टर्र टर्र कर रहा था, छुरा ताने हुए खड़े हैं भूतकालिक कृदंतीय विधेय विशेषण के उदाहरण हैं। इन विशेषणों का प्रयोग स्थिति की जानकारी कराने के उद्देश्य से किया गया है। स्थिति की अच्छाई-बुराई, संवेगात्मकता और वर्तमान पर प्रहार करने की दृष्टि से भूत का उदाहरण प्रस्तुत कर व्यंग्य के तीखेपन में वृद्धि करना ही इनका मूल उद्देश्य है।

अशुद्ध पाठ, राष्ट्रीय कविताओं, मानसिक चिंतन, दर्शनीय स्थान दुखी स्वर, वैज्ञानिक अध्ययन, तांत्रिक साहित्य, यजुर्वेदीय संध्योपासन, लोकवादी परम्परा, आलंकारिक प्रवृत्तियां, भयपूर्ण मुद्रा, भारतीय इतिहास, बेदर्द दुनिया, अनुपलब्ध प्रवृत्ति, अन्तःपुरीय कला, अभद्र शब्द, कीमती पलंग, संत्रस्त

नेत्रों, निष्कंटक अवस्था, सम्मानित अधिकारी, भरी निगाह, प्रश्नभरी दृष्टि, सिद्धांत प्रिय आदमी, साहित्यिक आदमी, शांतिमय घोसले, जोरदार आवाज, दार्शनिक साथी, राजनीतिक मित्र, ज्ञानपूर्ण बातें, निरर्थक बातें, भूमिका प्रेमी हिन्दुस्तानी, भूमिहीन लेखकों, अतिमाननीय पात्र, विद्वत्तापूर्ण तथ्य, दंभभरी प्रशंसा, सुलेखक विमल, रीतिकालीन साहित्य, मौसमी चीजें, वेदपाठी दादुर, स्वर्णिम उषा, गद्देदार कुर्सियां, शब्दहीन शब्द, गोपनीय पत्र, स्थानीय गुटबंदी, अवांछित परिस्थितियां, निराधार मित्रता, विभागीय डिजाइनर, संगमरमरी क्यूपिड, हवाभाविक ढंग, झटकेदार कमंद, दोषहीन विषयों, वैधानिक इतिहास, अंतर्राष्ट्रीय विवाह नाम साधित विशेषण हैं। इनका प्रयोग व्यंग्य में तीव्रता, भाव की गंभीरता, अतिरेक, अतिरंजना, संगति एवं विसंगति प्रदर्शित करने के लिए हुआ है।

बहुत से भाव, बहुत-सी दृष्टियां, सीधी-सी बात, मामूली-सा बाग, अजब-सी बेवकूफी, छोटे-से स्टेशन, छोटी-सी बात, बहुत से भूमिका लेखक, साधारण-सा ज्वार, बहुत-सा साहित्य, लंबा-सा गार्ड विशेषण के साथ 'सा', 'सी', 'से' जुड़कर बने समस्तपदीय विशेषण हैं। मात्रा, आकार, सादृश्य तथा संवेग की दृष्टि से इस प्रकार के विशेषणों का प्रयोग अधिक किया गया है।

बिकने वाला साहित्य, घूमने-फिरने वाले सियार, गाने वाला गवैया, सुनने वाला गावदी, बहने वाली धाराओं, होश गुम कर देनेवाली रफ्तार, समझाने वाली टिप्पणी, दिखाने वाली मुस्कुराहट, खाने वाला कोई, जानने वाला ही, दिखाने वाले ठगों, लिखने वाले लेखकों, रुक जाने वाले गवाह, लुका-छिपी वाला खेल, हंसने वाली युवती, डराने वाली आवाज, सुनने वाली उनकी पत्नी, पाने वाली सुरुचि, रहने वाला साहब, जाने वाले कवि, मिलने वाले पुरस्कार, आने वाली बात, पुरानी बैटरी वाली टार्च, शास्त्रार्थ वाले लहजे, इम्पीरियल वाले की बात, कंपनी वाले का भाई, बंबई वालों की तस्वीर, सफेद बालों वाले इंसान, रबर के तल्ले वाले जूते, चमड़े के तल्ले वाले जूते, झाड़ी वाले तीतरों, स्टाकिंग वाली तरकीब, गोली वाले कारतूस, राकेट वाले देशों, जेब वाला काम, राम नरेश वाला मामला, शिष्या वाली बात, दिमाग वाला मजमून, पहले वाले स्थान, हमेशा वाली मुस्कान संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया तथा अव्यय के साथ 'वाला' प्रत्यय के योग से बने समस्त पदीय विशेषण-पद हैं। लेखक ने इस विशेषण की सहायता अतिरंजना, विपर्यास, संगति, विसंगति एवं विपरीत कथन के रूप में ग्रहण की है।

छोटी-छोटी मेजों, साफ-साफ भाषा, ऐसी-ऐसी मुद्राएं, छोटे-छोटे निशान, नयी-नयी बातों, नए-नए प्रयोग, बड़े-बड़े हीरो, हल्के-हल्के बादल, हल्की-हल्की हवा, मोटी-मोटी किताबें, लाख-लाख मुद्राएं, धीरे-धीरे वह, सही-सही बात द्विरुक्त विशेषण हैं और भोली-भाली लड़की, थोड़ी-बहुत आलोचना, काली-कलूटी औरत, टेढ़ी-मेढ़ी बातें, साफ-सुथरे कपड़े, ऊबड़-खाबड़ इलाके, छोटी-मोटी झाड़ियां, टेढ़ी-मेढ़ी कतार, काले-गोरे का भेद, ढीली-ढाली बातें, हल्की-फुल्की बातें, उदात्त-अनुदात्त स्वर, बस-बूते की बात, हरी-भरी फसल, दुबला-पतला आदमी, सीधा-सादा इतिहास जैसे अपूर्ण पुनरुक्त या द्वंद्वात्मक विशेषण-पद हैं। इन विशेषण-पदों का प्रयोग तीव्रता, विविधता, संदिग्धता, अनिश्चय, निश्चय, बाहुल्यता, हल्कापन, न्यूनता और बल प्रदान के लिए किया गया है।

चौकोर नक्शे, गोल कमरे, विराट गह्वर, भारी खड्ड, ऊंची समझ, बड़ी चिड़िया, बड़े शिकारी, कंटीली डाल, छोटी लाइन, विस्तृत पत्र, लंबा कद, ऊंचा स्थान, लंबी सांस अर्थ के स्तर पर रूप या आकार वाचक विशेषण हैं। इन विशेषणों का प्रयोग अतिरंजना, अतिरेक, विशेषता एवं विरूपता की सृष्टि के लिए किया गया है।

रुपहले पर्दे, सफेद पट्टियां, मटियाले बरामदे, लाल-लाल सूरज, काला भालू, सफेद भालू, पीला चेहरा, लाल-नीली स्याही, काली लकीर, पीले फूल, गुलाबी साफा, भूरे-भूरे बाल, चितकबरी बिल्ली, अर्थ के स्तर पर रंगवाचक विशेषण हैं। इनका प्रयोग समानता दिखाकर व्यंग्य को तीखा बनाने के रूप में किया गया है। अतिरंजना, संवेग तथा अतिरेक के रूप में भी इनके प्रयोग पाए गए हैं। चंद मछलियां, बड़े जमीदार, कुछ देर, समस्त जगत, घोर असंतुष्ट, बहुत नाराज, महा सामन्त, घनी मित्रता, बिल्कुल सहमत, थोड़ी देर, पूरी बात, गहरी सांस, पूरा रास्ता, सब किताबें, बड़े तिकड़म, अल्प काल, काफी धन परिमाणवाचक विशेषण हैं। बात को बढ़ा या घटाकर व्यंग्य की सृष्टि करने की दृष्टि से इस प्रकार के विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

रिमझिम फुहार, उसकी फटफटाहट, ध्वनिवाचक, मुलायम शरीर स्पर्शवाचक, तेज हवा, धीमे सुर, गतिवाचक, पुराना रिकार्ड, नया रिकार्ड, पुरानी कहावत, पुराने निशान, अर्वाचीन पद्धति, नए लेखक, आज के कवि, सनातन काल कालवाचक, अंदरूनी झगड़े, अंतःपुर, बियावान जंगल, उत्तरी भारत, पिछला हिस्सा, दाएं हाथ, बाएं हाथ, उत्तर प्रदेश देश वाचक, प्यारभरे स्वरों, दुखी स्वर, आहत स्वर, वात्सल्य भाव, करुण भाव, दयनीय मुस्कान संवेग वाचक और असल बात, सड़ियल तराना, पक्के गान, मधुर गान, धूसर अलिन्द, निभृत प्रकोष्ठ, खूंखार डकैत, महा सामन्त, विशेष सुविधा, प्यारे पाठको, सच बात, उत्कृष्ट कविता, खाली कारतूस, सुंदर घोंसला, अच्छी सलाह, गंदे आदमी, मिथ्या तत्व, पैनी निगाह, गंभीर बातें, कानी लड़की, क्रूर आलोचक, उदार विचारक, आदर्श जीवन, अद्‌भुत नाम, झेंपू लड़की, कोमल कपोलों, उचक्के चोर, अधम चाकरी, उत्तम व्यवसाय, अच्छा साधन, मधुर दृश्यों, प्रसन्न मुद्रा, मनोहर बच्चों, बुरा दिन, खरा आदमी, प्रसन्न मुद्रा, कड़ुई बातें, अच्छे बच्चे, मूर्ख राजा, समझदार लोग, पक्के व्यवसायी, चतुर व्यक्ति, सहज प्रशंसा, उदात्त कल्पना, सच्ची घटना, सच्चा इतिहास, चंचल वीचियां, मूक निमंत्रण, बढ़िया कपड़े, असली फूल-मालाएं, सड़ियल मोटर अर्थ के स्तर पर गुणवाचक विशेषण हैं। इस प्रकार नवीनता, प्राचीनता, वर्तमान, भविष्य एवं भूत का विशेषण के रूप में प्रयोग करके व्यंग्य में प्रखरता लाने का प्रयास किया गया है और गुणवाचक विशेषण का प्रयोग विशेष रूप से विपरीतार्थकता व्यंजकता, अतिरेक, अतिरंजना, विपरीत लक्षणा आदि रूपों में व्यंग्य की तीव्रता हेतु हुआ है।

प्रवक्ता, उच्च शिक्षा औ
दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा
एरणाकुलम्, केरल

कन्हैयालाल नंदन

मेरा लाड़ला व्यंग्यकार

श्रीलाल जी मेरे लिए दोहरे आदरणीय रहे हैं, बल्कि तिहरे। पहले इसलिए कि वे हिन्दी साहित्य के गंभीर और श्रेष्ठ व्यंग्यकारों में प्रमुख स्थान रखते हैं। दूसरे इसलिए कि वे मेरी पीढ़ी से पहले वाली पीढ़ी के हैं और उनके लगभग सारे मित्र मेरे लिए आदरणीय हैं। डां. धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी, सुरेन्द्र तिवारी आदि के साथ श्रीलाल जी की गणना होती है और ये सारे लोग मेरे अग्रज और श्रद्धास्पद रहे। इन्हीं अर्थों में श्रीलाल जी भी मेरे लिए उसी श्रेणी में हमेशा अग्रज–श्रद्धास्पद रहे। तीसरे इसलिए कि मैं डॉ. देवीशंकर अवस्थी को कानपुर से अपना गरहुआ मानता रहा हूं। और श्रीलाल जी की बेटी उस परिवार में बहू होकर गई। देवीशंकर अवस्थी जी के छोटे भाई उदय शंकर की वो पत्नी है। इसलिए श्रीलाल जी से मैं अपनी रिश्तेदारी भी मानता हूं। ये तिहरा आदरणीय होना श्रीलाल जी के लिए मेरे मन में एक विशेष दर्जा देता है और मैं जब भी लखनऊ जाता हूं, उनके दर्शन करने उनके घर जाता हूं। श्रीलाल जी अपने परिवार के प्रति बड़े निष्ठावान साहित्यकार रहे हैं। वे बोलने–चालने में फक्कड़ दिखाई देते हैं। मस्ती के आलम में जीने वाले। लेकिन परिवार के प्रति उनकी निष्ठा देखकर किसी को भी उन पर गर्व हो सकता है। जिन दिनों उनकी पत्नी अस्वस्थ थीं, उस समय श्रीलाल जी अपने किसी भी साहित्यिक कार्यक्रम को धत्ता बताकर उनकी सेवा में कोई कोताही नहीं करते थे। श्रीलाल जी का यह पारिवारिक निष्ठावान रूप मुझे बहुत ही अनुकरणीय लगता रहा है। अक्सर साहित्यकारों के लिए यह कहा जाता है कि वे अपने लेखन को हर किसी चीज से बड़ा मानते हुए परिवार की उपेक्षा कर देते हैं। श्रीलाल जी इसके संपूर्ण अपवाद हैं।

श्रीलाल जी को मैंने तब से जाना जब वे सरकारी नौकरी में थे और मैं डॉ. धर्मवीर भारती के साथ 'निकष' में बतौर सहायक संपादक कार्यरत था। श्रीलाल जी भारती जी से मिलने आते और मैं उन्हें भारती जी के साथ आपसी मित्रभाव में पगा हुआ देखा करता था। फिर उनका संग्रह आया–अंगद का पांव। इसके व्यंग्य निबंध पढ़–पढ़कर मैं अपने एम.ए. के विद्यार्थी काल में आनंद लेता रहा। उसमें एक निबंध था पुष्पा उर्फ फूलमती के जीवन–प्रसंगों का। पुष्पा को नागर सभ्यता के आइने में और फूलमती को ग्रामीण रीति–रिवाजों के आइने में देखने की जितनी बढ़िया कोशिश श्रीलाल जी ने उस निबंध में की थी उसे मेरे मित्र ज्ञानरंजन मेरे लिए एक काल्पनिक फूलमती गढ़कर मुझे चिढ़ाया करते थे। कभी–कभी कोफ्त होती कि श्रीलाल जी से कहूं कि श्रीलाल जी कोई ऐसा निबंध भी लिख दीजिए जिसके सहारे मैं ज्ञानरंजन को चिढ़ा सकूं। लेकिन मन की मन ही मांहि रही। और ज्ञान अपनी प्रिया पत्नी सुनयना के साथ मस्त रहा। मैं उसे चिढ़ाने का सामान न पा सका। सारा हिन्दी संसार जानता है कि उनका 'राग दरबारी' हिन्दी के व्यंग्य उपन्यासों का मानक है। छोटे–छोटे दृश्य पाठक को अंत तक बांधे रखते हैं। 'राग दरबारी' से पहले जीवन की ऐसी विडम्बनाओं का कथात्मक चित्रण नहीं हुआ था।

श्रीलाल जी अगर अपनी मस्ती में आ जायें तो किसी को भी अपने व्यंग्य बाणों से परास्त कर सकते हैं। एक बार मैं ही इसका शिकार हो गया। हुआ यूं कि इग्नू की किसी मीटिंग में कोर्स की तैयारी के लिए समितियां बनाई गईं। उन समितियों के ऊपर एक मॉनिटरिंग समिति बनी। मैंने कोर्स समिति में जाने से इनकार कर दिया क्योंकि मॉनिटरिंग समिति में जो लोग थे उन्हें मैं कमतर योग्य मानता था और अपना इस्तीफा देकर मैं यह बात समकक्ष समिति के सदस्यों को बताना चाहता था ताकि वे भी इस पर विचार कर सकें और इग्नू के प्रबंध मंडल को संकेत दे सकें कि मानिटरिंग समिति आधार समिति से ज्यादा महत्त्वपूर्ण और योग्य सदस्यों द्वारा बनाई गई होनी चाहिए।

उस आधार समिति में श्रीलाल शुक्ल, ममता कालिया, रामदरश मिश्र जैसे लोग थे। श्रीलाल जी को लगा कि मैं अपना बड़प्पन दिखाने के लिए उनके पास आया हूं। पता चला कि श्रीलाल जी ने मुझे भी मानिटरिंग समिति से कमतर श्रेणी वाले लोगों में रखकर मेरी जो खिंचाई की वो मुझे फिर जीवन भर नहीं भूली। लेकिन आनंद यह है कि इससे श्रीलाल जी के लिए मेरे मन में आदर कम नहीं हुआ। वे बड़े हैं और मेरी दृष्टि में बड़े ही रहे।

अन्य विधाओं के प्रति भी श्रीलाल जी की समझ बड़ी गहरी है। लखनऊ में एक बार कुंवर नारायण जी के घर पर काव्य–पाठ का, बिना किसी योजना के आयोजन हो गया। कवियों में रमानाथ अवस्थी थे और मैं था।

श्रोताओं में कुंवर जी, उनकी पत्नी भारती और श्रीलाल जी थे। मैंने एक कविता ऐसी सुनाई जिसमें मैंने समय को स्पर्श कर सकने की कोशिश की थी और अपने लिए समय को ठहराने का एक प्रयास किया था और इस अवधारणा को नकारने की कोशिश की थी कि समय ठहराया नहीं जा सकता। कविता कुछ यूं शुरू होती है– 'नहीं जानता शाश्वती / कि तुम्हारे दिए हुए क्षणों को स्रोत कहूं या सरोवर / लेकिन अनुभूतियों की अंजुलि में झिलमिलाता हुआ वो कालखंड / जिसे तुमने सौंपा था / निरवधि प्रवहमान गति से काटकर / अपने पूर्व और पर की सीमाओं से असंपृक्त / अस्तित्व की शिराओं में रह–रहकर धड़कता है. . .।' कविता बहुत प्रभावशाली थी। श्रीलाल जी ने उसे बेहद सराहा। मेरी कविता की अदायगी की

शेष पृष्ठ–136 पर. . .

श्रीयुत् श्रीलाल शुक्ल

पर केंद्रित
व्यंग्य यात्रा के विशेषांक
के लिए

अमित शुभकामनाओं
सहित

यू.एन.एन. शुगर कॉम्प्लैक्स

सर शादीलाल एंटरप्राईज़ लिमिटेड

शामली, मुजफ्फरनगर–247776

रामशरण जोशी

एक अनूठे व्यंग्यकार के साथ कुछ क्षण

श्रीलाल शुक्ल और राग दरबारी दोनों को एक-दूसरे का पर्याय कहा जाय तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। राग दरबारी करीब पैंतीस-चालीस वर्ष पूर्व पढ़ा था। मैं तब कॉलेज का छात्र रहा होऊंगा। गंवई पृष्ठभूमि से होने के बावजूद मैं इससे तकरीबन अपरिचित ही था कि आधुनिक शासन की कार्य शैली ग्रामीण भारत में किस प्रकार के गुल खिला रही है। हम विद्यार्थी लोग तो यही सोचा करते थे कि नेहरूयुगीन समाजवादी भारत में सबकुछ हरा-ही-हरा है। पंचवर्षीय योजनाएं शुरू हो चुकी थीं, गोदान व ग्रामदान आंदोलनों का उभार रह चुका था, भूमि सुधारों की गूंज थी, पंचायती राज की भी आवाजें उठ चुकी थीं, प्रखंड विकास की बहुआयामी यात्राओं का गांवों में खूब शोर था। मुझे याद है मेरे चचेरे भाई प्रखंड विकास पदाधिकारी (बी. डी.ओ.) हुआ करते थे। उन दिनों ऐसे अफसर को सम्मान की नजर से देखा जाता था। गांव वालों के लिए बी.डी.ओ. को मसीहा के रूप में भी देखा गया, माना गया कि वे जनकल्याण के नए अवतार हैं।

सच पूछा जाए तो हम लोग गांवों के प्रति एक तरह से 'रोमांटिक नजरिया' रखा करते थे। इसकी कॉफी कुछ वजह उस जमाने में बनने वाली फिल्मों (दो बीघा जमीन, मदर इंडिया, नया दौर आदि) का भी प्रभाव हम लोगों पर था। कुछ फिल्मों को छोड़ दें तो ज्यादातर फिल्मों में गांवों को स्वर्ग रूप में चित्रित किया जाता था। गांवों की गोरी, पनिहारिन, मंदिरों में होने वाले सत्संग, ढोल-मजीरा, राम-राम, काका-चाचा-चाची, ताऊ आदि संबोधनों का नाद, योगी व साधु-संतों की टोलियां, लहलहाते खेत व पानी उलीचते रेहट कुल मिलाकर लगता था कि इंडिया या शहरी भारत तो केवल नरक में ही लिपटा हुआ है और स्वर्ग कहीं है तो गांवों में छितराया हुआ है। गांधी जी के बोल भी कानों से टकराया करते थे– 'भारत गांवों में बसता है।'

लेकिन राग दरबारी के साथ हुए संत्सग ने एक नये ही ग्रामीण भारत या हिन्दुस्तान के दर्शन कराए। राग दरबारी के अध्ययन सोहबत से यह मालूम हुआ कि पटवारी की क्या-क्या कारगुजारियां होती हैं। सरकारी हाकिम और दूसरे कारकून क्या-क्या गुल खिलाते रहते हैं? गांव और स्वतंत्र भारत के बीच किस प्रकार के रिश्ते आकार ले रहे हैं। भारतीय राष्ट्र-राज्य का संविधान, शासन प्रणाली, नौकरशाही, जनप्रतिनिधि आदि के संपर्क में आकर गांव किस प्रकार की शक्लें अख्तियार कर रहे हैं। राग दरबारी संक्रमणकालीन ग्रामीण भारत (विशेषकर उत्तर भारत) का एक ऐसा महाड्रामा है जिसमें 'अनुपस्थित' नायक है लेकिन विदूषक दृश्यमान है। प्रत्येक विदूषक पात्र की अपनी एक गाथा है और सबों की साझी गाथा विराट ड्रामा को जन्म देती है। कुछ वर्ष पूर्व जब छोटे परदे पर इस उपन्यास को धारावाहिक रूप में प्रस्तुत किया गया तब इस कृति का महत्व और अच्छे ढंग से समझ में आया। लेखक क्या कहना चाहता है, यह समझ में आया। संक्षेप में लगभग गत सात वर्षों के दौरान ग्रामीण भारत की रोमांटिक तस्वीर तो निस्संदेह टूटी है। एक नया यथार्थ सामने आया है।

श्रीलाल जी से मुलाकात के पहले उनके संबंध में कॉफी कुछ सुनने को भी मिला था। कुछ ने तो यहां तक कहा था कि वे खुर्राट नौकरशाह रह चुके है, ब्राह्मणवादी हैं, खास-खास लोगों से ही मिलते-जुलते हैं। राग दरबारी का नशा आज तक उन पर चढ़ा हुआ है। वे राग दरबारी के माध्यम से ही आज के हिन्दुस्तान को देखते हैं जबकि कॉफी कुछ तब्दीलियां अब आ चुकी हैं। यह भी आलोचना सुनने को मिली कि श्रीलाल जी में वैज्ञानिक चिंतन का नितांत अभाव है। वे ग्रामीण भारत का मजाक उड़ाते हैं। उन्होंने चीजों का आवश्यकता से अधिक उपहासीकरण किया है। यह एक प्रकार का 'सिनिसिज्म' है।

श्रीलाल जी से मेरी पहली मुलाकात भोपाल में सन् 1998 में हुई थी। हम दोनों को मध्य प्रदेश सरकार ने उस वर्ष पुरस्कृत किया था। पुरस्कार की पूर्व संध्या पर हम दोनों की दोपहर में होटल में 'बीयर-बैठकी' हुई थी। मुझे याद है मैं बमुश्किल दो बीयर की बोतल समाप्त कर सका था। लेकिन उस दिन उन्होंने चार-पांच बोतलें चढ़ाई थीं। उस दिन उनकी अलमस्त शख्सियत रह-रहकर फुदक रही थी। उन्होंने समकालीन साहित्यकारों-आलोचकों के बारे में खूब चर्चा की थी, राग-द्वेष से मुक्त होकर। इसके बाद सन् 2000 में उसी अशोका होटल में 'सुरा-बैठकी' हुई। इस बैठकी के स्टार आकर्षण थे– डॉ. नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह, डॉ. कमला प्रसाद, राजेश जोशी आदि। श्रीलाल शुक्ल 'हर दिल अजीज' बने हुए थे। ढाई-तीन घंटे की इस बैठकी में महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी

विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति अशोक वाजपेयी बहस के 'फोकस' में थे। हरेक के हर जाम के साथ सुरा के सीने को चीरता हुआ कोई विचार उठता और वापस उसमें डूब जाता। श्रीलाल शुक्ल से लेकर डॉ. कमला प्रसाद, आग्नेय आदि सभी उन्हें कटघरा में खड़ा करने की प्रतिस्पर्द्धा में जुटे हुए थे। अशोक जी को हिन्दी विश्वविद्यालय की दुर्दशा के मामले में 'खलनायक' सिद्ध किया जा रहा था। जामों के इस दौर में किसी ने प्रस्ताव उछाला कि यहां मौजूद समस्त लेखकगण संयुक्त रूप से डॉ. मुरली मनोहर जोशी (तत्कालीन मानव संसाधन विकास मंत्री) को ज्ञापन दें कि अशोक वाजपेयी को कुलपति के पद से मुक्त कर दिया जाय। चूंकि श्रीलाल जी एक प्रकार से अघोषित अध्यक्ष की मुद्रा में जमे हुए थे इसलिए सबसे पहले उन्होंने अपनी विवशता जाहिर करते हुए कहा– 'भाई ये तो सबकुछ ठीक है कि हिन्दी विश्वविद्यालय का बेड़ा गर्क अशोक के कारण हो रहा है लेकिन मैं इस मुहिम में औपचारिक रूप से खुलकर शामिल नहीं हो सकूंगा। उन्होंने सफाई दी कि मेरे अशोक जी से बहुत पुराने व्यक्तिगत संबंध रहे हैं। हमलोग एक ही 'बिरादरी' (नौकरशाही) के हैं। वे मेरे बारे में क्या सोचेंगे?' श्रीलाल जी की वाणी से फूटीं विवशता व सहानुभूति की अजस्र धारा के चरणामृत का पान करना हिन्दी साहित्य के 'सिरमौरों' ने अपना नैतिक धर्म समझा। एक कोने से आवाज आई– 'श्रीलाल जी बिलकुल सही कह रहे हैं। मुझ पर अशोक जी की कॉफी व्यक्तिगत 'अनुकपाएं रही हैं।' तीसरे ने कहा–'अशोक जी के कारण ही मैं दिल्ली और भारत भवन के बीच वर्षों 'हवाई यात्राएं' करता रहा हूं। काव्य की बरसात करता रहा हूं। दूसरे कोने से आवाज उठी– 'भाई, मैंने तो अशोक जी का चयन ही किया है। मैं ही कैसे उन्हें हटाने की बात करूं? अंतत: वाजपेयी जी के 'पोस्टमार्टम' का समापन श्रीलाल जी ने इस 'वाच' के साथ किया– 'हमलोगों ने बहुत चढ़ा ली है। अब हिन्दी विश्वविद्यालय और अशोक जी को उनकी नियति पर ही छोड़ दिया जाय–'होइहैं सोइ जो राम रचि राखा।' यह सुनते ही कमरा ठहाकों से भर उठा। और फिर सभी ने एक बार और कहा– 'वन फॉर दि रोड'। सबने एक-एक जाम और जमाया। इसके साथ ही चिकन-मटन हमलोगों की सेवा में हाजिर हो गया।

इस बैठकी से श्रीलाल जी के मानवीय रूप का भी पता चलता है। वे संबंधों का निर्वाह करना जानते हैं। दो-एक वर्ष पहले लखनऊ में भी डॉ. रमेश दीक्षित के घर ऐसी ही बैठकी जमी थी। मुझे याद है उस वक्त भी श्रीलाल जी ने बड़ी आत्मीयता के साथ संबंधों को याद किया था। लखनऊ की अपनी यादों को परोसा था। सन् 2003 में सूरीनाम में संपन्न विश्व हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर भी श्रीलाल जी के दर्शन हुए थे। वे चाहे भोपाल में हों या दिल्ली, लखनऊ, सूरीनाम आदि में मैंने उनकी अलमस्त शख्सियत को कभी भी कुम्हलाते हुए नहीं देखा।

वास्तव में श्रीलाल जी एक ऐसे व्यंग्यकार हैं जिनके पास पैनी नजर है। अभिव्यक्ति पर अद्भुत कमांड है। और वे चीजों को यथावत ढंग से सामने रखते हैं। नि:संदेह राग दरबारी शुक्ल जी का महाआख्यान है। लेकिन व्यंग्य या कोई भी कृति उस समय ठहर जाती है जब उसमें कोई 'विजन' नहीं होता। क्यों हम जार्ज बर्नार्ड शॉ, हरिशंकर परसाई को बार-बार याद करते हैं? क्या वजह है कि मनोहर श्याम जोशी, शरद जोशी आदि का शिल्प चमत्कृत तो करता है लेकिन लंबे समय तक मन-मस्तिष्क को आंदोलित नहीं कर पाता है? मेरे मत में व्यंग्य किसी का उपहास करना नहीं होता है बल्कि सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक विद्रूपताओं का साक्षात्कार कराते हुए व्यक्ति व समाज को परिवर्तन के लिए प्रेरित करना भी होता है। समाज को उसकी नग्नता का दर्शन कराना भी नि:संदेह एक उद्देश्य है लेकिन इस स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन लाना भी व्यंग्य-कृति का उद्देश्य होना चाहिए। इसके लिए एक ऐसी दृष्टि की आवश्यकता होती है जो लेखक को मनोगत नहीं बनने देती उसे समाजगत बना देती है। बेशक शुक्ल जी हमारे समय के एक अनूठे व्यंग्यकार हैं, उन्हें 'रिप्लेस' नहीं किया जा सकता। लेकिन यह भी देखने की आवश्यकता है कि वे व्यवस्था को कितना समझ पाए हैं। क्योंकि किसी भी लेखक के लिए स्थितियों का अवलोकन, फिर कृति के माध्यम से उनका रचनात्मक प्रस्तुतिकरण व्यक्तिगत होते हुए भी व्यक्तिगत नहीं होता है। समाज में सक्रिय विभिन्न सांस्थानिक शक्तियां व प्रक्रियाएं कथा-सामग्री को प्रभावित करती हैं। अत: लेखक के लिए इस ताने-बाने के 'गति-विज्ञान' को समझना भी जरूरी है। जब इस गति-विज्ञान की समझदारी का अभाव रहता है तब कृति स्वयं को 'ट्रांसेंट' नहीं कर पाती है। उसमें सर्वकालिकता नहीं रहती। कभी-कभी यह यथास्थितिवादी व रूपवादी बन जाती है। ऐसी अंतर्निहित सीमाओं के अतिक्रमण की अपेक्षा श्रीलाल जी से बनी रहेगी।

105 समाचार अपार्टमेंट, मयूर विहार फेज-1, दिल्ली-110009

. . .पृष्ठ-133 का शेष

बड़ी तारीफ की। और बड़ी गंभीरता से बोले कि यह कविता बेहद सेंसुअस कविता है। मैं चाहता था कि श्रीलाल जी कविता को काल की अवधारणा के साथ जोड़कर देखते, लेकिन श्रीलाल जी ने उसे सेंसुअस रूप में ही देखा और मैं अपने मन में शर्मिंदा होता रहा कि क्या ये कविता मात्र सेंसुअस कविता है। मुझे लगा श्रीलाल जी ने मेरी कविता की धज्जियां उड़ाकर रख दी हैं। जो तारीफ की वो मुझे अप्रासंगिक लगने लगी और लगा कि श्रीलाल जी बेलौस टिप्पणी करने में नहीं चूकते। श्रीलाल जी की उस टिप्पणी के बाद मैंने अपनी उस कविता को सुनाना लगभग ना के बराबर कर दिया और इस तरह 'मारे गए गुलफाम' हो गया।

श्रीलाल जी पारंपरिक रीति–रिवाजों के बेहद पाबंद आदमी हैं। लेकिन पोंगापंथी उन्हें पसंद नहीं है। वे छोटे–से–छोटे आदमी को उसका उचित स्थान देने में कोई संकोच नहीं करते। मैं जब भी उनके घर गया, उन्होंने बड़े प्यार से मुझे स्वीकारा और मेरे न चाहते हुए भी मुझे हमेशा ही मेरी गाड़ी तक छोड़ने आए। उनके प्यार को सोचकर मैं मन–ही–मन निहाल हो जाता हूं और ईश्वर से बार–बार यही दुआ करता हूं कि मेरा ये लाड़ला व्यंग्यकार सेहतमंद रहे और अपनी कलम से हमेशा कुछ नया देता रहे।

132 कै

गंगा प्रसाद विमल

श्री श्रीलाल शुक्ल और मेरे परिचय का इतिहास : प्रथम खण्ड

बंधुवर श्री श्रीलाल शुक्ल जी से अपना परिचय कितना पुराना है? यह जानने के लिए इतिहास खंगालना पड़ेगा। हम हिन्दी वालों को अगर 'ट्रैफिक लाइट का अशोक बाजपेई जी की कविता पर प्रभाव' विषय पर शोध करना पड़े तो आदतन पहला अध्याय बनेगा 'वेदों में ट्रैफिक लाइट की अवधारणा', और जैसा आप सब जानते हैं वेदों में तमाम प्रकार के यज्ञों-हवनों का जिक्र आता है। सूर्य, आलोक, सूर्य रश्मियों का जिक्र आता है और, और तो और नगरों का भी वर्णन वेदों में है, मेरा तो सुझाव है कि आप ज्यादा तर्क-वितर्क करते हों तो खुद ही भाई वेदों में खोज मारो, संस्कृतज्ञ पंडितों की धारणा थी कि सब वेद में है। वेद इतर कोई चीज नहीं है। यही तो मैं कहना चाहता हूं कि श्रीलाल जी का और मेरा संबंध वेद इतर नहीं है। वह ऐतिहासिक संबंध है। फिलहाल आपकी जिज्ञासा श्री अशोक वाजपेई जी की कविता और ट्रैफिक लाइट में होगी तथापि उत्तर पूर्व के लोग अपने विशिष्ट उच्चारण में उन्हें श्री अशोक भाजपाई भी कह डालते हैं उन्हें बेचारों को यह पता नहीं कि अशोक जी ने मोदी जी की नाक में नकेल डाल दी थी। कृपया यह किसी मुहावरों के विश्वकोश में देखें कि नकेल डालना क्रिया है या आभूषण दान का पुराणकालीन अनुष्ठान, मैं तो नकेल डालने के कार्य को विशेषण की कोटि में इसलिए शामिल करता हूं कि नये भाषा वैज्ञानिक व्याकरण के मुताबिक डालना क्रिया हो सकती है परन्तु अपने अनुष्ठानिक महत्व के कारण वह विशेषतायुक्त, आभूषण से अलंकृत अनुष्ठान जब मोदी जैसी संज्ञा के साथ प्रयुक्त होता है तो वह विशेषण हो जाता है। अब जैसे विहार में ईकारान्त के कारण 'हाथी आती है' प्रयोग व्याकरण के नियमों के कारण शुद्ध है तो मोदी नामक मादा के नथुनों में नकेल नामक नथ आभूषण हुई न? हुआ न यह आलंकारिक कार्य और अपनी इसी करणीय विशेषता के कारण इसे विशेषण न मानूं तो क्या आपके कहने से सर्वनाम मान लूं। कहां पड़ गये हम व्याकरण के पचड़े में, कितना अच्छा विषय है। श्री श्रीलाल शुक्ल से अपने ऐतिहासिक संबंधों की गांठ खोलने का और उससे भी गुरुतर कार्य है श्री अशोक बाजपेई जी के काव्य में ट्रैफिक लाइट के प्रभाव की गुत्थियां खोलने का अब अगर आप अशोक जी का सदाबहार कभी-कभार पढ़ते हों तो उसमें आपने गौर किया होगा कि अशोक जी ज्यादातर देश से बाहर रहते हैं, और जाहिर है जब बाहर रहते हैं तो कारों में सफर भी करते होंगे और यदि आपने यूरोप की सड़कें देखी हों तो आपने अनुभव किया होगा कि वहां ट्रैफिक लाइट की अनुशासित व्यवस्था है। अपने अशोक जी दो अनुशासनों में बड़े पक्के हैं। एक तो कारों में सफर करने के और दूसरे ट्रैफिक लाइट आते ही वे विश्व कविता भूल जाते हैं उन्हें अपनी कविताएं सूझने लगती हैं। उनके अन्य अनुशासनों पर लिखने का फिर मौका मिलेगा इस दृष्टि से न वे सिर्फ आधुनिक हैं बल्कि नगरीय भी हैं क्योंकि बहुधा देशी कवियों को तो अपना सारा सर्जनात्मक कार्य संडास में सूझता है। यही कारण है कि उनकी मीडियाक्रिटी की बदबू अशोक जी को दूर से ही सुंघाई देती हैं। मैं थोड़ा मूल विषय से भटक रहा हूं परन्तु हिन्दी शोध की परम्परा के एकदम निकट हूं क्योंकि यह विचलन हिन्दी शोध का स्थायी भाव है, मैं तो आपसे श्री श्रीलाल शुक्ल के संबंधों से शुरू हुआ था। अब मैं कहूं कि मैं उन्हें आजादी के कुछ ही वर्षों बाद से जानता हूं तो बहुतेरे लेखक तो तब पैदा ही न हुए होंगे। कुछेक तो चड्ढी में ही अपना दैनिक कार्य पूरा करते होंगे। पर पचास के दशक के बीच में ही श्रीलाल शुक्ल जी से मेरा परिचय हुआ था उनके लेखन के माध्यम से उनसे घनिष्ठता तो साठ के आरंभ में हुई जब 'अंगद का पांव' जैसी रचना पढ़ी। घनिष्ठता का एकमात्र आधार यही रचना है। रेलवे स्टेशन पर गाड़ी में परिजनों को विदा करते हुए कई बार अपने पांव इस तरह जमे कि रावण की भी क्या मजाल जो थोड़ा पांव हिला दे। मैं ज्ञानपीठ का आभारी हूं कि उन्होंने ज्ञान के लिए पीठ ही स्वीकार की, भले ही वह पाठकों की पीठ हो या लट्टुओं की। भला हो पंडित कुमार विकल का, जो साठ के दिनों लुधियाना के लाहौर बुक शॉप पर हम लोगों को मिले और वहीं हमने ज्ञानपीठ से प्रकाशित किताबें खरीदीं और मजबूरन उन्हें पढ़ना भी पड़ा, और पढ़ लीं तो जाहिर है बहस भी करनी पड़ी, तो मित्रों! उस काल की पढ़ी सामग्री के विमर्श का अड्डा वे ढाबे हुआ करते थे जहां हमारा उधार खाता था। मैं तो उसे उद्धार खाते के रूप में याद करता हूं। उसी उद्धार खाते में हम लोग कुंवर नारायण जी, केदारनाथ सिंह, अमेरिका के कवि मिलेन ब्रैंड, भारतीय कवि त्रिलोचन शास्त्री, कमलेश्वर आदि के साहित्य के करीब हुए। और उनके करीब आए। यह इतिहास इसलिए बता रहा हूं कि कुछ लोग हर वाक्य में प्रमाण की साक्षी के लिए बेचैन रहते हैं सो हमने ऐतिहासिक संबंधों की व्यवस्था के लिए आपके सामने ऐतिहासिक प्रमाण रखे हैं।

उन्हीं दिनों अपने गप्पी स्वभाव के कारण और हांकने की कला में निष्णात होने के कारण बहुत से लेखकों की वाक्य रचनाओं से उनके गुप्त जीवन के रहस्य उद्घाटित करने आरंभ किए थे तो हासिल पाया था कि लंबे वाक्यांशों का प्रयोग करने वाले दीर्घभोगी होते हैं व संक्षिप्त वाक्यांशों की रचना वाले मात्र रोगी। इस आशय के निष्कर्ष से अगले सप्ताह के स्तम्भ लेखकों ने तुरन्त प्रभाव वश अपने वाक्यांश लंबे कर दिए थे। इस प्रभाववाद को यदि ट्रैफिक लाइट के प्रभाव से मिलान करेंगे तो आप पायेंगे कि जिन लेखकों की रचनाओं में चार विराम का ज्यादा प्रयोग हो रहा है या जो स्मृति के सहारे नामों की गणना कर रहे हैं या सिर्फ 'मैं' वादी हो गये हैं,

उन्हें आप निश्चित रूप से प्रभाववादी कह सकते हैं। उलट कर एक समीक्षक ने मेरी कहानियों पर टिप्पणी की कि ये कहानियां प्लाट विहीन हैं। फलश्रुति यह है कि वे समीक्षक आज कई प्लाटों के मालिक हो गये हैं। इसी मिल्कियत के चलते अगर दावा किया जाय कि श्रीलाल शुक्ल हमारे सबसे निकट हैं तो आपको 'राग दरबारी' का पुनर्पाठ करना पड़ेगा। वहां अपन आपको दो-तीन चरित्रों में मौजूद दिखाई देंगे। लंगड़दीन से लेकर भाई सिंह जी तक। आखिर यह निकटता का ही प्रमाण है कि बड़े भाई श्रीलाल जी की स्मृति से अपन ओझल नहीं हो पाये।

दोस्तो, एक और प्रमाण अपन जुटाते हैं कि जरा देखिए आदान-प्रदान की तमाम किताबों में अपन की भूमिका आपको नजर आयेगी। राग दरबारी के मलयालम या तमिल या कन्नड़ या मराठी या गुजराती अनुवादों में आप मुझे मौजूद देख सकते हैं। अब आपको हमारे बारे में ज्यादा जानना ही हो तो खुद श्रीलाल शुक्ल जी पूछ देखें वे सीधे ही कहेंगे कि 'अरे भाई उसे शाम को ही मिलो' अर्थात निकटता का प्रथम सूत्र यही है। अगर आप अपनी बीबी से शाम को नहीं मिलते तो क्या खाक निकट हैं आप बीबी के। तब जरूर देखना पड़ेगा कि आप किसके निकट हैं। अब खोजिए कौन किसके साथ है शामों को। थोड़ा गाली-सा महसूस हो सकता है दूसरों को, वे जिनके साथ होते हैं जानना ही पड़ेगा कि जिनके साथ हैं वे किसके बारे में सोच रहे हैं? किस्सा न बयान करूं तो अच्छा क्योंकि मूल विषय तो यही है कि हम महान व्यंग्यकार श्री श्रीलाल शुक्ल के कितने निकट हैं तो व्याकरण के इस कथित वाक्य को ही देख लीजिए। हमें तो श्रीलाल जी जब उ.प्र. की सरकार में अफसर थे तो एक वक्त उन्हें तहसील का मुखिया बना दिया गया। पुलिस अब उनके इशारों पर काम करती थी। हमने पहाड़ी पंडित को अपनी जन्मपत्री दिखाई तो बांचा गया कि जातक के भाग्य में कुछ समय राजभोग लिखा हुआ है। हम चौंके अबे राजयोग तो होता है यह राज भोग क्या हुआ? हम चंडीगढ़ से दौड़े-दौड़े लखनऊ गये। अपने एकमात्र आदर्श श्री श्रीलाल शुक्ल को खोजने लगे। वे तो औरय्या की तहसील में राजकर्म में लिप्त थे। राजधर्म में उनकी अप्रतिम निष्ठा को कोई नहीं जानता था। सो अपन उत्तरप्रदेश की खटारा बस पकड़ कर औरय्या की ओर लपके, गौरैया अपना प्रिय पक्षी है– इसी तर्ज पर चालीस किलोमीटर सरकारी रफ्तार से चलने वाली बस कब पहुंची होगी औरय्या। इसे देखने के लिए या जानने के लिए घड़ी मत देखिए। उचित होगा कैलेंडर देखें। खैर पहुंचे तो अपन की हालत बहुत पतली थी। सड़कों की सारी मिट्टी हमारे बालों और कपड़ों पर थी। यानी हम कॉफी आवारा, बदचलन किस्म के आदमी नजर आ रहे थे, सो पुलिस वाले की नजर हम पर पड़ी। बोला, 'कहां जा रहे हो?' हमने कहा 'जिला मुखिया के पास जा रहे हैं।'

'कौन है जिला मुखिया?' वह पूछने लगा।

'भई आपके हाकिम हैं।'

'क्या नाम है उनका?'

'भई श्री श्रीलाल शुक्ल'

'अच्छा-अच्छा तो तुम भी वही हो. . . 'उसने भद्दी सी गाली जोड़कर कहा, 'हरामी के, यह दो बार श्री श्री लगाने की क्या जरूरत है। तुम भी साले जेबकतरे हो। चलो थाने, तुम्हारे दो साथी वहीं पकड़े रखे हैं'।

वह हमारी गर्दन पकड़ ले जाने लगा। हमने श्री श्रीलाल जी से अपनापा दिखाने के लिए कहा, 'भाई श्री श्रीलाल जी का असली नाम श्रीलाल है, उमर में बड़े हैं तो एक श्री और लगा लिया। यह शिष्टाचार और व्याकरण का तकाजा है'।

पुलिस वाले ने मुंह बिचकाया बोला, थोबड़ा चुप रख। जेब कतरे अब सफाई से कटाई ही नहीं करते मुंह में भी चाशनी उठाए रखते हैं।'

खैर जेबकतरों की संगत से तब बचे जब हमने अपनी यूनिवर्सिटी का पहचान पत्र दिखाया। पुलिस वाले ने रहमत का शुल्क यह कह कर मांग लिया कि इतनी देर में तो बस स्टैण्ड पर ही दो-तीन आसामी फंास लेता। और वह यह भी ताकीद करता गया कि खबरदार अगर लाल शुक्ल जी को मेरी हरी पीली करतूत के बारे में बताया।

श्री श्रीलाल शुक्ल जी से अपनी मुलाकातें देश में ही हुई हों– ऐसा नहीं, बल्कि मुल्क से दूर सूरीनाम में हमने बड़े भाई के साथ खूब संगत की यानी ऐसी संगत कि कुसंगियों के भी पसीने छूट जायं। जनाब हिन्दी के उम्दा अफसाना निगार कमलेश्वर जी उन दिनों चर्चा में थे। यह उतनी ही गंभीर चर्चा थी जितनी हम हिन्दी वालों के भाग्य में है कि कहीं-न-कहीं तो कोई सनसनी खेज वारदात हो कि बेचारे अखबार वालों को नमक मिर्च लगाने की जरूरत ही न पड़े। तो खासी विवादास्पद खबरें मीडिया वालों में देश में प्रचारित कीं, और मैं और श्री श्रीलाल शुक्ल जी श्री कमलेश्वर जी रसरंजनो परान्त फिर एक जगह इकट्ठे हो गये। विदेश मंत्रालय के हमारे आला हाकिम उर्दू के महबूब शाइर जानब प्रियदर्शी ठाकुर के आगे निवेदन करने की देर थी कि हमारे प्रिय शिष्य, अब डॉ. अकबर अली के जिम्मे हम आ पड़े। सो रस रंजन का पुनर्पाठ चला– चला क्या श्री श्रीलाल जी के कारण बन्द होने पर ही नहीं आ रहा था। हमें वहां से कब, कौन उठा ले गया और अपने-अपने कमरों में पहुंचा गया, यह रहस्य अभी भी रहस्य ही है। गर्चे रात भर शेरो शायरी का दौर चलता रहा। अपुन ने जब अपनी गजलें सुनानी शुरू की तो पहले तो लोग लिहाज वश सुनते रहे पर गजब तो तब हुआ जब हमने अपनी मौलिक गजल का मिसरा पढ़ा कि 'ये न थी हमारी महफिल के हमामे खास होता. . .' तो कोई बोला भाई ये कुछ-कुछ टकरा रही है। डेड़ दो-सौ साल पहले किसी शाइर ने इस तर्जे बयान में पेश किया था। 'ये न थी हमारी किस्मत. . .' तो हम गुस्से में खड़े होकर बोले, 'मियां हमें नहीं मालूम था कि डेड़-दो-सौ साल पहले हमारे तर्जे बयां की चोरी कर ली गई। हम दावे के साथ कहते हैं कि हजारों साल पहले हमारी कुछ चीजें जनाब कालिदास चुरा कर मशहूर हो गये. . .' फिर क्या था श्री श्रीलाल शुक्ल ने हमें गले लगाया बोले, 'प्यारे अपना बहुत पुराना रिश्ता है। मेरी भी बहुत सी चीजें गुम हैं जिन्हें कमलेश्वर कभी परसाई की कहता है कभी चेस्टटन की. . . तो भाइयों। पंडित श्री श्रीलाल शुक्ल जी, जो हिन्दी 'व्यंग्य-विडंम्बना' के बेताज बादशाह हैं अल्ला करे गुरुनानक देव जी के बेटे श्रीचन्द से भी ज्यादा जियें और हमें उनके बारे में लिखने के मौके मिलते रहें। वादा रहा हम आखिर-आखिर तक लिखेंगे. . .आखिरकार।

112, साउथ पार्क अपार्टमेंट्स, कालकाजी, नई दिल्ली-19

गोपाल चतुर्वेदी

साहित्य के आदर्श पुरुष

श्रीलाल जी से मेरी पहली भेंट स्वर्गीय सुरेन्द्र चतुर्वेदी जी के माध्यम से हुई थी। वाकया राग दरबारी के प्रकाशन से पहले का है। मेरी पहली नियुक्ति थी गोरखपुर में जो तब पूर्वोत्तर रेलवे का मुख्यालय था। आज भी है। मैं लखनऊ आया था एक बैठक में। सुरेन्द्र भाई के शब्दों में तब 'लखनऊ एक शहर था, इतना मैला-कुचैला न था, चन्द्रभानु गुप्त का थैला न था।' इसमें गुप्त जी की जगह किसी भी नेता का नाम जोड़ा जा सकता है। लखनऊ की गंदगी, भीड़ भरे अव्यवस्थित ट्रैफिक और जान हथेली पर रख कर रिक्शा, स्कूटर चलाने वालों को कोई फर्क नहीं पड़ना है। वह राम भरोसे तब भी अपनी मंजिल की ओर चलते रहते थे और आज भी। कभी तोंद फुलाये कानून व्यवस्था का वर्दीधारी प्रतिनिधि उन्हें अपने बेंत से हांकता है, कभी गाली से।

मैं रिक्शे से आ रहा था पूर्वोत्तर रेल के लखनऊ मंडल के दफ्तर जो हजरतगंज के कॉफी-हाउस से सौ-सवा सौ मीटर पर स्थित है। तब सरकारी दफ्तरों ने कारों और काहिली में आज जैसी तरक्की नहीं की थी! कॉफी हाउस के सामने सुरेन्द्र भाई खड़े थे। उन्होंने आवाज दी। रिक्शा रुका। मुझसे बोले कि 'इसे विदा करो और मेरे साथ चलो, आज बड़ा खास दिन है।' मैंने मीटिंग का हवाला दिया तो उन्होंने तरकीब सुझाई कि 'फोन कर दो, दोपहर के बाद कर लेना मीटिंग।'

मेरे मन में भी जिज्ञासा थी कि आज कौन-सा खास दिन है सुरेन्द्र भाई के जीवन का। वह मुझे कॉफी हाउस के अंदर ले गये जहां ठाकुर भाई (स्वर्गीय श्री ठाकुर प्रसाद सिंह) और ब्लिट्ज के श्री बिशन कपूर आदि एक मेज पर मौजूद थे जिसका अता-पता अंदर प्रवेश करते ही उन्मुक्त ठहाकों से लग जाता था। इस कॉफी हाउस का वह शायद स्वर्ण युग था। लखनऊ के सारे प्रबुद्ध जन, लेखक, पत्रकारों का मिलन स्थल था कॉफी हाउस। ठाकुर भाई और बिशन जी से दुआ-सलाम के बाद मैंने फिर सुरेन्द्र जी से खास दिन का राज जानना चाहा। वह मुस्कराते रहे और राज बयां किया ठाकुर भाई ने– 'आज सुरेन्द्र ने अपनी खटारा हैरल्ड बेच दी है। कैश इनके कोट की जेब में है और अभी यह घर नहीं जा पाये हैं कि भाभी इनकी खाना तलाशी लें और उसे जब्त करें। रुपये के आने और कार के जाने को 'सैलेब्रेट' करना है। खास दिन है कि नहीं?' सुरेन्द्र भाई के जीवन में हर क्षण एक उत्सव था,दोस्त का आना हो या कार का जाना, नहीं तो फिर सियासत की उठा-पटक।

यहीं पहली बार लखनऊ की किस्सागोई से अपना वास्ता पड़ा। उसी दिन ठाकुर भाई के श्रीमुख से बीती रात की दास्तान सुनी जब एक पत्रकार का सर्वस्व लुट गया। उसका दोष सिर्फ इतना था कि नामी-गिरामी साहित्यकार श्रीयुत् श्रीलाल शुक्ल हजरतगंज के किनारे स्थित पार्क में गांधी जी की मूर्ति के ठीक नीचे रात के नौ-दस बजे जब व्हिस्की पान में मगन थे, तब वह उनका साथ दे रहा था। कौन जाने दोनों का इरादा गांधी जी की मद्यनिषेध की नीति के विरूद्ध सांकेतिक और मौन विरोध-प्रदर्शन का रहा हो! लखनऊ में शोहदे भी होते हैं। पहले उनकी तादाद कम थी, आजकल, मुल्क की आबादी की तरह, खासी बढ़ गई है। अमुमन, कुछ शोहदों को विरोध का यह तरीका नहीं भाया। यह भी मुमकिन है कि उनके मन में भी इस अनूठे और मादक विरोध की हसरत अठखेलियां कर रही थीं।

बहरहाल, शोहदों ने श्री श्रीलाल जी और पत्रकार की अहिंसक गतिविधि के उलट, बोतल छीनने की नागवार, हिंसक हरकत की। श्रीलाल जी और पत्रकार इस उच्छृंखल व्यवहार से दुखी होकर भागे। एक का अद्धा शहीद हुआ, दूसरे का झोला। ठाकुर भाई ने दार्शनिक अंदाज में बताया कि उस झोले में युवा पत्रकार की आजतक की

कमाई, पहले प्रेम की सौगात, उसकी प्रिया के प्रेमपत्र थे। अद्धे तो बहुतेरे मिल जाते हैं, प्रेम पत्र कैसे मिलेंगे! शोहदों का क्या भरोसा? वह पत्रकार को तो नहीं, उसकी प्रेमिका को ब्लैक मेल भी कर सकते हैं। वह बेचारा लिखाये तो पुलिस में रिपोर्ट भी कैसे लिखवाये? जाहिर है कि मेज पर बैठे अधिकतर लोगों की हमदर्दी पत्रकार के साथ थी। हालांकि एक सज्जन ने श्रीलाल जी के वारदात स्थल पर गंवाये अद्धे को बेशकीमती बनाने की हरचंद कोशिश की। उनके अनुसार समय और तलब के संदर्भ में अनमोल था अद्धा जैसे किसी बेहद भूखे आदमी के लिये नमक-रोटी। उस आधी रात के वक्त लखनऊ की सारी दुकानें बंद थीं। तलब की तीव्रता उसके शिकार ही समझ सकते हैं। इन हालात में उस आधी बोतल का मोल लगाना कठिन ही नहीं, असंभव भी है।

यह अवध की मिट्टी का ही प्रभाव है कि यहां जन्म लेकर यशपाल, भगवतीचरण वर्मा और अमृत लाल नागर जी ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया। आज श्रीलाल जी उसी परम्परा को आगे बढ़ा रहे हैं। यह वाकया कितना 'झूठा सच' है, यह मैं नहीं जानता, हालांकि उसी दिन दोपहर को जब सुरेन्द्र जी ने अपना मुख्यालय कॉफी हाउस से अवध जिमखाना शिफ्ट किया तो श्रीलाल जी से अपनी पहली मुलाकात हुई। हम लोग रात तक साथ थे। मेरी मीटिंग उस दिन न होनी थी, न हो पाई। श्रीलाल जी के संसर्ग में समय कैसे बीता, पता ही न चला।

पहली बार राग दरबारी का जिक्र मैंने उसी दिन सुना। तब वह सरकारी भूलभुलैया से निकलने को छटपटा रही थी। श्रीलाल जी ने स्वयं ही उसे इस कठिन मुहिम में भेजा था। सबको चिन्ता थी कि कब वह अनुमति पाकर सरकारी कारा से मुक्ति पायेगी। हममें किसी को अनुमान न था कि एक बार सरकार के चंगुल से छूटी तो मुक्ति पाकर छपते ही, यह रचना लोकप्रियता और श्रेष्ठता का इतिहास रचेगी।

मन में लखनऊ आने का आकर्षण और बढ़ गया श्रीलाल जी से भेंट की अपेक्षा में। मुझे एक घटना का स्मरण है जिसका मैं स्वयं साक्षी हूं। हमारे एक भारतीय पुलिस सेवा के मित्र की शादी थी जो लखनऊ से ही सम्पन्न होनी थी। माउन्ट आबू के प्रशिक्षण की सजा हम लोगों ने साथ-साथ ही भोगी थी। स्वाभाविक है कि मैं गोरखपुर से उनके जीवन के इस निर्णायक मोड़ में भाग लेने लखनऊ आता। दिन में उनसे भेंट हुई और इस निश्चय के साथ हम विदा हुये कि शाम को बारात में साथ-साथ रहेंगे। यह भी तय हुआ कि उत्सव के इस आनंद को बढ़ाने के लिए कुछ गला भी तर होगा, व्हिस्की नामक तरल विदेशी द्रव्य से, जिसका प्रबंध भी वह करेंगे।

वह तय समय पर अवध जिमखाना आये। वहां सुरेन्द्र भाई और श्रीलाल जी ने उनका स्वागत किया। हम लोगों ने उनकी शादी के अतिरिक्त दुनिया भर की चर्चा की। जाने कब यह महफिल क्लब से कार्ल्टन होटल के हरे-भरे लॉन में आ जमी। उनकी लाई बोतल खाली हो चुकी थी। परिचित आते-जाते रहे। किसी को ध्यान न आया कि अवसर विवाह का है। बारात का दूल्हा हमारे साथ है और अपने कुंवारेपन का अन्तिम जश्न मना रहा है। वह तो गनीमत हुई कि उनके आई.पी.एस. छोटे भाई ने अपने पेशेवर प्रशिक्षण का सही और उचित प्रयोग किया और बड़े को हेरते-खोजते कार्ल्टन होटल तक आ पहुंचे वरना वर की तो होती ही, उसके दोस्तों की भी खासी बदनामी होती हमें यकीन है न भाभी माफ करतीं, न घर में घुसने देतीं। हमें स्मरण है। सब लोग वर को एक और पैग के लिए रोक रहे थे। सिर्फ श्रीलाल जी ने समझदारी का सुझाव दिया था- 'जाने भी दो। आज इसकी शादी है! और अब यह उसके लिए पूरी तरह तैयार है।'

श्रीलाल जी जब भी करते हैं, समझदारी की ही बात करते हैं। उन्हें ढोंग, पाखंड, हम्बग से चिढ़ है। उनका पूरा लेखन इस मूल तथ्य का साक्षी है। कभी-कभी हमें लगता है कि खुलेआम, निजी जीवन में बेहिचक सुरापान भी सामाजिक स्तर पर उनके ढोंग-पाखंड के विरुद्ध सतत संघर्ष का ही आवश्यक अंग है जो उनके रचनात्मक लेखन की भी शक्ति है। इस प्रकार श्रीलाल जी उन अनूठे व्यक्तियों में हैं जो आज हर क्षेत्र में सर्वत्र प्रचलित कथनी और करनी के अंतर से कतई मुक्त हैं। उनके व्यक्तित्व में न अफसर की हेकड़ी है, न किसी बड़े साहित्यकार होने का दर्प। उनका व्यवहार घर के उस बुजुर्ग का व्यवहार है जो परिवार की कुशल-क्षेम के बारे में चिंतित है और मेहमान की खातिर में ध्यान मग्न। उनमें किसी को भी अपने सहज स्वाभाविक स्नेह में बांधने की सामर्थ्य है।

श्रीलाल जी अपनी ओर से कम ही साहित्य की चर्चा शुरू करते हैं। यदि कोई दूसरा शुरुआत करे तो वह उसे हिंदी ही नहीं, विश्व साहित्य का संदर्भ देकर, अपना पक्ष रखने में समर्थ हैं। उनका पढ़ने का माद्दा गजब का है। मुझे तो उनकी पढ़ने, उसे याद रखने और समझने की क्षमता पर सुखद आश्चर्य होता है। श्रीलालजी में ज्ञान बटोरने और संचित करने की अद्‌भुत क्षमता है जैसी अक्सर लोगों में धन-संचय की होती है। कौन जाने, ज्ञान-संचय को ही वह अपना धन मानते हैं। मेरी श्रीलाल जी के छोटे दामाद सुनील से हार्दिक हमदर्दी है जो आज भी खौफजदा है कि उनके जर्मनी में रहने और थोड़ी बहुत जर्मन जानने के कारण श्रीलाल जी कहीं मूल जर्मन में ग्युन्टर ग्रास पढ़ा कि नहीं और यदि पढ़ा तो, उनके लेखन के बारे में उससे चर्चा न छोड़ दें।

मुझे कभी-कभी यह भी ताज्जुब होता है कि इतना कर्मठ और व्यस्त सामाजिक तथा शासकीय जीवन बिताकर कैसे श्रीलाल जी ने दस उत्कृष्ट उपन्यास, नौ व्यंग्य संग्रह, एक आलोचना पुस्तक वगैरह-वगैरह लिख डाले? यह कठिन कर्म कलम के किसी दृढ़प्रतिज्ञ साधक कर्मयोगी के लिए ही संभव है। उनके अधिकतर रचनात्मक लेखन में व्यंग्य का आधिक्य है पर उनकी मान्यता है कि 'लेखन मुझे मुक्त करता है।' फिर वह किसी विधा का बंधन कैसे मानें! 'अज्ञेय : कुछ रंग, कुछ राग' में उन्होंने परसाई को सर्वथा एक नए नजरिए से देखा है, व्यंग्य लेखन की सीमाएं बताई हैं और व्यंग्य लेखन के उज्ज्वल भविष्य की ओर इंगित भी किया है। क्या इतना कॉफी नहीं है।

हम सब मिलकर साहित्य के इस आदर्श पुरुष के लंबे तथा सक्रिय जीवन की कामना कर सकते हैं यह कहकर कि 'तुम जियो हजारो साल, साल के दिन हों पचास हजार।'

9/5 राणाप्रताप मार्ग लखनऊ- 226001

कमलेश अवस्थी

राग कोमल : श्री श्रीलाल शुक्ल

श्री श्रीलाल शुक्ल से अभी 4 नवम्बर को मिलना हुआ। अरसे बाद अपनी बीमारी का जामा उतार कर वे अपने पहले वाले हंसते, खिलखिलाते अंदाज में मिले। उन्हें देख मन प्रसन्न हो गया। दरअसल इस पूरे साल उनसे मिलना तो लगभग हर महीने हुआ, उन्हें देखने के बहाने। इधर वे लगातार अस्वस्थ चल रहे थे। जब भी फोन पर बात हो, वे कहें बेहतर हूं, पर अभी तुम मत आओ। पर मैं लखनऊ जाती कानपुर से और कोई-न-कोई लखनऊ आने का बहाना उन्हें बता देती, ताकि उन्हें यह न लगे कि उन्हें देखने ही आई है। सच तो यह है कि इस पूरे वर्ष उनसे स्नेह और आत्मीयता बढ़ती गई है।

उस दिन उनको देखते ही मैंने कहा– 'पापा! आज तो आप बहुत अच्छे लग रहे हैं। छूटते ही मुस्कराते हुए अपने सहज अंदाज में बोले– बात यह है कि यह इस कुर्ता-पाजामा का कमाल है। और फिर उन्होंने फिराक साहब का एक किस्सा सुना डाला, जब फिराक गोरखपुरी की रेडियो के लिए रिकार्डिंग करने नर्मदेश्वर उपाध्याय उनके घर पहुंचे। फिराक जी तब केवल कुर्ता पहनते थे। रेकार्डिंग के बाद नर्मदेश्वर जी ने पांच सौ रुपए का चेक फिराक साहब को दिया और जब जाने लगे तो कहा कि फिराक साहब अगर दिक्कत न हो तो पाजामा पहना दें।

पांच सौ रुपए के चेक को तोड़-मोड़कर फेंकते हुए फिराक साहब बोले– 'पांच सौ रुपए का चेक देकर हमें पाजामा पहनाने चले।' हक्के-बक्के नर्मदेश्वर जी तुरन्त चलते बने। श्रीलाल जी खिलखिलाकर हंसते हुए बोले– तब शायरों, कवियों आदि की आन, बान, शान इसी तरह अपने ढंग की थी।

'तब मुझे याद आया 'राग दरबारी' का वह प्रसंग– सब वर्गों की हंसी और ठहाके अलग-अलग होते हैं। कॉफी हाऊस में बैठे साहित्यकारों का ठहाका कई जगहों से निकलता है, किसी के गले से किसी के मुंह से और किसी के पेट की गहराई से निकलता है और उनमें से एकाध ऐसे भी रह जाते हैं जो सिर्फ सोचते हैं कि ठहाका लगाया क्यों गया है' पर यहां यह ठहाका न राजनीतिज्ञ ने लगाया था, न अफसर, न नेता और न ही नौजवान ने। यह ठहाका था श्रीलाल शुक्ल का जो दूसरों से कहीं अधिक अपने पर खूब हंसते, हंसाते और व्यंग्य करते हैं।

श्रीलाल जी के प्रसन्नचित्त होने का एक कारण यह भी था कि उनके बड़े दामाद उदयशंकर अवस्थी भी उस दिन आए हुए थे। सरस और रोचक ढंग से बतियाने के लिए मशहूर श्रीलाल जी ने तब दूसरे किस्से का छोर पकड़ते हुए कहना शुरू किया कि वह तो अच्छा हुआ यह कि हम जैसों का हिजार बंद का झंझट ही समिट रहा है– इलास्टिक ने उसकी जगह ले ली है। यह उम्र क्या-क्या न करा ले। कहते-कहते वह हंसते-हंसते हिजारबंदों की व्याख्या कर रहे थे जो एक जमाने में फैशन में थे और आज गायब हो रहे थे।

असल में श्रीलाल जी जब बोलते हों तो दूसरे प्रायः श्रोता ही होते हैं और उनके बोलने की नौबत ही कम आती है। पर यहां उनके दामाद केवल तीन घंटे के लिए उनसे मिलने आए थे। पापा को इस तरह हंसता-बोलता खिलखिलाता और चैतन्य देख वे भी संतुष्ट और खुश थे। और उन्होंने भी उनकी हां में हां मिलाते हुए कहा कि हां पापा मैंने भी अब पैंट की तरह आगे से खुले जिपदार इलास्टिक पड़े पाजामे बनवाने शुरू किए हैं। पापा को तुरंत ध्यान आया कि अपने टेलर से पापा के लिए सफेद खादी के कुर्ते-पाजामे सिलाकर सुधीर ने भेजे हैं। और उन्होंने स्पष्ट किया कि यह रंगीन कुर्ता जो पहने हूं, वह तो स्मार्ट दिखने के लिए।

तब तक कॉफी पीने का समय हो गया और पूछा गया कि कौन कैसी कॉफी पसंद करेगा। पापा ने कहा कि जैसी सब लेंगे। पर सुधीर का आग्रह था कि आजकल सबका स्वाद और पसन्द अलग-अलग है– स्वास्थ्य भी, इसलिए जरूर बताएं। पापा की पसन्द ब्लैक कॉफी, चीनी के साथ, मेरी पसन्द परम्परात्मक थी, दूध-चीनी के साथ और सुधीर ने ब्लैक कॉफी की फरमाइश की।

इसी बीच सुधीर को बोलने का मौका मिल गया था। वे चाहते थे कि पापा की एक्टिविटी अगर बढ़ जाय तो उनमें पढ़ने-लिखने का पुनः आत्मविश्वास आ सकता है और उनसे लेटने के बजाय बैठने का आग्रह किया। श्रीलाल शुक्ल जी के बैठते ही लगा उनमें एक नयी स्फूर्ति आ गई है। तभी सुधीर ने बताया कि विदेश में विशेषकर अमरीका में बुजुर्गों के लिए ऐसी कुर्सियां बनी हैं जिनमें बैठकर वे अपने काम अपने आप कर सकते हैं– नम्बर वन, नम्बर टू, नम्बर थ्री काम की बटनें या स्विच दबाकर। वहां तो बड़े-बूढ़े अपना काम अपने आप करते हैं, उनका परिवार उनके साथ तो होता नहीं। अब तो वे अपनी शॉपिंग के लिए भी शॉपिंग माल तक इन्हीं व्हील चेयर से जाते हैं और अपने मन के मुताबिक सामान कुर्सी के साथ लगी बास्केट में डालते जाते हैं और खुद ही बिलिंग तक करा लेते हैं। बैंक भी जाते हैं। इस तरह न तो वे किसी पर बोझ बनते हैं और न ही उनमें किसी प्रकार की हीन भावना पनपती है। आत्मनिर्भरता ने उन्हें नयी चेतना ही नहीं दी बल्कि उनके स्वाभिमान को बरकरार रखा है।

भारत में हम लोग शायद बीमार को बीमारी का अहसास होने देते हैं जिससे उसका मनोबल गिरता जाता है। यहां सुधीर पापा में एक चेतना जगाने का प्रयास शायद कर रहे थे। उनकी खोई हुई शक्ति को वापस पटरी पर लाने का जतन भी। अपनी सकारात्मक

सोच से पापा को स्वस्थ और चैतन्य देखना चाह रहे थे जिसके लिए वे निरन्तर प्रयत्नशील भी रहते हैं तमाम व्यस्तताओं के बावजूद, पापा से वे निरन्तर मिलने आते हैं और उनके लिए– श्रीलाल शुक्ल के लिए–पद्मभूषण से अलंकृत श्रीलाल शुक्ल के लिए वे कुछ भी करने को तैयार रहते हैं, जिससे उन्हें संतोष, सुख, संतुष्टि और स्वाभिमान मिल सके।

अब तक तीन कप कॉफी आ गई थी। सुधीर ने अपने हाथ से पापा को कॉफी दी और चाह रहे थे कि पीने में पापा पूरी सक्रियता बरतें और इसमें वे सफल भी हुए। लगा कि इसमें भले ही समय लगा पर भीतर से बाहर तक पापा में एक नई चेतना हम सब देख रहे थे।

पद्मविभूषण को लेकर पापा अतिरिक्त उत्साहित नहीं दिखे। जीवन में उन्होंने इतने मान–सम्मान पुरस्कार अपने बल पर ही पाए हैं कि अतिरिक्त खुशी की जैसे अब गुंजाइश ही नहीं थी। जोड़–तोड़ में विश्वास न करने वाले श्रीलाल शुक्ल के चेहरे पर आध्यात्मिक शांति और संतुष्टि की झलक कभी भी देखी जा सकती है।

उन्हें देखकर पहले तो ताज्जुब होता था कि ऐसा संतोषी, निर्विकार, परोपकारी, सहनशील, सौम्य, सहृदय, सुव्यवस्थित शासक व्यक्ति 'राग दरबारी' के वैद्यजी के हथकण्डे कैसे पहचान गया। तब एक दिन कुरेदने पर वे बड़े उत्साह से कह गए थे कि शिवपालगंज तो अब पास ही आ गया है। प्रिंसिपल साहब, बद्री पहलवान, सनीचर, लंगड़ वगैरह भी सब आस–पास ही रहने लगे हैं. . .और देर तक वे हमें समाज में व्याप्त विषमताओं से अधिक रचनात्मकता के सूत्र बताते रहे। यह भी कि कुछ दिनों पहले अतरौली अपने गांव गया था। गांव में आज भी ताजगी का एक झोंका मिलता है– अपनापन भी, अपनी मिट्टी का स्पर्श भी।. . . शायद वही उन्हें निश्छलता और सरसता से सराबोर करता रहता है।

'भ्रमरानंद का एक और आग्रह था कि इन पत्रों का संग्रह कभी छपे तो श्रीलाल शुक्ल को समर्पित किया जाए। श्रीलाल शुक्ल मेरे मित्र हैं और कब उन्होंने भ्रमरानंद को मित्र बनाया, मुझे पता नहीं। उनकी बुद्धि की सराहना ही करूंगा, पर भ्रमरानंद की इच्छा तो पूरी ही करूंगा।'

–गोपाल चतुर्वेदी

कॉफी समाप्त होने पर पापा यह कहना नहीं भूले सबके साथ कि कॉफी बहुत अच्छी थी और फिर लखनऊ तथा दिल्ली में अच्छी कॉफी फलां–फलां जगह मिलती है। यशपाल, भगवती बाबू और कुंवरनारायण आदि के साथ कॉफी हाऊस की यादें ताजा होती रहीं। इसी बीच तमाम योजनाओं पर वे सुधीर के साथ अपनी सकारात्मक राय और टिप्पणियां जब दे रहे थे तो लगा ही नहीं कि वे बीमार भी रहे हैं। श्रीलाल जी की जगह कोई और होता तो शायद अनेक भौतिक प्रलोभनों में फंसा, अटका होता, पर उनके मन की तरलता और साफगोई से फिर लगा कि इसीलिए वे लेखकों में सर्वप्रिय हैं।

अपने लेखक वर्ग और लेखन के लिए भी उनकी उतनी ही स्पष्ट और दृढ़ राय है। प्रगतिशील विचारधारा के प्रश्न पर हर बार की तरह इस बार भी उनकी राय थी कि उससे बहुत आश्वस्त नहीं हूं और बोले कि मैं तो रचना कर्म की पहली शर्त समाजधर्मिता ही मानता हूं। लेखकों पर बातचीत में श्रीलाल जी कहीं पक्षधर नहीं दिखते। वे उन पर अपनी स्पष्ट राय देते हुए उन रचनाकारों पर आ जाते हैं जो अच्छा लिख–पढ़ रहे हैं। तब लगा कि वे नये से नये लेखकों–रचनाकारों को पढ़ते हैं। और यह कि वे व्यक्ति के माध्यम से प्रवृत्ति का विश्लेषण करते हैं।

तभी अचानक सोचते–सोचते वे अपने पुराने अजीज मित्रों भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, यशपाल, आदि के साथ बिताए ढेरों आत्मीय किस्से सुना जाते हैं। वे कहते हैं कि सचाई यह है कि हम जैसे कई लोग जो आयु के अन्तराल के बावजूद उनके निकट थे और उनके पास अपने को ऊंचा उठता महसूस करते थे। पद्मभूषण अलंकार पर उन्हें याद आती है न केवल भगवती चरण वर्मा की बल्कि अमृतलाल नागर की भी जिन्हें 1981 में राष्ट्रपति ने पद्मभूषण से अलंकृत किया था।

सच तो यह है कि श्रीलाल जी के साथ बैठना जितना सुखद और सुकून देने वाला होता है उतना ही आनन्ददायक भी। बातचीत की घोर व्यस्तता में भी सबकी खैर–खबर लेना वे नहीं भूलते। एक बार की बात है जब पापा से मिलने हम उनके घर गए थे तो कॉफी देर बाद बातचीत के दौरान वे पूछ बैठे तुम आई कैसे हो। ड्राइवर का नाम सुनते ही वे भड़क से गए और पूछा कि किसने तुम्हें सलाह दी उसके साथ आने की? और कुछ घबराते से बोले कि खैर आ तो गई हो पर जाते समय गाड़ी और ड्राइवर की दूसरी व्यवस्था होगी। तब उन्होंने उसके गाड़ी चलाने के अंदाज का जो बयां किया, वह अनोखा था। बोले भगवान का शुक्र है कि तुम सही सलामत आ गई। और तब मुझे ध्यान आया उनका वह लेख– 'दि ग्रैंड मोटर ड्राइविंग स्कूल' जिसमें लेखक कार चलाना सीख रहा है एक ऐसे ड्राइवर से जो उस्तादों का उस्ताद है। लेखक कहता है– जब मैं ट्रेनिंग के लिए फिएट गाड़ी लेकर निकलता हूं, मेरी बगल में उस्ताद होते हैं। उनकी गाड़ी के दूसरी गाड़ी में टकराने से लगी चोट से लेखक की नाक से खून निकलने पर उस्ताद ड्राइवर बिल्कुल हल्के अंदाज में कहते हैं– 'घबराइए नहीं' नकसीर फूटने पर मेरे पास बड़ा उम्दा इलाज है।'

श्रीलाल जी को ऐसे उस्तादों की खूब परख थी, इसलिए वे उस्ताद का मुआइना करने अपने घर के गेट के बाहर जब आए तो उस्ताद ने लपक कर श्रीलाल जी के पैर छू लिए। सचमुच में वह एक जमाने में उनका उस्ताद था और श्रीलाल जी जरूर अपनी नकसीर उससे बहवा चुके होंगे और हर्गिज नहीं चाहते थे कि मेरी भी नकसीर फूटे।

'राग दरबारी' लिखने पर वे बड़ी बेबाकी से कहते हैं कि असल में मैं गांव में रहा हूं और उससे मेरा लगाव भी है शायद इसीलिए अभी इस उम्र में भी मैं अपने गांव जाता रहता हूं जैसा मैंने पहले बताया ही है। गांव की मिट्टी की गंध मुझे खींचती है इसीलिए मेरा अतिशय लगाव है इससे। इसे मैं भारतीय जीवन की प्रमुख धारा मानता हूं। वे कहते हैं कि हिन्दी साहित्य में ग्रामीण जीवन पर दो दृष्टियों से अभी तक लिखा गया है– पर मेरा लेखन

उससे हटकर है और वे स्पष्ट करते हैं कि सनीचर, लंगड़ और छोटे पहलवान जैसे पात्र दिल्ली के साउथ ब्लाक के दफ्तरों में नहीं मिल सकते और पंचायती अदालत के सरपंच और कुसहर प्रसाद का झमेला सुप्रीम कोर्ट में नहीं देखा जा सकता।

'राग दरबारी' पर पहली बार मुक्त होकर बोल रहे श्रीलाल जी कहते हैं कि 'राग दरबारी' हाई कामेडी या व्यंग्य गांवों के उस मूड से मेल खाता है जहां विपत्तियों और संघर्षों के बावजूद लोग हर छोटी-छोटी बात से अपने को खुश रखने की कोशिश करते हैं। इन संघर्षों या विपत्तियों को झेलने में नियतिवाद ही उनका एकमात्र शस्त्र नहीं है, जीवन के प्रति उनमें एक खुली हुई दृष्टि भी है जो उतने ही कारगर एक दूसरे अस्त्र की सृष्टि करती है जिसका नाम परिहास-बोध है। आम आदमी 'राग दरबारी' के लंगड़ की तरह दफ्तरों और अफसरों के चक्कर काटता रहता है।

श्रीलालजी बताते हैं– 'मकान' उपन्यास की कथा भी कुछ-कुछ इस सरकारी महकमे की कृपा से ही बुनती गई। वे कहते हैं कि मैं कई बार बता चुका हूं कि 'मकान' उन दो आला अफसरों की कृपा का फल है जिनमें से एक ने मुझे लामकान रखा और दूसरे ने कुछ हफ्ते दफ्तर में बेकार बैठाया। यह बात 1971की है जब मेरी नियुक्ति लखनऊ में दुबारा हुई पर सरकारी मकान कई महीने नहीं मिला। तब मेरा परिवार कानपुर में था। मेरे नये विभाग के आला अफसर ने मुझे कोई काम नहीं दिया, कहा कि कुछ दिनों तक आप वित्तीय नियमों का अध्ययन करें। उन दिनों लखनऊ में जो सबसे अच्छा होटल था, उसे मैंने दोपहर में कृतार्थ करना शुरू कर दिया। मैं वहां के दिलकश लॉन में जा बैठता, कुछ खाते और कुछ पीते हुए दो-ढाई घंटे बिताकर वापस लौटता। वहीं होटल की स्टेशनरी पर एक उपन्यास लिखना शुरू किया वह था– 'मकान'।

शुरू-शुरू में वह केवल मकान की तलाश थी पर बाद में मकान की तलाश एक आध्यात्मिक तलाश में बदल गई। श्रीलाल जी कहते हैं कि 'मकान' में मैंने एक नयी शैली का प्रयोग किया है। इस गम्भीर स्थिति के व्यंग्य को मैंने व्यंग्य के ही प्रयोग से उभारना चाहा। 'मकान' का व्यंग्य उसकी बुनावट का अनिवार्य, अन्तर्गुंफित तत्व है।

सम्मानों और पुरस्कारों को पाकर आपको कैसा लगता है के जवाब में श्रीलाल जी बड़ी बेबाकी से कहते हैं कि जब एक लेखक स्टैब्लिश्ड हो जाता है तो इस अनुभूति से थोड़ा ऊपर उठ जाता है . . .पर निश्चित रूप से एक सुखद स्थिति होती है। पर पुरस्कारों और सम्मानों को लेकर उनकी धारणा है कि उसके पीछे कभी-कभी व्यक्तिगत आग्रह भी होते हैं, दुराग्रह भी होते होंगे– लॉबीइंग भी, जो राष्ट्रीय से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कारों तक से जुड़ी है। कभी-कभी आश्चर्य भी होता है पुरस्कारों की इन स्थितियों से। लेकिन यह भी सही है कि इनके पीछे व्यक्ति की पहचान जरूर निहित होती है।

तब वे अपने अंदाज में एक प्रसंग बताते हैं कि उत्तरप्रदेश सरकार ने जब 'यश भारती' नाम का पुरस्कार उन्हें देने का मन बनाया तो उनके पास संदेश आया कि पन्द्रह दिन में जलसा होना है, आप अपनी स्वीकृति दे दीजिए। वे कहते हैं कि मैं सोचने-समझने वाला आदमी ठहरा। मैंने समझना चाहा कि पुरस्कार का आधार क्या है? बमुश्किल पता लगा कि विभिन्न क्षेत्रों के महत्वपूर्ण व्यक्तियों को यह पुरस्कार दिया जाना है, जिसने राज्य का सर ऊंचा किया हो।

मैं निर्णय भी हड़बड़ी में नहीं करता और इन पुरस्कारों पर तो बहुत सोच-समझकर राय बनाता हूं। जब पता लगा कि अपने क्षेत्र में अद्वितीय साहस और प्रतिभा के लिए कानपुर की एक चौदह वर्षीय लड़की को भी यह सम्मान दिया जा रहा है जिसने घोर बरसात में भरी गंगा में तैरने का साहस प्रदर्शित किया। और एक पहलवान को भी अपने क्षेत्र के लिए दिया जा रहा है– तो मैं आश्वस्त हो गया। असल में पुरस्कार या सम्मान की विश्वसनीयता बहुत कुछ निर्णायकों की विश्वसनीयता पर निर्भर करती है, जिसका जरूरी नहीं कि पता ही लगे। पर इन निर्णयों का कोई आधार तो होता ही है। बावजूद इसके कई बार पुरस्कृत बहुत पापुलर नहीं होता। तभी याद आया श्रीलाल जी का वह लेख 'एक पद्मभूषण का अभिनन्दन।'

वे मानते हैं कि सम्मान या पुरस्कार लेखक से भविष्य में उत्कृष्टता, रचनाशीलता की अपेक्षा करती है। प्रत्येक पुरस्कार जहां एक ओर रचनाकार को सुखद अनुभूति देता है, वहीं चुनौती का भी अहसास करा देता है। इस रचनाधर्मिता के केन्द्र में मनुष्य है– कभी प्रसन्न तो कभी दुखी, उल्लसित, यही मनुष्य सृष्टि का केन्द्र बिन्दु भी है।

साहित्य में सम्मानों और पुरस्कारों की बात चलने पर आलोचना के लिए दिए जाने वाले 'देवीशंकर अवस्थी सम्मान' की सार्थकता पर प्रश्न करने पर श्रीलाल जी की राय स्पष्ट थी कि इस सम्मान की बुनियाद ही हिन्दी आलोचना में युवाओं को प्रोत्साहन देने के लिए की गई थी। साहित्य में विशेषकर आलोचना में तत्काल परिवर्तन नहीं होता और न ही दिखाई पड़ता है। सम्मान उस क्षेत्र में हलचल को कायम करने में मदद करता है।

अब तक अपने व्यंग्यात्मक शैली पर उतर आये श्रीलालजी ने आलोचना को अपने प्रिय खेल क्रिकेट की गेंद की गति से उपमा देते हुए कहा कि आलोचना या साहित्य की नाप-जोख किसी मशीन द्वारा किसी प्रकार सम्भव नहीं है। सौ मीटर, दो सौ मीटर की दौड़ के लिए निश्चित मापक पर मापदण्ड लगा होता है, इसलिए उनमें तत्काल निर्णय, वह भी सही निर्णय हो जाता है। इसके प्रभाव भी तत्काल दिखाई देते हैं। पर साहित्य कोई शारीरिक मापदण्ड जैसी प्रक्रिया नहीं है और न ही उसके परिणाम तात्कालिक हो सकते हैं। शारीरिक और मानसिक क्रियाओं एवं प्रक्रियाओं में बहुत अंतर है। साहित्य में कोई मीटर, वैरोमीटर तो लगा नहीं होता और न ही ऐसी आशा की जाती है। सैकड़ो लोग पूरे संसार में सम्मान या पुरस्कार की चाहत कर सकते हैं पर पुरस्कार के लिए अगर उस तरह की तैयारी नहीं है तो निश्चित रूप से मुश्किल है।

साहित्य के प्रभाव तत्काल दिखाई भले नहीं पड़ते पर इसके प्रभाव और परिणाम आगे तक जाते हैं– इसकी पुष्टि उन्होंने भगवती चरण वर्मा का उदाहरण देते हुए कि उनके 'चित्रलेखा' का सफल उपन्यास बनना, मकान के लिए एक सदाशयी अफसर की मदद से जमीन का इंतजाम हो जाना, तंगी की हालत में किसी फिल्म कम्पनी से दस हजार रूपए मिल जाना, फिर 'पद्मभूषण' का अलंकार या राज्य सभा की मानद सदस्यता पाना– यह सब भगवती बाबू को

धुप्पल या चमत्कार जैसा जान पड़ता था, अपने स्वभाव की विशिष्टता या प्रतिभा का प्रतिफल नहीं। श्रीलाल जी बताते हैं कि सच तो यह है कि रचनाकार की हैसियत से पैंतीस वर्ष की आयु तक उन्हें विशिष्ट ख्याति मिल चुकी थी। हमारे जैसे हाईस्कूल के छात्र उनकी रचनाओं को तभी पाठ्यपुस्तकों में पढ़कर अच्छी हिन्दी लिखना सीख रहे थे।

1960 तक यदि भगवती बाबू महत्वपूर्ण लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे तो पुरस्कार, अलंकरण, रायल्टी, फिल्म की आमदनी, राज्यसभा की सदस्यता आदि उस ख्याति के सहज बाई-प्रोडक्ट भर थे, यह किसी प्रकार की आकस्मिकता या धुघल का योग नहीं था। तभी वे फिर कहते हैं कि साहित्य की सफलता तात्कालिक सौ या दो सौ मीटर की रेस की तरह न तो दिखाई पड़ती है और न ही उसे मापने की कोई मशीन या घड़ी है।

श्रीलाल जी आधुनिक युग में आलोचना की स्थिति के प्रश्न पर बड़ी बेबाकी से कह देते हैं– गरीब है- यह भी कि एक पुस्तक को समझने में जो आलोचना मदद न करे, वह कमजोर है। उनका मानना है कि समीक्षा एक रचनात्मक कार्य है, रचनात्मक रुचि और दृष्टि के अभाव में कितने ही लोग लिख भले ही रहे हैं, पर वह समीक्षा नहीं है। खेमों में बंटी आलोचना पर भी उनकी स्पष्ट राय है कि निराला और भैरवप्रसाद गुप्त जैसे लेखक केवल प्रगतिशील ही नहीं थे, वे उसके आगे भी निकल गए थे।

इसी संदर्भ में वे कहते हैं कि आज लेखक का स्थापित होना कठिन है, आज उसे स्थापित होने में एक पीढ़ी गुजर जाती है। पहले जैसा संवाद भी अब नहीं है। पहले पच्चीस-तीस-पैंतीस की उम्र में लेखक एक अच्छी किताब लिख लेता था। वे फिर भगवतीचरण वर्मा का उदाहरण देते हैं कि उन्होंने 'चित्रलेखा' जब लिखा तब वे छब्बीस-सताइस साल के थे। छपा भले ही बत्तीस में हो। यह उपन्यास उनके यश का साक्षी है। यही नहीं धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' तब और आज भी सबसे पठनीय उपन्यास है जो उन्होंने पच्चीस साल की उम्र में लिखा था। यशपाल, नागर कम उम्र में ही पठनीय, पापुलर और इस्टैब्लिश्ड हो गए थे। तब लम्बे समय तक चलने वाली पत्रिकाएं थीं, उनका सर्कुलेशन भी अच्छा था। इससे लेखक विराट पाठक समुदाय में पहुंचते थे।

अपने प्रिय लेखकों में अज्ञेय, निराला, टैगोर, निर्मल वर्मा को वे एक साथ बता जाते हैं– फिर और भी। इनके स्वतंत्र लेखन पर बात चलने पर वे कहते हैं कि मुझे भी लेखन मुक्त कराता है और जब बंधनों से छुटकारा पाने को लेखक-वृत्ति अपनाई तो फिर मैं कहीं किसी लेखकीय संगठन में क्यों बंधू? बंधनों से लेखक का एटीट्युड इतना सीमित हो जाता है कि इससे उनकी रचनात्मकता और समझ प्रभावित हो जाती है।

हर महीने की तरह अभी दो दिसम्बर 2008 को मेरा फिर लखनऊ जाना हुआ। पापा से बिना समय लिए मैं शाम चार बजे के लगभग पहुंची। वे प्रसन्न दिखे, अधिक चैतन्य भी। एक माह में वे कॉफी सुधर गए थे, अतः मैंने कहा-पापा आपको नजर न लगे, अब थोड़ा यह मेज छू लीजिए टच वुड। और अधिक उत्साह से बोले- हां मैंने अब अपने आप बाथरूम जाना, अपना काम खुद शुरू कर दिया है। बाहर लॉन में, गेट तक घूमता भी हूं– और खिलखिलाकर हंस पड़े-इस प्रगति पर। पूरे कमरे के वातावरण में एक कोमलता और तरलता का अहसास उनके रहते बना रहता है। किसी भी स्थिति में वे कठोरता आने नहीं देते। असल में उनके स्वभाव की सबसे बड़ी खूबी उनकी संवेदनशीलता है। वे जितनी देर सामने होते हैं– पूरी तरह से सजग, सरल, सह। सामने वाले पर उनका ध्यान होता है– इसलिए उन्होंने कहा कि मैं अब पढ़-लिख भी रहा हुं-उस किताब का क्या नाम है जो वत्सला बिटिया ने बताई थी? पिछले माह जब मैंने उन्हें पढ़ने के लिए पूछा था तो पढ़ने में असमर्थता जताते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा कि किसी के सुनाने में वह मजा नहीं जो अपने पढ़ने में है। किताब का नाम मैंने बताया तो बोले भेजो जरूर पढ़ूंगा।

तभी चाय आ गयी और देखा कि वे उठकर खुद ही प्याला ढंग से पकड़ कर पीने के लिए बढ़े। पर उसी बीच में बिस्कुट की प्लेट बढ़ाते हुए बोले कि ये बिस्कुट जरूर खाओ, स्वादिष्ट भी हैं और पौष्टिक भी-चोकर के। उनका पूरा व्यवहार पिता तुल्य स्नेह से लबालब देख मैं भीतर से भीग रही थी। इस बीच लगा पिता बेटी की उंगली पकड़ कितना मार्गदर्शन कर गया है। बहुत कुछ न कह कर भी वह बहुत कुछ कह जाते हैं। शिष्टाचार और सौम्यता उनसे सीखी जा सकती है। शउर और सलीका भी। बिना मांगे मदद देने के अनगिनत किस्से हैं श्रीलाल जी के।

याद आने लगा वह वाकया कई वर्षों पहले का जब श्रीलाल जी स्वस्थ थे और मैं उनके घर गई थी। मेरे पास इतना समय था कि मैं अपने एक संबंधी के यहां मिलने जा सकूं। फोन पर किसी से उनके घर का पता तथा जाने का मार्ग आदि पूछ ही रही थी कि पापा ने कहा फोन मुझे दो, मैं ठीक से जान-समझ लेता हूं। मैं देख रही थी कि फोन पर उन सज्जन से पापा सड़कों और मोड़ों की एक-एक डिटेल ले रहे थे ताकि मैं बिना किसी बाधा के वहां तक पहुंच सकूं। लखनऊ की सड़कों, मुहल्लों के मेरे अल्प ज्ञान से पापा वाकिफ हैं, इसलिए मेरे जाते समय ड्राइवर को भी एक कागज पर नक्शा बना कर, बता कर ही वे निश्चिंत हुए थे। ऐसा प्रायः हर नये आने वाले के साथ वे करके उसे सहज बना देते हैं, अपना बना लेते हैं।

अब तक एकदम पिघलकर मेरा मन पूछने को होने लगा कि पापा आप कैसे इतना सहृदय, सौम्य हो पाते हैं सबके साथ, सब पीढ़ियों के साथ? विषम से विषम परिस्थितियों में भी कैसे समन्वय स्थापित कर पाते हैं बिना किसी हलचल के- चाहे समाज हो, परिवार हो या साहित्य. . .। कुछ दार्शनिक से होते हैं वे और कहते हैं– असल में यह मनुष्य ही सृष्टि का केन्द्र बिन्दु है। उससे श्रेष्ठ कोई नहीं है। पृथ्वी की समस्त मंगलकामनाएं इसी में समाहित हैं। . . .यह धरती ही मनुष्य की कर्मस्थली है। इसे मैं सम्पूर्ण मानवीयता का प्रतीक अपने लिए मानता हूं। मैं इसका आदर करता हूं, इससे स्नेह करता हूं और उसके साथ सामान्य मनुष्यों की तरह आसक्तिपूर्वक जुड़ना चाहता हूं। इसकी सारी कुरूपताओं को भूलकर मैं विश्वास करता हूं कि यह आज और भी आदर और भी स्नेह चाहती है. . . मुझे सारे प्रश्नों के जवाब मिल गए थे।

2/346, ए-आजाद नगर, कानपुर- 208002

शेरजंग गर्ग

श्रीलाल शुक्ल की यादों का खजाना

श्रीलाल शुक्ल आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बाद मेरे विचार में सर्वाधिक चर्चित ख्यात और कालजयी शुक्ल हैं। उनके व्यक्तित्व की सघनता, सहजता, सौम्यता, बहुपठनीयता, विलक्षण शैली संपन्नता, अभिव्यक्ति के विविध आयामों की विराटता सचमुच ही चकित करती है। यों तो उनका रचनाकर्म पिछली सदी के पांचवें दशक में प्रारंभ हो गया था, मगर सन् पैंसठ के बाद के काल में 'राग दरबारी' ने व्यंग्य राग की वह तान छेड़ी कि आज इक्कीसवीं सदी में भी वह गूंज अपना सुरीलापन और नुकीलापन बरकरार रखे हुए है।

आधुनिक युग में अपने व्यंग्य के कारण और विशेष रूप से 'राग दरबारी' के सदाबहार व्यंग्य के कारण श्रीलाल शुक्ल साहित्य के शिखर पुरुषों में गिने जाने लगे। हमारे व्यंग्यकारों ने कविता, कहानी, नाटक, निंबध के क्षेत्र में अनेक कमाल दिखाए हैं, मगर उपन्यास के क्षेत्र में उनके जौहर जरा कम देखने में आए हैं। हरिशंकर परसाई (रानी नागफनी की कहानी), केशवचंद्र वर्मा (आंसू की मशीन), मनोहरश्याम जोशी (कुरु कुरु स्वाहा), ज्ञान चतुर्वेदी (नरकयात्रा, बारामासी), नागार्जुन के उपन्यासों के अलावा इस दिशा में प्रचुर कार्य नहीं हुआ। मगर श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' अपने कथानक तथा विसंगतियों की पहचान, विनोद वक्रता तथा चुटीली पठनीयता के कारण जन-जन की प्रिय कृति बना हुआ है। कहना होगा कि आज भी दिन-प्रतिदिन उसकी लोकप्रियता में इजाफा हो रहा है। मैं तो यहां तक कहना चाहूंगा कि 'राग दरबारी' हमारे समय का सबसे बड़ा व्यंग्य साक्ष्य होने के साथ-साथ पहला व्यंग्यात्मक और गद्यात्मक महाकाव्य है।

श्रीलाल जी से मेरी पहली मुलाकात श्रीमती शीला झुनझुनवाला के साउथ एक्सटेंशन स्थित निवास पर हुई थी। वे शरद जोशी की स्मृति में आयोजित सम्मान समारोह के सिलसिले में दिल्ली आए थे। मुझे इतने बड़े रचनाकार से मिलने का आंतरिक सुख तो था, मगर थोड़ा संकोच भी था। वे मुझे क्यों जानते होंगे! मगर ज्यों ही उनसे परिचय कराया गया, वे मुक्तमन से मिले और कहने लगे, आपको जानना जरूरी है। आप तो सर्वाधिक उद्धृत होने वाले लोगों में हैं। श्रीलाल जी के मुख से इतना आत्मीय वाक्य सुनकर मैं आनंद से भर गया। फिर उन्होंने पूछा– मुझे आपकी पुस्तक 'व्यंग्य के मूलभूत प्रश्न' कहां से मिलेगी? ज्ञातव्य है कि इस पुस्तक में 'राग दरबारी' पर अलग से अध्याय लिखा गया है।

फिर दूसरी मुलाकात भी शरद जोशी की स्मृति में आयोजित समारोह में राजेंद्र प्लेस स्थित होटल में हुई। दिन का समय था, गोष्ठी के बाद भोजन था। श्रीलाल जी के रसरंजन के लिए कंपनी की तलाश थी। वे करीब आकर आत्मीय स्वर में बोले, 'अब अकेले तो क्या पिएंगे। मुझे आपका साथ चाहिए।' भला मुझे भी क्या चाहिए था। इस तरह हम दोनों रस-रंजित हुए। अस्तु।

श्रीलाल जी गजब के लिक्खाड़ तो हैं ही, पढ़ाकू भी अद्भुत हैं। अनूप श्रीवास्तव की संस्था 'माध्यम' के अट्टहास समारोह की अध्यक्षता करते समय श्रीलाल जी अपने पढ़ाकूपन का परिचय अनेक बार दे चुके हैं। हिंदी के अलावा अंग्रेजी, संस्कृत के उद्धरणों से सम्पन्न उनका व्याख्यान सदैव अनिर्वचनीय सुख प्रदान करता रहा है।

के.के. बिड़ला फाउंडेशन का प्रतिष्ठित व्यास सम्मान श्रीलाल जी को उनके उपन्यास 'बिस्रामपुर का संत' पर दिया गया था। इस अवसर पर श्रीलाल जी ने अत्यंत विनम्र व्याख्यान देते हुए गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी उद्धृत किया था। संयोग से राष्ट्रीय संग्रहालय सभागार की पिछली सीटों पर अशोक वाजपेयी भी थे। जब श्रीलाल जी ने गुरुदेव की विचारवान एवं संवेदनशील पंक्तियां उद्धृत कीं तो अशोक जी ने सहज आनंदित होते हुए कह दिया, 'जाने ये पंक्तियां किस कृति से हों।'

श्रीलाल जी के अस्सीवें जन्मदिन पर दिल्ली के कमानी सभागार में जो भव्य और आत्मीय आयोजन हुआ, उसकी याद वर्षों तक बनी रहेगी। दिल्ली और आसपास के अधिकांश साहित्यकार उन्हें बधाई देने पहुंचे थे। सर्वश्री कृष्णबलदेव वैद, कुंवर नारायण, नामवर सिंह, मनोहरश्याम जोशी, केदारनाथ सिंह, शीला दीक्षित आदि आदि सैकड़ों साहित्यकार इस अवसर पर मौजूद थे। अशोक वाजपेयी तो खैर मंच संचालन ही कर रहे थे। उस समय श्रीलाल जी जिस मासूम और शिशुवत सहजता से मित्रों से मिल रहे थे, उसे निहारकर मंत्रमुग्ध ही हुआ जा सकता था।

एक समय राजेन्द्र यादव का जन्मदिन अट्ठाईस अगस्त हमारे प्रिय मित्र और कवि उपेन्द्र कुमार के पार्क रोड स्थित मकान पर मनाया जाना था। उस अवसर पर श्रीलाल जी लखनऊ से आए हुए थे। आलोक मेहता, रामशरण जोशी, विजयकिशोर मानव, इब्बार रब्बी आदि आदि मित्र जब श्रीलाल जी से मिलते हुए अपना नाम बताते– अरे भाई अब मुझे तुम भी अपना नाम मत बताने लगना। भला मैं किसे नहीं जानता। ऐसी बातें करते हुए श्रीलाल जी की सदाशयता और मासूमियत सदैव विस्मित और आनंदित करती है।

संभवत: सन् निन्यानवे–दो हजार का 'अट्टहास' आयोजन था। मैं उन दिनों अपने पुत्र उत्सव की अस्वस्थता के कारण लखनऊ में ही था। उत्सव लखनऊ में रहकर इंजीनियरी की पढ़ाई कर रहे थे। व्यंग्य के युवा समीक्षक सुभाष चंदर भी इस आयोजन में पधारे थे। गोष्ठी के बाद हम दोनों ने श्रीलाल के इंदिरा नगर स्थित आवास पर उनसे मिलने का कार्यक्रम बनाया। सुभाष चंदर शायद उनसे पहली बार मिलने जा रहे थे। बोले, 'सुना है श्रीलालजी साक्षात्कार देने का मानदेय मांगते हैं।' मैं भी विस्मित हुआ ऐसा सुनकर, ऐसा कभी जाना तो नहीं था।

शीघ्र ही हम दोनों श्रीलाल जी के निवास पर पहुंच गए। सुभाष चंदर का परिचय श्रीलालजी से हुआ। सुभाषजी ने बताया कि वे श्रीलाल जी के बहुत बड़े फैन हैं। 'राग दरबारी' को विश्व स्तर की व्यंग्य रचना मानते हैं, आदि आदि।

बातचीत का दौर चल निकला। सुभाष श्रीलाल जी से तरह–तरह के प्रश्न करने लगे। दोनों को ही लगातार बतियाते देख मैंने सुभाष से पूछ लिया, 'तुम श्रीलाल जी का इंटरव्यू तो नहीं ले रहे?'

यह सुनकर श्रीलाल जी भौंचक। मैंने स्पष्ट किया कि 'दरअसल इन्हें किसी ने बताया था कि श्रीलाल जी साक्षात्कार देने का मानदेय चाहते हैं।'

इस पर श्रीलाल जी ने बताया कि दूरदर्शन और चैनल वाले जब इंटरव्यू लेते हैं तो उनसे मानदेय मांगा ही जाना चाहिए। वे साक्षात्कारों से अच्छी कमाई जो कर लेते हैं।'

और हम तीनों ही मुक्तभाव से हंस दिए। श्रीलाल जी ने परम आत्मीयता के साथ सुभाष की जिज्ञासाओं को शांत किया।

पिछले वर्ष मई मास में गजलकार प्रभात शंकर की प्रथम पुण्यतिथि के अवसर पर 'माध्यम' की ओर से एक पुरस्कार प्रभात शंकर की याद में देने की योजना बनी थी। मैं लखनऊ गया। तभी हमारे परममित्र और साहित्यकार गोपाल चतुर्वेदी ने श्रीलाल जी की अस्वस्थता की बात बताई। मैं श्रीलाल जी के दर्शन के लिए उत्सुक था। पता चला इस समय उनसे भेंट संभव न होगी। मन मसोसकर दिल्ली आ गया।

फिर ग्यारह–बारह दिसंबर को लखनऊ महोत्सव के अवसर पर लखनऊ जाना हुआ। कवि सम्मेलन 'माध्यम' के ही सुपुर्द था। ग्यारह दिसंबर को श्रीलाल जी से मुलाकात का कार्यक्रम गोपालजी ने बना लिया था, मगर टल गया। फिर बारह की सुबह को ही सर्वश्री गोपाल चतुर्वेदी, प्रेम जनमेजय और मैंने श्रीलाल जी के निवास पर पहुंचने का काम फौरन से पेशतरा किया। श्रीलालजी बाहर बरामदे में नाश्ता कर रहे थे। हल्की धूप थी जो दिसंबर की ठंड को थोड़ा–थोड़ा गरम कर रही थी। नाश्ते की प्लेट के साथ दो गिलास रखे हुए थे। गोपाल भाई जी ने गिलासों की तरफ इशारा करते हुए चुटकी ली, 'प्रेम जी हम दोनों का इन दो गिलासों के साथ फोटोग्राफ मत ले लेना। लोग कुछ का कुछ समझ जाएंगे।' हम चारों ही जोरदार ठहाका लगाकर रह गए।

इस बीच प्रेम जनमेजय ने अपना टेप रिकार्डर चालू कर दिया और गोपाल जी तथा प्रेम प्रश्न पूछते और श्रीलाल जी जवाब देने की दिशा में चालू हो गए।

दिसंबर की सर्द सुबह में हल्की धूप भी भारी सुख दे रही थी। सामने कोठी का हरा–भरा लॉन था। श्रीलाल जी अपनी चिर–परिचित सभ्यता के साथ धीरे–धीरे सवालों के जवाब देते रहे। अस्वस्थता ने उनकी वाणी को और शिथिल कर दिया है। बहुत धीरे–धीरे संभल–संभलकर बोलते रहे। इसी बीच प्रेम जनमेजय ने ज्ञान चतुर्वेदी द्वारा भेजे गए प्रश्न भी श्रीलाल जी के समक्ष रख दिए। प्रश्न संख्या में कॉफी अधिक थे इसलिए श्रीलाल जी ने उन्हें भविष्य के लिए छोड़ दिया।

चाय–नाश्ता आया। सबने थोड़ा–थोड़ा किया। श्रीलाल जी की पुत्रवधू ने इशारे से समझाया अब थक रहे हैं। मगर वे रुकने का नाम नहीं ले रहे थे, उत्साहपूर्वक प्रश्नों के जवाब दे रहे थे। हम तीनों ने इजाजत मांगी तो सबसे अलग–अलग मिले। हम उन्हें आने वाले इकतीस दिसंबर को उनके आने वाले जन्मदिन की बधाई देकर विदा हुए। इसके बाद हम तीनों को 'माध्यम' और उ.प्र. भाषा संस्थान द्वारा आयोजित 'व्यंग्य का धर्म और मर्म' विचार गोष्ठी में शरीक होने जाना था।

कामना है कि श्रीलालजी अस्वस्थता से मुक्त हों और उनसे जरूर लखनऊ में मिलना हो अथवा उनका दिल्ली आगमन हो, वे इसी प्रकार अपनी मुक्त मुस्कान बिखेरते रहें।

एच–43, (भूतल) साउथ एक्स–1
नई दिल्ली–110049

अशोक चक्रधर

बाहर निकला तो धूप मेरे अंदर थी

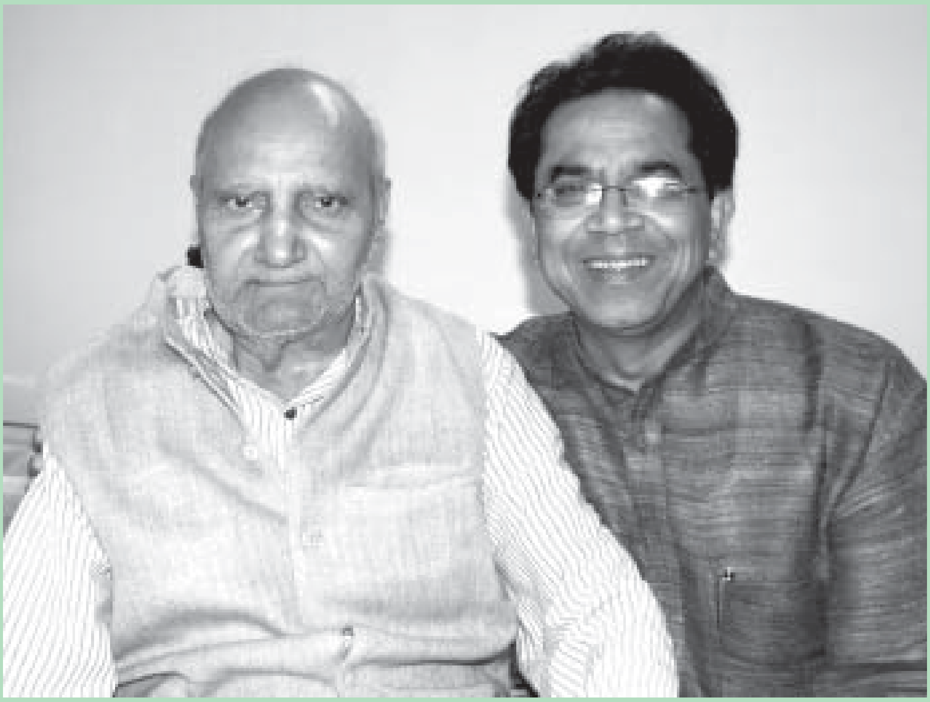

कई बार खुद को धिक्कारने में बड़ा मजा आता है। मैं कार में आत्मधिक्कारानंद ले रहा था। ऐसा, जैसे वाराणसी जाओ और काशी विश्वनाथ मंदिर न जाओ तो किसी को हो सकता है। काशी विश्वनाथ मंदिर मैं आज तक नहीं जा पाया। वाराणसी में यह आत्मधिक्कारानंद उतना नहीं मिला जितना लखनऊ में ग्यारह दिसंबर दो हजार आठ को सुबह दस बजे के करीब मिल रहा था। कमाल है, लखनऊ आते हुए तीन दशक से ज्यादा हो गए। उस रास्ते पर भी अनेक बार गुजरे जहां व्यंग्यकार श्रीलाल शुक्ल रहते हैं। सभाओं और गोष्ठियों में उनसे मुलाकातें तो अक्सर होती रहीं पर उनके घर जाना कभी नहीं हो पाया। इस बार दिल्ली से प्रण करके गया था कि उनके घर जाना है।

लखनऊ महोत्सव के सिलसिले में सचिवालय की ओर से प्रदत्त गाड़ी के ड्राइवर साहब जनाब रमेश गुप्ता इंदिरा नगर में उनका घर जानते थे। लखनऊ की नामी-गिरामी हस्तियों के घर उनके देखे हुए थे। पिछले पच्चीस साल में वे न जाने कितने मंत्रियों के साथ ड्राइवरी कर चुके थे। किस्सों का चलता-फिरता खजाना थे। उन्होंने जैसे नई बात बताई कि शुक्ल जी तो रिटायर हो चुके हैं। मैंने भी ऐसे 'हां' की जैसे कि पहली बार इस सत्य से परिचय मिला हो। मुख्य सड़क पर गाड़ी अचानक लहराते हुए बाईं ओर खड़ी हुई तो पत्थर पर लिखा दिखाई दिया– 'श्रीलाल शुक्ल'। अभी तक यह नाम किताबों के ऊपर छपा देखने के ही अभ्यासी थे। उस पत्थर के नेपथ्य में जो इमारत थी वह भी किताब जैसी नजर आई। लोहे के फाटक के पीछे अलग-अलग ऊंचाइयों पर रखे हुए गेरुए रंग से पुते दर्जनों गमले थे। उनमें तरह-तरह के आड़े-तिरछे पौधे। और जिस तरह मुखपृष्ठ पर कई बार लेखक का चित्र छपा होता है उसी तरह से शुक्ल जी दिख गए बरामदे में, एक टेढ़ी बिछी हुई चारपाई पर लेटे हुए।

सीधे आयताकार बरामदे में चारपाई का टेढ़ा रखा होना आवरण में जैसे एक सुरुचि गढ़ रहा था। घर की पुस्तक आवरण से ही भव्य लग रही थी। चारपाई पर बिछा गद्दा खास मोटा नहीं रहा होगा लेकिन उस पर जो चारखाने की चादर थी वह मोटी थी और उस पर बने हुए चौखटे टेढ़े थे। हैण्डलूम की चादर थी, जिस पर दो तरह की रोयेंदार लकीरें थीं। पहली हल्की कत्थई और दूसरी गाढ़ी कत्थई। सिरहाने भारी-सा मसनद। आसमानी पीले नारंगी चौखटे मसनद के खोल पर भी थे, पर वे सीधे थे। शुक्ल जी आधे लेटे आधे बैठे हमारे बैठने की चिंता करने लगे।

जैसे अच्छी पुस्तक मिले तो पहले आवरण पर हाथ फिराने का मन करता है। मन किया उनके चरणों पर हाथ फिरा लिए जाएं। यही वे चरण हैं जो शिवपालगंज के गंजहों की बस्ती में घूमने के बहाने भारतीय मन और मनीषा की वीथियों में अस्सी साल से ज्यादा बसंत और पतझड़ रौंद चुके हैं। आशीष के कुछ बुदबुद स्वर सुने। और मुंह दिखाई के रूप में मैंने आठवें विश्व हिन्दी सम्मेलन के समय प्रकाशित 'सम्मेलन समाचार' की प्रति उन्हें थमा दी।

अब वे लगे चश्मा ढूंढने। जैसे आगंतुक को देखकर घर के बच्चे अंदर घुस जाते हैं, छिप जाते हैं, ऐसे ही चश्मा पता नहीं कहां खिसक लिया? पहला स्पष्ट वाक्य जो सुनने में आया, वह था– 'आधी उमर तो चश्मा ढूंढने में निकल गई'। चश्मा उनकी शुक्ल में जाकर दुबक गया था। मुश्किल से बाहर आया। मैंने कहा– 'बाद में आराम से देख लीजिएगा'। वे बैठना चाह रहे थे। मेरे साथ पायल थी। मुझसे पहले वह उनकी उलझन समझ गई। अपना कैमरा एक ओर रखकर उसने उन्हें सहारा दिया। वे बैठ गए। कहने लगे– 'पिछले दो महीने से यही दिक्कत हो गई है, लेट जाओ तो बैठना कठिन, बैठ

शाम होते-होते दो बैलगाड़ियों में भरे हुए शहर के कई कविगण घुड़सरी आ पहुंचे। गांव के नजदीक आते-आते बैलों ने कड़बड़-कड़बड़ दौड़ना शुरू किया। उनके गले में पड़ी घंटियों की तीखी झनझनाहट, गाड़ीवालों की 'बां बां, कां कां' और पहियों की गड़गड़ाहट से लोगों को पहले ही मालूम हो गया कि कवि लोग आ गए। हाईस्कूल के लड़कों ने अपना स्कूल बैंड बजाना शुरू कर दिया। प्राइमरी स्कूल के लाईन में खड़े होकर झन-झना-झन लेजिम भांजने लगे। बछड़े भड़क-भड़ककर खूंटे तुड़ाने लगे। घोड़ा हिनहिनाने लगा, उसका बछेड़ा दुम उठाकर गांव के बाहर भागा। दो-एक हलवाहे चौपाल की ओर दौड़ पड़े। बरगद की जड़ पर बैठे हुए भाई रामअंजोर ने खड़े होकर फेफड़ातोड़ आवाज में पुकारा, 'अरे पल्लौजी, मेहमान आ गए।'

कवि लोगों के चेहरे धूल से ढक गए थे। उतरते ही वे अपने कपड़े झाड़ने लगे। होल्डॉल, अटेचियां, कंबल, झोले, बैलगाड़ियों से उतारे जाने लगे। एक हलवाहे ने यह सब सामान चौपाल में ज्वार के गट्ठरों की तरह डालना शुरू किया। इसे देखने के लिए गांव के बेकार लोगों की भीड़ इक्कट्ठा हो गई।'

–घुड़सरी का कवि सम्मेलन

जाओ तो पता नहीं चलता कि पीछे झुकते-झुकते कहां तक बिना झटके जाया जाए कि लेटना सम्पन्न हो जाए। चल लेता हूं, बीमारी कोई नहीं है। उमर है। उमर विस्तार पाए तो शिराएं सिकुड़ने लगती हैं। न्यूरो सर्जन ने भी देखा, कोई क्लहट, नहीं मिला। क्लहट, जो दिमाग में आते हैं, वे डॉक्टर अभी देख नहीं सकते। ठीक हो जाऊंगा'। पायल को उन्होंने आशीर्वादनुमा धन्यवाद दिया। कहने लगे– 'अंदर चलें क्या'? मैं अभी आवरण पर ही मुग्ध था। किताब भी पलटेंगे अंदर जाकर। आवरण तो जी भर कर देख लें। मैंने कहा– 'यहीं ठीक हैं'। उनके पैरों पर धूप थी और ऊपर छाया।

महीना दिसंबर का था, लेकिन धूप गुनगुनी लगने की बजाय कुनकुनी होकर चुभ रही थी। मैंने पूछा– 'बरामदे में धूप घटेगी या बढ़ेगी'? वे बोले– 'घटेगी। सुबह-सुबह धूप के लालच में यहां आता हूं। सड़क के शोर के बावजूद यहां का सन्नाटा अच्छा लगता है'। नीली सफेद धारियों का कुर्ता उनकी खादी ग्रामोद्योग की सिलेटी जाकेट में जहां फंसा रह गया था वहां से उन्होंने हाथ की कंपकंपी के बावजूद बाहर खींच लिया। सफेद पायजामे की धूप की बाउंस लाइट उनके चेहरे को फोटोग्राफर के लिए आकर्षक बना चुकी थी। पायल मौका नहीं चूकी। धूप छाया के कई चित्र उसने खींच मारे।

मैं चादर और मसनद के चौखानों में अटका हुआ था। लेखक किन-किन चौखानों से देखता है और किन-किन चौखटों में शब्दों के चित्र फ्रेम कर देता है। टेढ़े चौखटे, सीधो चौखटे, गोल मसनद, कटे शंकु जैसे गमले, उनके पौधों में त्रिशंकु जैसे लटके कुछ फूल। वे 'सम्मेलन समाचार' पलट रहे थे। पांच-छः पन्ने पलटने के बाद उन्होंने कहा– 'ये मेरे लिए है'? मैंने कहा– 'जी'। उन्होंने पुस्तिका बंद करके एक ओर रख दी और पूछने लगे– 'आज लखनऊ महोत्सव के कवि सम्मेलन में कौन-कौन कवि आ रहे हैं'? मैंने बताया अनूप जी ने बीस-बाईस कवि बुलाए हैं, उनमें श्रीयुत रामाधीन भीखमखेड़वी और जनाब दानिश टांडवी भी नाम बदलकर आ रहे हैं'। इस पर उन्होंने ठहाका लगाया और मैंने भी। ये दोनों कवि राग दरबारी के कवि पात्र थे। पुस्तक से निकल कर कवि सम्मेलन में शरीक होने प्रायः आते रहते हैं। हमें तो घर की पुस्तक के अंदर जाना था।

गए मकान की पुस्तक के अंदर। उनके शयनकक्ष-कम-स्टडी रूम में डबल बैड के पलंग पर बिछी चादर पर चौखाने नहीं थे। लम्बी-लम्बी चित्तियां और फूल-पत्तियां थीं। कोणार्क के पहियों जैसी आकृति के हत्थे वाली बेंत की एक शानदार कुर्सी थी। उस पर बैठ गया चक्रधर। फूल-पत्तियों पर बैठ गए शुक्ल जी।

अंदर आने तक रामाधीन भीखमखेड़वी और शायर जनाब दानिश टांडवी साहब उनके जेहन में थे। बोले– 'मेरा एक लेख है 'घुड़सरी का कवि सम्मेलन', 'संचयिता' या 'जहालत के पचास साल' नाम की किताब में है। तुम्हारे पास है वो किताब'? मैंने बताया कि दोनों पुस्तकों के बारे में जानता हूं, पर मेरे पास हैं नहीं। खरीद लूंगा। 'राग दरबारी' की तो दर्जनों प्रतियां खरीदीं और बांटी। 'आदमी का जहर' मैंने तब पढ़ा था जब 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में धारावाहिक रूप में छपी थी। 'अंगद का पांव' भी थी मेरे पास। ये दोनो संकलन पिछले चार-पांच साल में आए हैं, खरीद नहीं पाया। उन्होंने पायल से कहा कि रैक में ये किताबें रखी हैं, निकालो। पायल ने दोनो किताबें निकाल कर उन्हें दे दीं। कंपकंपाते हुए हाथों से पुस्तकें पकड़ते हुए कहने लगे– 'मैं देता हूं, खरीदना मत'। 'संचयिता' पर मेरा नाम लिख कर भेंट करने के लिए उन्होंने पेन उठाया लेकिन खोलते ही देखा कि उस पर अनेक हस्ताक्षर थे, बोले– 'ये तो प्रथम विमोचित प्रति है। ये नहीं दूंगा'। मैं मुस्कराने लगा। उदारता की सड़क पर दुर्घटना से बचने के लिए अचानक ब्रेक लगाने का कौशल देखकर मुदित हुआ। दरअसल, लेखक को अपने पास अपनी हर पुस्तक की वही प्रति रखनी चाहिए जो प्रथम हस्ताक्षरित विमोचित प्रति हो। पुस्तकें लेखकों से फोकट में लेने के बजाय सचमुच खरीदी जानी चाहिए।

सोच तो रहा था लेकिन मन में मोह भी था कि कम-से-कम एक तो किताब हो मेरे पास जो उनके द्वारा हस्ताक्षरित हो और मुझे भेंट की गई हो। मन-ही-मन डर रहा था कि कहीं दूसरी पुस्तक भी प्रथम विमोचित प्रति न निकले। मेरा सौभाग्य कि उसका पहला पन्ना कोरा था। उन्होंने लिखा 'अशोक चक्रधर जी के लिए सप्रेम'। मैंने कहा– 'इसमें 'जी' लगाकर गड़बड़ कर दी आपने'। वे कहने लगे– 'बहुत कम लोग हैं जो आश्वस्त करते हैं'। वे मुझे प्रमाण-पत्र दे रहे थे। पर अचानक लगा जैसे प्रमाण-पत्र मेरे हाथों से निकल गया क्योंकि वह वाक्य पूरा करते हुए कह रहे थे– 'शेजन चतुर्वेदी का लेखन मुझे बहुत आश्वस्त करता है'। वे 'संचयिता' में 'घुड़सरी का कवि सम्मेलन' निबंध ढूंढ रहे थे। और मैं 'जहालत के पचास साल' में। मुझे मिल गया था, पृष्ठ अस्सी पर था। पढ़ा तो नहीं सिर्फ

कवि-चरित्रों के नाम ढूंढने लगा, इस जिज्ञासा के साथ कि रामाधीन भीखमखेड़वी की टक्कर का कोई नाम है या नहीं। कुछ नाम दिखे, जैसे- बल्लमटेर महाराज, पं. दसादीन शर्मा, बाबू रामाधार उर्फ पल्लव जी, अमल एम. ए. पास। अमल एम. ए. पास, यह नाम पढ़ते हुए मुझे बाबू श्याम सुन्दर दास याद आए। 'राष्ट्रभाषा के प्रचारक विमल बी. ए. पास'। 'अमल एम. ए. पास' नाम उन्होंने 'विमल बी. ए. पास' के समानांतर रखा होगा। सोच रहा था, पूछूंगा। अगला नाम था भाई राम अंजोर। अब एक नाम आया जो मुझे भीखमखेड़वी की टक्कर का लगा, वह था 'शकोदईराम ब्रह्मभट्ट'। उजागर जी, बल्लभ जी, के अलावा कुछ और नाम भी रहे होंगे, पर पल्लव जी के लिए राम अंजोर के संवाद का एक वाक्य पढ़ कर, दृश्य का आनंद लेने के लिए, मैंने पुस्तक बंद कर दी। वाक्य था– 'बरगद की जड़ पर बैठे हुए भाई राम अंजोर ने खड़े होकर फेफड़ातोड़ आवाज में पुकारा– 'अरे पल्लौ जी मेहमान आ गए'।

संचयिता को पलटते-पलटते वे बोले– 'उसी में होगा वो घुड़सरी का कवि सम्मेलन'। मैंने कहा– 'जी इसी में है, पढ़ा तो नहीं, पर सूंघ लिया है'। वे कहने लगे– 'आजकल के कविसम्मेलन तो बदल गए हैं, लेकिन शहरों से कटे गांवों में ऐसा ही होता था'। मैंने उन्हें बताया कि सातवें-आठवें दशक में मैंने ऐसे अनेक कविसम्मेलनों में हिस्सा लिया है जहां गद्दों की जगह जमीन पर पुआल बिछा कर दरियां डाल दी जाती थीं। कवि-लोग अपने झोलों का तकिया बना कर एक लाइन से लेटा करते थे। खेतों में जाने के लिए लोटा सुविधा भी रहा करती थी। वे हंसे।

मौजा घुड़सरी नामक गांव नगर से कितनी दूर था, यह बताने के लिए उस लेख का पहला अनुच्छेद यथावत लिख रहा हूं। शायद उससे अंदाजा हो सके कि ऐसे स्थानों पर कविसम्मेलन कैसे-कैसे हुआ करते होंगे– 'मौजा घुड़सरी के लोगों को लारियों की धूल देखने के लिए सोलह मील चलना पड़ता था। बत्तीस मील चलने पर रेल का धुआं देखने को मिल जाता था। जिले की कचहरी का पानी पीने के लिए चौंसठ मील का सफर करना पड़ता। महीने में अगर कभी पोस्टमैन इस गांव की तरफ आता भी तो यहां तक आते-आते वास्कोडिगामा बन जाता। गांव के आसपास अगर कभी दारोगा जी पहुंचते तो दो-तीन मील दूर से ही उनकी हुलिया बदलकर कोलम्बस जैसी हो जाती'।

आजादी के बाद के उत्तर भारतीय ग्रामीण और कस्बाती जीवन का ऐसा बंकिम चितेरा हिन्दी साहित्य में दूसरा नहीं हुआ, दूसरा नहीं है। फूल-पत्तियों वाली चादर पर कभी लेटने की, कभी बैठने की इच्छा प्रकट करते हुए शुक्ल जी के साथ लगभग ढाई घंटे तक मजे-मजे की खुशबूदार बातें होती रहीं। किस्सों में यह भी कि भारती जी ने अपने नाम के आगे डॉ. लगाना क्यों पहले नापसंद और फिर पसंद किया? अज्ञेय जी के राग-विराग की समीक्षा लिखने में उन्हें क्यों मजा आया? सन साठ में जब 'अज्ञातवास' नामक उपन्यास अज्ञेय जी की सिफारिश पर राजपाल ने छापा तब नए-नए उत्साह का क्या स्वरूप था? टाइम्स ग्रुप का सम्पादकी का ऑफर उन्होंने क्यों स्वीकार नहीं किया? परसाई और शरद के लेखन में अंतर क्या है? कविसम्मेलन और मुशायरे की कविता में क्या फर्क था, क्या फर्क है? सुरेश जिन्दल की प्रस्तावित डॉक्यूमेंट्री क्यों नहीं बन पाई? अस्सी साला जश्न पर नामवर जी और क्या-क्या चाहते थे? पिछले दो साल से वे स्वयं क्यों नहीं कुछ लिख पा रहे? एक उपन्यास का प्लॉट अभी भी क्यों घुमड़ता रहता है? क्यों ज्ञान चतुर्वेदी का लेखन इन दिनों सबसे बढ़िया है? हिन्दी में अच्छे उपन्यासों की कमी क्यों है? लेखक अपने प्रेम-प्रसंगों को अपनी जीवनियों में कैसे भुनाते हैं? अपनी कमजोरियों का प्रकाशन करके हर ऐरा-गैरा महात्मा गांधी क्यों नहीं बन सकता? आत्मकथाओं में 'मैं ही मैं हूं' कैसे चले भला? अलका सरावगी के पहले दो और अमृत लाल नागर के अंतिम दो उपन्यास क्यों अच्छे हैं? और भी अनेक व्यक्तित्वों की तत्वहीनता पर और सात्विकता पर चर्चाएं हुईं। कॉफी-बिस्कुट कांड हुआ। एक प्रकांड विद्वान लेखक के अंदर का सच्चा बच्चा सहज होकर बतियाता रहा।

देर ज्यादा होने लगी तो परिवारी जन असहज होने लगे, उन्हें आराम भी करना था। मन न तो अपना भरा न उनका, पर उनकी सेहत का खयाल करते हुए मैंने अन्दर की किताब के कुछ पन्ने ही पढ़कर, बंद करने का निर्णय लिया। उनसे चलने की आज्ञा मांगी।

बाहर आए तो पाया कि कार नहीं थी। ड्राइवर जनाब रमेश गुप्ता अपने सामाजिक सरोकारों के लिए कहीं निकल चुके थे। शुक्ल जी के पुत्र सौमनस्यपूर्वक हमें विदा करने के लिए लिहाज के मारे हमारे साथ बाहर खड़े रहे। पूछने लगे– 'आपके पास ड्राइवर का मोबाइल नम्बर है क्या'? अरे! हां, मेरे पास था। फोन पर गुप्ता जी ने सूचना दी– 'पांच मिनट में पहुंच रहे हैं'। अच्छा हुआ कि वे कुछ और देर बाद आए। उतनी देर तक मैं मकान की पुस्तक का आवरण फिर से निहारने लगा। धूप बरामदे में नहीं थी। मेरे अंदर थी। ढाई घंटे की बातचीत की चकाचौंध गुनगुनी नहीं, कई गुण-गुणी ऊष्मा की सुखानुभूति दे रही थी।

गमलों के पौधों में उनके द्वारा गढ़े गए चरित्रों की कल्पना करता रहा। एक पौधा लगा जैसे शनीचर की मुद्रा में उकड़ूं बैठा हो। एक लगा जैसे राम अंजोर की तरह पल्लौ जी के पैरों में पीक रहा हो। एक पौधा रुप्पन बाबू की तरह एक बेल की जैकेट पहने हुए सुकन्याओं के सपने देख रहा था। एक पौधों पर लटकी एक डाली पहलवान के लंगोट की याद दिला रही थी। ठिगना कैक्टस बैज्जी की तरह दवाइयां घुटवा रहा था। एक पतला-दुबला सा पौधा लंगड़ की तरह कचहरी में नकल लेने के लिए असहाय खड़ा था। मोटे तने का चौड़े पत्तों वाला पौधा दरोगा जी की तरह अंगड़ाई ले रहा था। गमलों में खिले सभी चरित्रों पर खूब धूप थी, दिसंबर की। यह धूप मुझे जन-जन से जोड़ने वाली जनवरी की ओर ले जा रही थी। बड़ा लेखक वही है जो जनवरीय हो, जन को वरने वाला और जो आपको भविष्य की ओर ले जाए।

थैंक्यू शुक्ल जी, आपके घर के आगे उस समय मैं आत्मधन्यानंद ले रहा था। छायावादी कविता के अर्थ की तरह गुप्ता जी अपनी धवल एम्बैसेडर लेकर सूक्ष्म से स्थूल हुए। उनके चेहरे पर ऐसा कोई भाव नहीं था कि उन्होंने देर की है और हमारे अन्दर भी कोई मलाल नहीं था कि इतनी देर खड़े रहे हैं। थोड़ा कष्ट इस बात का जरूर था कि शुक्ल जी के पुत्र और उनके एक साथी को उतनी देर तक बाहर खड़े रहना पड़ा।

जे-116, सरिता विहार, नई दिल्ली-110044

दामोदर दत्त दीक्षित

मेरे चचेरे मामा

आप जिसके प्रति सम्मानभाव रखते हों, बचपन से रखते आए हों और उस पर लिखना हो, तो कलम सरकती कम, अटकती ज्यादा है। ऐसी ही स्थिति कथाकार-व्यंग्यकार श्रीलाल शुक्ल पर लिखते हुए हो रही है। अब कोई अपेक्षा करे कि उन पर दोस्ताना या यारबाशी अंदाज़ में लिखूं तो बात गले से नीचे उतरती नहीं, हज़्म होने की तो बहुत दूर। बात कृत्रिम और नाटकीय भी होगी। श्रीलाल शुक्ल मेरे मामा जी, श्रद्धेय गोपाल कृष्ण सुकुल के चचेरे भाई हैं यानी आमफहम भाषा में मेरे चचेरे मामा। इस व्यक्तित्वपरक लेख में उन्हें 'मामा जी' से संबोधित करूं, तो स्वाभाविक भी है और सुकर भी। मैं समझता हूं इससे हिंदी साहित्य की भी कोई क्षति नहीं होगी।

जब से स्मृति है, लगभग तभी से उनकी स्मृति है। ननिहाल (अतरौली) में रहता था तब। वह प्रशासनिक सेवा में आ चुके थे और जैसा कि उस समय धंधे-पानी के लिए परदेसी हुए लोगों की आम रवायत थी, होली-दीवाली गांव जरूर आते थे। उनके और गांव के बीच कवि की भाषा में, अपरिचय के झाड़ उगने की और, गांव की भाषा में, 'भइया तुम तो गूलर के फूल होइ गयो' की स्थिति न आती थी। अब यह परम्परा विरल हो चली है– बीवी के लफड़े, बच्चों की परीक्षाएं और अभिरुचियां, सफर की तकलीफें, देहाती दिक्कतें. . .। फिर, अपने ही लफड़े कौन कम हैं?

मामा जी मूलतः सरल, सहज, सादगीपसंद, विनम्र, निश्छल, मधुरभाषी प्रदर्शनभीरु और लो प्रोफाइल वाले, पर हम उनके इर्द-गिर्द प्रभामण्डल देखते थे, उच्च सरकारी पद, ख्यातिप्राप्त लेखन और गहन ज्ञान का गुलाबी, केसरिया और सुनहला प्रभामण्डल। वह मेरे ही नहीं, बहुतों के 'रोल मॉडल' थे। जिनके नहीं थे, उनके माता-पिता की निगाहों में थे जो उनका नाम लेते हुए अपने बच्चों में नसीहतें तकसीम किया करते थे। पर कभी-कभी गुस्सा भी आता था– ऐसी लंबी लकीर खींच गए कि वहां तक पहुंच पाना संभव नहीं। हमें उनकी और अपनी क्षमताओं का बखूबी एहसास था, पर बड़े-बुजुर्गों की आशा और अपेक्षा रहती कि सौ टंच श्रीलाल शुक्ल बनो।

हमारे परिवार में एक 'स्कूल' ऐसा रहा है जिसके अनुसार जैसा व्यक्ति हो उससे उसी की भाषा में, उसी के माहौल के मुताबिक बात करो। मामा जी इसी स्कूल की उपज थे। इस कला में निष्णात भी। याद नहीं आता कि केवल अवधी बोलने वाले व्यक्ति से उन्होंने कभी खड़ी बोली में बातकी हो (रेढ़कर बात करने वालों से वह दूना रेढ़ते थे) या साहित्य में रुचि न रखने वाले व्यक्ति से साहित्य की चर्चा की हो। गांव-घर के बुजुर्गों से धीमे स्वर और धीमी गति से बात करने की उनकी विनम्र-विशिष्ट शैली का साक्षात्कार रोचक अनुभव रहा है। वैसे छोटों से भी वह करीब-करीब विनम्रता और जनतांत्रिक तरीके से बात करते। मुझे लगता है कि जबानी बहस-मुबाहसा उनका स्वभाव नहीं। पर इसे तर्क-तरकश का अभाव न माना जाए, उनके लेखन में अद्‌भुत तर्कशीलता देखने को मिलती है।

वह हम बच्चों से बात करते थे और हम भी उन्हें 'एवायड' नहीं करते थे। राज यह था कि उस समय के बहुत से बुजुर्गों की तरह वह हमसे टेढ़े-मेढ़े सवाल नहीं पूछते थे। वह अपने समवयस्कों के साथ दिशा-मैदान के लिए या टहलने की नीयत से सेखवा ताल, ऊसर, पोइया, बाग या शारदा नहर के पुल तक के लिए निकलते तो हम भी साथ लगने की फिराक में रहा करते थे– चलो, कुछ इधर की, कुछ उधर की, कुछ यहां की, कुछ वहां की, कुछ जमीन की, कुछ हवा की सुनने को मिलेगी। कभी-कभी वह लगभग दो-ढाई किलोमीटर दूर स्थित कलेश्वरी मंदिर का भी कार्यक्रम रखते थे। यह वही मंदिर है जिसकी प्राचीन मूतियों का उल्लेख 'राग दरबारी' में हुआ है (वैसे 'राग दरबारी' के अनेक पात्रों को देखने का भी हमें सुअवसर मिला है और कुछ के किस्से हम बड़े-बुजुर्गों से सुनते आए थे)। कलेश्वरी देवी का स्थान कुषाणकालीन जलदुर्ग था। अब निर्जन जंगल है, बस मंदिर के पास एक साधु का निवास है। कई बार उन्होंने यहां कमरा बनवाकर लेखन कार्य करने की बात कही, पर यह ज़मीनी विचार उसी तरह हवा में खोकर रह गया जिस तरह गांव में या फिर नैनीताल में रहने की उनकी योजनाएं।

वह अध्ययन के लिए, कैरियर संवारने के लिए बच्चों को प्रेरित-प्रोत्साहित करते रहते थे। पढ़ने में करीब-करीब ठीक-ठाक था, इसलिए मुझसे भी प्रसन्न रहते थे। अध्यवसाय के बारे में उनसे सुना एक श्लोक आज भी याद है–

योऽहेरिव नराद्‌भीतः सौहृदान्नरकादिव।
राक्षसीभ्यः इव स्त्रीभ्यः स विद्यायाधिगच्छति।।

(जो सांप की तरह मनुष्यों से डरता है, सुहृदयों को नरक की तरह मानता है और स्त्री को राक्षसी की भांति समझता है, उसे ही विद्या आती है)।

उच्च शिक्षा के लिए पच्चीस किलोमीटर दूर लखनऊ आया। वह तब तक फैजाबाद से स्थानान्तरित होकर लखनऊ आ चुके थे। कानपुर और इलाहाबाद की अल्पकालिक सेवावधियों को छोड़ दिया जाए तो फिर वह 'लखनउवा' होकर रह गए। लखनऊ में सबसे पहले दिलकुशा कॉलोनी में रहे। वहां तो नहीं गया, पर गुलिस्तां कॉलोनी के चार मकानों में आगे-पीछे उनके रहने की स्मृति है। कानपुर से ट्रांसफर होकर आए, तो बहुत दिनों तक सरकारी मकान न मिल सका। उपन्यास 'मकान' का बीज उसी दौर में पड़ा, पर इस आधार पर नारायण का चरित्र उनका है, यह नहीं माना जाना चाहिए।

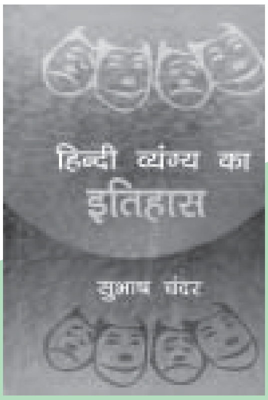

श्रीलाल शुक्ल ने कथा, निबंध और उपन्यास तीनों विधाओं का अपने व्यंग्य में सार्थक प्रयोग किया है। यह बात अलग है कि उन्हें सर्वाधिक ख्याति व्यंग्य उपन्यासों से मिली। जबकि उनकी व्यंग्य कथाएं और व्यंग्य लेख भी कम प्रभावी नहीं हैं। उनकी श्रेष्ठ व्यंग्य कथाओं में 'कुंती देवी का झोला', 'एक देहाती की नजर में शहर के सौ मीटर', 'कुत्ते और कुत्ते' आदि का उल्लेख किया जा सकता है जहां वह प्रसंगजन्य वक्रता और अपनी विशिष्ट चुटीली शैली में विसंगतियों का निर्मम विश्लेषण करते हैं।

श्रीलाल शुक्ल का व्यंग्यकार अपने उत्कृष्टतम रूप में अपने व्यंग्य उपन्यासों में ही उभरकर आया। विशेष रूप से 'राग दरबारी' तो उनकी व्यंग्य प्रतिभा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। स्वातंत्र्योत्तर भारत की ग्राम्य जीवन पर जैसी पकड़ प्रेमचंद की रही, स्वातंत्र्योत्तर भारत में ऐसी ही पकड़ श्रीलाल शुक्ल की है। गोदान और राग दरबारी के बीच का अंतर सिर्फ व्यंग्य है। सही मायनों में आजादी के बाद के गांव में जो भी विसंगतियां हो सकती हैं वे सब राग दरबारी में मौजूद हैं। राग दरबारी का शिवपालगंज भारत का कोई भी गांव हो सकता है और लंगड़, रूप्पन, रंगनाथ, वैद्यजी, बद्री पहलवान, बेला किसी भी गांव के पात्र हो सकते हैं।

श्रीलाल शुक्ल की भाषा व्यंग्यानुकूल है। वह रचना की प्रकृति के अनुसार व्यंग्य भाषा का चयन करते हैं। मसलन राग दरबारी की भाषा उ.प्र. के मध्य अंचल की ग्राम्य भाषा का गुण लिए हुए है जहां देशज भाषा के शब्दों का प्रयोग रचना में यथार्थता का पुट लाता है। इसके अलावा शुक्लजी की भाषा में अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू, अरबी-फारसी, बंगला, अवधी आदि भाषाओं के लोकप्रचलित शब्द खूब मिलते हैं। मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग के द्वारा वह भाषा में माधुर्य लाते हैं। उनकी शैली एकदम अनूठी है जिसमें वह वक्रोक्ति, वाग्वैदग्ध्य, परिहासबोध, कटुक्ति आदि सभी भाषिक शक्तियों का सिद्ध प्रयोग करके व्यंग्य में धार लाते हैं।

–सुभाष चंदर

कॉफी समय बाद बटलर पैलेस कॉलोनी में मकान मिला।

उनकी ईमानदारी, उनकी कर्तव्यनिष्ठा, उनके सहाय्यभाव के चरित चर्चे पहले ही सुन रखे थे, कॉफी कुछ देखने का अवसर लखनऊ में मिला। वह समय से दफ्तर पहुंचते थे और दिन ढलने के बाद घर लौटते थे। सुप्रसिद्ध साहित्यकार विक्टर ह्यूगो को खड़े-खड़े लिखने की आदत थी। उसी तरह खड़े-खड़े फाइल निबटाते देखा है उन्हें। करीब होने के कारण गांव के लोग कारण-अकारण उनके पास आते रहते थे जिन्हें न झिड़कते थे, न उपेक्षा करते थे। निवेदन-चिरौरी-रिरियाहट ज्यादा देर तक झेल नहीं पाते थे और टेलीफोन घुमाने लगते थे। कभी-कभी लोग बहुत छोटी चीजों के लिए, जिसे न समस्या कहा जा सकता था न काम- टपक पड़ते थे। एक बार गांव के एक प्रौढ़ व्यक्ति की 'अनुपमा' फिल्म देखने की तलब लगी। सिनेमा हॉल जाने के बजाय वह मामा जी के पास पहुंचे। टिकट मंगवाया गया तब जाकर उन्होंने फिल्म देखी। सद्व्यवहार का छोटा-बड़ा, मिनी-माइक्रो दण्ड भरना ही पड़ता है। उनके परोपकारों की सूची कॉफी लंबी बनेगी।

उनकी स्मरणशक्ति विलक्षण है। एम.ए. में था, तो चन्द्रगुप्त द्वितीय की प्रयाग-प्रशस्ति की चर्चा चली। उन्होंने लगभग बीस वर्ष पूर्व पढ़ी प्रयाग-प्रशस्ति को सुनाना शुरू कर दिया– 'यस्योद्वर्तयत: प्रतीपमुरसा शत्रून् समेत्यागतान. . .।' देशी-विदेशी साहित्य के अलावा भी उन्होंने बहुत कुछ पढ़ रखा है। उनसे और पं. विद्यानिवास मिश्र से न तो 'फ्लूक' चल सकता था और न ही अवचेतनात्मक अनुमान। पंडित जी अचानक चल बसे, अब मेरे एकमात्र 'एन्साइक्लोपीडिया' मामा जी ही हैं।

मामा जी की विभिन्न क्षेत्र के लोगों से मित्रता रही है। उनके घर पर भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, केशव चन्द्र वर्मा, विजयदेव नारायण साही, कुँवर नारायण, परमानन्द श्रीवास्तव, मुद्राराक्षस, नरेश सक्सेना, रमा सिंह, लीलाधर जगूड़ी, रवीन्द्र वर्मा जैसे साहित्यकारों से मिलने, बतियाने का अवसर मिला है। उनके घर पर योगाचार्यों (जैसे– ट्यूबलाइट खाने वाले शर्मा जी), चित्रकारों (रणवीर सिंह बिष्ट, मुनि सिंह, श्रीमती सचान), नाट्य निर्देशकों (जैसे– श्रीमती विजय नरेश) ठेठ अवधी के ठाठ वालों (जैसे- पं. महादेव प्रसाद तिवारी), संस्कृत विद्वानों, संगीतकारों, पत्रकारों आदि से मिला हूं। सबके साथ अच्छी वेवलेंथ पर बात करते पाया है। मुझे तो यह भी लगता है कि वह गैर-लेखकों के साथ कहीं ज्यादा सहज रहते हैं।

सरकारी नौकरी में थे तो व्यस्तता के चलते सभा-गोष्ठियों, समारोहों में जाना कम होता था। एक बार एक साहित्यिक कार्यक्रम का बुलावा आया। आयोजक टेलीफोन पर आने का अनुरोध कर रहे थे और वह मना कर रहे थे। संवाद के दौरान आयोजक ने एक कवि- जो सरकारी अधिकारी भी थे– का नाम लेकर प्रलोभनात्मक अंदाज में कहा कि वह भी आएंगे। इस पर मामा जी का शाइस्ता अंदाज बदल गया, '. . .हैं साहित्यिक कार्यकर्ता और मैं हूं साहित्यकार। वह जाएं, पर मैं नहीं पहुंच पाऊंगा।'

यह कहकर उन्होंने रिसीवर रख दिया।

सेवानिवृति के बाद समयाभाव रहा नहीं और वह साहित्यिक कार्यक्रमों में अपेक्षाकृत ज्यादा जाने लगे।

अलका पाठक

गौरव से गुदगुदायमान

चिठ्ठी हाथ में हो, पढ़ते-पढ़ते दिल बल्लियों उछले। पांव कहीं के कहीं पड़ें और चिठ्ठी को बार-बार पढ़ने को जी चाहे। किसी सुंदरी किशोरी के हाथ ऐसा होता तो मान लेते कि बात प्रेम की पाती की है! पाने वाली की उमर पचास का पाला छूने को और भेजने वाले थे पं. गोपाल प्रसाद व्यास-हास्यरस के अवतार! इबारत का सारांश यों था कि हिन्दी भवन पं. श्रीलाल शुक्ल जी को व्यंग्य श्री सम्मान देने वाला था और यह सम्मान मेरे 'कर-कमलों' से दिलवाया जाना था उसके लिए व्यास जी मेरी सहमति-स्वीकृति चाह रहे थे! बिल्ली से पूछा जा रहा है कि छींका फूटे? हैरान हुए न आप? मैं भी हुई थी। पहले हैरान हुई फिर मन में लड्डू फूटे। फूटने ही लगे। अपने हाथों को कई बार देखा। बार-बार देखा। मेरे कर 'कमल' हो गए! वह भी पं. श्रीलाल शुक्ल जी के लिए!

कल यह हाथ थे। इन्हीं में कभी पुरस्कार स्वरूप कई किताबें मिली थीं जिनमें एक पुस्तक 'राग दरबारी' भी थी! हिन्दी के व्यंग्य शिखर पर विराजने वाले महान व्यंग्यकार। हम तो पाठशाला में दाखिल भी नहीं हुए थे और वह व्यंग्य के स्कूल के हेडमास्टर थे! राग दरबारी जब मिली थी इनाम में, तब स्कूल के किसी इम्तहान में नम्बर अच्छे आये थे। इनाम में किताबें मिलीं। श्रीलाल शुक्ल जी के साहित्य से मुलाकात वहीं से शुरू हुई। अब यह बात वैसी ही है कि मैंने जब तैरना शुरू किया तो सागर से मुलाकात हुई। जहां मैं थी, वहां सागर भी था। सागर में लंगर डाले खड़े जहाज थे। ऊंचे मस्तूल थे। पाल वाली नौकाएं थीं जिनके अनुकूल हवाएं चलती थीं तो वह लहरों पर सवारी कर लेती थीं और कई-कई भाटे उन्हें पटक भी देते। लहरें लौट जाती और तट पर कीचड़, गन्दगी, कचरा और सड़ी मछलियों की बदबू छोड़ जातीं। मछलियों की यह औकात कहां कि सागर को गन्दा करें। अपने यहां कई एक कचरा और कूड़ा विशेषज्ञ हैं जो खुद सागर में नहीं उतरते लेकिन कचरा परीक्षण में निष्णात हैं।

'उनका ढब-ढर्रा, उनका व्यंग्य-विनोद-कटाक्ष मुझे अधिकतर स्थानिक या नगरीय जान पड़ा है, जिसका तालमेल मैं इलाहाबाद की कस्बाई और भावुक मानसिकता से नहीं बिठा सका हूं। उनके व्यक्तित्व का यह प्रभाव मेरे मन पर तब से बना हुआ है, जब सन् 1950 के लगभग, केशव जी के अनुरोध पर मैं उनके नगर फैजाबाद के एक सांस्कृतिक-साहित्यिक आयोजन में सम्मिलित हुआ था। श्रीलाल जी और भारती जी वहां थे। निजी व्यवहार से लेकर सार्वजनिक वक्तव्य तक एक की शालीन तटस्थता और दूसरे की आत्मीय संलग्नता ने मेरा ध्यान तब भी आकर्षित किया था।' – अजित कुमार

पं. व्यास जी के पत्र में जो सौभाग्य मेरे लिए बदा था उसे बाद में, बरसों बाद में कचरा विशेषज्ञ धोयें, घड़ी-घड़ी, पछाड़ें मिनिट-मिनिट कि पं. श्रीलाल जी शुक्ल को सम्मान देने के लिए कोई न बचा था कि इतने अपरिचित कर जो थे सो कमल बताये गए। मैंने अपने हर्ष को दबाया, विवेक को जगाया कि मैं इस पुनीत कार्य के लिए सहर्ष तैयार हूं अगर पं. शुक्ल जी को ऐतराज न हो तो! पन्द्रह दिन न बीते होंगे जब व्यास जी ने कहा कि शुक्ल जी की भी सहमति है और वह खुश हैं।

समारोह सही दिन, सही समय पर हुआ! हिन्दी भवन में पूर्व राष्ट्रपति पं. शंकरदयाल शर्मा, पं. श्रीलाल शुक्ल, व्यास जी, व्यंग्य-हास्य और अन्यान्य विभूतियां उपस्थित थीं और व्यास जी की यह हास्य-रसप्रियता की मिसाल ही थी कि मुझे यह सौभाग्य मिला कि पुरस्कार की राशि भेंट मैं करूं। प्रतीक चिह्न पं. शंकरदयाल शर्मा के कर कमलों से मैं करूं। शुक्ल जी ने एक सी स्मित और विनय के साथ सम्मान सिर माथे लिया! गिरधर मुरलीधर कहे, कछु दुख मानत नाहिं।

मेरे लिए यह अविस्मरणीय क्षण था! जी धक-धक कर रहा था। कुछ साल पहले मेरी किताब 'समझौतों का देश' पर आर्य स्मृति सम्मान देने के लिए मंच पर पं. श्रीलाल शुक्ल जी आसीन थे। मनोहर श्याम जोशी, मैं, श्रीलाल शुक्ल जी तीन बराबर कुर्सियों पर थे। सम्मानों में जैसे होता है, प्रशस्ति, प्रतीक और मुद्राओं के अलावा शाल-दुशाले भी होते हैं जिसे पाने वाले लेते सिर नवा कर हैं फिर पता नहीं क्यों उतार कर तह लगा कर रख देते हैं। मैंने भी यही किया। सोचा रिवाज होगा। शुक्ल जी ने हाथ बढ़ाकर दो अंगुलियों और अंगूठे से पकड़ा– क्वालिटी और कीमत का अनुमान लगाया। यही क्रिया दोबारा दुहराई और आश्वस्त हो हल्के से मुस्कुराए– 'अच्छा है!'

उस समारोह की इस वीडियो रिकॉर्डिंग का यह हिस्सा जब-जब देखूं यह 'यह अच्छा है' यों लगता है कि एक बुजुर्ग ने अपने कनिष्ठ को मिलने वाले इनाम पर एक मानक मुहर लगा दिया हो-एक सर्टिफिकेट– मेरे लिए वह व्यंग्य का आई.एस.आई. मार्क है! कह सकती हूं कि व्यंग्य की नगरी में कुछ हमरा भी हक हुइबे करी! पं. गोपाल प्रसाद व्यास और पं. श्रीलाल शुक्ल दोनों ने मिलकर-एक ने कह कर, दूसरे ने स्वीकार कर मुझे जीवन का यह अविस्मरणीय क्षण प्रदान किया!

पता नहीं चल रहा कि आभार मानूं, नमन करूं कि इस गौरव से गद्‌गद् गुनगुना गूंगे की तरह गुड़ का आनन्द लेती रहूं!

2-सी, सूर्य अपार्टमेंट्स

सै

विनोद साव

श्रीलाल शुक्ल पर बातें : कुछ जमीन से कुछ हवा से

श्रीलाल शुक्ल से पहली मुलाकात :

लखनऊ की जमीन पर जैसे ही पांव धारे तो तीन चीजें पहले याद आईं– भूलभुलैया, मोतीलाल वोरा और श्रीलाल शुक्ल। तब हमारे शहर दुर्ग के वोरा जी उत्तर प्रदेश के राज्यपाल थे। वोरा जी से राजभवन में मिलने का समय साढ़े तीन बजे का तय हो गया था। बड़ा ईमामबाड़ा यानी बहुप्रसिद्ध भूलभुलैया को दूसरे दिन के लिए रख छोड़ा था। अब मन ललकने लगा था क्योंकि सबसे पहले श्रीलाल शुक्लजी को देखने और मिलने का सुयोग बन रहा था। होली की दूसरी रात थी जब ग्यारह बजे लखनऊ स्टेशन पर उतरा तो स्टेशन की भव्यता और उसके भीतर की सफेदी ने मुग्ध कर दिया।

आखिर रात में अट्टहास समारोह के आयोजकों को कहां खोजता तब स्टेशन के नजदीकी होटल में ही घुस गया। सुबह उठकर भी सोचा कि कहीं आयोजकगण कोई ऐसा वैसा कार्यक्रम न बना दें जिससे श्रीलाल शुक्लजी से मिलने में कोई बाधा आवे। मैंने आयोजकों से बात किए बिना सीधे श्रीलालजी को फोन लगाया।

'कहां से बोल रहे हैं?'

'यहीं. . .लखनऊ आ गया हूं सर. . .आपका सम्मान देखने की लालसा से (उस दिन श्रीलाल शुक्ल को अट्टहास शिखर सम्मान से विभूषित किया जाना था), यह जानने के बाद कि मैं नियत स्थान पर नहीं रुका हूं और स्टेशन के पास ही कहीं पड़ा हूं, वे झुंझला गए। यह पूछने पर कि मैं उनसे कब मिलने आ सकता हूं, वे दबावपूर्वक यही बोलते रहे कि पहले आप आयोजकों से बात करने के बाद अपने निर्धारित आवास में रुकें तब मुझसे बात करें और उन्होंने फटाक से फोन रख दिया।

अब मेरे पास आयोजक अनूप श्रीवास्तव के नंबर घुमाने के सिवा कोई रास्ता नहीं था। अनूपजी से बात हुई और थोड़ी देर में ही अलादीन के चिराग से निकले जिन्न की तरह एक वर्दी और मूंछधारी ड्राइवर हाजिर हुआ। मैं होटल छोड़कर बाहर खड़ी उत्तर प्रदेश राज्य शासन की सफेद एम्बेसडर में जा धंसा। कार सीधे सरकारी वी.आई. पी. गेस्ट हाउस के सामने जा खड़ी हुई। अबकी बार अपने अपार्टमेंट में लगे फोन से श्रीलालजी से बात फिर नये सिरे से शुरु हुई।

'अब कहां से बोल रहे हैं आप?' उनके पूछने से लगा कि वे चाहते थे कि मैं इधर-उधर न भटककर अपने लिए आबंटित सर्वसुविधायुक्त आवास में ही पहुंचू। अबकी बार वे आश्वस्त लगे 'अब बताइए! आपका क्या कार्यक्रम है?'

'मैं आपसे मिलने आना चाहता हूं।'

'जरुर. . .' फिर उसके बाद उन्होंने अपने घर आने का नक्शा बताया। कितनी बारीकी से बताते हैं श्रीलाल शुक्ल हर बात को। घर तक पहुंचने का रास्ता, दूरी, समय, हर चौराहा, कॉलोनी, मकान नम्बर और आते समय बायीं ओर से चौथा या पांचवां मकान जो भी हो।

मकान के बाहर लगी हुई नाम की तख्ती और दरवाजे पर खड़े हैं श्रीलाल शुक्ल। सफेद धोती-कुर्ता पहने विनम्रता से सराबोर किसी भी घर में दिख जाने वाले परिवार के आत्मीय बुजुर्ग की तरह। वे हाथ पकड़कर घर में घुसते हुए बाहर से आवाज देते हैं पत्नी को 'गिरिजा देखो. . . कौन आए हैं. . . ये विनोद साव हैं. . . तुम्हारे मध्यप्रदेश से आये हैं।' कभी गिरिजाजी का मायका मध्य प्रदेश के मालवा अंचल में था जबकि मैं छत्तीसगढ़ का रहने वाला हूं। तब एक ही प्रदेश में होने के बाद भी मालवा और छत्तीसगढ़ के बीच दूरी हजार किलोमीटर थी। फिर भी प्रादेशिक सीमाओं का संबंधों की निकटता बताने में कितना हाथ होता है। यह जानकर गिरिजाजी भावातिरेक से उठीं। लकवाग्रस्त अशक्त शरीर में शक्ति लगाते हुए उन्होंने दोनों हाथ जोड़ लिए तब मुझे पता ही नहीं चला कि कब मैंने उनके पैर छू लिए थे। उन्होंने भोजन के लिए जोर दिया पर मैं लेने की स्थिति में नहीं था। तब नाश्तों की भरमार सामने टेबल पर थी।

अब बातचीत का लम्बा सिलसिला शुरु हो गया था जिसे जारी रखने के लिए कॉफी के दौर चलते रहे। श्रीलालजी खाने पीने की चीजों पर भी उसी विस्तार से बात करते हैं जिस गंभीरता से साहित्य,

रचनाधर्म और उसके परिवेश पर बोलते हैं। इस बात का भी उन्होंने ध्यान रखा कि दुर्ग निवासी होने के नाते वोरा जी से मिलने का समय मैंने लिया है या नहीं– 'जरुर मिलो. . . वोरा जी से। वोरा जी की इमेज यहां भी अच्छी है। हम लोग इसलिए उन्हें मानते हैं कि राजनीति में होने के बाद भी वोरा जी ने कोई बेवकूफियां यहां नहीं कीं।'

यह राजनेताओं पर उसी तरह का कटाक्ष है जिससे 'राग दरबारी' अंटा पड़ा है।

'कब से लिखना शुरु किया विनोदजी आपने?' श्रीलालजी पूछते हैं। मैंने संकोच से बताया कि देर से लिखना शुरु किया है। तब उन्होंने यह कहते हुए संभाला कि 'अच्छा किया आपने. . . देर से लेखन शुरु करने का सबसे बड़ा लाभ यह है कि अपनी आरंभिक रचनाओं के लिए शर्मिन्दा होना नहीं पड़ता।' हर बात और हर स्थिति का अद्‌भुत विश्लेषण और वह भी इस तरह जैसे रस्सी पर करतब दिखाता हुआ कोई साइकिल सवार हो जो साइकिल का हैंडल छोड़कर अपने हाथ में डंडा लिए हो और डंडे का संतुलन ऐसा कि रत्तीभर न इधर झुकता है न उधर। हिन्दी–अंग्रेजी–संस्कृत तीनों में खूब पढ़ा है, उन्होंने। ब्रजभाषा के एक पुराने किसी हास्य कवि की पंक्तियां सुनाई जो उन्हें पूरी तरह कण्ठस्थ थीं। मिलने आए हुए अपने एक कार्यपालक मंत्री मित्र के साथ अंग्रेजी उपन्यास पर चर्चा छेड़ी तो फिर केवल अंग्रेजी में बातचीत। उपन्यासों के चरित्रों द्वारा बोले गए संवाद. . .धड़–धड़ अंग्रेजी में। ऐसे भाषा के धनी विद्वान लेखकों से मिलकर ग्लानि भी होती है कि 'हम लोग क्या लिख रहे हैं... और कितना पढ़ रहे हैं।'

दोपहर बारह से तीन बजे तक उनके साथ बातचीत का मैटिनी–शो खत्म हो चुका था। पहली बार महसूस हुआ कि एक बड़ा लेखक क्या होता है। एक क्लासिक लेखन करने वाला व्यक्तित्व कितना विराट होता है। यह जानने के बाद कि मैं दूसरे दिन अयोध्या जाना चाहता हूं उन्होंने तुरन्त अपने एक प्रशंसक सिटी मजिस्ट्रेट सुधाकर अदीब साहब को फोन लगाकर मेरे रुकने–घूमने की सम्पूर्ण व्यवस्था करवा दी थी।

रात्रि में तत्कालीन मुख्यमंत्री मुलायम सिंह यादव और राज्यपाल मोतीलाल वोरा ने मिलकर श्रीलाल शुक्ल को जब अट्‌टहास शिखर सम्मान से नवाजा तो अपनी स्वाभाविक विनम्रता के साथ अपने उद्‌बोधन में श्रीलाल शुक्ल ने कहा कि 'आप लोगों ने एक व्यंग्यकार का सम्मान किया है, ईश्वर आप लोगों का भला करे।'

श्रीलाल शुक्ल और राग दरबारी को मैंने एक साथ जाना। वैसे भी मैंने देर से लिखना शुरु किया था। लम्बे समय तक एक पाठक के रूप में गद्यकारों में परसाई के सिवा किसी को जानता भी नहीं था। एक कवि मित्र ने अनायास ही अपने घर से 'राग दरबारी' निकालकर मुझे दे दी यह कहते हुए कि 'तुम व्यंग्य लिखना शुरु कर रहे हो तो इसे तुमको पढ़ना ही चाहिए।' तब मुझे मालूम ही नहीं था कि मेरे हाथ एक क्लासिक लग चुकी है। बाद में श्रीलालजी से पत्र व्यवहार और दो बार मुलाकातें भी हो गई थीं। एक बार भोपाल में जब श्रीलालजी मैथिलीशरण गुप्त सम्मान ग्रहण करने आए तब उसी कवि मित्र ने उनसे मेरा संदर्भ देकर अपना परिचय देते हुए प्रणाम किया और कहा कि 'विनोद साव आपकी बड़ी प्रशंसा करते हैं।' तब श्रीलालजी ने परिहास करते हुए कहा कि 'चलिए विनोद साव की प्रशंसा के कारण आपने मुझे प्रणाम के योग्य तो समझा।'

वहां रवीन्द्रनाथ त्यागी भी मौजूद थे, शरद जोशी पुरस्कार ग्रहण करने के लिए। उन कवि मित्र ने वहां उनसे भी मुलाकात की। अपनी पत्नी का भी त्यागीजी से परिचय करवाया तब त्यागीजी ने आंखें बंद करते हुए कहा कि 'जब से मुझे डायबिटीज हुई है तब से दूसरों की बीवियों की ओर मैंने देखना बंद कर दिया है।' वे मित्र दुर्ग आकर मुझ पर बरस पड़े 'यार. . . तुम व्यंग्यकार लोग तो बड़े भयानक होते हो।'

खैर. . .बात राग दरबारी की चल रही थी। स्वयं श्रीलाल शुक्ल कहते हैं 'परिहास की मुद्रा में 450 पृष्ठों का हिन्दी क्या, मैं समझता हूं कि समस्त भारतीय भाषाओं का यह पहला उपन्यास है।' वे मानते हैं कि व्यंग्य के दो स्वरुप हैं एक ट्रैजिक सटायर और दूसरा कॉमिक सटायर यानी एक करुणा से उपजा व्यंग्य जिसे परसाई अपना व्यंग्य कहते थे 'मेरे व्यंग्य के अंतस्‌ में करुणा की धारा बहती है।' और दूसरा हास्य–व्यंग्य जिसमें 'राग दरबारी' लिखा गया है 'मैंने जिसे हाई कॉमेडी कहते हैं, उसी में ज्यादातर कृतियां लिखी हैं, कम से कम राग दरबारी का वही मूड है।'

अमिताभ खरे से पूरी तरह सहमत हुआ जा सकता हैं कि 'यह सही है कि वे शैक्षणिक पृष्ठभूमि वाले छात्रों के बीच सर्वाधिक लोकप्रिय हिन्दी के लेखक हैं। उनकी ख्याति का सबसे बड़ा आधार राग दरबारी रहा। राग दरबारी की स्थितियां व संवाद लोगों की जुबान पर चढ़े रहते थे और अक्सर आपसी चर्चाओं और हंसी ठट्‌ठों में उसी के प्रसंगों को दोहराया जाता रहा है। बहुतों को यह जानकारी भी नहीं रही कि उन्होंने रागदरबारी के सिवा भी कुछ लिखा है। एक क्रियेटिव गद्यकार होने के बावजूद भी वे व्यंग्यकार के रुप में ज्यादा प्रतिष्ठा अर्जित कर गये हैं।'

विश्वनाथ त्रिपाठी मानते हैं कि 'राग दरबारी में सर्वत्र व्यंग्य विनोद है। इससे कथानक गौण हो गया है। राग दरबारी उपन्यास कम व्यंग्य विनोद ज्यादा है। कथानक में गति या विकास कहने भर को है। इसलिए यह रचना पात्रों या घटनाओं से नहीं उन पर की गई लेखकीय टिप्पणियों, फब्तियों से प्रभावित करती हैं। इस अर्थ में लेखकीय दृष्टि सचमुच तटस्थ है। श्रीलाल शुक्ल ने कहीं कहा है कि परसाई बड़े व्यंग्यकार हो गये क्योंकि उनके पास एक विचारधारा थी। रागदरबारी पढ़ते हुए मुझे उनका यह कथन बार बार याद आता है।'

इस पर श्रीलाल शुक्ल कहते हैं 'यह तो मानना पड़ेगा कि कोई लेखक अपनी विषयवस्तु के अनुरुप शैली चुनने के लिए स्वतंत्र है। अगर यथार्थ के उद्‌घाटन में मेरी शैली आलोचकों के ढांचे से अलग चली जाती है तो यह मेरा दोष नहीं है, यह आलोचकों के बने–बनाये पूर्व निर्धारित ढांचे की अपर्याप्तता है।'

श्रीलालजी को एक पत्र लिखा कि 'मुझे राग दरबारी उपन्यास लेखन की एक कार्यशाला जैसी लगती है। उसे पढ़ने से यह सीख मिलती है कि उपन्यास किस तरह लिखा जाता है। क्योंकि बहुतों ने राग दरबारी पढ़ने के बाद उपन्यास लिखा, और उसी तरह की कोशिशें कीं चाहे जैसी भी हों।' जवाब में उनका किंचित व्यंग्य से भरा एक पत्र आया 'मेरे लिए आपने इतनी अच्छी बातें लिखीं– यानी

मेरे लेखन के लिए- कि आपकी अविष्कारक प्रतिभा पर आश्चर्य होता है, धन्यवाद।' (पत्र दि. 05-7-2001)

दरअसल भाषा के ध्वनि सामर्थ्य को पहचान कर उसे एक नयी अर्थवत्ता देने और समकालीन जीवन की विडम्बनाओं और विद्रूपों की निर्भीक अभिव्यक्ति को उन्होंने 'रागदरबारी' के माध्यम से हिन्दी गद्य में उपस्थित किया है।

श्रीलाल शुक्ल और व्यंग्य :

व्यंग्य के हमारे पुरोधा व्यंग्य पर ऐसी टिप्पणी कर गए हैं कि अपनी स्थापना के लिए व्यंग्य की दौड़धूप आज तक जारी है। प्रेम जनमेजय की 'व्यंग्य यात्रा' अभी अभी शुरु हुई है अब देखें आगे क्या नतीजा निकलता है!

व्यंग्य के प्रथम पुरुष परसाई ने व्यंग्य को शूद्र से क्षत्रिय तो बना दिया लेकिन यह भी कह दिया था कि 'व्यंग्य केवल एक स्पिरिट है साहित्य की विधा नहीं, व्यंग्य किसी भी विधा में हो सकता है।' परसाई की पहली पसंद के व्यंग्य लेखक रवीन्द्रनाथ त्यागी ने कहा कि 'व्यंग्य को विधा बनवाने पर वे लोग तुले हुए हैं, जिन्हें व्यंग्य लिखना नहीं आता।' श्रीलाल शुक्ल इसे एक पृथकतावादी मांग मानते हैं 'यह अपनी एक अलग टेरिटरी बनाने जैसी बात है'। देखा जाए तो व्यंग्य के जो चार बड़े स्तम्भ हुए उनमें शरद जोशी ही थे जिन्होंने व्यंग्य के विरोध में वक्तव्य नहीं दिया और कहा कि 'अब यह एक विधा-सा एहसास कराने लगा है।' पहले व्यंग्यकार परसाई के होने के बावजूद व्यंग्यकार का विशेषण भी सबसे ज्यादा शरद जोशी के साथ लगा वे हरदम व्यंग्यकार शरद जोशी ही कहलाए। परसाई, त्यागी व शुक्ल की तरह जोशी ने अपने लेखन का फैलाव अन्य विधाओं की ओर अधिक नहीं किया सिवा कुछ नाट्य लेखन के, उन्होंने अपनी सारी शक्ति केवल व्यंग्य लिखने में ही लगाई।

व्यंग्यकारों में सबसे ज्यादा अन्य विधाओं की ओर रुख्सत किया श्रीलाल शुक्ल ने। बल्कि उन्हें सबसे अधिक उपन्यास लेखन रुचा, उनके उपन्यासों की संख्या दस है। व्यंग्य संग्रह पांच हैं और तीन कहानी संग्रह हैं। वे अपने को उपन्यासकार या कथाकार कहलवाना अधिक पसंद करते रहे बनिस्बत व्यंग्यकार कहलवाने के। जबकि उनके हिसाब से विडंबना यह हो गई कि वे व्यंग्यकार ही कहलाए। यह विडंबना परसाई के साथ भी हुई। उन्हें भी प्रगतिशील आलोचक, राजनीतिक विश्लेषक, मार्क्सवादी चिंतक, कहानीकार, निबंधकार न जाने क्या-क्या कहते रहे पर पाठकों ने एक स्वर में परसाई को केवल व्यंग्यकार ही माना और हिन्दी व्यंग्य की नयी परम्परा की स्थापना का श्रेय भी परसाई को ही दिया।

श्रीलाल शुक्ल की तरह ही विडंबनाओं के शिकार मनोहरश्याम जोशी भी हुए जिन्होंने ज्यादातर उपन्यास ही लिखे पर उन्हें भी व्यंग्यकारों ने अपनी पंक्ति में ला खड़ा किया और वे भी व्यंग्यकार कहलाने लग गए। जबकि जोशी जी ने व्यंग्य को लेकर कोई वक्तव्य भी कभी नहीं दिया न उनमें व्यंग्य बिरादरी से जुड़ाव जैसी कोई भावना थी, न व्यंग्यकारों से उनके संबंध विकसित हुए। वे ज्यादातर पत्रकारों और मीडियाकर्मियों के बीच रहे। उपन्यास और व्यंग्य के अतिरिक्त उन्होंने मीडिया विमर्श पर भी लिखा। श्रीलालजी अपने एक ही उपन्यास राग दरबारी के प्रकाशन के साथ व्यंग्य के सिरमौर हो गए। उसी तरह मनोहरश्याम जोशी अपने उपन्यास 'नेताजी कहिन', 'कुरु कुरु स्वाहा' और 'हरिया हरक्यूलिस' जैसे उपन्यासों में अपनी व्यंग्य कथाओं की बुनावट के कारण प्रथम पंक्ति के व्यंग्यकारों में आ खड़े हुए।

दरअसल कुछ उपन्यासों की कथाओं की अपनी विशिष्ट भंगिमा और उनकी व्यंग्य की शैली ने उपन्यास की एक नयी परम्परा खड़ी कर दी और व्यंग्य विरोधी आलोचकों के विरोध के बावजूद भी ऐसे उपन्यास व्यंग्य उपन्यास कहलाने लगे और उन्हें प्रकाशक भी व्यंग्य उपन्यास बतलाकर अपना धंधा चमकाने लगे। उपन्यास की इस नयी परम्परा की शुरुवात भी कायदे से श्रीलाल शुक्ल से ही हुई। यद्यपि उन्होंने दस उपन्यास लिखे पर वे ज्यादा चर्चा में आए केवल दो उपन्यासों से। एक- 'राग दरबारी' और दूसरा- 'बिस्रामपुर का संत' से। इनमें उपन्यास राग दरबारी अपने अद्‌भुत शिल्प और व्यंग्य से सराबोर होने के कारण तो व्यंग्य के खाते में चला गया। और एक लम्बी औपन्यासिक कृति होने के कारण उसे व्यंग्य उपन्यास का एक नया नाम दिया गया। मनोहरश्याम जोशी के भी ज्यादातर उपन्यास व्यंग्य उपन्यास के खाते में चले गए।

आज जब साहित्य के केन्द्र में उपन्यास आ गया है और कई नवोदित लेखकों में उपन्यास लेखन का जुनून सवार है। तब श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य उपन्यास की परम्परा में लिखने वाले लेखकों का भी एक बड़ा वर्ग तैयार हुआ है। यद्यपि श्रीलालजी ने रागदरबारी को व्यंग्य उपन्यास कहे जाने को भी नापसंद किया था पर कृतियों को लेखक और आलोचक से ज्यादा प्रबल मान्यता देने का अधिकारी पाठक हो जाता है और वही तय भी कर देता है कि कौन व्यंग्यकार होगा और कौन कथाकार। परसाई, श्रीलाल शुक्ल, मनोहरश्याम जोशी के विविध आयामी लेखन के बावजूद भी उन्हें वही मान्यता मिली जो पाठकों ने तय किया और वे व्यंग्यकार कहलाने लग गए। व्यंग्य लेखन की ऐसी ही शख्सियतों के कारण व्यंग्य को एक विधा माने जाने की आवाज उठी। तब भी जब व्यंग्य की ये समृद्ध और संस्थापक पुरोधा पीढ़ी व्यंग्य को विधा माने जाने के खिलाफ थी। बकौल ज्ञान चतुर्वेदी 'व्यंग्य जगत के ये विश्वामित्र कह रहे हैं कि मेनका से पैदा हुई संतान उनकी नहीं है।'

श्रीलाल शुक्ल की कृतियों को केन्द्र में रखकर सभी व्यंग्यधर्मी संस्थाओं ने उन्हें सम्मान-पुरस्कार दिये। व्यंग्य की पत्रिकाओं ने उन पर अपने विशेषांक निकाले। देखा जाय तो कविता, कहानी, उपन्यास या निबंध की मुख्यधारा में समालोचकों ने परसाई, जोशी, त्यागी, शुक्ल या इन जैसे अन्यान्य व्यंग्यकारों की रचनाओं को शामिल नहीं किया, इन्हें हमेशा तवज्जो दी उस व्यंग्य बिरादरी ने जिन्हें हाशिये पर रखने की कोशिश हमेशा की जाती रही है। कथाकार उदयप्रकाश कह रहे हैं कि 'ये आलोचक संदेह के घेरे में आ गए हैं। इन आलोचकों की विश्वसनीयता पर उसी तरह सवाल उठ रहे हैं जिस तरह इतिहासकारों पर उठा करते थे।'

मुक्तनगर, दुर्ग-491001 (म.प्र.)

तेजेन्द्र शर्मा

हिन्दी व्यंग्य के कोलम्बस– श्रीलाल शुक्ल

यदि किसी से पूछा जाए कि अमरीका की धरती पर पहला कदम किसने रखा, तो खटाक से जवाब मिलेगा– कोलम्बस। किन्तु यदि हम अपने सवाल को थोड़ा सा विस्तार दे दें और पूछें कि दूसरा आदमी कौन था, तो सारी दुनिया एक दूसरे का मुंह ताकने लगेगी। जबकि यह सच है कि पहला कदम दूसरे आदमियों का पड़ा होगा जिन्होंने कोलम्बस की उस धरती पर उतरने के लिये उसके जहाज को लंगर डलवाया होगा और उसके उतरने का प्रबंध किया होगा।

पद्मविभूषण श्रीलाल शुक्ल हिन्दी व्यंग्य विधा के कोलम्बस कहे जा सकते हैं जिन्होंने हमें राग दरबारी देकर हमारे लिये एक नई दुनिया के दरवाज़े खोल दिये। श्रीलाल जी के बाद की पीढ़ी की समस्या यही बनी रहेगी कि जब-जब वे व्यंग्य उपन्यास लिखेंगे चाहे वो ज्ञान चतुर्वेदी हों या विभूति नारायण राय, उनके उपन्यासों की तुलना सीधी राग दरबारी से ही की जाएगी। जहां अधिकतर व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई और शरद जोशी की राह पर चलते रहे श्रीलाल शुक्ल ने एक नये संसार का गठन कर दिया।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके साथ पूरा जीवन बिता दिया जाए तो भी वो हमारी याद का हिस्सा नहीं बन पाते। जबकि कुछ लोग एक ही मुलाकात में कुछ ऐसी छाप छोड़ देते हैं कि बहुत अपने से लगने लगते हैं, और गाहे-बगाहे उनकी मोहक छवि दिल को छूती रहती है।

श्रीलाल शुक्ल से मेरा कोई निजी रिश्ता या दोस्ती नहीं है। मैं बस राग दरबारी के लाखों प्रशंसकों में से एक हूं। पहली बार जब लखनऊ जाना हुआ तो अपनी दिवंगत पत्नी इंदु के लिए एक हकीम जी से दवा लेने गया था। दूरदर्शन पर शोर मचा हुआ था कि उन हकीम साहब ने कैंसर का इलाज खोज लिया है। मैं बस कैंसर के चक्कर में किसी और से न तो मुलाकात कर पाया और न ही इसके बारे में सोचा।

फिर दूसरी बार मेरा लखनऊ जाना हुआ जब मैं संगमन में शामिल होने के लिये लखीमपुर खीरी गया था। उस ट्रिप में आते और जाते दोनों बार लखनऊ रुका। वहां तीन लोगों से मिलने का अवसर मिला– कामतानाथ जी, अखिलेश और श्रीलाल शुक्ल। और मैं अखिलेश का हमेशा ऋणी रहूंगा कि उसने एक पूरा दिन मुझे श्रीलाल जी के साथ बिताने का अवसर जुटा दिया।

शराब पी कर लिखने वालों के बारे में एक बार मैने कुछ पंक्तियां अपनी गज़ल में लिखी थीं।

कुछ जो पीकर शराब लिखते हैं, बहककर बेहिसाब लिखते हैं।

होश लिखने का गो नहीं होता फिर भी मेरे जनाब लिखते हैं
जिन्दगी को मजाक में लेकर, जिन्दगी की किताब लिखते हैं।

किन्तु उस दिन श्रीलाल जी दोपहर के समय अपने साथ एक बोतल वोदका लेकर हमारे गेस्ट हाउस के कमरे में आए। वहीं अखिलेश, मैं और श्रीलाल जी इकट्ठे बैठ गए। श्रीलाल जी ने वोदका के साथ न्याय करना शुरू किया। किन्तु मैं महसूस कर रहा था कि वोदका का असर उस सत्तर साल के नौजवान पर सकारात्मक हो रहा था। हर सिप के साथ उनकी बातों की गहराई बढ़ती जा रही थी। मेरी हालत कुछ ऐसी ही हो रही थी जैसी किसी भी फैन की हालत अपने प्रिय सितारे को देख कर होती है।

हिम्मत करके मैंने श्रीलाल जी से कहा कि सर मैं अपनी एक कहानी लाया हूं और आपको सुनाना चाहता हूं। मैंने उन्हें अपनी कहानी 'चरमराहट' पढ़कर सुनाई जो कि बाबरी मस्जिद के गिरने पर विदेशों में हुई प्रतिक्रिया पर लिखी थी। बहुत ध्यान से सुनते रहे और बीच-बीच में वोदका के सिप की आवाज भी उभरती रही।

अखिलेश ने तो कोई टिप्पणी नहीं की। श्रीलाल जी ने कहा, तेजेन्द्र तुम्हारी कहानी बहुत ठस्स है। इसमें मैटर बहुत ज्यादा है। इसे थोड़े फैलाव की जरूरत है। इसमें कहानी बहुत ज्यादा है। मेरे लिए यह पहला मौका था जब इतने बड़े किसी साहित्यकार ने मेरी कहानी आमने-सामने बैठकर सुनी थी और उस पर सच्ची प्रतिक्रिया भी दी थी। सच कहूं तो मुझे उस वक्त उनकी टिप्पणी बिल्कुल समझ नहीं आई थी। मगर जैसे-जैसे सोचता गया उनकी बात दिमाग में बैठती चली गई। उनकी बात को मैंने गुरु की सीख की तरह पल्ले बांध लिया।

उस दोपहर हम श्रीलाल जी के घर भी गए। उस महान लेखक के सादे जीवन के दर्शन किए। थोड़ा हैरान भी था कि इतना बड़ा लेखक, जो कि इतने वरिष्ठ सरकारी पद से सेवा-निवृत हुआ है, भला इतना सादा कैसे हो सकता है।

वहां से श्रीलाल जी हमें एक आलीशान से लगने वाल रेस्त्रां में दोपहर का भोजन करवाने ले गए और मुझे उस खाने के पैसे नहीं चुकाने दिए। उन्होंने मुझे अपना या पूरे लखनऊ का अतिथि मान लिया था।

उनकी स्मरण शक्ति गजब की है। पचास-साठ साल पहले की घटनाएं ऐसे विस्तार से बयान करते हैं कि लगता है अभी की घटना सुना रहे हैं। जब मैंने इस बात का जिक्र किया तो वे बोले– याददाश्त का तो ऐसा है कि मैं पचास साल पुरानी बात तो बिना भटके याद कर सकता हूं लेकिन अक्सर सर पर चश्मा लगाए हुए उसे खोजते हुए पूरा दिन भी बरबाद कर देता हूं। अचानक मेरी निगाह

शेष पृष्ठ-158 पर. . .

अनूप श्रीवास्तव

क्या लिखूं, कैसे बताऊं?

लखनऊ में हजरतगंज का कॉफी हाउस कभी जितना बाहर हुआ करता था, उतना ही अन्दर भी था। वहां कुछ खास मेजें थीं, और कुछ खास कोने भी, जहां प्राय: वे लोग बैठे दिख जाया करते थे जिन्हें बाहर मिल पाना मुश्किल हुआ करता था। कॉफी हाउस की जगह वैसे अब भी बदस्तूर है पर हजरतगंज ही बदल चुका है। कॉफी हाउस के अन्दर एक नया रेस्तरां निकालने की कोशिश में हैं पर अब वहां पर कॉफी हाउस ढूंढना मुश्किल है। उससे भी अधिक कठिन है कॉफी हाउस के दौरान पायी जाने वाली समरसता, सद्भाव जो यहां की सड़कों पर चलने वाले इक्के तांगों की तरह जहन से गायब हो चुकी हैं। कॉफी हाउस में बांस की घेरदार कुर्सियों पर कभी बड़े कद वाले साहित्यकार, उसी के समान्तर राजनेता, अफसर, रंगकर्मी, पत्रकार, जब वहां बैठकर ठहाके लगाते थे तो देखने वालों के लिए अन्दाज लगाना मुश्किल हो जाता था कौन उनमें किस कद काठी का था।

वैसा कॉफी हाउस तो अब अपनी जड़ें छोड़कर गायब हो चुका है। पिछले दिनों कॉफी हाउस की ओर पीठ करके खड़ा ही हुआ था कि यूनिवर्सल बुक स्टोर के मालिक चन्द्र प्रकाश की आवाज पीछे से सुनाई दी-क्या ढूँढ रहे हैं? मैंने कहा, कुछ नहीं, लगता है सब बेतरतीब हो गया है। गड्डमड्ड हो चुका है। मैं खुद नहीं समझ पा रहा हूं क्या ढूंढ रहा हूं, शायद कॉफी हाउस में 'हाउस' ढूंढ रहा हूं।

कॉफी हाउस का दरवाजा खुलते ही कोने में पड़ी एक मेज थी जिस पर यशपाल जी, नागर जी, भगवती बाबू, प्रबोध मजुमदार, कृष्ण नारायण कक्कड़, श्रीलालजी, ठाकुर प्रसाद सिंह के बगल में सुरेन्द्र चतुर्वेदी बैठे थे। उन्हें देखकर अपनी मेज छोड़कर मैं भी पीछे बैठकर उनकी बात सुनने लगा। इतने में बैरा बिल लेकर आया- मैंने भुगतान करने के लिए जेब में हाथ डाला ही था तभी श्री लाल जी ने डपटते हुए धीमे से कहा- क्या कर रहे हो? तुम सबसे छोटे हो। तुम्हें टेबल मैनर्स भी नहीं आते हैं। मुझे एक झटका लगा और अच्छा भी और फिर सबक दुहराने के कई मौके आए। मैंने हर बार अपने हाथ को जेब में ही रोक लिया। इससे एक फायदा भी हुआ, जब कभी जेब में पैसे नहीं हुआ करते थे तब भी कॉफी हाउस जाने में हिचक नहीं हुआ करती थी।

मैं दारुलशफा विधायक निवास में रहा करता था। युद्ध के दौरान बैंकेट हाउस का सायरन बजते ही रोशनी बुझा देनी पड़ती थी। सुरेन्द्र चतुर्वेदी दिल्ली के एक बड़े अखबार के पत्रकार थे और हम सब उनकी नकल करने वाले युवा पत्रकार। उन दिनों बड़े छापों वाली नये फैशन की तौलियों का बड़ा चलन था। सुरेन्द्र चतुर्वेदी जी ने आते ही कहा- 'बड़ी गर्मी है। नहा के आता हूं' और एक बड़ी टावेल उठाकर बाथरूम में घुस गये। निकलते ही 'ब्लैकआउट' का सायरन बज गया। बोले,' कुछ टावेल और भी है? 'हां, है तो पर क्या करना है?' सुरेन्द्र चतुर्वेदी जी ठहाका लगा के हंसे-चलो मेरी तरह एक-एक टावेल तुम लोग भी पहन लो कॉफी हाउस चलते हैं। कौन देखता है कि अंधेरे में कौन क्या पहने है। हम लोग टावेल पहन कर कॉफी हाउस पहुंचे। उतने बड़े कॉफी हाउस में दो तीन मोमबत्तियां अंधेरे में इतने ही संकेत कर पा रही थीं कि कौन-सी मेज खाली है। सुरेन्द्र चतुर्वेदी जी ने बैठते ही कॉफी लाने का आर्डर दिया-हम लोगों ने कॉफी की पहली सिप ही ली थी कि ब्लैक आउट खत्म हो गया और हमारी मेज सबके ठहाकों का केंद्र बन गयी। दो मेज छोड़कर श्रीलालजी और ठाकुर प्रसाद सिंह बैठे थे। ठाकुर भाई ने कहा- 'खबरनवीस टावेल में!' 'यार! ब्लैक आउट था। सोचा टावेल में ही चलें।' श्री लाल जी ने चुटकी ली- 'तब तो टावेल की भी क्या जरूरत थी,' और ठहाके 'धर्मयुग' तक जा पहुंचे।

हजरतगंज की मुख्य सड़क की दूसरी ओर एक कपूर होटल हुआ करता था जिसमें इकलौता बार हुआ करता था। श्रीलालजी, कुंवर नारायण, ठाकुर प्रसाद सिंह और गोपाल चतुर्वेदी जी निकल कर आये ही थे कि मैं दिख गया। श्रीलालजी ने मुझे देखकर कहा- 'अनूप जी आपको स्कूटर चलाना आता है, मैं स्कूटर चलाने की स्थिति में नहीं हूँ मुझे गुलिस्तां छोड़ आइये।' मैंने बहाना किया कि मैं स्कूटर कम चला पाता हूं। श्रीलालजी ने ठाकुर भाई से कहा कि इसे कहो- मुझे छोड़ आए। मैंने उनके इशारे पर स्कूटर पकड़ ली और स्टार्ट कर श्रीलालजी को बिठाकर बढ़ा ही की कि वे बोले चौराहे से जब पहिया तीस बार घूम जाये तो किनारे पर (जहां पर इन दिनों रोवर्स है) रोक देना।' स्कूटर बंद कराकर वे जी.पी.ओ. में बने नए पार्क के अंदर चले आए और मखमली घास पर लेट गए।

फिर मेरी ओर मुड़ कर बोले– 'तुमने मेरा लिखा क्या-क्या पढ़ा है?' मैंने अपनी हंसी दबाते हुए कहा– 'पंडित जी चलिए मैं आपको गुलिस्तां छोड़कर आऊं। मुझे कुछ भी याद नहीं कि मैंने क्या क्या पढ़ा है।' 'यही तो दिक्कत है, जो मेरे अपने हैं वे ही मुझे नहीं पढ़ते। यही एक त्रासदी है मेरे साथ।' तभी एकाएक एक आदमी श्रीलालजी के पास कलाबाजी खाकर गिरा और खड़ा ही हुआ था कि उसके एक और साथी ने भी मुड़कियां खाकर चाकू खोल लिया– 'क्या है तुम्हारे पास, निकालो सब अभी!' मैं स्तब्ध बैठा था कि अचानक कुर्ता पैजामा पहने श्रीलालजी यकायक दौड़ लिए और एक ही छलांग में साढ़े तीन फुट ऊंची कटीली बांड़ को फलांग कर नौ दो ग्यारह हो गये। मैं भी धीरे-धीरे खिसका लेकिन मेरे चमड़े का बैग वहीं छूट गया। दारुलशफा से लोगों को लेकर पार्क पहुंचा तो बैग गायब था। दूसरे दिन सुबह ठाकुर प्रसाद सिंह के घर पहुंचा उनसे बीती रात की घटना बतायी। उन्होंने फोन लगाकर सुरेन्द्र चतुर्वेदी जी से बात की। थोड़ी देर बाद श्रीलालजी का फोन आया-अनूप! कल की घटना बड़ी दुखद रही! मेरी घड़ी वे लुटेरे ले गये।' 'कैसे?' 'उन्होंने मेरी कलाई पकड़ ली थी, दूसरे ने पर्स झटक लिया जो करीब करीब खाली था। कलाई छुड़ाने में घड़ी निकल गई। लेकिन स्कूटर की चाभी और घर के दरवाजे की चाभियां छिटककर कहीं गिर गयीं। रिक्शे से स्कूटर मंगवा चुका हूं। पर तुम्हारे साथ क्या हुआ?' 'पंडित जी मेरी तो सारी पत्रकारिता चली गई। बैग में रखे अखबार के लैटर पैड, जरूरी कागज, मोहरें और मान्यता कार्ड भी बैग के साथ चले गये।' श्रीलालजी उन दिनों संस्कृति निदेशालय के निदेशक थे। एक हफ्ते बाद बुलाकर उन्होंने मुझे एक लिफाफा दिया जिसमें बैग खरीदने भर के कुछ रुपये थे।

जब वे सूचना निदेशक बने तो मैं उनसे मिलने नहीं जा पाया। दो तीन सरकारी भोजों में भी दायें-बायें हुआ। लेकिन विधान परिषद के सभापति वीरेन्द्र बहादुर चन्देल के यहां आमंत्रित रात्रि भोज में वे मेरा मुखातिब न होना बर्दाश्त नहीं कर पाये। पीछे से पकड़ कर बोले– 'अनूप श्रीवास्तव! यह क्या तरीका है? यह तो नहीं हुआ कि कुछ ऐसा लाकर कहते कि पंडित जी आपने जो न पीने की कसम खायी है उसे मैं तोड़ना चाहता हूं। कैसे आये हो, मेरे साथ चलना।' मैंने जान बचाने के लिए कह दिया, 'जी मेरे पास स्कूटर है।' 'अरे! तब तो मुझे भी गुलिस्तां ले चलना।'

उन्हें लेकर कालीदास मार्ग से गुलिस्तां की ओर मुड़ने ही वाला था तभी वो बोले 'इधर नहीं लामर्टस की तरफ मोड़ो और तीस कदम पूरा होते ही स्कूटर रोक देना।' उतर कर श्रीलालजी बोले देखो यहां यह चबूतरा है। तुम गुलिस्तां के थर्ड क्लास फ्लैट में रहते हो। उसका एकमात्र सुख यह चबूतरा है। और करीब साढ़े चार बजे रात तक वहां बैठकर ढेर सारी बातें करते रहे। वे उस समय अपने सरकारी मकान से उकताए हुए थे। शायद उनके 'मकान' लिखने के पहले की यह घटना है।

सन् 2007 में प्रेम जनमेजय के निर्देश पर 'व्यंग्य यात्रा' के लिए इनके सबसे श्रेष्ठ व्यंग्य पर टिप्पणी लेने गया। श्रीलालजी अस्वस्थ थे। फिर भी उन्होंने पूरी टिप्पणी बोलकर लिखवायी। लेकिन चार दिन बाद उनका फोन आया-कुछ संशोधन करवाना है।' मैंने पूछा, 'मैं आऊं क्या?' 'नहीं, कलम कागज ले लो चौथी पंक्ति में तीसरे शब्द के बाद 'नहीं' लिख लो और सातवीं पंक्ति में दूसरे शब्द के बाद यह वाक्य जोड़ लो।'

इस बार अट्टहास समारोह के पहले उनको निमंत्रण देने गया और गोष्ठी के लिए आशीर्वाद मांगा तो वे बोले कि अब स्मरण शक्ति गड़बड़ा रही है। सोचता हूं और भटक जाता हूं।

श्रीलालजी जितने बड़े अधिकारी थे उससे भी बड़े लेखक हैं। उन्होंने साहित्य का साथ कभी नहीं छोड़ा। और अपने अधिकारी के व्यक्तित्व को कभी हावी नहीं होने दिया। अपने सरकारी दफ्तर से निकलने के बाद वे हमेशा श्रीलाल शुक्ल हो जाते थे। एक दिलचस्प घटना वे खुद बताया करते हैं कि एक बार जब वे तत्कालीन मुख्यमंत्री चौधरी चरण सिंह से मिलने गये और अपना परिचय देते हुए बोले– 'सर! मैं डिप्टी सेक्रेटरी शुक्ला हूं।' चौधरी साहब ने उन्हें घूर के देखा– 'यह तो तुम्हारी जाति है तुम्हारा नाम क्या है?'

श्रीलालजी से जुड़ी ढेर सारी खट्टी-मीठी यादे हैं जो अंदर तक पुलक भर देती हैं उन्हें समेटते-समेटते रुक जाता हूं। क्या लिखूं? कैसे बताऊं कि श्रीलालजी के अन्दर भी एक श्रीलालजी हैं।

9-गुलिस्तां कालोनी, लखनऊ

. . .पृष्ठ-156 का शेष

उनके सिर पर चली गई। सोच रहा था कि क्या उनका दिमाग भी उस चश्मे के जरिए इस दुनिया को देखता होगा।

श्रीलाल जी के जानने वाले बताते हैं कि वे अपने पत्नी के प्रति पूर्ण रूप से समर्पित रहे हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक थे। आदर्श जीवन साथी। रवीन्द्र कालिया जी ने एक बार बातों-बातों में श्रीलाल जी के बारे में कहा था कि वे कई बार तो इस हद तक उदार हो जाएंगे कि कहेंगे– प्रत्येक लेखक को एक मिस्ट्रेस रखनी चाहिए, किसी पर्वतीय क्षेत्र में लेखन की सुविधा होनी चाहिए। यह क्या कि पसीना बहे जा रहा है और आप झक मार रहे हैं।

श्रीलाल जी कभी भी अपने अफसरी पद की अकड़ में नहीं रहे। कभी भी किसी को भी मदद की जरूरत पड़ी तो पहुंच गए वहां और तन, मन, धन से जुट गए सहायता करने।

संगमन की लखीमपुर खीरी यात्रा की मेरे लिए सबसे महान उपलब्धि थी– श्रीलाल शुक्ल जी के साथ आधे दिन की वो मुलाकात। किन्तु शायद अभी मेरे भाग्य में उनसे एक मुलाकात और लिखी थी। 1999 के विश्व हिन्दी सम्मेलन में शिरकत करने श्रीलाल जी भी पहुंचे थे– लन्दन में। प्रतिभागियों को देख कर बोले, 'यार इस विश्व हिन्दी सम्मेलन का थीम तो है हिन्दी और आगामी पीढ़ी। मगर चारों तरफ दिखाई तो मेरे जैसे कब्र में पैर लटकाए लोग दे रहे हैं। यह क्या विद्यानिवास मिश्र आगामी पीढ़ी हैं।' और हंस दिए।

मगर शाम होते ही श्रीलाल जी और राजेन्द्र अवस्थी पब ढूंढते दिखाई दे रहे थे और मैं सोच रहा था कि यदि आगामी पीढ़ी श्रीलाल जी से मिलती तो यही बात पल्ले बांध लेती कि यदि राग दरबारी जैसी रचना लिखनी है तो जोर से कहो, या रब कहां है तेरा पब।

साधना शुक्ल

गुणों के धनी पापा

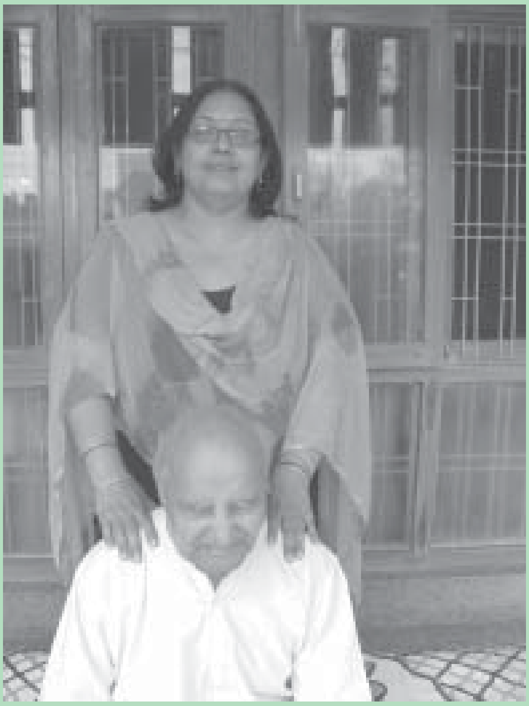

मैं अपने को भाग्यशाली मानती हूं कि मैं श्रीलाल शुक्ल की पुत्रवधू बनकर 1983 में लखनऊ आयी। यहां आकर मैंने पापा के साहित्यिक एवं प्रशासनिक जीवन– दोनों देखे और मुझे बड़ी हैरानी होती थी कि वह इन दोनों में इतना अच्छा सामंजस्य कैसे रखते हैं। हालांकि मैंने उनके प्रशासनिक जीवन के अंतिम दिनों को ही देखा परन्तु उतने ही समय में मुझे यह एहसास हुआ कि वह अपने कार्यक्षेत्र के हर पक्ष को बखूबी निभाते थे।

पापा अपनी अत्यंत व्यस्त दिनचर्या में से घर के प्रत्येक सदस्य को अपना कीमती वक्त जरूर देते थे। हर दूसरे दिन वह मम्मी मुझे व मेरी बेटी तन्वी को कहीं न कहीं स्वयं ड्राइव करके घुमाने ले जाते थे, इसमें उनकी एक शर्त होती थी कि लौटकर वह अच्छे संगीत के साथ एक पैग व्हिस्की का आनन्द उठायेंगे उनकी इस शर्त पर मुझे व मम्मी को कोई ऐतराज नहीं होता था, क्योंकि इसके वह हकदार थे।

त्योहारों में वह अपने कीमती वक्त से समय चुराकर हम सब को लेकर गांव जाना पसन्द करते थे, वहां हम सबको उनके व्यक्तित्व का दूसरा रूप देखने को मिलता था, उस समय वह एकदम गांव के वातावरण में इतना रम जाते थे कि मुझे ऐसा लगता था कि वह शहरी परिवेश में अपने को कैसे ढालते हैं। गांव में जाकर उनका मन उस बच्चे की तरह विचलित होता था जो अपनी जन्म–भूमि में पहुंचकर उत्साहित हो जाता है।

रिटायरमेंट के बाद उन्होंने अपना पूरा समय अच्छी–अच्छी पुस्तकें पढ़ने और लिखने में बिताया। वह मुझे भी अच्छे लेखकों की पुस्तकें पढ़ने के लिए प्रेरित करते रहते हैं, उन्हीं से प्रेरणा लेकर सर्व प्रथम मैंने उनका लिखा महान उपन्यास 'राग दरबारी' पढ़ा। कई उपन्यास तो उन्होंने मेरे इस परिवार में आने के बाद लिखे। 'राग विराग' छपने के पहले उन्होंने मुझे पढ़ने के लिये दिया और उसके बाद मेरी प्रतिक्रिया पूछी। मैंने उन्हें बताया कि आपका यह उपन्यास दिल को छू लेने वाला है इसी तरह उनके लिखे गये सभी लेखों को मैं सबसे पहले पढ़ती हूं।

साहित्य के साथ संगीत में भी उनकी अच्छी पकड़ है उन्हें अच्छा शास्त्रीय संगीत सुनना पसंद है, और गाने का भी शौक है इसीलिए उन्होंने मेरे बच्चों को शास्त्रीय संगीत सीखने के लिए प्रोत्साहित किया। मेरी बेटी तन्वी ने जब अपना पहला स्टेज शो अपनी नन्हीं सी उम्र में किया पापा उसे देखने गये और उसके सुरों को सुनते ही उनके अश्रु छलक आये। आशुतोष (मेरे पति) तन्वी, उत्कर्ष और पापा की संगीत भरी महफिल त्योहारों एवं विशेष अवसरों पर जमती है और मैं उनकी श्रोता होती हूं। तीन पीढ़ियों को एक साथ गाते देखकर मैं बहुत गौरवान्वित महसूस करती हूं।

पापा का मुझसे और अपने सभी बच्चों व नाती–पोतों से बड़ा दोस्ताना व्यवहार रहता है, जब सब एक साथ इकट्ठे होते हैं तो बहुत मजा आता है, उस वक्त वह बच्चों के साथ बच्चों जैसा और बड़ों के साथ बड़ों जैसा व्यवहार करते हैं कई बार उन्हें उत्कर्ष के साथ क्रिकेट खेलना पड़ता और उसका मन रखने के लिये टी. वी. पर अपना मनपसंद प्रोग्राम छोड़कर कार्टून नेटवर्क का आनन्द उठाना पड़ता है।

पापा और मेरी पसंद–नापसंद कई मामलों में मिलती–जुलती है। इसीलिए हम दोनों में बहुत मित्रवत् व्यवहार है, वह बहुत ही नेकदिल इंसान हैं। उनसे किसी का दुख–दर्द देखा नहीं जाता और वह सबकी मदद करने के लिए तैयार रहते हैं। उन्होंने हम सभी को यह शिक्षा दी है कि जरूरतमंदों की सहायता करना अपने आप में बहुत बड़ी पूजा है। ईश्वर में जो उनकी आस्था है वह ही उन्हें और उनके पूरे परिवार को बल प्रदान करती है। खाने–पीने का शौक उन्हें हमेशा से ही रहा है, अक्सर वह अपने मित्रों व रिश्तेदारों के साथ खाना पसंद करते हैं। इस समय अस्वस्थ होने के बाद भी वह जीवन के प्रत्येक पहलू को आनन्द लेकर जीते हैं। उन्हीं से हम सबको खुशहाल जीवन जीने की प्रेरणा मिलती है। इतना महान व्यक्ति होने के बावजूद भी उनमें तनिक भी घमंड नहीं है। मैं और हमारा परिवार गुणों के धनी पापा की दीर्घायु की कामना करते हैं।

बी–2251, इन्दिरा नगर,
लखनऊ–226016

अशोक आनंद

एक पाठक का प्रशंसा-पत्र

बत्तीस-वसंत (यूं वसंत जैसा अब कहीं कुछ रहने कहां दिया गया है?) की अपनी नाकारा जिंदगी में, मुझ नाचीज ने पत्र तो बहोत से लिखे हैं, किंतु किसी साहित्यिक-व्यक्तित्व (वह भी आप सरीखे शिरोमणि) को संबोधित करके लिखा जाने वाला इस अनाड़ी का यह पहला ही पत्र है। लगे हाथों, यह भी जोड़ दूं कि कल दिनांक 6/6/86 की शुभरात्रि को, दूरदर्शन के राष्ट्रीय-प्रसारण के दौरान, बम्पर-ड्रा के रूप में प्राप्त, आपके श्री-दर्शनों एवं सद्भाषण- श्रवण से उपजी प्रेरणा की बदौलत ही, बंदा यह पत्र लिखने का दुस्साहस बटोर पाया है।

सम्भवत: आपकी जिज्ञासा जी, आपकी व्यस्त-जिन्दगी में खलल डालने वाले, इस गुस्ताख का परिचय जानना चाहें? तो गुरुवर, पहले तो मैं यह कहकर पल्ला झाड़ना चाहूंगा, कि परिचय तो हस्तियों का हुआ करता है, कूपमंडूकों की भला क्या बिसात? (और क्या Identification?) तत्पश्चात् विनोदवश, मैं कुछ यूं कहने की इजाजत चाहूंगा-

नाम?

अजी, नाम में क्या रखा है? (नाम-पुराण की बखिया तो काका हाथरसी कब की उधेड़ चुके हैं।) यूं, यदि आप जानना ही चाहें, तो सम्राट अशोक की सम्राट-पदवी को इतिहास-लॉकर में ही पड़ा रहने दें और सदाबहार हीरो देव-आनन्द के ग्लैमरस शब्द 'देव' को बेटिकट देवलोक की ओर रवाना कर दें, तो इक अदना सा नाम शेष रहेगा-अशोक आनन्द (आनन्द से जिसका कोई वास्ता नहीं, एड़ी से चोटी तक, 'अ' से अत्यधिक शोक ही शोक।) शिक्षा-प्रथम श्रेणी विज्ञान स्नातक, गणित में विशेष-योग्यता। माने Distinction धंधा- अभी तो बाबूगिरी का है। हां, आशा है-दो या तीन (बस।) वर्षों में एकाध पदोन्नति झटक ही लूंगा। लम्बाई- Below 5 फीट, चौड़ाई-आध फीट (ही, ही, ही,।) वजन-गिनकर पूरे 60 पौंड या 30 किलो। (अल्लामियां के अवैतनिक डिजायनर ने कॉफी फुरसत से गढ़ा है, इस बेढबदास को। 'फीगर्स' का ऐसा नायाब संगम आपको नमूनों की नगरी में, एवरैडी-टार्च की सहायता से ढूंढने पर भी शायद ही मिल पाये।)

यूं, कुछ वर्ष पूर्व तक अपन का जुगराफिया हूबहू वैसा ही था, जैसा उक्त पंक्तियों में वर्णित किया गया है। हां, इस बीच पदोन्नाति हथिया कर, अब इस नाचीज ने कनिष्ठ-अभियन्ता का तमगा हासिल तो कर लिया है, लेकिन उस कोहेनूर की औलाद की ताब झेलने की शक्ति का आयात नहीं करवा पाया हूं। अत: जिस Jr Engr. को दूरभाष-केन्द्र, बिल्ली Vs चूहा दौड़, Imprest Bills, Percentage, 'कार-सेवा' (I mean, सरकार को चूना लगाते हुए, कारवालों के जरिये खुद अपनी और भर्तार-सेवा) वगैरह-वगैरह के पहाड़े रटने चाहिए थे, वह 425 का 'सकेल' पीते हुए, निदेशक दूरसंचार कार्यालय-रूपी लघु शान्ति-निकेतन की फाइलों में दुम दबाए, गुमसुम पड़ा बाबूगिरी कर रिया है। संक्षेप में यही कह सकता हूं कि कमबख्त मैं भी, देशकाल की मान्यताओं/ आस्थाओं/ परम्पराओं के साथ हो रहे जघन्य-बलात्कार को, सूनी आंखों देखते भर रहने का गुनाह करने वालों का जमाती और पलायन का लबादा ओढ़ने वाला एक क्नउउल मात्र हूं।

हां, तो लम्बे अन्तराल से (याने जब से आपकी अनुपम-कृति राग दरबारी का पारस-स्पर्श कर पाने का अपूर्व-सौभाग्य प्राप्त हुआ था।) आपको पत्र लिखने की जुर्रत की फिराक में था। यहां तक कि 'लखनऊ' स्थित आपके दौलतखाने में हाजिरी बजा लाने की भी जब-जब कल्पना करता रहता था, लेकिन आदतन चुप्पी साधकर (या यूं कहूं कि दिल थाम कर) बैठा ही रहा-और यह शायद चंगा ही हुआ, क्योंकि निश्चय ही 'आज' मैं आपके श्री-दरबार में प्रविष्ट हो पाने का अधिकारी हूं। (यकीनन।) यथा-

1 अदद पांच बार राग दरबारी खरीद चुका हूं (नन्हीं सी अंटी ने, हंसते-मुस्काते-खिलखिलाते यह कर-भार वहन किया है।) और इससे कहीं ज्यादा इष्ट-बन्धुओं को यह रत्न उनकी घरेलू-लायब्रेरी रूपी अंगूठी में जड़वाने के लिए, उन्हें प्रेरित कर चुका हूं।

2 नीली छतरी वाले की इनायत की बदौलत, घर-घर जाकर लगभग 250 (No अतिश्योक्ति, No Buttering) नेक आत्माओं को राग दरबारी पढ़वाने का सुअवसर प्रदान कर चुका हूं। यूं इसमें फूल कर कुप्पा होने की कोई वजह नहीं है, क्योंकि 'कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसी पा तुलसी की कला' के अनुसार, इससे राग-दरबारी को ही उसकी अभीष्ट लोकप्रियता एवं वांछित-सम्मान प्राप्त हुए हैं। वैसे दिल बहलाने को यह ख्याल अच्छा है कि माध्यम बन पाने का श्रेय-इत्र मैं अपनी जेब में रखकर जहां-तहां इतराता फिरूं। हां, यह सोचकर दिल बल्लियों उछल रहा है, कि इस अमर-उपन्यास पर आधारित टी. वी. सीरियल को देखते समय, उनमें से कुछ महानुभाव तो अवश्य ही अपने स्मृति-पट पर, इस 'पिद्दी न पिद्दी के शोरबे' के द्वारा, उन्हें राग दरबारी देने के मधुर अनुभव का Action-Replay देखने लगेंगे। उस शुभ घड़ी में इस चौखटे की उन्हें याद आना ही क्या मेरा पारितोषिक नहीं होगा, क्योंकि आज के इस दौर में कौन किसको याद करता/ कर पाता है?

3 विशिष्ट उपलब्धि यह रही, कि कुछ ऐसे आंग्ल भाषा अंधप्रेमियों को (जो इस भ्रम में मग्न थे कि "The best' तो बस अंग्रेजी में ही लिखा गया है/ लिखा जा सकता है-हिन्दी तो घास खोदने वाले लिखते हैं और भूसा-खोपड़ी वाले कंगाल पढ़ते हैं।) जब मैंने RAAG DARBARI पेश की, तो वे मस्ती से झूम उठे और जैसे बरबस कह उठे- 'वाह!

क्या कहने हैं, 'शुक्ल' पक्ष की ज्योत्सना बिखेरने वाले मयंक उर्फ लालों के लाल 'श्री लाल' के!' यही नहीं, इस हादसे के पश्चात, उनकी वातानुकूलित रेलगाड़ी हिन्दी की छोटी (!) लाइन पर भी यदा-कदा चलने लगी।

4 एक पल - (सुना है, 'एक पल' एक बेहतरीन फिल्म है, लेकिन देहरादून निवासियों को न जाने कब तक एक टांग पर खड़े होकर तपस्यारत होना पड़ेगा, तब जाकर कहीं वह सतरंगी, देहरादून के किसी दुस्साहसी थियेटर के सुनहरे पर्दे पर अवतरित होगी। होगी भी या नहीं, महान सांस्कृतिक देश भारत की अन्यानेक विडम्बनाओं की तरह इस सुखद-संभावना के हकीकत में बदलने की भी कोई गारंटी नहीं है।) जब यकायक वह भयानक पल मेरे सामने आकर खड़ा हो गया, जिसे जिस्म से जां के जुदा होने का कातिलाना क्षण भी कह सकते हैं अर्थात प्रेमिका से विदाई का दशपूर्ण-क्षण, तो . . . तो मुझे स्वाभाविकत: ही अनुभव हुआ, कि इस समय मुझे अपनी कोई बेशकीमती वस्तु अपनी उस 'तथाकथित' (अब आपसे क्या छुपाना, मामला कुछ-कुछ One way traffic जैसा था/है) प्रेमिका को बतौर निशानी भेंट करनी चाहिए। यूं भला मैं दीवालिया उन राजकुमारी जी के करकमलों में श्रद्धा-सुमनों के अतिरिक्त और क्या अर्पित कर सकता था? . . . कि अकस्मात्, एक विचार बिजली की माफिक मस्तिष्क में कौंधा और मैंने आव देखा न ताव, किसी दीवाने की भांति, अपनी सुदामा-टाइप लायब्रेरी का अनमोल हीरा राग दरबारी उनके स्नेहपूर्ण हाथों में थमा दिया। इसी के साथ, अनजाने ही, मैंने उसके कन्धे को जरा सा दबा दिया था, जो उस पाक अहसास से मेरा पहला और आखिरी स्पर्श था। सच! उस लमहे को अविस्मरणीय बनाने के लिये मैं राग दरबारी और इस नाते आपका ताजिन्दगी शुक्रगुजार रहूंगा।

5 राग दरबारी की एक प्रति को, जिल्द में मड़वा कर मैंने किसी धार्मिक-ग्रंथ की तरह सहेज कर रख छोड़ा है, जिससे किसी भी व्कक (या मअमद ?) ᅠ्भ्वनत में, मैं उसका पुन: रसास्वादन करके गुनगुना सकूं– 'A BEAUTIFUL THING IS A JOY FOREVER'

6 यूं तो अन्य कई पुस्तकों ने मेरे हृदय को उद्वेलित किया है, पर रा–ग––द–र–बा–री तो जैसे मेरे वजूद का इक हिस्सा, इक न्यारा सा मदबसवनतम बन गई है। आशा ही नहीं, विश्वास है कि आपकी इस कालजयी-श्रेष्ठतम रचना के प्रकाशन की क्रान्तिकारी घटना के पश्चात से अब तक, आपको थोक के भाव प्रशंसा, सम्मान और 'हिप हिप हुर्रे' जैसे असंख्य गौरवपूर्ण कोरस सुन पाने के इतने सुअवसर प्राप्त हुए होंगे कि 'नोबुल पुरस्कार' रूपी नकारखाने में, इस बेसुध कर देने वाली तान का मूल्य न आंके जाने के गिले को आप धो कर सुखा चुके होंगे।

एक संयोग एक बार मेरे एक अग्रणी मित्र, जो 'आपके' सचिवालय में कार्यरत हैं, ने रेल-यात्रा के दौरान, न जाने किस संदर्भ में राग दरबारी (जी हां, मेरा यह इश्क उनसे वाक्फियत रखता है) का जिक्र कर दिया। इस पर, एक यात्री–महिला ने मान भरे स्वरों में उद्गार प्रगट किये, कि इस बेजोड़ उपन्यास के मूर्धन्य–रचयिता उनके (सगे।) ससुर–महोदय हैं। म्हारे मित्तर ने जब यह सुगन्धित सुसमाचार मुझ तक पहुंचाया, तो मुझे उससे रश्क सा महसूस हुआ कि हाय हुसैन, उस डिब्बे में मुआ मैं क्यों न हुआ ?... खैर, अब तो कल्पना–कुमारी के साथ बेखटके (As I think, while doing so, no danger of AIDS- Devil will be there) सहवास करते हुए, कुछ समय तक तो तरंग में रह सकता हूं, कि इस पत्र की पावती के रूप में . . . आपके सुहस्ताक्षरों सहित–आपके दो शब्द प्राप्त करने का अमूल्य–वरदान प्राप्त होगा ही???

कहना न होगा कि अपने इस मनभावन टी.वी. सीरियल राग दरबारी को देख पाने के नेक इरादे के साथ ही, 'पहली' बार मुझ संकोची को लक्ष्मण–रेखा का उल्लंघन करते हुए, भले पढ़ौसियों का द्वार खटखटाने का व्रत धारण करने पर विवश होना पड़ा है। (अशोक 'जी' को शोक–हरण मार्का Antibiotic के रूप में बीवी उर्फ अर्धांगिनी जी का सानिध्य प्राप्त हो चुका है और वे 'हम दो हमारे दो' का राग आलापने के पश्चात, निकट भविष्य में 'बीवी रखो टीपटाप, दो के बाद फुलस्टाप' की शरण में जाने के लिए पूर्ण गम्भीरतापूर्वक विचार कर रहे हैं, किन्तु मध्यवर्गीय संयुक्त–परिवार के अभिशापस्वरूप वे टी.वी. रूपी आवश्यक डिब्बा नहीं खरीद पाये हैं।)

अन्त में, कामना है कि आप दीर्घायु हों, हर पल स्वस्थ/ प्रसन्न रहें, राग दरबारी सीरियल आशातीत प्रशंसा/ सफलता प्राप्त करे, जिससे समस्त सम्बन्धित–कर्मियों को सन्तुष्टि की आनन्ददायक अनुभूति का उपलब्ध हो सके (यूं संभवत: इस सीरियल का लुत्फ, सही अर्थों में, खुदा के वही नेक बन्दे अपेक्षाकृत कहीं अधिक ले सकते हैं, जिन्होंने इसे पुस्तक–रूप में पढ़ने की जहमत उठाकर, पहले दौर का लबालब प्याला हलक में उंडेल रखा हो –Am I Rat? Sorry, am I right?)

कृपया आप भी आशीर्वाद दें, कि मैं ताउम्र क्रीज पर रह सकूं और 250 के स्कोर में कुछ शतकों का इजाफा कर गर्वपूर्वक उचार सकूं–

(तर्ज– 'I am a Horlics Boy')
I AM RAAG DARBARI Young Man
अच्छा, विदा
प्रतीक्षा में– शुभाकांक्षी - अशोक आनंद

103/2-1 गुरु रोड देहरादून

भावना प्रकाशन द्वारा
प्रख्यात सुभाष पंत की
ग्यारह कहानियों का संकलन

'इंतजार करता घर' युवा कवि लालित्य ललित
का शीघ्र प्रकाश्य उनसठ कविताओं का पांचवा संकलन

लालित्य ललित

दो मुलाकातों में श्रीलाल जी

मुझे याद आ रहा है जून का पहला सप्ताह, 2002 की बात है। नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया ने नैनीताल पुस्तक मेले का आयोजन फव्वारा, मल्लीताल पर किया था। मेले का उद्‌घाटन मशहूर साहित्यकार व 'राग दरबारी' के चर्चित लेखक श्रीलाल शुक्ल ने करना था।

श्रीलाल शुक्ल के आने से हर तरफ चर्चा का बाजार गर्म था। कैसे हैं? इन दिनों क्या लिख रहे हैं? इत्यादि, इत्यादि।

चूंकि मेले में सभी रचनाकारों के आवास की व्यवस्था की बात थी, तो मैं दिवाकर भट्ट पर निर्भर हो गया। स्थानीय होटल में रचनाकारों के लिए व्यवस्था भी कर दी गई, जिसमें श्रीलाल शुक्ल के लिए 'कमरा' भी शामिल था। लेकिन वह उन्हें पसंद नहीं आया। अपने किसी मित्र की मदद से उन्होंने कुमाऊं विकास मंडल का होटल (बस अड्डे से ऊपर की पहाड़ी पर) का कमरा अपने लिए बुक करवा लिया।

कमरे का भुगतान दो दिन का किया जाना था लेकिन वे तीसरे दिन के लिए भी कह रहे थे, हम ठहरे नियम से बंधे धृतराष्ट्र, तो उन्हें पूर्व प्रेषित पत्र दिखला दिया, वो मान गए। बाद में घुल-मिल गए और उनसे ढेर सारी बातें हुईं।

श्रीलाल जी से एक और मुलाकात हुई दिसंबर 2007 में। दो दिसंबर का दिन था। सरदी का हल्का-हल्का सरूर, बत्ती वाली गाड़ी, उत्तर-प्रदेश हिंदी संस्थान के उपाध्यक्ष चर्चित व्यंग्यकार श्री गोपाल चतुर्वेदी, डॉ. प्रेम जनमेजय और मैं यानी लालित्य ललित। आवश्यक औपचारिक दुआ सलाम के बाद के सत्र की तैयारी में अभी कुछ समय था। श्रीलाल जी बेहद अस्वस्थ लग रहे थे। कमजोर लगे पर अपनी व्यंग्यात्मक टिप्पणी से माहौल को खुशनुमा बनाए हुए थे। जमकर गोविन्द मिश्र के किस्सों को सुना रहे थे।

मैं देख रहा था कि ड्रांइग रूम की बाईं ओर की दीवार पूरे परिवार के सदस्यों की तस्वीरों से पटी पड़ी थी। मैं अपने मोबाइल कैमराफोन से दना-दन फोटो ले रहा था। इधर गोपाल चतुर्वेदी ने पोज बना लिया था 'ललित जी, भिजवा जरूर देना।' प्रेम जनमेजय का संपादक तब तक जाग गया था कि मौका अच्छा है, लगे हाथ इस महत्वपूर्ण क्षण के सार्थक संवाद अदायगी को अपने डिजिटल रेकार्डर में कैद कर लिया जाए। इस मामले में व्यंग्ययात्रा के संपादक जासूस हैं कब क्या रिकार्ड कर लें, कोई नहीं जानता।

काला कुत्ता चलेगा? श्रीलाल शुक्ल धीमे से बोले थे! सुनकर मैं चौंका था कि काला कुत्ता क्या है? बाल सुलभ जिज्ञासा जानकर श्री गोपाल चतुर्वेदी बोले, हर जिज्ञासा का अंत होता है, यह हम साहित्यकारों की जीवन घुट्टी है। तब समझ में आया काला कुत्ता दरअसल ब्लैक डॉग स्कॉच थी। डॉ. प्रेम जनमेजय की मुद्रा उस समय एक संत की हो गई थी कि ललित यह एक महत्वपूर्ण पेय है, भगवान तक इसका स्वाद चखते थे। और तो और भैरो बाबा के यहां पर यह चढ़ाई जाती है। थोड़ी ही देर में महाकाल का मंदिर (उज्जैन वाला) या प्रगति मैदान या पुराने किले से सटे भैरों बाबा के मंदिर की यशगाथा और ऐतिहासिकता पर संक्षिप्त पाठ सस्वर मगर धीमी गति से प्रस्तुत कर दिया था।

श्रीलाल जी का सुपुत्र कुछ ही देर में आवश्यक व्यवस्था के बाद महत्वपूर्ण बैठक से 'अदृश्य' हो गया था। मैं देख रहा था श्रीलाल जी कभी बिस्तर पर अधलेटे थे, तकलीफ के कारण उन्हें असुविधा थी मगर अपनों को बीच में पाकर वे दुख-दर्द, तकलीफ को भुला बैठे थे।

दौर यानी महत्वपूर्ण 'काला कुत्ता' पर आवश्यक बैठक तकरीबन दो घंटे तक चली। उसके बाद गाडियां वी.वी.आई.पी. गेस्ट हाऊस लौट पड़ीं। यहां अट्‌टहास के संपादक अनूप श्रीवास्तव का जलवा था। यूं तो लखनऊ टुंडे मियां के कबाब, चिकन, कुरते, कप-प्लेट के लिए मशहूर है या फिर प्रैस क्लब के अहाते का बोटी कबाब बड़ा ही जायेकदार है। जहां अक्सर अनूप श्रीवास्तव अपने मित्रों को ले जाते हैं।

बहरहाल लखनऊ की फिजां में एक अपनापन है जहां श्रीलाल शुक्ल, गोपाल चतुर्वेदी, कामतानाथ, विद्याबिन्दु सिंह, अनूप श्रीवास्तव, सूर्य कुमार पांडेय और भी चर्चित- अचर्चित रचनाकार हैं जो जीवन को सही मायने में गति दे रहे हैं। जीवन को खुशहाल कर रहे हैं। साहित्य में आई 'शून्यता' को अपने लेखन से दूर कर रहे हैं, यह अपने आप में एक बड़ा विषय है।

श्रीलाल शुक्ल ने अभी साहित्य जगत को और भी महत्वपूर्ण कृतियां देनी हैं जिनका पाठकों को बेसब्री से इंतजार है।

शकुंतला भवन, बी-3/43, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063

अरविंद तिवारी

एक मीठी डांट

नई पीढ़ी के व्यंग्यकारों में शायद ही कोई ऐसा व्यंग्यकार होगा जिसने श्रीलाल शुक्ल के 'राग दरबारी' को कई बार न पढ़ा हो। मैंने 1985 में जब विधिवत व्यंग्य लेखन की शुरुआत की, तब तक राग दरबारी के अलावा हरिशंकर परसाई की अनेक पुस्तकें पढ़ चुका था। स्थिति यह थी कि राग दरबारी के शुरुआत में तीन-चार अध्याय मुझे बेहद अच्छे लगते, जिन्हें मैं हर माह पढ़ डालता। श्रीलाल शुक्ल, हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, रवीन्द्रनाथ त्यागी और ज्ञान चतुर्वेदी मेरे पसंदीदा लेखक हैं।

श्रीलाल शुक्ल से पत्र व्यवहार नब्बे के दशक में शुरू किया। शुक्लजी ने पत्रों के उत्तर भी दिए लेकिन 1997 में शुक्लजी ने एक पत्र लिखा जो मेरे पास आज भी सुरक्षित है। इस पत्र में शुक्लजी ने एक तरह से मीठी डांट के साथ नसीहत दी है। हुआ यूं कि 1997 में मेरा पहला व्यंग्य उपन्यास 'दीया तले अंधेरा' जो शिक्षा विभाग पर केन्द्रित है, प्रभात प्रकाशन से आया। पहले व्यंग्य उपन्यास के प्रकाशन की खुशी का इजहार मैंने बड़े व्यंग्यकारों को अपने उपन्यास की प्रतियां भेजकर किया। इसके लिए मुझे प्रभात प्रकाशन से अतिरिक्त प्रतियां लेनी पड़ी, क्योंकि एकमुश्त राशि के ड्राफ्ट के साथ प्रकाशक ने मुझे सिर्फ ग्यारह प्रतियां ही भेजी थीं। श्रीलाल शुक्ल जी को मैंने प्रति भेजने के लगभग एक माह बाद एक पत्र भेजा जिसमें मैंने व्यंग्य उपन्यास पर प्रतिक्रिया चाही। उतावलेपन में मैंने लिफाफे पर सरकारी डाक टिकट लगा दिया। सरकारी डाक टिकट केवल राजकीय पत्रों पर ही लगाया जाता है क्योंकि लिफाफे के ऊपर 'भारत सरकार की सेवार्थ' अंकित करना जरूरी होता है। उन दिनों मैं शिक्षा निदेशालय राजस्थान बीकानेर में अनुभाग अधिकारी के पद पर कार्यरत था और शिक्षा विभाग राजस्थान की मासिक पत्रिका 'शिविरा' का संपादक था। पत्रिका चूंकि सरकारी थी, इसलिए पत्रिका के लेखकों से पत्र व्यवहार सरकारी डाक टिकट से किया जाता था। पत्रिका के लेखकों को भेजे जाने वाले पत्रों के साथ ही श्रीलाल शुक्लजी को लिखे पत्र पर सरकारी स्टाम्प लगवा दिया।

आदरणीय शुक्लजी सिविल सेवा के बहुत बड़े अधिकारी रहे हैं, अत: मेरी चूक को उन्होंने पकड़ लिया। उपन्यास पर प्रतिक्रिया और मार्गदर्शन देने के साथ ही उनके पत्र में एक पैराग्राफ सरकारी डाक टिकट से व्यक्तिगत पत्र न भेजने की नसीहत के संबंध में था। व्यंग्य लेखन के संबंध में तो पता नहीं, मैंने उनके मार्गदर्शन का ध्यान रखा या नहीं मगर उस दिन के बाद मैंने व्यक्तिगत पत्रों को कभी सरकारी लिफाफा, आलपिन, गोंद तथा कागज के दस्ते का भी इस्तेमाल नहीं करता हूं। श्रीलाल शुक्ल को मैं प्रेरणादायी लेखक के अलावा नैतिक गुरू भी मानता हूं, हालांकि उनसे पत्र व्यवहार बहुत कम हुआ है।

उपप्रधानाचार्य, डाइट, धौ

कृष्णकांत एकलव्य

एक प्रभावी साहित्यिक व्यक्तित्व

मध्यम कद की सुगठित देह, प्रशासनिक सेवा-पद के अनुरूप आधुनिक वेशभूषा, किन्तु निजी कार्य-व्यापार में प्राय: परम्परागत, भारतीय-परिधान, धोती-कुर्ते की सादगी, उन्नत ललाट, सौम्य मुख-मंडल पर चिंतन की रेखाएं और चश्मे के भीतर से झांकती व्यवस्था से क्षुब्ध दो तेजस्वी-आंखें व्यक्ति के रूप में स्वनिर्मित एक पारदर्शी व्यक्तित्व, तथा वृहत्तर साहित्य के आयाम पर सदी के एक ऐसे महान कथाकार की छवि है जिसे राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय कथा-जगत में लोग पंडित श्रीलाल शुक्ल के नाम से अच्छी तरह जानते-पहचानते हैं।

शुक्ल जी का 'व्यक्ति और स्रष्टा' दोनों विलक्षण है। दोनों में परस्पर भिन्नता के साथ ही सुन्दर सामंजस्य भी है। सहज-सरल, धुर गांव-गंवईपन, ठेठ अवधी भाषा और इसी के समान्तर, उच्च अभिजात्य की आधुनिक शहरी-तर्ज की दोनों जीवन-पद्धतियां एक साथ दिखाई देती हैं। इसलिए उनका लेखन, एक ओर जहां, आंचलिक यथार्थबोध को लेकर रोमांस, करुणा और हाय-तौबा से अवमुक्त है, वहीं दूसरी ओर नगर-जीवन के अजनबीपन, बोरियत, और आत्मदया जैसी प्रवत्तियों से भी असंपृक्त है। उनके रहन-सहन, खानपान, वेशभूषा आदि में हर जगह गांव-शहर की मिली-जुली संस्कृतियों का विरल समायोजन है।

शुक्ल जी हर विषय के ज्ञाता हैं। वे खेती-बारी, फसल, ग्रामीण विकास, शासन-सत्ता के नीतिगत मामलों पर सारगर्भित हस्तक्षेप करते हैं। वे कई भाषाओं के साथ संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य के अधिकृत विद्वान हैं। उनका व्यक्तित्व एक कुलीन परिवार के ऐसे उदात्त संस्कारों में ढला है, जिसे भारतीय प्रशासनिक सेवा के उच्च पद भी प्रभावित नहीं कर सके। उनके व्यक्तित्व में सहजता-सरलता और सौम्यता का चुम्बकीय आकर्षण है। इन पंक्तियों का लेखक आठवें-दशक में राजधानी लखनऊ के नगर निगम प्रेक्षागृह में आयोजित एक साहित्यिक समारोह में जब पहली बार मिला तो वे समारोह की अध्यक्षता कर रहे थे, और नामवर सिंह जी समारोह के मुख्य अतिथि थे। मेरी दूसरी व्यंग्य कृति 'छिपकली की लाश' प्रकाशित हो चुकी थी। मेरी तरह अनेक नये सृजनधर्मी अपनी सद्य: प्रकाशित कृतियां दोनों पुरोधाओं को भेंट कर रहे थे। भीड़ कुछ छंटने पर जैसे ही मैंने अपनी कृति भेंट कर उनका चरण-स्पर्श किया, मुस्कराते हुए उन्होंने सवाल किया, कहां हो आज कल? मैंने विन्रमता से उत्तर दिया 'जौनपुर की सूनी घाटी में'। शुक्ल जी के ओठों पर थिरकती मन्द मुस्कान उनके दीप्त नेत्रों तक फैल कर कुछ और चौड़ी हो गयी। तमाम रचनाकारों की भीड़ के बीच उन्होंने कहा 'ठीक है, कल घर पर मिलना'। हालांकि तब तक उनके जेहन में मेरे रचनाकार की कोई खास पहचान भी नहीं बन पाई

थी और यह निर्देशात्मक-आमंत्रण मात्र एक शिष्ट औपचारिकता थी, किन्तु अपने कनिष्ठों के प्रति उनके इस स्नेहिल भाव से ही मैं अभिभूत हो उठा था।

इस प्रकार देशी-विदेशी, लोक, शास्त्रीय, पारम्परिक, आधुनिक अनेक दुर्लभ तत्वों से निर्मित उनका व्यक्तित्व और साहित्य अपने आप में विलक्षण है। जैसा कि अपने बहुचर्चित उपन्यास 'राग दरबारी' की भाषिक-संरचना पर टिप्पणी करते हुए वे स्वयं कहते हैं– 'एक तरफ अवधी है तो दूसरी ओर आपने गौर किया होगा कि अंग्रेजी के मुहावरे भी आते हैं।'

श्रीलाल शुक्ल कथा जगत के एक ऐसे विरल कथा-शिल्पी हैं, जिन्होंने अपने बहुचर्चित उपन्यास 'राग दरबारी' के बाद कहीं भी उसके कथ्य, भाषा, शिल्प और शैली की पुनरावृत्ति नहीं होने दी। उनके अब तक प्रकाशित सभी उपन्यासों को क्रम से एक साथ पढ़ने से लगता है कि वे, जैसे अलग-अलग लेखकों द्वारा लिखे गये हैं। शैली और शिल्प की रूढ़िगत बंदिश और सिद्ध-मुहावरों की पुनरावृत्तियों से बचते हुए उन्होंने अपने हर नये उपन्यास में नूतन-शिल्प और शैली के उपकरण तलाश लिए। उन्होंने हिन्दी उपन्यास लेखन के मिजाज को तो बदला ही, साथ ही अपने लेखन में भी पिछले को छोड़कर कुछ नया अपनाने की प्रक्रिया से गुजरते रहे और उसमें पूर्ण सफल भी रहे हैं। उन्होंने अपने हर नये उपन्यास में पिछले उपन्यास के पाठकों को अपनी नयी छवि और भंगिमा से चकित किया है।

अपने प्रथम उपन्यास 'सूनी घाटी का सूरज' के पूर्व प्रकाशित 'अंगद का पांव' द्वारा वे भविष्य के एक होनहार व्यंग्य-शिल्पी के रूप में जाने गये, किन्तु 'सूनी घाटी का सूरज' में वे एक संतुलित गद्य लेकर अवतरित होते हैं। उपन्यास का मुख्य पात्र रामदास एक ग्रामीण गरीब किन्तु प्रतिभा सम्पन्न और जुझारू नवयुवक है। शुक्ल जी ने इस पात्र के द्वारा 'व्यवस्था' की विडम्बनाओं से घिरे तमाम भारतीय नवयुवकों के संघर्ष, मोहभंग और आस्था का मार्मिक आख्यान प्रस्तुत किया है। अपने तीसरे उपन्यास 'अज्ञातवास' में फिर उनका तेवर बदलता है, और इस उपन्यास में उन्होंने आज के इस कुलीन समाज के आडम्बर, खोखलेपन और पतन को उजागर किया है।

'राग दरबारी' स्वातंत्र्योत्तर भारतीय लोकतंत्र के 'ढोंगतंत्र' और 'भोगतंत्र' की एक ऐसी रोचक कथा है, जो समकालीन कथा-शिल्प के ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में उद्धृत किया जाना कदाचित अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा। हालांकि 'राग दरबारी' के प्रकाशन (1968) पर तमाम स्वनामधन्य आलोचकों ने जम कर एक स्वर से उसे नकार दिया था। राग दरबारी के प्रकाशन पर श्री श्रीपत राय अपने आलोचनात्मक लेख में इसे अतिशय, उबाने वाली कुरुचित कृति और नेमिचन्द्र जैन इसे असंतुष्ट क्षुब्ध व्यक्ति की खीझ भरे आरोपों का अंतहीन सिलसिला कहकर उपहास किया था। सुधीश पचौरी 'राग दरबारी' की सफलता का श्रेय प्रेमचन्द की परम्परा से उसके विद्रोह में देखते हैं। मैत्रेयी पुष्पा को 'राग दरबारी' में नारी-विमर्श का अभाव दिखता है। इस प्रकार कथा जगत की सारी रूढ़िगत मान्यताओं की मानसिक दासता से हट कर व्यवस्था के साम्प्रतिक संदर्भों के अनुरूप नूतन भाषिक संरचना और अपने विरल शिल्प के कारण प्रकाशन के तीन-चार दशक बाद इन सारी आलोचनात्मक प्रतिक्रियाओं को झूठलाकर जब इस उपन्यास ने एक साथ पाठकीय-प्रशंसा, पठनीयता एवं साहित्यिक स्वीकृति के दुर्लभ कीर्तिमान स्थापित किये हैं तो श्रीलाल शुक्ल जी की कथा दृष्टि की विवेचना निश्चित रूप से एक चुनौतीपूर्ण जटिल कार्य है।

शुक्ल जी की विलक्षणता का एक नमूना यह भी है कि उन्होंने जीवन के 72वें वर्ष में बाल साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश लिया और 'बब्बर सिंह और उसके साथी' जैसा बाल उपन्यास लिखने लगे। 73वें वर्ष में उन्होंने अपनी रचना शैली के सारे उपकरणों, प्रवृत्तियों एवं सफलता के आजमाए हुए सारे नुस्खों अर्थात अपने लेखन की सारी सिद्ध-सिद्धियों को छोड़कर सृजन की नयी प्रणाली आविष्कृत की और 'बिस्रामपुर का संत' जैसा एक और अनूठा उपन्यास रच दिया है, किन्तु इस उपन्यास के द्वारा शुक्ल जी ने अपनी पूर्ण औपन्यासिक परम्परा से हट कर अपने कथाकार को कुछ नये ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। आलोचकों का स्पष्ट मत है कि शुक्ल जी की औपन्यासिक परम्परा के निर्धारण में 'राग दरबारी' और 'पहला पड़ाव' की प्रमुख भूमिका है। इन उपन्यासों में ताकत का जो विमर्श, भ्रष्टाचार और तंत्र की अन्य विकृतियों तक ही सीमित है, 'बिस्रामपुर का संत' में वह सत्ता विमर्श तक पहुंचता है। 'कुंवर जयन्ती प्रसाद सिंह' इस सत्ता विमर्श में यदि अंतर्सूत्र के रूप में विद्यमान हैं, तो भूदान आन्दोलन उसकी पृष्ठभूमि के रूप में विषय-वस्तु की इस नवीनता के साथ एक अंतर यह भी देखा जा सकता है कि जहां 'राग दरबारी', 'पहला पड़ाव' और 'सूनी घाटी का सूरज' व्यक्ति तंत्र और समाज के बहिरंग तक सीमित हैं। वहीं 'बिस्रामपुर का संत' उसके अंतरंग का भी भेदन करता है। यूं तो 'बिस्रामपुर का संत' की प्रायश्चित गाथा के केन्द्र में सुन्दरी, विवेक और कुंवर जयन्ती प्रसाद का त्रिकोण है, किन्तु सत्ता और भूमि सम्बधों का विमर्श जिस गहरी दृष्टि के साथ इस उपन्यास में उपस्थित किया गया है, वह इसे अतिरिक्त महत्व प्रदान करता है।

श्रीलाल शुक्ल का लेखन स्वातत्र्योत्तर भारत के जनतंत्र की कथित आधुनिकता और विकास की खरी आलोचना है। वह अपने गहरे अर्थों में सभ्यता समीक्षा का सृजनात्मक प्रतिरूप है। लोकतंत्र के पक्ष में भारतीय जनतंत्र की असफलता और उसकी हिंसा की निर्मम भर्त्सना भी है। इसी बिन्दु पर वह नारों से हटकर लेखकीय भूमिका में भारतीय सत्ता का प्रतिपक्ष प्रस्तुत करते हैं।

हमारे लोकतंत्र की यात्रा, सपनों के विध्वंस की, संस्थाओं, मूल्यों, नैतिकताओं और आस्थाओं के क्षरण की कथा है। श्रीलाल शुक्ल इसी क्षरण के कुशल चितेरे हैं। राजनीति की पतनशीलता, विकास का गोरखधंधा, जनहित का पाखण्ड एवं ढोंग, जैसी भारतीय जनतंत्र की इन निर्विवादित वास्तविकताओं पर तीक्ष्ण और विस्तृत कटाक्ष उनकी रचनाशीलता की धुरी है। गद्य लेखन में भारतीय लोकतंत्र की इतनी कठोर और विस्तृत विवेचना सम्भवतः अन्यत्र नहीं देखी जा सकती।

209 प्रेम निकुंज, रूहट्ट
जौ

रामविलास शास्त्री

खजूराहों की बारीक नक्काशी

हम अपने जीवन में अनेक चीजों को देखते हैं, लेकिन सभी का प्रभाव हमारे ऊपर पड़े ऐसा संभव है, ना जरूरी। बचपन की एक बात मुझे आज तक याद है जब मैं छठी कक्षा में पढ़ता था। हमारे संस्कृत के टीचर ने पूछा– 'वह जाता है' की संस्कृत बताओ।? एक-एक करके वो सबसे पूछने लगे। मैं दूसरी पंक्ति में बैठा था। सभी ने गलत बताया और जब मेरी बारी तो मैंने सही अनुवाद किया। सभी मुझ पर हंसने लगे क्योंकि मैंने सबसे अलग बताया था। मैं शर्म के मारे मरे जा रहा था, मेरे संस्कृत के टीचर जानते थे कि मेरे पिता एक संस्कृत के विद्वान आचार्य हैं। उन्होंने एकदम से कहा कि आचार्य पुत्र आचार्य ही बनेगा। मैं आचार्य तो नहीं बन पाया पर मुझे उस बात ने मुझे इतना प्रभावित किया और मेरी इस विषय में रूचि बढ़ने लगी। मुझे आज भी संस्कृत के सैंकड़ों श्लोक और अनुवाद करने का तरीका याद है।

वैसे तो मैंने कई पुस्तकों को पढ़ा लेकिन जिसने सबसे अधिक प्रभावित किया वो है– अशोक चक्रधर जी का कविता संकलन 'भोले-भाले' और श्रीलाल शुक्ल जी का उपन्यास 'राग दरबारी' और भगवद्गीता। ये अपनी विद्वता दिखाने का प्रयास नहीं बल्कि मेरी अपनी बात कहने की कोशिश है। 'भोले भाले' और 'राग दरबारी' में एक ग्रामीण, गरीबी, असहाय और ग्रामीण त्रासदी का ऐसा दृश्य है जिसको पढ़ने के उपरांत आंखों से जो पानी निकला है उससे पता चलता है कि ये आम आदमी की बात है, एक कॉमन मैन की बात है।

एक बार कमलेश्वर जी ने मुझे अपने पास बुलाया, मैं उनके घर के बिलकुल पास ही रहता था। उनको कोई काम कराना था। काम करने के बाद मैंने उनसे 'कितने पाकिस्तान' की चर्चा की जबकि मैंने कभी उसे पढ़ा भी नहीं था, बस सुना हुआ था कि बहुत सारे संस्करण इस पुस्तक के आए चुके हैं और कई भाषा में छप चुकी है। यानी मैं उनसे बात करके उनसे मजा ले रहा था और खामखां साहित्यकार बनने की कोशिश में लगा हुआ था, लेकिन वो सब समझ रहे थे ये बुद्धू है लेकिन ये उनका स्नेह था कि उन्होंने मेरी अंश मात्र रूचि जानकर परसाई जी को पढ़ने की सिफारिश की, मैंने भोलेपन से पूछा, अंकल वो भी व्यंग्यकार हैं। वो हंसने लगे और उन्होंने ऊपर मुंह उठाकर देखा और खड़े होकर मुझे 'राग दरबारी' थमाते हुए कहा कि लो तुम इसको पढ़ो, बहुत अच्छी किताब है। मुझे 'राग दरबारी' कमलेश्वर जी से ही प्राप्त हुई और उन्होंने वादा किया कि इसको मुझे लौटा देना।

'राग दरबारी' की कल्पना खजूराहों की बारीक नक्काशी की तरह की गई है, उसी तरह सनिचर, रुप्पन, खन्ना, वैद्यजी आदि अन्य पात्रों को दृश्यों में बुनकर बहुरंगीय ग्रामीण जीवन की सच्चाई इस उपन्यास की जहां विशेषता है, उससे भी महत्वपूर्ण है लेखक का अविकृतभाव है जिसमें वो गांव में शिक्षा का स्तर, गांव के लोगों का भोलापन या कहें की उनकी अपरिपक्व संवादीय शैली का, नासमझी का, उनके अल्प ज्ञान का श्रीलाल जी ने 'राग दरबारी' नामक ऐसा पटाखा तैयार किया है जो धीरे-धीरे फुर्र-फुर्र करके जलता है और एक मिसाइल की तरह फटता है, सब कुछ सपाट कर देता है और फिर होती है– खोखले दिमाग की मरकरी लाईट ऑन। श्रीलाल जी एक गंभीर, भयावह स्वप्न को तोड़कर एक मदमस्त भौर की तरफ ले जाते हैं। यहां उजाला है, व्यवस्था है और नैतिक सामाजिक मूल्य हैं जो एक थकी, टूटी, सुकड़ी मानसिकता को विस्तार देने की रचनात्मक प्रेरणा है, टूटते मनोबल को, नकारात्मक सोच, निराशा, पराजय से ऊपर उठाकर सीधे एक व्यवस्थित अनुशासित सभ्य समाज तक ले जाते है।

जब मैंने पहली बार 'राग दरबारी' पढ़ा तो मैं शुरू करते ही कई बार हंसा और कई दिन तक हंसा। जब मजा आने लगा तो सोचा 'यार ये मजा पहले क्यों नहीं लिया, इसे पहले क्यों नहीं पढ़ा' एक बड़े लेखक का उपन्यास मुझे इतनी आसानी से समझ आ रहा था। इसके संवाद मुझे बातचीत की शैली लगते। अद्भुत कल्पनाशीलता, प्रयोगधर्मिता और आम प्रचलित मुहावरों ने इसको आसान बनाया है। बहुत कम समय में ही मैंने इसे पढ़ मारा। इस पुस्तक को पढ़कर ही मुझे लिखने की प्रेरणा मिली। 'राग दरबारी' के शुरू में ही एक संवाद है 'तुम्हारा गेयर तो अपने देश की हुकूमत की तरह है जिसको टॉप गेयर में डालो तो थोड़ी दूर चलकर फिर वहीं आ जाता है।' मुझे तुरंत के.पी. सक्सेना जी की याद आई जिनको कई बार मैंने व्यंग्य पढ़ते हुए सुना था। तो अनायास ही मुख से निकल पड़ा था, 'क्या चीज है यार? शुरू करता है तो सीधे चौथे गेयर लगाता है' उनको सुनकर ही मुझे गद्य व्यंग्य का टेस्ट अच्छा लगने लगा। ये परस्पर कोई तुलना नहीं बल्कि जिस बात ने अंदर का रोम-रोम को झकझोर दिया उसको कहने का प्रयास मात्र है।

मैंने 'मैला आंचल' और 'राग दरबारी' दोनों करीब साथ-साथ ही पढ़े। 'गोदान' तो कक्षा आठ में पढ़ लिया था। 'गोदान' में जहां ग्रामीण भारतीय किसान की त्रासदी दिखती है, वहीं 'मैला आंचल' में मुक्ति के बाद भी गांव का आंचल मैला ही है और 'राग दरबारी' में हमारी बदतर ग्रामीण संस्कृति यानि गांव में पनपने वाली रूढ़िवादिता, मूल्यहीनता, ईर्ष्यालु, बेइमानों और निठल्लों की पोल-पट्टी खोलता है। अपनी जो हमारी अंदर की कमियां हैं उनको उजागर करता है। ये तीनों उपन्यास और भोले-भाले ग्रामीण जीवन का ऐसा ऐतिहासिक पड़ाव है जहां फिर से सोचने पर मजबूर होना पड़ता है कि किस प्रकार भारतीय लोकतंत्र असफलता की पाषाण मूरत है। इन तीनों उपन्यासों में सबसे ज्यादा जो मुझे समझ आया और मजा आया, वो है 'राग दरबारी'।

'राग दरबारी' के पात्र सनिचरा का मैंने अपनी तरह से चरित्र-चित्रण बड़े दो पेजों में लिखा। उस वक्त मैं एम.ए. की परीक्षा की तैयारी कर रहा था। इस तरह से शायद मैंने जीवन में पहली बार लिखा और मुझे बहुत अच्छा लगा, इसको मैं प्राय: रोज ही पढ़ता। 'राग दरबारी' से प्रभावित होकर ही मैंने पहली बार लिखा और फिर जब भी इस उपन्यास की स्मृति मुझे होती, एक गुदगुदी शरीर में होने लगती है, जो पुन: पुन: लिखने के लिए मजबूर करता है। इसी तरह मैंने कई छोटे-छोटे व्यंग्य लिखे लेकिन व्यवस्थित न कर सका, जबकि उनमें से अधिकतर अभी भी मेरी स्मृति में है। लेकिन 'राग दरबारी' का नशा मुझे होने लगा था। मैंने इसको खत्म करने तक रोज एक-दो घंटे पढ़ा, जब तक इसको मैं न पढ़ता, मजा ही नहीं आता।

इस पत्रिका का संकलन करते-करते मैं 'राग दरबारी' के लेखक आदरणीय श्रीलाल जी के सभी रूप जान चुका था। एक दिन एक विशुद्ध देहाती जो वायुसेना के किसी बड़े पद से रिटायर बुजुर्ग अंकल जो मेरे दोस्त हैं, मेरे पास आए उन्होंने ठेठ देहाती में कहा 'भाई! ये तो घणी कसुत्ती किताब है, गजब के डाइलोक हैं इसमै' धीरे-धीरे वो शालीन होने लगे और सुनाने लगे, 'इसमें जबरदस्त कॉमेडी के साथ-साथ वैद्य जी जैसे छुट्भैइए नेता का भी कैरेक्टर है, जिसके आने पर जनता मतदाता में बदल जाती है। ये रंग 'राग दरबारी' का था 'जनता मतदाता में बदल जाती है' वैद्य जी की बैठक भ्रष्टाचार, अन्याय, दुराचार और दुरुपयोग का अड्डा है। सुनकर मुझे और भी हंसी आने लगी। ये ही नहीं उन्होंने बातों-बातों में कई अन्य इसी तरह के डायलॉग का इस्तेमाल किया और इस पुस्तक की सराहना की, जिससे मुझे इसे गंभीरता से पढ़ने की प्रेरणा मिली।' अनेक पुरस्कार मिले होंगे, पर मैं समझता हूं कि सबसे बड़ा पुरस्कार और उपलब्धि शायद श्रीलाल शुक्ल जी तब होगी जब यह उपन्यास समाज में व्याप्त पतनशील प्रवृत्तियां, विसंगति और टुच्चापन स्टैम्पित व्यक्ति जो गांव का प्रतिनिधित्व कर रहा है वो अपनी खुद की बात इसमें पढ़कर शर्मसार होगा। वो इस बुराई, लड़ाई, अल्हड़पन, रूढ़िवादी, अल्प शिक्षित मानसिकता को समूल ध्वस्त करने की पहल करेगा। 'काम-काज के वक्त खूंटा गाड़कर बैठ जाते हैं', 'एक वकील पालने में सौ रंडी का खर्च है' आदि अन्य अनेक संवाद मस्तिष्क को बेचैन करने के कॉफी हैं। गांव में सब सुविधाएं हैं, वहां छंगामल इंटर कॉलेज है, सोसायटी है, सड़क है लेकिन फिर भी कुछ नहीं है। अगर कुछ है तो वो है निरक्षरता और गरीबी।

अब मैंने श्रीलाल जी को फोटो के माध्यम से सभी रूपों में देख लिया है। नामवर जी द्वारा सम्पादित पुस्तक 'जीवन ही जीवन' पुस्तक के बहुत से संस्मरण के अशों को भी पढ़ा है। प्रत्यक्ष में उनको देखकर सोचा 'अच्छा. . .तो ये खतरनाक उपज इस दिमाग की है' मीठा-मीठा मुस्कुराने वाला यह इंसान जीवन के इस पड़ाव में भी मस्त है। ये शायद श्रीलाल जी में रागदरबारीय नामक ऊर्जा का संचार है और उसकी चमक है जो उन्हें जवान कर रही है। वो आज भी अपने दोस्तों के लिए सोड़ा मंगाते हैं और काला कुत्ता ऑफर करते हैं। ये उनकी निराली अदा है जो सबसे जुदा-जुदा दिखती है, इसी तरह ही सबसे निराला और सशक्त उपन्यास 'राग दरबारी' भी है।

शॉप नंबर-4, शॉपिंग कॉम्प्लै
सूरजकुंड रोड, फरीदाबाद, हरियाणा

आलोचना के लिए 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान'

हिन्दी में साहित्यिक आलोचना की संस्कृति को प्रोत्साहित और विकसित करने के एिल 45 वर्ष की आयु-सीमा आनेवाले किसी युवा आलोचक को उसकी उत्कृष्ट आलोचनात्मक कृति अथवा निबंध-श्रृंखला के लिए पुरस्कृत करने के अभिप्राय से प्रतिवर्ष 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान' प्रदान किया जाता है। इसकी स्थापना वर्ष 1995 में हुई थी। अब तक यह सम्मान क्रमश: सर्वश्री मदन सोनी, पुरुषोत्तम अग्रवाल, विजय कुमार सुरेश शर्मा, शंभुनाथ, वीरेन्द्र यादव, अजय तिवारी, पंकज चतुर्वेदी, अरविंद त्रिपाठी, कृष्णमोहन और अनिल त्रिपाठी को मिल चुका है। वर्ष 1999 एक अपवाद है, क्योंकि किसी कृति को सम्मान के योग्य पाया नहीं जा सका था। इस वर्ष का 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान' श्री ज्योतिष जोशी को मिला है।

निर्धारित संहित के अनुसार प्रत्येक तीन वर्ष पर इस सम्मान की पांच सदस्यीय निर्णायक-समिति परिवर्तित की जाती है। अब तक चार समितियां अपना कार्यकाल सम्पन्न कर चुकी हैं, जिनके सदस्य क्रमश: सर्वश्री निर्मल वर्मा, कुंवर नारायण, श्रीलाल शुक्ल, नेमिचन्द्र जैन, अशोक वाजपेयी / पी. सी. जोशी, नित्यानंद तिवारी, मैनेजर पाण्डेय, कृष्ण कुमार, अजित कुमार / सुश्री कृष्णा सोबती, विश्वनाथ त्रिपाठी, शिवकुमार मिश्र और मंगलेश डबराल / सर्वश्री नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह, विजयमोहन सिंह, विष्णु खरे एवं उदयप्रकाश रहे हैं। वर्तमान निर्णायक-समिति के सदस्य हैं; सुश्री कृष्ण सोबती, सर्वश्री विश्वनाथ त्रिपाठी, चन्द्रकान्त देवताले, अशोक वाजपेयी, मंगलेश डबराल।

आलोचना के लिए 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान' : नियमावली

1. वर्तमान निर्णायक- समिति के सदस्य : सुश्री कृष्ण सोबती, सर्वश्री विश्वनाथ त्रिपाठी, चन्द्रकान्त देवताले, अशोक वाजपेयी, मंगलेश डबराल।
   नियामिका- डॉ. (श्रीमती) कमलेश अवस्थी
2. निर्णायक- समिति का कार्यकाल- तीन वर्ष (मई 2008 से मई 2011)।
3. यह सम्मान प्रतिवर्ष देवीशंकर अवस्थी के जन्मदिन पर 5 अप्रैल को प्रदान किया जाता है।
4. सम्मान- राशि रु. 5.000/- (रुपये पांच हजार मात्र) है। साथ में प्रतीक-चिह्न और प्रशस्ति-पत्र भी, जो निर्णायक-समिति के विवक और सौजन्य से तैयार किया जाता है।
5. यह सम्मान 45 वर्ष की आयु-सीमा में आने वाले युवा आलोचक को दिया जाता है।
6. सम्मान का आधार उत्कृष्टता, प्रासंगिकता, वैचारिक क्षमता, जिम्मेदारी और विश्लेषण का सामर्थ्य माना जाता है।
7. सम्मान किसी प्रकाशित आलोचनात्मक कृति, निबंधों अथवा पुस्तक-समीक्षाओं पर ही दिया जायेगा।
8. सम्मान के लिए पुस्तक अथवा निबंधों का पिछले तीन वर्षों (मई 2005 से 31 दिसम्बर 2008 तक) की अवधि में प्रकाशित होना अनिवार्य है। भविष्य में यह क्रम नियमानुसार बना रहेगा।
9. निर्णायक- समिति की बैठकें प्रत्येक वर्ष संभावित तौर पर दो बार क्रमश: 31 जनवरी और 28 फरवरी के बीच होनी अनिवार्य हैं।
10. सम्मानित निर्णायकों से आग्रह होता है कि सम्मान हेतु सुयोग्यतम् युवा आलोचक के चयन के सिलसिले में वर्षपर्यन्त आपस में सामंजस्य, सहयोग और विचार-विनिमय की प्रक्रिया बनाए रखें।
11. निर्णायक-मण्डल एवं साहित्य-प्रेमियों के सुझाव और आग्रह पर वर्ष 2005 से उपर्युक्त नियमों के अतंर्गत आनेवाले युवा आलोचकों से आग्रह किया जा रहा है कि 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान' हेतु आलोचना की पुस्तक, पुस्तकें अथवा लम्बे निबंधों की दो-दो प्रतियां (शेष प्रतियों की व्यवस्था 'देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान' समिति स्वयं करेगी) निर्णायक-समिति के संयोजक के पते पर 15 दिसम्बर, 2008 तक विचारार्थ भेज दें। केवल विशेष परिस्थितियों में इसे 30 दिसम्बर, 2008 तक माना जा सकता है। आनेवाले वर्षों में भी यही प्रक्रिया बनी रहेगी। किसी अन्य जानकारी के लिए सम्मान-समिति से सम्पर्क किया जा सकता है।

डॉ. कमलेश अवस्थी
संयोजक, श्याम सिंधु
2/346ए, आजाद नगर, कानपुर-208002
देवीशंकर अवस्थी स्मृति सम्मान समिति
26, आर.पी.एस, शेख सराय फेज-1, नई दिल्ली-110017

आत्मवृत्त

1925	लखनऊ जनपद के अतरौली गांव में जन्म
1947	इलाहाबाद विश्वविद्यालय से स्नातक
1949	राज्य सिविल सेवा में प्रविष्टि
1957	पहली पुस्तक 'सूनी घाटी का सूरज' उपन्यास
1958	'अंगद का पांव' (व्यंग्य संग्रह)
1970	'राग दरबारी' (उपन्यास) पर 1969 का साहित्य अकादमी पुरस्कार
1978	'मकान' (उपन्यास) पर मध्य प्रदेश हिंदी साहित्य परिषद का पुरस्कार
1979-80	भारतेन्दु नाट्य अकादमी, उत्तर प्रदेश लखनऊ के निदेशक
1981	अंतर्राष्ट्रीय लेखक सम्मेलन, बेलग्रेड में भारतीय लेखक प्रतिनिधि
1982-86	साहित्य अकादमी की हिंदी सलाहकार समिति के सदस्य
1983	भारतीय प्रशासनिक सेवा से सेवानिवृत्त
1987-90	भारत सरकार द्वारा एमरेट्स फेलोशिप
1988	उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का साहित्य भूषण सम्मान
1991	कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय का गोयल साहित्य पुरस्कार
1992-93	पेंगुइल बुक्स (भारत) द्वारा राग दरबारी का अंग्रेजी अनुवाद
1994	उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थानका लोहिया सम्मान
1996	मध्य प्रदेश शासन का मैथिलीशरण गुप्त सम्मान
1997	'बिस्रामपुर का संत' (उपन्यास)
1998	'बब्बर सिंह और उसके साथी' (बाल उपन्यास)
1999	व्यास सम्मान
2005	उत्तर प्रदेश शासन का यश भारती सम्मान

साहित्यिक यात्राएं

यूगोस्लाविया, जर्मनी, इंग्लैण्ड, पोलैण्ड, सूरीनाम, चीन आदि।

प्रकाशित पुस्तकें

उपन्यास

सूनी घाटी का सूरज : 1957
अज्ञातवास : 1962
राग दरबारी : 1968
आदमी का जहर : 1972
सीमाएं टूटती हैं : 1973
मकान : 1976
पहला पड़ाव : 1987
बिस्रामपुर का संत : 1998
बब्बरसिंह और उसके साथी : 1999
राग-विराग : 2001

कहानी

यह घर मेरा नहीं : 1979
सुरक्षा तथा अन्य कहानियां : 1991
इस उम्र में : 2003
दस प्रतिनिधि कहानियां : 2003

आत्मकथ्य

मेरे साक्षात्कार : 2002

अनुवाद

राग दरबारी : अंग्रेजी एवं सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में
पहला पड़ाव : अंग्रेजी भाषा में
बब्बरसिंह और उसके साथी : अंग्रेजी भाषा में
मकान : बंगला में

व्यंग्य

अंगद का पांव : 1958
यहां से वहां : 1970
मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएं : 1979
उमरावनगर में कुछ दिन : 1986
कुछ जमीन में कुछ हवा में : 1990
आओ बेठ लें कुछ देर : 1995
अगली शताब्दी का शहर : 1996
जहालत के पचास साल : 2003
खबरों की जुगाली : 2005

आलोचना

अज्ञेय : कुछ रंग, कुछ राग : 1999

विनिबंध

भगवती चरण वर्मा : 1989
अमृतलाल नागर : 1994

संपादन

हिंदी हास्य व्यंग्य संकलन : 2000

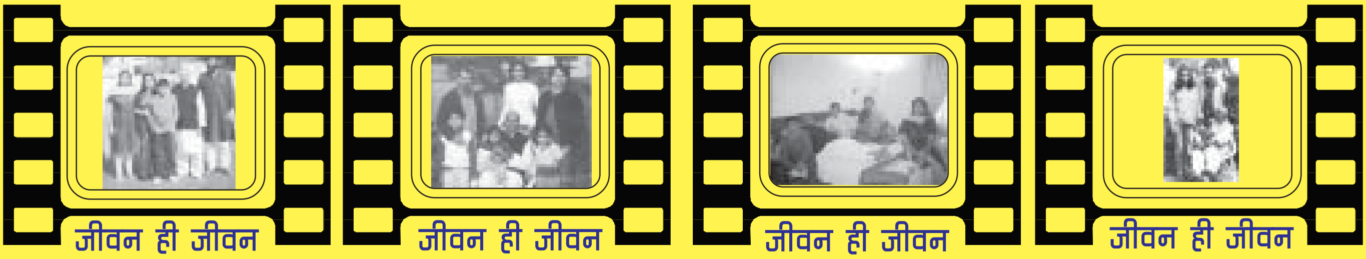

शीतला सहाय शुक्ल

मेरे मंझले भाई श्रीलाल का जन्म मेरे पितामह की भविष्यवाणी के अनुरूप सिद्ध हुआ। मेरे पितामह पं. गदाधर प्रसाद हिंदी, उर्दू, संस्कृत आदि के ज्ञाता थे। शास्त्र, पुराण, कर्मकाण्ड एवं ज्योतिष में उनका वर्चस्व था। उनका जीवन सादा, सरल एवं सात्विक था, वे सबके हितैषी थे।

पूर्ण आयु प्राप्त कर जीवन के अंतिम वर्ष में नीर (गंगा जल), क्षीर (दूध) पर ही निर्भर रहे। स्वर्गारोहरण के एक दिवस पूर्व उन्होंने मेरी दादी से कहा कि शोकातुर न हो। बड़े-बड़े तपस्वी, साधक एवं कर्मयोगी मोक्ष नहीं प्राप्त करते हैं। उन्हें भी कर्म विपाक के अनुसार पुनर्जन्म प्राप्त करना होता है। अतः मैं पुनर्जन्म लेके तुम्हारे पौत्र के रूप में आऊंगा, उसका नाम 'श्रीलाल' रखना। उनका कथन सत्य निकला और इनका जन्म हुआ।

कमलेश अवस्थी

अपनी विलक्षण संवेदनशील दृष्टि से समाज को परखने वाले इन्हीं श्रीलाल जी का मेरे यहां आगमन और उनका वह आग्रह मेरे लिए अपार हर्ष की बात थी। विवाह के प्रस्ताव के संबंध में, सुधीर से एक बार फिर मेरी बात हुई। अतीत का खौफ अब भी उन पर हावी था। 13 जनवरी, 1966 को मेरे पति देवीशंकर अवस्थी की आकस्मिक मृत्यु से हम लोगों को सुव्यवस्थित और भरा पूरा परिवार शीशे की तरह टूट गया था। सबको अपनी-अपनी तरह से यह आघात लगा था। मां के लिए उनका प्यारा और समर्थ बेटा चला गया था। बहन के लिए भाई और भाई के लिए पिता समान दोस्त। मेरे लिए सर्वस्व, तो बच्चों के लिए पिता। सबके लिए वे ही सहारा थे। अपनी मां, भाई, बहन, पत्नी को अवस्थी जी बड़े गर्व और स्नेह से अपने मित्रों से मिलवाते थे, जिससे सबमें आत्मबल और आत्मसम्मान बना रहे। पर. . .।

ऐसे टूटे हुए, लेकिन सम्मानित परिवार की ओर श्रीलाल जी ने कदम बढ़ाया था। शायद सुधीर पर पिता और भाई का अभाव सर्द बर्फ की तरह जम गया था। परिवार में किसी पुरुष का पुख्ता सरपरस्ती के बिना विवाह का उत्सव तो फीका ही रहता, ऐसे समय में सुधीर के चाचाजी हरिमाधव अवस्थी, मामाजी उमाशंकर पाण्डेय और जीजाजी मुरलीधर पाण्डेय ने आगे बढ़कर न केवल मुखिया का दायित्व ले लिया, बल्कि सरपरस्त बनकर इस मुहिम को सफल बनाने के लिए कटिबद्ध हो गये थे।

रंजना तिवारी

मेरे आदरणीय होने के साथ-साथ फूफा जी मेरे लिए एक अनोखे व्यक्तित्व के स्वामी रहे हैं जिनको मैंने कभी पूरी तरह से नहीं जाना। अपनी परमप्रिय बुआ श्रीमती गिरिजा शुक्ल (दिवंगता) से मैंने मां समान स्नेह पाया व मैं उनके ज्यादा निकट थी।

मेरी बुआ मेरे पिता व चाचा (कुल तीनों भाइयों) की इकलौती बहिन थीं, अतः श्रीलाल शुक्ल जी मेरे इकलौते फूफा हुए।

समय के साथ-साथ मुझे फूफा जी के रोचक व्यक्तित्व व विविध रूपों का परिचय मिला। कभी अनुशासन में बंधे हुए कुशल सरकारी अफसर; कभी अच्छे पति व पिता; कभी इच्छे इंसान, कभी जीवन से भरपूर स्वछन्द मनुष्य; कभी एक कुशल लेखक; कभी संगीत व कला के प्रेमी आदि रूपों में।

श्रीनारायण शुक्ल

संयुक्त परिवार की इकाई में उनका विश्वास दृढ़ है। बदलते सामाजिक परिवेश तथा उम्र के इस पड़ाव पर पहुंच कर भी वे इससे जुड़ी जिम्मेदारियों का बोझ उठाने को आज भी तत्पर हैं। सच्चाई तो यह है कि परिवार का दायरा उनके लिए कभी सीमित नहीं रहा। सगे संबंधियों को छोड़ दें तो भी न जाने कितने दूर के रिश्तेदारों, मित्रों, गांव के लोगों ने उनकी इस नि:स्वार्थ, उदार प्रवृत्ति का लाभ उठाया इसमें उनको हमारी स्व. चाचाी जी (जिनको मैं मम्मी जी ही बुलाता था।) का पूरा सहयोग और समर्थन मिला था। ऐसे सहृदय व्यक्ति का आशीर्वाद हमें सदैव मिलता रहे ऐसी कामना करते हुए यह सोचता हूं कि उनके बारे में क्या भूलूं, क्या याद करूं। यादों का एक अंतहीन सिलसिला है।

श्रीनिवास शुक्ल

मेरे पितृतुल्य चाचा श्रीयुत श्रीलाल शुक्ल मेरे पिता श्री शीतला सहाय शुक्ल के अनुज हैं। यह मेरा सौभाग्य है कि मेरा जन्म इस परिवार में हुआ। मेरे होश संभालने से पूर्व ही चाचा जी सरकारी सेवा में अधिकारी के रूप में विभिन्न जनपदों में रहे हैं, किंतु वह घर में होने वाले उत्सव, शादी-ब्याह एवं होली, दिवाली आदि त्योहारों में हमेशा आते हैं, शामिल होते हैं एवं उनके सम्पादन में पूरा योगदान करते हैं। होली और दिवाली के त्योहारों को वे गांव आकर ही मनाते रहे, और यह सिलसिला समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप अभी भी कायम है। इनका होली के अवसर पर गांव में होने वाले फाग और ठंडाई के आयोजनों में ग्रामवासियों की तरह भाग लेना और दिवाली पूजन आदि में शामिल होना, ग्रामवासियों के साथ ऊंच-नीच का भेदभाव किये बिना मनोविनोद से बातें करना मुझको बहुत ही अच्छा दिखता।

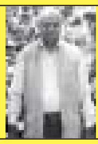

श्रीरंजन शुक्ल

श्रीलाल शुक्ल जिन्हें साहित्य के रचयिता, विद्वान, अध्येता, समालोचक, बुद्धिजीवी तथा उनके प्रशंसक अनेकानेक विशेषणों से अलंकृत करते हैं– मेरे लिए, पितृतुल्य 'चाचाजी' हैं। उनके व्यक्तित्व का आकलन, विश्लेषण करना तो मेरे लिए असंभव है ही, उनके साथ बीते हुए समय के अनुभवों को संस्मरण के रूप में लिपिबद्ध करना भी अत्यंत कठिन कार्य है। कठिनाई यह है कि जिस व्यक्ति के साथ अनौपचारिक, सरज घरेलू समय जिया गया हो, निजत्व की भावना के साथ जिसके अनुशासन में रहा गया हो, उसके बारे में औपचारिक होकर कहना-लिखना अत्यंत असहज स्थिति उत्पन्न करता है परंतु इन असहज स्थितियों से गुजरना, कहीं आनंददायक भी है, क्योंकि यादों के गलियारों से गुजरते समय आदरणीय चाचाजी के प्रेरणादायी, स्नेहिल व्यक्तित्व से बार-बार साक्षात्कार होता है, जो मेरे लिए अत्यन्त प्रीतिकर है।

मंजू मिश्रा

सुना है कि मेरे पिताजी के विवाह पर मेरे चाचाजी (श्रीलाल शुक्ल) जब बारात में गए थे, उस समय वह 10 या 11 वर्ष के रहे होंगे। तभी उनकी प्रतिभा को देखकर मेरे नानाजी ने निश्चित रूप से कहा था कि 'यह लड़का आने वाले भविष्य में बहुत ही प्रतिभाशाली होगा तथा अपना व कुल का नाम रोशन करेगा।'

जब कभी वह गांव (अतरौली) आते थे, तो बाहर से ही हम लोगों के नाम पुकारते हुए आते थे। घर में एक रौनक-सी हो जाती थी। साथ ही गांव वालों को भी तुरंत खबर लग जाती थी कि श्रीलाल भैया आए हैं, और बस, लोगों के मिलने-जुलने का सिलसिला शुरू हो जाता था। प्रत्येक व्यक्ति से वह बड़ी खुशी से मिलकर उसका हाल-चाल पूछते थे, चाहे वह छोटी जाति का हो या बड़ी, गरीब हो या अमीर। कभी यह नहीं दिखाया कि मैं बहुत बड़ा आदमी बन गया हूं। उन्होंने सदा ही अपने पद की गरिमा को बनाकर रखा।

दामोदर दत्त दीक्षित

आप जिसके प्रति सम्मानभाव रखते हों, बचपन से रखते आए हों और उस पर लिखना हो, तो कलम सरकती कम, अटकती ज्यादा है। ऐसी ही स्थिति कथाकार-व्यंग्यकार श्रीलाल शुक्ल पर लिखते हुए हो रही है। अब कोई अपेक्षा करे कि उन पर दोस्ताना या यारबाजी अंदाज़ में लिखूं तो बात गले से नीचे उतरती नहीं, हज़्म होने की तो बहुत दूर। बात कृत्रिम और नाटकीय भी होगी। श्रीलाल शुक्ल मेरे मामा जी, श्रद्धेय गोपाल कृष्ण सुकुल के चचेरे भाई हैं यानी आमफहम भाषा में मेरे चचेरे मामा।

मामा जी मूलतः सरल, सहज, सादगीपसंद, विनम्र, निश्छल, मधुरभाषी प्रदर्शनभीरु और लो प्रोफाइल वाले, पर हम उनके इर्द-गिर्द प्रभामण्डल देखते थे। उच्च सरकारी पद, ख्यातिप्राप्त लेखन और गहन ज्ञान का गुलाबी, केसरिया और सुनहला प्रभामण्डल। वह मेरे ही नहीं, बहुतों के 'रोल माडल' थे। जिनके नहीं थे, उनके माता-पिता की निगाहों में थे जो उनका नाम लेते हुए अपने बच्चों में नसीहतें तकसीम किया करते थे। पर कभी-कभी गुस्सा भी आता था, ऐसी लंबी लकीर खींच गए कि वहां तक पहुंच पाना संभव नहीं। हमें उनकी और अपनी क्षमताओं का बखूबी एहसास था, पर बड़े-बुजुर्गों की आशा और अपेक्षा रहती कि सौ टंच श्रीलाल शुक्ल बनो।

भाई मुद्राराक्षस ने जिन्होंने कुछ समय पहले प्रेमचंद को बाल विवाह का समर्थक बताकर काफी यश अर्जित किया ळै। अपने लेख 'राग दरबारी कौन किस पर हंसता है?' (वर्तमान साहित्य, शताब्दी कथा विशेषांक, जनवरी-फरवरी 2000) में आरोप लगाया कि 'राग दरबारी' उपन्या में शिवपालगंज में थाना, को-ओपरेटिव सोसायटी, बीज भण्डार और इण्टर कॉलेज है, पर लेखक उसे गांव बता रहा है। मुद्रा जी को पता नहीं कि स्वयं उनके गृह जनपद लखनऊ मे मोहनलाल गंज ऐसा ही स्थान है जहां उपर्युक्त सभी चीजें हैं, फिर भी राजस्व अभिलेखों में वह पक्का गांव भी नहीं, मऊ गांव का मज़रा है। ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। इसी प्रकार मुद्रा ने मकोये को एक-से-डेढ़ फुट का पौधा बताते हुए कहा है कि 'राग दरबारी' का लंगड़ उसकी छाया में कैसे आराम कर सकता है। संभव है, मुद्रा जी के गांव में मकोय भी बौनी प्रजाति का होता तो, पर अन्य गांवों में मकोय का पौधा चार-पांच फुट तक जाता है जो ऊंची मेड़ या ऊंचे स्थान पर हो, तो तिरछी धूप में छाया भी देता है। तपती धूप में छाया भी देता है। तपती धूप में यत्किंचित छाया भी सुकून देती है। हैरत है कि स्वयं को आम आदमी का हितू बताने वाले मुद्रा जी को यह सामान्य जानकारी भी नहीं। उन्हें ये नए-नए ज्ञान 'राग दरबारी' के प्रकाशन के लगभग तीस साल बाद हुए। मैंने मामा जी से कहा कि मुद्रा जी के इन अतथ्यात्मक शोधों का तो कम-से-कम प्रतिवाद करें, तो उन्होंने कहा, 'वह ऐसे 'वर्डी डुएल' में नहीं उलझना चाहते। मुद्रा जी को भी लोग जानते हैं और मुझे भी।'

उदय शंकर अवस्थी

बात तब की है जब मैं इंजीनियरिंग के बाद श्रीराम फर्टिलाइजर्स, कोटा में कार्य कर रहा था। मेरा परिवार साहित्य एवं शिक्षा से जुड़ा है और जैसा उस समय समाज में प्रचलन था, मेरा विवाह घर वालों की इच्छा

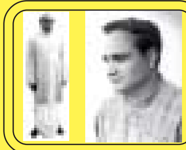
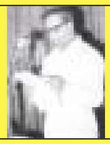

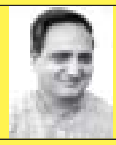

से होना था। वैसे भी मैं अपने काम में इतना व्यस्त था कि इस बारे में सोचने के लिए मेरे पास समय न था। मेरे बड़े भाई स्व. डॉ. देवीशंकर अवस्थी, श्रीलाल शुक्ल जी के साहित्यिक मित्र थे। श्रीलाल शुक्ल जी एवं श्रीमती गिरिजा शुक्ल जी अपनी बड़ी पुत्री रेखा शुक्ल के लिए वर देख रहे थे। जब श्रीलाल जी ने हमारे परिवार को इसके लिए संकेत दिया तो जाहिर सी बात है कि मेरे परिवार के लोग बेहद खुश हुए क्योंकि उन दिनों श्रीलाल जी का व्यक्तित्व लेखक और अफसर दोनों रूपों में बहुत बड़ा था।

बात आगे बढ़ी. . .मार्च, 1970 में जब श्रीलाल जी को उनकी कालजयी कृति 'राग दरबारी' के लिए साहित्य अकादेमी का पुरस्कार मिला तो उन्होंने मुझे एक पत्र लिखा कि वे मुझसे मिलने कोटा आना चाहते हैं। तब तक श्रीलाल जी की पुस्तक 'राग दरबारी' काफी ख्याति प्राप्त कर चुकी थी, इसलिए मैंने श्रीलाल जी से मिलने से पहले उस पुस्तक को पढ़ लिया था। पत्र के माध्यम से हमने यह तय कर लिया था कि जब श्रीलाल जी फ्रंटियर मेल से उतरेंगे तो मैं उनसे टिकट बुकिंग विन्डो के सामने प्लेटफॉर्म पर मिलूंगा। श्रीलाल जी ने अपनी पुस्तक 'राग दरबारी' में एक जगह लिखा है; 'स्टेशन वैगन से एक अफसरनुमा चपरासी और चपरासीनुमा अफसर उतरा।' मिलने से पहले मैं सोचता था कि श्रीलाल जी इनमें से क्या होंगे। पहली मुलाकात से ही मैंने उन्हें एक बहुत ही सभ्य, विनम्र, सुलझे हुए, स्नेह करने वाले व्यक्ति के रूप में देखा है और आज भी उनकी वही छवि मेरे मस्तिष्क में बनी हुई है। तब वे 44 वर्ष के थे और मैं 25 वर्ष का। यहां से शुरू हुआ श्रीलाल जी का, मेरा पापा बनना और मेरे मन में वर्षों से जो एक कमी थी, वह पूरी होनी आरंभ हुई।

जब मेरे पिताजी का स्वर्गवास हुआ था, मैं बहुत छोटा था लगभग 2-3 वर्ष का। मेरे बड़े भाई डॉ. देवीशंकर अवस्थी मेरे पिता के स्थान पर थे। उनके स्वर्गवास के बाद मुझे बहत ही सूनापन लगता था। इस सूनेपन को श्रीलाल शुक्ल जी ने एक मित्र के रूप में, एक बुजुर्ग के रूप में और एक लेखक के रूप में अपने स्नेह एवं प्यार से भर दिया। आज 35 वर्ष बाद भी उनके साथ बैठकर वही आनंद मिलता है जो पहले दिन मिला था।

एक बार पापा ने मुझसे कहा था कि देखो हम सब बात प्रजातंत्र की करते हैं पर गरीब आदमी को प्रजातंत्र से क्या मतलब। प्रजातंत्र में उसे क्या लाभ है? उसका कैसा भी राजनीतिक स्वरूप हो, उसे कोई मतलब नहीं है। उनकी इस बात पर मैं लगातार कई दिनों तक सोचता रहा। मैं सोचता रहा कि किस प्रकार आम आदमी को, देश के किसान को लाभ पहुंचाया जाए। इस सब पर काफी सोच-विचार के बाद हमने निर्णय लिया कि 'इफको' एक जनरल इंश्योरेंस कम्पनी बनाए और गरीब किसानों को, अपने सदस्यों को, संस्था से और संस्था की प्रगति से जोड़ने की कोशिश करें। इसलिए, हमने 'इफको टोक्यो जनरल इंश्योरेंस कंपनी' की स्थापना कीक और एक नई बीमा योजना आरंभ की 'संकटहरण बीमा योजना'। इस बीमा योजना से किसान को खाद खरीदने का प्रीमियम भुगतान के बिना ही व्यक्तिगत दुर्घटना बीमा का लाभ मिल जाता है। यानी खाद तो खाद, बीमा साथ। यह योजना आज देश के करोड़ों किसानों को नि:शुल्क बीमा का लाभ दे रही है। मैं समझता हूं कि इस विचार का बीजारोपण भी कहीं न कहीं, पापा के शब्दों से ही हुआ था।

रेखा अवस्थी

लखनऊ के बाद कानपुर (1969) रही जिसमें दो साल के अंदर मेरा विवाहे गया। 1971 से 1975 तक गोवा रही। 1976 से आज तक दिल्ली में ही हूं। इस बीच बच्चों व परिवार की जिम्मेदारी निभाई। पापा आप हमेशा मुझे कहते रहे कि बेटा गाना मत छोड़ो, गाती रहो। पर मैं परिवार में ऐसा रमी कि आपकी सलाह पर कोई ध्यान ही न दिया। आज आलम यह है कि गाने की आदत ही छूट गई है। बहुत गाने का मूड होता है तो हल्के-फुल्के गाने गाकर खुद-ब-खुद खुश हो लेती हूं। यदि कभी कभार चि. मनु-अमोल (पुत्र) गाते हैं, उनके साथ महफिल जमी है और वे लोग मेरी तारीफ करते हैं तो फूल कर कुप्पा हो जाती हूं। तब लगता है कि फैजाबाद आज भी जिंदा है मेरे भीतर।

पापा, बचपन की एक और बहुत सुखद स्मृति की आपको याद दिला रही हूं। तब शायद मैं चौथी या पांचवीं क्लास में पढ़ रही थी। एक दिन सुबह-सुबह आपने एक श्लोक भगवान श्रीराम का 'केकीकण्ठाभनीलम्. . .' तथा श्री भगवान शंकर की प्रार्थना (रुद्राष्टक) 'नमामीश्मीशान निर्वाण रूपम्. . .' ये दोनों ही श्रीरामचरितमानस से देखकर कण्ठस्थ करने को कहा। साथ में सख्त हिदायत दी कि हर हालत में शाम तक हम लोग (मैं और मेरी छोटी बहन मधु) सुनायें। मुझे यह बहुत ही कठिन काम लगा। हम लोगों को परेशानी देखकर मम्मी ने सहायता की (क्योंकि उन्हें तो याद ही था) हम लोगों को रटवाती रहीं दिन भर। शाम को आपने ऑफिस से आकर हम दोनों से श्लोक व प्रार्थना सुनी। सुनकर आप इतना प्रसन्न हुए कि हम लोगों का तुरंत हज़रतगंज ले गए। वहां एक पिक्चर दिखाई और एक बढ़िया रेस्तरां में खाना खिलाया।

त्रिभुवन मेहता

विवाह के कुछ वर्ष बाद जब मधु और मैं दो बच्चों के माता-पिता बन चुके थे, पापा-मम्मी को मेरी वजह से फिर कुछ चिंताजनक समय का सामना करना पड़ा। हाल ही में किसी वायरल बुखार से स्वस्थ हुआ था (यह सन् 1979 की बात है) कि किन्हीं कारणों से कुछ समय के लिए

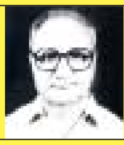

मैं मानसिक तनाव की स्थिति में आ गया था व जीवन के प्रति कुछ उदासीन सा हो गया था। मधु व अन्य सब शुभचिंतकों ने मेरा साहस व मनोबल बढ़ाने की चेष्टा भी की थी लेकिन मुझे प्रफुल्लित करने में असफल रहे। ऐसे समय में पापा-मम्मी ने बड़े गहरे स्नेह का परिचय दिया और मुझे अपने पासलखनऊ बुलवा लिया बावजूद इसके कि उनको खुद अपने स्थानान्तरण के कारण अस्थायी रूप से एक छोटे से फ्लैट में रहना पड़ रहा था। वहां मम्मी ने बाकी सब को दूसरे स्थान पर रखकर मेरी ऐसे धैर्य व वात्सल्य से सेवा शुश्रूषा की कि कुछ दिनों में ही मेरा मनोबल आकाश को छूने लगा और मैं पूर्ण रूप से स्वस्थ होकर अपने घर दिल्ली वापिस आ गया। मम्मी में मुझे मेरी जन्म देने वाली स्वर्गीया मां की छवि दिखायी देती थी और यह मेरा सौभाग्य था कि कि आजीवन उन्होंने मुझे अपनी ममता से स्नेहसिक्त रखा और यह मेरा दुर्भाग्य है कि उनको भी कुछ वर्ष पहले ईश्वर ने अपने पास बुला लिया।

मधूलिका मेहता

अपने प्रिय पिता, जो हम सबके आदरणीय हैं, के बारे में कुछ लिखने से पहले मैं एक उलझन भरे दौर से गुज़री हूं। उनकी ढेर सारी स्मृतियां हैं, जिन्हें चुन-चुन कर लिखना, क्या लिखूं क्या न लिखूं यह निर्णय लेना मेरे लिए बड़ा कठिन काम है। उनकी प्रिय मंझली बिटिया होने के नाते, अनगिनत खट्टी-मीठी यादें मेरे मन में संजोई हुई हैं। यदि सभी को लिखने बैठूं तो एक महाग्रंथ तैयार हो सकता है।

मेरे पिता ने एक ग्रामीण युवक होकर भी अपने कड़े परिश्रम, प्रतिभा एवं बड़ों के आशीर्वाद से इलाहाबाद विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा लेकर सरकारी नौकरी प्राप्त की व उच्च पदों पर काम किया। मेरी मां, श्रीमती गिरिजा शुक्ल अपने जमाने की ग्रेजुएट एवं एक विदुषी महिला थीं, और शास्त्रीय संगीत की ज्ञाता थीं। उन्होंने सितार वादन की शिक्षा भी ली थी। उनके मंझले भाई यानी मेरे मामा जी जाने-माने सितार वादक रहे हैं। अपने पापा-मम्मी को मैंने एक आदर्श दम्पति के रूप में देखा। मेरी मम्मी का विशेष गुण था उनका असीम धैर्य एवं दयालु स्वभाव व पापा का उदार हृदय व 'प्रैक्टिकल' होना, विपत्ति में लोगों की सहायता करना एवं मार्गदर्शन करना उनका विशेष गुण रहा है। इसके अलावा एक महत्वपूर्ण बात उनके बीच थी जो उन्हें बांधे रखती थी, वह थी उनकी साहित्यिक प्रतिभा, संगीत व कला प्रेम। पापा कितने भी व्यस्त हों, प्राय: मम्मी के साथ सांस्कृतिक कार्यक्रमों व कला प्रदर्शनियों में (कभी-कभी सपरिवार) भी जाते थे। देर रात तक पापा, मम्मी अपने कमरे में रेडियो पर 'नेशनल प्रोग्राम' सुनकर शास्त्रीय संगीत का आनंद लेते थे। पापा को सैर-सपाटे और ऐतिहासिक स्थलों पर घूमने का भी शौक था। कितने ही सांस्कृतिक व साहित्यिक कार्यक्रमों के आयोजन पापा ने स्वयं करवाए हैं जिनमें विभिन्न कलाकारों को सुनने व मिलने का हमें सौभाग्य मिला।

आशुतोष शुक्ल

अपने पापा श्रीलाल शुक्ल के बारे में कुछ भी कहने या लिखने से पहले मुझे इस धर्म संकट का सामना करना पड़ेगा कि उनके लिए कही गयी बात यदि प्रशंसा के दायरे में आती है, जिसकी पूरी संभावना है, तो मेरे ऊपर सीधा आरोप लग सकता है मैं उनका बेटा होने के नाते पक्षपात कर रहा हूं। फिर भी, इस बचकाने डर के कारण न कहना भी अन्याय होगा, पापा के साथ, आप पढ़ने वालों के साथ और स्वयं मेरे साथ भी।

लगभग पैंतालिस साल पहले अपने विद्यार्थी जीवन के प्रारंभिक दिनों की याद करने पर ध्यान आता है कि छुटटी यानी रविवार का हम बच्चे बेचैनी से इंतजार करते थे। बच्चों के विद्यालयों का अलग-अलग समय होने की वजह से दिन में एक साथ मिल-बैठना संभव नहीं हो पाता था। पापा की भी छुटटी होने पर पापा, मम्मी और बच्चों को एक साथ दोपहर वाला भोजन करने में जो आनंद आता था, वह अब किसी त्योहार में भी क्या मिल पायेगा? खाने के साथ-साथ रेडियो पर कभी शास्त्रीय संगीत, बच्चों के हल्के-फुल्के कार्यक्रम आदि चलते रहते थे। महीने-डेढ़ महीने में एकाध बार चिड़ियाघर का चक्कर भी लगता था, दिलकुशा गार्डेन तो खैर घर ही था। अपने ताऊजी और चाचाजी के बच्चों के साथ मिलने पर उस दिन के प्रति उत्साह और भी बढ़ जाता था। इतना सब होने पर भी स्कूल के होम वर्क को पूरा करना कोई भी नहीं भूलता था।

हिंदी अंग्रेजी दोनों के ही साहित्य में पापा की रुचि है। वह कई तरह के उपन्यास और पत्रिकाएं पढ़ते रहते हैं। हम लोगों के विद्यार्थी जीवन के अक्सर वह नियमित और अनुशासनबद्ध अध्ययन पर जोर देते रहते थे, लेकिन किताबी कीड़ा बनने की हद तक कतई नहीं। उनका मानना है कि यह सब करने के लिए सबसे पहले अपने स्वास्थ्य और खानपान पर पूरी जिम्मेदारी से ध्यान देना जरूरी है। शायद इसी कारण उनकी लेखन प्रक्रिया का कोई विशेष प्रकार का रूप हम लोगों को देखने को नहीं मिला। ऐसा कभी नहीं हुआ कि मशीनी ढंग से हम लोगों को यह बताया गया हो कि अब पापा के लिखने का टाइम हो गया है। इतना मुझे जरूर याद है कि कभी-कभी पापा छुट्टी लेकर लखनऊ से बाहर ज्यादातर किसी पहाड़ी जगह पर, कुछ दिनों के लिए चले जाते थे या फिर अपने शहर में किराये के फ्लैट में कुछ घंटों के लिए चले जाया करते थे। मुझे लगता है कि साहित्य, संगीत, कला के प्रति उनकी प्रवृत्ति का ही परिणाम है कि जो आज मुझे सुखद आश्चर्य के रूप में अपने आप में एक विरोधाभास देखने को मिल रहा है। जैसे स्वयं एक निहायत गैर-पढ़ाकू इंसान होने के बावजूद

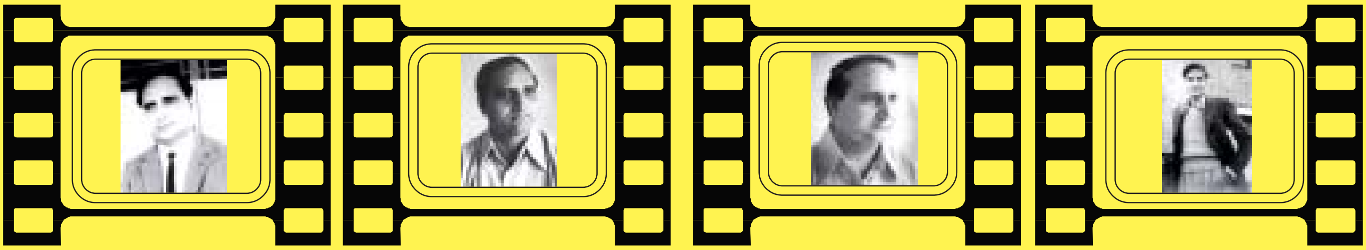

अध्ययनशील लोगों के प्रति मेरे मन में सच्चा आदरभाव होना या फिर हल्के संगीत (विशेषत: फिल्मी गाने) का बेहद शौक होते हुए भी कभी-कभी शास्त्रीय संगीत की ओर खिचाव महसूस होना आदि।

साधना

'राग दरबारी' के लेखक श्रीलाल शुक्ल की पुत्रवधू बनकर 1983 में जब मैं लखनऊ आई थी, वह मेरे जीवन का सबसे सुखमय दिन था। मुझे कभी भी यह एहसास नहीं हुआ कि मैं किसी दूसरे परिवार में आई हूं। पापा ने मुझे कभी बहू की तरह नहीं समझा और हमेशा अपनी बेटी माना। जब मैं आई, उसके एक महीने बाद ही वे प्रशासनिक सेवाओं से सेवानिवृत हो गये थे। इसलिए मुझे उनके प्रशासनिक जीवन के बारे में कुछ ज्यादा पता नहीं है, परन्तु उनके साहित्यिक जीवन के साथ मैंने बाईस साल गुजारे हैं। थोड़ी बहुत साहित्य में मेरी रूचि उनके संपर्क में आने के बाद हुई। पापा के साहित्यकार मित्रों को खाने पर बुलाना बहुत अच्छा लगता है।

पापा और मैं अच्छे दोस्त भी हैं। हर कठिन वक्त में उन्होंने मेरा साथ दिया। मेरी बेटी तन्वी के जन्म के समय जब डॉक्टर ने अचानक रात में बताया कि ऑपरेशन करना पड़ेगा तो थिएटर में जाने के बाद मैंने डॉक्टर से कहा कि पहले घर से पापा को बूलाया जाए, उसके बाद ही मैं ऑपरेशन करवाऊंगी। 10 कि.मी. की दूरी को पार करते हुए पापा 9.15 बजे रात में हॉस्पिटल पहुंचे और मेरा हाथ पकड़कर उन्होंने जब दिलासा दी कि सब ठीक हो जाएगा। उसके बाद ही मैं ऑपरेशन कराने को तैयार हुई और 9. 45 पर नन्हीं-सी परी को जन्म दिया, जिसको देखकर पापा अत्यंत खुश हुए और उन्होंने उसे तन्वी नाम दिया। तन्वी के साढ़े दस साल बाद जब पापा को पता चला कि उनके घर एक और नन्हा मेहमान आने वाला है, तब उनकी व मम्मी की खुशी का ठिकाना न रहा। परन्तु अफसोस कि उस नन्हें मेहमान के इस दुनिया में कदम रखने के दो माह पूर्व ही मेरी मम्मी का देहावसान हो गया और पापा इस नई जिम्मेदारी को उठाने के लिए बिल्कुल अकेले पड़ गये। लेकिन अत्यंत धैर्य और साहस का परिचय देते हुए उन्होंने अपना फर्ज निभाया और मुझे मम्मी की कभी कमी महसूस न होने दी। मैं एक माह पूर्व ही अस्पताल में भर्ती हो गई थी। इस पूरी अवधि के दौरान उन्होंने घर में रह कर नन्ही तन्वी को संभाला और साथ ही अस्पताल में मेरी भी देखरेख की। 23 अप्रैल 1997 को दोपहर 12. 58 बजे मुझे पुत्ररत्न की प्राप्ति की सूचना पा कर उनका ह्रदय खुशी से झूम उठा

जब किसी दावत में जाना होता है, तो हमारे घर में हमारे और पापा के बीच नोंक-झोंक जरूर होती है क्योंकि वे निमंत्रण-पत्र में लिखे समय के कुछ पहले ही निमंत्रण स्थल पर पहुंचना चाहते हैं, जबकि समय से या उससे पूर्व इस देश में कोई कहीं नहीं पहुंचता। उनकी इसी आदत की वजह से हम लोगों को समय से पहले पहुंचकर खाली कुर्सियों को सामना करना पड़ता है।

31 दिसम्बर को जब सारी दुनिया नए साल के आगमन का जश्न मनाती है, उस दिन हम इस जश्न के साथ-साथ अपने घर में उनके साहित्यकार मित्रों, परिवार वालों एवं अन्य इष्ट मित्रों के साथ उनका जन्मदिन मनाते हैं। उस रात सभी मेहमान खूब आनंद उठाते हैं, क्योंकि उस दिन हमारे घर में साहित्य और संगीत का संगम होता है। एक तरफ साहित्य की चर्चा होती है, तो दूसरी तरफ मेरे पति आशुतोष और बच्चे अपने गीतों से सबका मनोरंजन करते हैं।

सुनील माथुर

जब मेरी शादी की बात श्रीलाल शुक्ल की सबसे छोटी बेटी से चल रही थी तो विनीता ने बताया कि उनके पापा काफी उत्साहित थे। कुछ वर्ष पहले मैं एक साल जर्मनी में रहकर आया था और वहां पर थोड़ी जर्मन भाषा भी सीख ली थी। विनीता का कहना था कि उनके पापा समझ रहे हैं कि मैंने ग्युन्टर ग्रास को जर्मन में तो अवश्य पढ़ ही लिया होगा और वह मुझसे उनके लेखन पर बातचीत करना चाहते हैं। तब तक मैंने ग्युन्टर ग्रास को अंग्रेजी में भी नहीं पढ़ा था, जर्मन तो दूर।

पापा से ज्यादा बहुपठित व्यक्ति मैंने अपनी जिंदगी में तो कोई नहीं पाया। वह आपको लगभग हर भाषा के साहित्य पर भाषण दे सकते हैं। अंग्रेजी, हिन्दी और संस्कृत के उन्होंने पुराण काल से लेकर आज तक के लगभग सभी लेखकों को पढ़ा है। आश्चर्य यह है कि सबके कार्य उन्हें याद भी हैं। आप किसी भी लेखक का नाम लें और वह उसके बारे में उसके साहित्य के बारे में और उसके लेखन का आलोचनात्मक विश्लेषण तुरन्त कर सकते हैं। साहित्य, दर्शन, कला, संस्कृति, संगीत उनको बस बोलने से रोकिए मत और आपको विस्तृत भरा पूरा ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। समसामयिक घटनाक्रम, राजनीति कुछ भी वह आपको एक ऐसे दृष्टिकोण से पेश करेंगे कि आप सोचेंगे कि यह पहले किसी ने क्यों नहीं कहा और यह बात और यह संदर्भ अखबारों में क्यों नहीं आता।

कुछ समय के लिए लखनऊ में तैनात था और ससुराल में ही रह रहा था। पापा बोले 'यार, एक, तो तुम्हें शाकाहारी खाना मिलता है, ऊपर से श्वेत-श्याम टी.वी'। विश्व कप क्रिकेट 1987 का फाइनल था और बिजली का कोई भरोसा नहीं था। एक और अद्भुत सुझाव आया– 'चलो तुम्हें गांव (20 किलोमीटर दूर अतरौली) ले चलते हैं, वहां देखना।' मैंने कहा, 'पर वहां तो सुना है बिजली ही नहीं आती है', बोले, 'हां पर वहां तो टीवी बैटरी से चलता है, ज्यादा भरोसेमन्द है।'

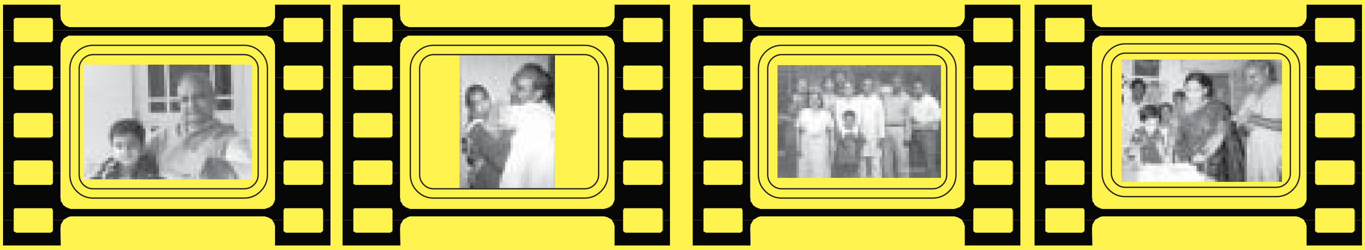

विनीता माथुर

जब मैं करीब डेढ़ साल की थी तक मुझसे शायद अपने आसपास के लोगों जैसे मम्मी, दीदियां, भैया, दद्दू जी और चाचा जी के प्रति चेतना जागी। क्योंकि हम सब भाई-बहनों में दद्दू ही सबसे बड़े थे और पापा को चाचा जी कहते, (जो कि उनके लिए सही था), सो हम सब भी पापा को 'चाचा जी' ही कहने लगे। 'पापा' तो वो तब बने जब 1970 में परिवार में सुधीर दा का प्रवेश हुआ। बड़े दामाद के रूप में। सबसे ज्यादा खुशी मुझे हुई पापा के पापा बनने की।

छुटपन में मेरे लिए पापा तो वो थे जो सुबह वर्जिश करते, रेडियो या रिकॉर्ड प्लेयर पर बजते शास्त्रीय संगीत के साथ स्वर मिलाते और ऑफिस से आकर मुझे कभी-कभी हवा में उछालते। इतवार और अन्य छुट्टियों के दिन मेरे कानों में लेखक, पत्रकार, कवि गोष्ठी और कॉफी हाउस जैसे शब्दों की भनक पड़ती जो कि सब उस समय मेरे लिए बेमान थे। छुट्टी की दोपहरों में पापा लेट कर पढ़ते और कभी-कभी कुछ अंश जोर से पढ़कर मम्मी को सुनाते। यह दृश्य मेरे लिए सबसे प्रिय होता था क्योंकि मैं ऐसे में अक्सर उनके बीच में लेटी होती और सब सुनती और गुनती रहती। रात को भी घर में बहुत सुखद वातावरण होता क्योंकि सोने के पहले पापा-मम्मी लगभग रोज़ ही ऑल इंडिया रेडियो पर शास्त्रीय संगीत सुनते। इस तरह पापा और मम्मी दोनों ने ही मेरी चेतना के स्वर और शब्द, दोनों का महत्व हमेशा के लिए स्थापित कर दिया। बाकी बचपन फिर खेलते, गाते, लड़ते (हम चार भाई-बहन हैं) और पढ़ते लिखते बीता। इस सब में पापा की भूमिका एक सख़्त हेडमास्टर क नहीं बल्कि एक नर्म दिल म्यूजिक या आर्ट टीचर की रही। मम्मी ने हम सबको हिंदी, अंग्रेजी और गणित के साथ अनुशासन का भी पाठ पढ़ाया। दोनों ने ही न तेज आवाज़ में कभी डांटा, न हाथ उठाया, पर सिखा दिया।

दिवाकर शुक्ला

कुछ स्मृतियां ऐसी होती हैं जिन्हें याद करना बड़ा आसान होता है। अतीत में झांककर उन्हें खोज निकालने की जरूरत नहीं होती। वो हमारा हिस्सा ही होती हैं और यादें यदि चाचाजी से जुड़ी हों तो काम और भी आसान हो जाता है।

कितना अजीब है कि मैं उन्हें चाचाजी कहता हूं जबकि वो मेरे ताऊ जी हैं। इसके पीछे एक ही बात है कि हम उन्हें बहुत प्यार करते हैं। इस प्यार के पीछे बहुत अधिक सम्मान की भावना भी जुड़ी है। उनकी उपलब्धियों, अपनत्व की भावना, उनकी उदारता, आम आदमी और जन समुदाय के विकास में निरंतर प्रयत्नरत, प्रशासक के रूप में असाधारण कुशलता, उनकी ईमानदारी, सच्चाई, विनोदप्रियता और सर्वोपरि बात यह है कि लेखन के लिए वे परिवार में एक वटवृक्ष के समान हैं।

उनकी रचनाओं को देखकर मुझे बड़ा अचरज होता है कि कोई इतना अच्छा कैसे लिख सकता है। चाचाजी के मामले में तो यह बात बिल्कुल समझ में नहीं आ पाती। वो इतने अधिक विषयों पर इतने संदर्भ देते हुए कैसे लिख लेते हैं।

एक बार मैंने एक सपाट-सा उत्तर पाने की इच्छा से उनसे इतना अच्छा लिखने की कुंजी के बारे में जानना चाहा तो बिना किसी लाग-लपेट के सीधा-सा, सहज-सा जवाब देते हुए उन्होंने कहा, 'इसके लिए बहुत बड़े-बड़े शब्दों के प्रयोग की, लेखक बनने के प्रयास की, साहित्य जानने की आवश्यकता नहीं होती अपितु जीवन को, घटनाओं को, लोगों को, उनके इर्द-गिर्द के माहौल के बारे में गहराई से जान-समझकर उसे कहानी के धागे के रूप में पिरोने की जरूरत होती है।' चाचाजी कहते चले गए. . .।

'अपनी कहानी को आप जो भी रंग देंगे वही आपको लेखक, कवि या जो कुछ भी आप बनना चाहते हैं, बना देंगे।

अनुपम अवस्थी

मेरा आरंभिक लालन-पालन लखनऊ में नाना जी और नानी जी के हाथों हुआ। यही वजह है कि मेरा उनसे काफी गहरा लगाव है। अपना पसंदीदा भोजन करने का सौभाग्य भी सबसे पहले मुझे अपनी नानी जी के हाथों से ही प्राप्त हुआ। अरहर की दाल, लौकी और तोरई की सब्जी! वाह, वाह! आज भी मुझे बहुत पसंद है, मैं अपनी पतनी आरती को, जब वह दाल-भाजी बनती है तो बताया करता हूं कि इन्हें कैसे और स्वादिष्ट बनाया जा सकता है। वास्तविकता तो यह है कि जब आरती में मेरा विवाह हुआ तो उसने नानाजी से मेरे बारे में अनेक कहानियां सुन रखीं थीं। आज भी जब वह मेरे बचपन की घटनाएं सुनाती है तो उसके मुंह से ये बातें सुनकर मैं आश्चर्यचकित रह जाता हूं। जब मैं उनसे पूछता हूं कि उसे ये कैसे पता है या वह यूं ही बातें बना रही है तो वह कहती है, 'नाना जी या अम्मा से पूछो, उन्होंने मुझे तुम्हारे बारे में तुमसे कहीं ज्यादा बता रखा है।'

अब जबकि मैं खुद पिता बन चुका हूं और अपने बच्चों को उनके ग्रांड-पेरेन्ट्स (नाना जी-नानी जी, अजिया-बाबा) के साथ बैठा हुआ देखता हूं तो मुझे अपने बचपन की याद आ जाती है। जीवन चक्र के चलते, रिश्तों के उसी सौंदर्य को, जिसे मैंने जिया है, अपने बच्चों तथा उनके ग्रांड-पेरेन्ट्स के बीच विकसित होते देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है। वास्तविकता तो यह है कि जब नाना जी मेरे बच्चों– शिवानी और मोहन से मिले तो तीन पीढ़ियों का एक साथ होना एक भाव-विभोर कर देने वाला दृश्य था।

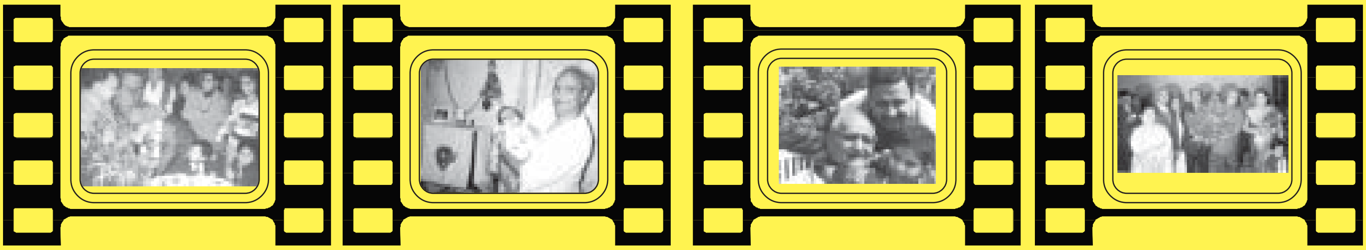

अमोल अवस्थी

श्रीलाल शुक्ल यानी मेरे नाना जी सचमुच बहुत ही असाधारण व्यक्तित्व के धनी हैं। ऐसा मैं इसलिए नहीं कह रहा हूं कि वे मेरे नानाजी हैं, बल्कि यह सच्चाई है। वे ऐसे असाधारण व्यक्तियों में से एक हैं जिन्हें मैं जानता हूं। वे एक महान साहित्यकार एवं लेखक हैं।

नानाजी, एक ऐसे शख्स हैं, जो आपमें छिपी क्षमताओं को निखारने का सहज ही रास्ता दिखा देते हैं पर शर्त यह है कि आप उनसे कुछ सीखने की इच्छा रखते हों और उनके द्वारा सुझाए गए मार्ग पर चल सकें। वे आपको कभी भी सब्जबाग नहीं दिखाएंगे। अगर आप अच्छा काम नहीं कर रहें, तो वे आपकी तारीफ के पुल नहीं बांधेंगे।

विभास मेहता

किशोरावस्था में मैंने यह पाया कि नानाजी बहुत ही सुझले हुए व्यक्ति हैं। जब वे हमारे पास आते या हम उनसे मिलने जाते तो वे किसी न किसी विषय पर अपना भाषण शुरू कर देते थे और हम भी अपना तर्क देते हुए कहते थे कि हम ऐसा क्यों कर रहे हैं इसके दो उदाहरण तो मुझे अच्छी तरह याद हैं। एक बार वे हमारे पास मुंबई आए और मेरे पास्टर के बारे में उन्होंने कहा कि मैं ऐसा दिखाई देता हूं जैसे कि मस्त भालू चल रहा है। एक ऐसे ही अवसर पर उन्होंने मेरे आलसीपन पर टिप्पणी की और कहा कि जब मैं तुम्हारी उम्र का था तो स्कूल पहुंचने के लिए कई किलोमीटर साइकिल पर जाया करता था।

मैंने उनमें आधुनिकता और पौराणिकता दोनों के दर्शन किए। क्या आप एक ऐसे नाना की कल्पना कर सकते हैं जो अपने दौहित्र के साथ घर बैठकर 'पल्प फिक्शन', हॉलीवुड जैसी मार धाड़ वाली फिल्में देखता हो। सप्ताहांत में जब नानाजी लखनऊ में अपने घर पर शास्त्रीय संगीत सुनते थे तो वे मुझे मेरी पुरानी बोरियत (लॉ मार्टिनियर स्कूल के दिनों की) याद दिलाते थे। एक दिन उन्होंने देखा कि मेरे पास संगीत की बहुत ही कैसेट हैं, तो उन्होंने वे टेप देखनी चाहीं। मैंने उन्हें चिढ़ाते हुए कहा कि इन्हें देखने का क्या फायदा है जबकि आप तो हमेशा शास्त्रीय संगीत सुनते हैं और यह सभी टेप वेस्टर्न शॉप और हार्ड रॉक म्यूजिक की हैं। पता है, उन्होंने ये टेप न केवल मेरे लिए चलाई, बल्कि उस जमाने के पश्चिमी संगीतकारों के बारे में काफी चर्चा की। नानाजी च में बड़े ही प्रिय और दयालु व्यक्ति हैं।

देविका मेहता

बचपन से ही हमारे जीवन में नाना जी का विशेष स्थान रहा। हम सभी के लिए वे ऊर्जा का सतत स्रोत रहे हैं।

1981 से 1987 के दौरान (जब मेरी उम्र तीन साल से भी कम रही होगी), मैं अपने माता-पिता और भाई के साथ पूर्वी मलेशिया में रही हूं। जब भी हम छुट्टी मनाने के लिए भारत आते थे, दो जगह जरूर जाते थे, एक अपने दादा जी और दादी जी के घर लुधियाना में, और दूसरे अपने नानाजी और नानाजी के घर लखनऊ।

मेरे नानाजी को मुझसे कविताएं सुनना और गाने सुनना बड़ा अच्छा लगता था, खासकर वे मुझे भरतनाट्यम की शुरुआती अभ्यास करते देख बहुत आनंदित होते थे। उन दिनों पांच वर्ष की आयु में मैंने भरतनाट्यम सीखना शुरू किया ही था। मुझे याद है कि मैंने नानाजी, नानीजी और परिवार के अन्य सदस्यों के सामने नृत्य किया था (पूरी तरह से भरतनाट्यम नृत्य की वेशभूषा, आभूषण और मेकअप में) नानाजी और नानीजी दोनों ही मेरा नृत्य देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए और उन्होंने मुझे भविष्य में भी नृत्य सीखने के लिए प्रोत्साहित किया। मैंने नृत्य पूरा सीखा भी। हमारे अन्य गतिविधियों में भी उन्हें काफी रुचि थी जैसे तैराकी, टेबिल-टैनिस ओर कराटे आदि।

मैं कभी नहीं भुला सकती कि जब वे हमें अपने साथ, हजरत गंज, अमीनाबाद और भूतनाथ घुमाने ले जाते थे। बड़ा मजा आता था–मिठाइयां, आइसक्रीम और चाट खाने को मिलती थी। ऐसे में नाना जी भी बच्चे बन जाते थे और खूब मजा लिया करते थे। आखिर नानीजी को कहना ही पड़ जाता "अरे! अब बस भी कीजिए, आपको इतना मीठा खाना मना है।"

जैसे-जैसे मैं बड़ी हुई, मैंने गौर किया कि नानाजी अपना कमरा बहुत साफ-सुथरा और सजाकर रखते थे। पुस्तकें तथा हर चीज अपनी-अपनी जगह होती थीं। लगभग सभी मामलों में, चाहे वह कपड़ों का मामला हो या घर की साज-सज्जा का, उनकी पसंद बड़ी सादगीपूर्ण, सरल और सुरुचिपूर्ण होती थी।

जब मैं मलेशिया से वापिस भारत आई, शायद 1987 में, मेरी हिन्दी अच्छी नहीं थी क्योंकि मलेशिया में मलाई भाषा के माध्यम से पढ़ती थी। मेरे माता-पिता ने मुझे हिन्दी पुस्तकें पढ़ने की सलाह दी। धीरे-धीरे मेरी हिन्दी सुधरने लगी। अपनी किशोरावस्था के आरंभिक वर्षों में मैं यह जान पाई कि वे तो एक महान साहित्यिक हस्ती हैं। मुझे उनकी नातिन होने का गर्व है।

तन्वी

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के साहित्यकार की पोती होने पर मुझे गर्व है। उन्हें साहित्य-जगत में अनेक सम्मान मिले हैं, लेकिन मुझे सिर्फ यश-भारती सम्मान समारोह में जाने का अवसर प्राप्त हुआ। मेरा हृदय अपने बाबा की मुख्यमंत्री द्वारा प्रशंसा सुनकर गद्गद हो उठा जिस

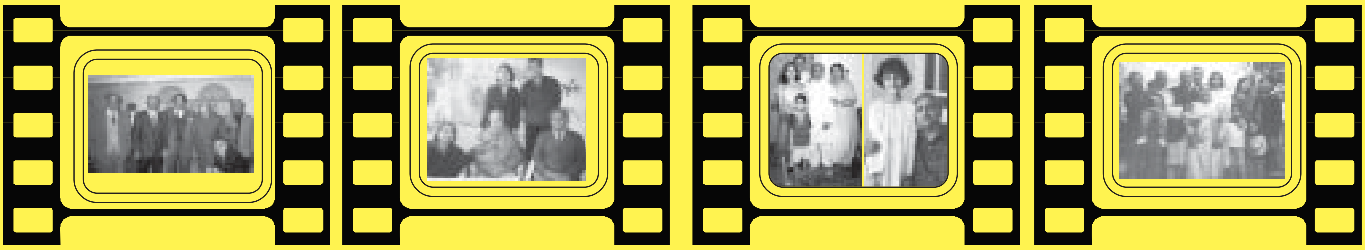

समय उन्हें मुख्यमंत्री जी अंगवस्त्र एवं सम्मान भेंट कर रहे थे, उस समय मुझे ऐसा लगा कि मेरे बाबा से महान हस्ती कोई हो ही नहीं सकती। जब पत्रकारों और टेलीविजन वालों ने उन्हें घेर लिया तो मैं भी भीड़ को चीरती हुई अंदर गई और पत्रकारों से अपने बाबा की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगी।

साहित्य-जगत की इतनी बड़ी हस्ती होने के बावजूद वे अत्यंत सरल एवं शांत स्वभाव के व्यक्तित्व के मालिक हैं।

लुका-छिपी का खेल तो मैंने सबसे पहले अपने बाबा के साथ ही खेला था। यह उस समय की बात है, जब मैं स्प्रिंगडेल स्कूल में के.जी. की छात्रा थी।

मेरे बाबा मेरे सारे नखरे उठाते थे। जब मैं छोटी थी, तो वे नवम्बर की बारिश में मेरी जिद पूरी करने के लिए अपनी फिएट लेकर पूरे बाजार में घूम कर एक खिलौने वाला तोता ढूँढ़कर लाए। मैं भी अपने बाबा से इतना प्यार करती हूँ जितना कि वे मुझसे करते हैं, इसलिए मैंने निश्चय किया है कि मैं भी खूब पढ़ूँगी और उनका नाम रोशन करूँगी, जो कि मैंने अपने दसवीं और बारहवीं के परिणामों में दिखाया।

उत्कर्ष शुक्ला

लेखक होने के साथ-साथ वह एक बहुत अच्छे और प्यारे इंसान भी हैं। मैं उन्हें बहुत प्यार करता हूँ और उन्हें अपना अच्छा दोस्त मानता हूँ, क्योंकि वे मेरे साथ क्रिकेट मैच देखते हैं और हमदोनों मिलकर खूब टिप्पणियाँ करते हैं। जब मेरे साथ कोई नहीं खेलता, तब वह मेरे साथ क्रिकेट भी खेलते हैं। मैं उन्हें खूब थकाता हूँ। वे मुझे अच्छी बातें समझाते हैं, इसलिए स्कूल से आने के बाद मैं भी उन्हीं के साथ रहता हूँ। रात में जब मैं उनके साथ सोता हूँ, तब वे मुझे अपने बीते दिनों के अच्छे-अच्छे किस्से सुनाते हैं। बस उनकी एक बात मुझे अच्छी नहीं लगती कि वे मुझे हर वक्त कुछ न कुछ खाने को कहते रहते हैं, जिससे मैं चिढ़ता हूँ और मम्मी से डाँट खाता हूँ।

मैं जब अपने बाबा की पहले की फोटोग्राफ देखता हूँ तब मुझे ऐसा लगता है कि जिन बूढ़े बाबा के साथ मैं रहता हूँ, वे कभी इतने हैण्डसम हुआ करते थे। मेरे बाबा मुझे छोड़कर लखनऊ से बाहर अब ज्यादा इसलिए नहीं जाते क्योंकि उनको मेरी बहुत याद आती है। वे जब कभी किसी सम्मेलन के सिलसिले में विदेश जाते हैं, तो वे रोज मुझे फोन करते हैं और मेरी पसंदीदा टॉफी-चाकलेट लाना नहीं भूलते। जब मैं कभी टी.वी. देख रहा होता हूँ और बाबा मुझे बीच में टोककर पूछते हैं, कि ये कौन-सा सीरियल है? तो मैं चिढ़कर कहता हूँ बाबा! प्लीज आप अपनी न्यूज देखें, और मुझे डिस्टर्ब न करें। इस पर उनका उत्तर होता है कि बेटा! जब तुम बाबा बनोगे, तब पता चलेगा।

नंदिनी माथुर

जहाँ तक भारतीय साहित्य का सवाल है, नाना जी 20वीं सदी के बहुत महत्वपूर्ण और व्यापक रूप से पढ़े जाने वाले लेखकों में से एक हैं। उनकी लोकप्रियता का अंदाजा मुझे तब हुआ जब कोई 6-8 साल पहले हमारे पड़ोसी जिन्हें 'राग दरबारी' के लेखक से मेरा रिश्ता मालूम हुआ तो मुझसे बोले कि बेटा जब नाना लखनऊ से आएं तो मुझे जरूर बताना। मैं सिर्फ एक बार उनके पांव छूना चाहता हूँ। प्लीज भूलना नहीं, बताना जरूर। उनके ये कहने के बाद नाना यहां कई बार आए लेकिन मैंने अंकल को नहीं बताया क्योंकि मुझे लगा कि यदि अंकल मुझे जो कह रहे थे, उन्होंने ऐसा किया तो नाना को तो यह बहुत अजीब लगेगा ही, साथ में मुझे भी बहुत अटपटा लगेगा।

लखनऊ में नाना जी का कमरा किताबों से भरा हुआ है। हर शैल्फ, कोई भी, छोटा-बड़ा कोना, डेस्क और अलमारियां किताबों से भरी पड़ी हैं। मैं जानती हूँ ज्यादातर लोग सभी लेखकों से ऐसी ही उम्मीद करते हैं लेकिन ये कम ही लोग जानते हैं कि विविध प्रकार की पुस्तकों का जितना बड़ा संकलन उनके पास है वैसा और कहीं नहीं होगा। मेरी जानकारी में कोई औंर ऐसा नहीं है जो इतनी सारी किताबों और लेखकों के बारे में, चाहे वे भारतीय हों या विदेशी, इतनी गंभीरता से लिख व बोल सकता हो। वास्तव में, जहां तक ज्ञान और सामान्य जानकारी की बात है, वो आपको भारत की वर्तमान राजनीति के हाल से लेकर मुम्बई में इन दिनों धूम मचा रहे म्यूजिक डायरेक्टर तक किसी भी विषय की जानकारी दे सकते हैं। उनसे ज्ञान और चरित्र के क्षेत्रों में बहुत कुछ सीखा जा सकता है। मेरे हिसाब से वे सबसे ईमानदार, बुद्धिमान और विनीत व्यक्तियों में से एक हैं। कुछ अंग्रेजी उपन्यास जो विभिन्न कारणों से मैं पढ़ना नहींचाहती थी, उनके नाम मुझे नाना ने ही सुझाए। मुझे इस बात की बहुत खुशी है कि मैंने उनके कहने पर इन्हें पढ़ा क्योंकि उनमें से कुछ उपन्यास आज मेरे मनपसंद हैं। अब मैं बड़ी उत्सुकता से उस दिन का इंतजार कर रही हूं जब नाना मुझे मेरी पसंदीदा किताबों की सूची में राग दरबारी को सबसे ऊपर रखने की इज़ाजत देंगे।

प्लीज नाना, अब तो मैं बड़ी हो गई हूं।

संकलन - रामविलास शास्त्री
शॉप नंबर-4
शॉपिंग कॉम्प्लै
सूरजकुंड रोड, ईरोज गार्डन, फरीदाबाद (हरियाणा)

सूनी घाटी का सूरज

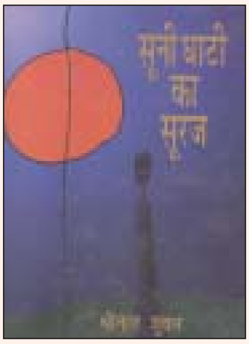

'सूनी घाटी का सूरज' एक ग्रामीण युवक के बारे में है जो शिक्षित और प्रतिभाशाली होने के बावजूद स्वयं को एक ऐसे समाज में पाता है, जहां उसकी सोच, आदर्शों और गुणों के व्यापारी प्रतिष्ठिता हैं। लेकिन उस बाजार में अपनी गुणवत्ता और उपयोगिता को साबित करने के लिए उसके पास न तो सिफारिश है, न उसके संबंध किसी 'बड़े' से हैं और न ही रिश्वत देने के लिए उसके पास धन है। उसने अपने पिता को कर्जदार होकर एक खानदानी ठाकुर क यहां बधुआं जैसा जीवन जीते देखा है, और उनकी मृत्यु के बाद उसकी अपनी पढ़ाई एक हैडमास्साब के पास अनाथ की तरह रहकर, सेवा करके और फिर ट्यूशनें आदि करके पूरी हुई, इसी तरह उसने एक मेधावी छात्र के रूप में प्रथम श्रेणी की डिग्रियां हासिल कीं। लेकिन अपनी उन सीमाओं के चलते जिनके लिए वह खुद नहीं, बल्कि व्यवस्था जिम्मेदार है, वह अपने लिए कहीं जगह नहीं पाता। फलस्वरूप युग के आकर्षण, अतीत की प्रताड़ना और वर्तमान की निराशा को झाड़कर वह उसी अंधेरी और सुनसान घाटी में उतरने का फैसला करता है, जहां उसकी सर्वाधिक आवश्यकता है।

राग दरबारी

राग दरबारी एक उपन्यास है जो गांव की कथा के माध्यम से आधुनिक भारतीय जीवन की मूल्यहीनता को सहजता और निर्ममता से अनावृत करता है। शुरू से आखीर तक इतने निस्संग और सोद्देश्य व्यंग्य के साथ लिखा गया हिन्दी का शायद यह पहला वृहत् उपन्यास है।

फिर भी राग दरबारी व्यंग्य-कथा नहीं है। इसका संबंध एक बड़े नगर से कुछ दूर बसे हुए गांव की जिंदगी से है, जो इतने वर्षो की प्रगति और विकास के नारों के बावजूद निहित स्वार्थो और अनेक अवांछनीय तत्वों के सामने घिसट रही है। यह उसी जिंदगी का दस्तावेज है।

1968 में राग दरबारी का प्रकाशन एक महत्वपूर्ण साहित्यिक घटना थी। 1970 में इसे साहित्य अकादमी पुरस्कार से

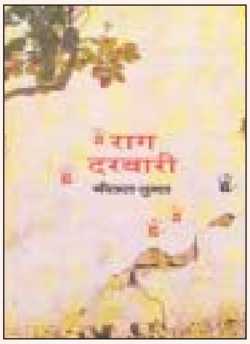

सम्मानित किया गया और 1986 में एक दूरदर्शन- धारावाहिक के रूप में इसे लाखों दर्शकों की सराहना प्राप्त हुई।

वस्तुतः राग दरबारी हिन्दी के कुछ कालजयी उपन्यासों में एक है।

आदमी का जहर

'आदमी का जहर' एक रहस्यपूर्ण अपराध कथा है। इसकी शुरूआत एक ईर्ष्यालु पति से होती है जो छिपकर अपनी रूपवती पत्नी का पीछा करता है और एक होटल के कमरे में जाकर उसके साथी को गोली मार देता है। पर दूसरी ही दिन वह साधारण दिखनेवाला हत्याकांड अचानक असाधारण अन जाता है और घटना को रहस्य की घनी परछाइयां ढकने लगती हैं।

उसके बाद के पन्नों में हत्या और दूसरे भयंकर अपराधों का घना अंधेरा है जिसकी कई पर्तो से हम पत्रकार उमाकांत के साथ गुजरते हैं। घटनाओं का तनाव बराबर बढ़ता जाता है और अंत में वह जिस अप्रत्याशित बिंदु पर टूटता है, वह नाटकीय होते हुए भी पूरी तरह विश्वासनीय है।

सामान्य पाठक समुदाय के लिए हिन्दी में शायद पहली बार एक प्रतिष्ठित लेखक ने ऐसा उपन्यास लिखा है। इसमें पारम्परिक जासूसी कथा-साहित्य की खूबियां तो मिलेंगी ही, सबसे बड़ी खूबी यह है कि कथा आज की सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों के बीच से निकली है। इसमें संदेह नहीं कि यह उपन्यास, जिसे लेखक खुद मनोरंजन-भर मानता है, पाठकों का मनोरंजन तो करेगी ही, उन्हें कुछ सोचने के लिए भी मजबूर करेगा।

सीमाएं टूटती हैं

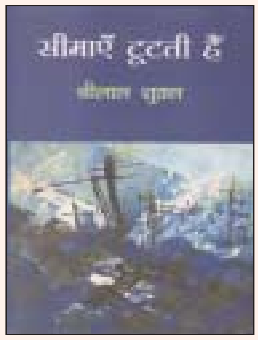

दुर्गादास को एक हत्या के जुर्म में जनम-कैद हो गई है। उसके बाद ही मानवीय संबंधों की हत्या के प्रयास और उन संबंधों की सर्वोपरिता की यह कथा शुरू होती है।

इसमें जिस बहुरंगी संसार की रचना हुई है, वहां वास्तविक संसार जैसा ही उलझाव है। उसकी विशृंखलता में एक ओर कोई तारानाथ पारम्परिक विश्वासों के सहारे व्यवस्था खोजने की कोशिश करता है और उस प्रक्रिया में अपने को खड़ा करने की ताकत पाता है, दूसरी ओर कोई विमल किसी भी स्थिति के लिए अपने को पहले से तैयार न पाकर सिर्फ कुछ होने की प्रतीक्षा करता रहता है। और धर्म, प्रेम और अपराध-जैसी तर्कातीत वृत्तियों में बंधी हुई

जिंदगी इस अव्यवस्थित उलझाव से निरंतर जूझती रहती है।

अपराध-कथा के-से प्रवाहवाली यह रचना वास्तव में वृहत्तर जीवन की कथा है जो पाठक को सहज अवरोह के साथ अंत तक लाते-लाते उसे मानवीय नियति की अप्रत्याशित गहराइयों में उतार देती है।

सुविख्यात उपन्यास 'राग दरबारी' की रचना के पांच साल बाद प्रकाशित होने वाला श्रीलाल शुक्ल का यह उपन्यास उनकी अन्य कृतियों से सर्वथा भिन्न है और उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा के कई ऐसे आन्तरिक स्त्रोतों का परिचय देता है जिनका उपयोग हिन्दी कथा-साहित्य में प्राय: विरल है।

मकान

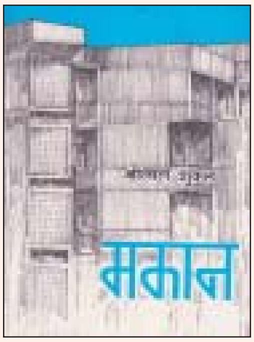

नारायण एक सितार वादक है। जीविका के लिए वह परिवार को दूसरी जगह छोड़कर अपने पुराने शहर में आता है और यहीं से मकान की तलाश शुरू होती है। इस दौरान उसका सितार से साथ छूटने लगता है, और अब वह जिनके साथ जुड़ता है उनमें मकान बांटने वाला अफसर है, कर्मचारी-यूनियन का नेता बारीन हालदार है, पुरानी शिष्या श्यामा है, वेश्या-पुत्री सिम्मी है और वे तमाम तत्व हैं जो जिंदगी के बिखराव को तीखा बनाते हैं।

इस संघर्ष, शोषण और अव्यवस्था के दौर से गुजरते हुए तीक्ष्ण प्रतिक्रियाएं व्यक्त होती हैं: 'मजाक देखा तुमने? हम आसमान में उपग्रह उड़ा सकते हैं पर इस निगम के सीवेज के लिए मशीनों का जुगाड़ नहीं कर सकते। यहां सीवेज की सफाई के लिए तो बलि के बकरे चाहिए, पर बिस्कुट बनाने के लिए यहां नयी से नयी मशीनें मौजूद हैं...'

'जैसे कुछ तांत्रिक लोग शराब पीने से पहले मां काली के नाम पर दो-चार बूंदें जमीन पर छिड़क देते हैं, वैसे ही हाउसिंग की पूरी-पूरी स्कीम गटकने से पहले चतुर लोग हरिजनों के नाम पर दस-बीस प्लाट निकाल देते हैं. . .' उपन्यास का अंत सर्वथा अप्रत्याशित मोड़ पर होता है।

'मकान' यशस्वी कथाकार श्रीलाल शुक्ल की बहुप्रशंसित कृति है। वस्तुत: संगीत की पृष्ठभूमि में कलाकार के जीवन की आकांक्षाओं, जिम्मेदारियों, विसंगतियों और तनावों को केंद्र बनाकर लिखा गया हिन्दी में अपनी तरह का यह पहला उपन्यास है।

यह घर मेरा नहीं

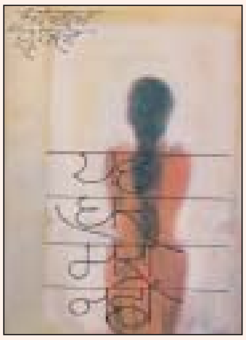

यह संग्रह श्रीलाल शुक्ल की अपेक्षाकृत कम परिचित कृतियों का महत्त्वपूर्ण संकलन है। उन्हीं के शब्दों में :

'यह संग्रह सही अर्थ में संग्रह है। जो कुछ भी किसी लायक जान पड़ा, उसे इसमें शामिल कर लिया गया है। इसमें मेरी कई कहानियां, टिप्पणियां और निबंध बिना किसी खास योजना के संगृहीत किए गए हैं। पर शायद इसके सहारे पाठकों का मेरे लेखन के कुछ अपेक्षाकृत अल्पविदित पक्षों से परिचय हो सके। कम से कम मेरे लिए इसकी इतनी सार्थकता तो है ही।

'संग्रहित कहानियां लगभग बत्तीस साल की अवधि में लम्बे अंतरालों के बाद लिखी गयी हैं। 'सर का दर्द' और 'अपनी पहचान' प्रागैतिहासिक काल की, यानी 1946-47 में मेरे छात्र-जीवन की हैं। 'छुट्टियां' जून, 1978 की है। अधिकांश निबंध और टिप्पणियां आठवें और नवें दशक की हैं।'

समकालीन साहित्य में दस्तावेजी महत्व के इस संकलन को जोड़ते हुए किताबघर हर्ष और गौरव का अनुभव कर रहा है।

उमरावनगर में कुछ दिन

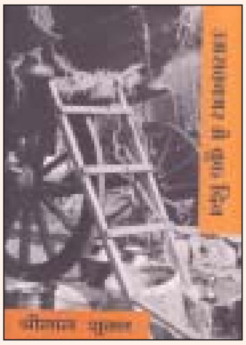

श्रीलाल शुक्ल की प्रस्तुत पुस्तक में तीन व्यंग्य कथाएं सम्मिलित हैं– 'उमरावनगर में कुछ दिन', 'कुंती देवी का झोला' और 'मम्मीजी का गधा'।

जैसाकि नाम से स्पष्ट है, संग्रह की आधार-कथा है : 'उमरावनगर में कुछ दिन'। उमरावनगर यानी एक ऐसा गांव, जिस नियोजित विकास का चमत्कार दिखाने के लिए चुना गया है, लेकिन जिसके सार्वजनिक जीवन में आजादी के बाद पनपे सारे अवसरवाद और भ्रष्टाचार के साथ हुए तमाम समझौते मौजूद हैं। 'कुन्ती देवी का झोला' में डाकुओं और पुलिस के आतंकवाद का बेजोड़ चित्रण है, जिसका शिकार अन्तत: निर्दोष जनता को बनना पड़ता है। 'मम्मीजी का गधा' में अफसरशाही के अहं को विषय बनाया गया है और प्रसंगत: इस बात की भी खबर ली गई है कि नेता लोग अर्थहीन-सी स्थितियों का किस प्रकार लाभ उठाते हैं।

निश्चय ही यह संग्रह श्रीलाल शुक्ल की सुपरिचित व्यंग्य-प्रतिभा को नई ऊंचाई सौंपता है।

पहला पड़ाव

'राग दरबारी'- जैसे कालजयी उपन्यास के रचयिता श्रीलाल शुक्ल हिन्दी के वरिष्ठ और विशिष्ट कथाकार हैं। उनकी कलम जिस निस्संग व्यंग्यात्मकता से समकालीन सामाजिक यथार्थ को परत-दर-परत उघाड़ती रही है, पहला पड़ाव उसे और अधिक ऊंचाई सौंपता है।

श्रीलाल शुक्ल ने अपने इस नए उपन्यास

को राज मजदूरों, मिस्त्रियों, ठेकेदारों, इंजीनियरों और शिक्षित बेरोजगारों के जीवन पर केन्द्रित किया है और उन्हें एक सूत्र में पिरोय रखने के लिए एक दिलचस्प कथाफलक की रचना की है। संतोष कुमार उर्फ सते परमात्मा जी की बनती हुई चौथी बिल्डिंग की मुंशीगीरी करते हुए न सिर्फ अपनी डेली-पैसिंजरी, एक औसत गांव-देहात और 'चल-चल रे नौजवान' टाइप ऊंचे संबोधनों की शिकार बेरोजगार जिंदगी की बखिया उधेड़ता है, बल्कि वही हमें जसोदा उर्फ 'में साहब' जैसे जीवंत नारी चरित्र से भी परिचित कराता है। इसके अलावा उपन्यास के प्रायः सभी प्रमुख पात्रों को लेखक ने अपनी गहरी सहानुभूति और मनोवैज्ञानिक सहजता प्रदान की है और उनके माध्यम से विभिन्न सामाजिक-आर्थिक अंतर्विरोधों, उन्हें प्रभावित-परिचालित करती हुई शक्तियों और मनुष्य-स्वभाव की दुर्बलताओं को अत्यंत कलात्मकता से उजागर किया है।

वस्तुतः श्रीलाल शुक्ल की यह कथाकृति बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में ईंट-पत्थर होते जा रहे आदमी की त्रासदी को अत्यंत मानवीय और यथार्थवादी फलक पर उकेरती है।

कुछ जमीन पर : कुछ हवा में

हिन्दी व्यंग्य-विधा को रचनाकारों ने सार्थकता सौंपी है, श्रीलाल शुक्ल उनकी पहली पंक्ति में गण्य हैं। हिन्दी जगत में उन्हें यह सम्मान 'राग दरबारी' और 'पहला पड़ाव' जैसे विशिष्ट उपन्यासों के कारण तो प्राप्त है ही, अपने व्यंग्यात्मक निबंधों के लिए भी है। यहां से वहां, अंगद का पांव और उमराव नगर में कुछ दिन उनकी पूर्व प्रकाशित व्यंग्य-कृतियां हैं और इस क्रम में यह

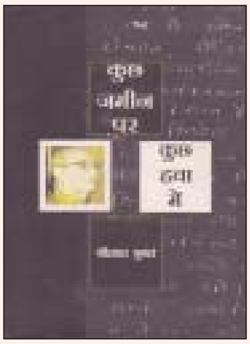

उनकी चौथी महत्त्वपूर्ण कृति है।

इन निबंधों में श्रीलाल शुक्ल की रचना-दृष्टि विभिन्न वस्तु-सत्यों को उकेरती दिखाई देती है। इनमें से पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निबंधों के लिए 'जमीन पर' और रेडियों तथा दूरदर्शन से प्रसारित निबंधों के लिए 'हवा में' कह कर भी उन्होंने जिस व्यंग्यार्थ की व्यंजना की है, उसकी जद में सर्वप्रथम वे स्वयं भी आ खड़े हुए हैं। इसमें उनके व्यंग्य की ईमानदारी भी है और अंदाज भी। सामाजिक विसंगतियों, विडंबनाओं और समकालीन जीवन की विकृतियों की बेलाग शल्य-चिकित्सा में उनका गहरा विश्वास है। साहित्य, कला, संस्कृति, धर्म, इतिहास और राजनीति– किसी की भी रूग्णता उनके सोद्देश्य व्यंग्योपचार का विषय हो सकती है। इसके अतिरिक्त यह संग्रह कुछ वरिष्ठ रचनाकारों को उनकी समग्र सृजनशीलता के संदर्भ में समझने का भी अवसर जुटाता है।

कहना न होगा कि श्रीलाल शुक्ल की यह व्यंग्य कृति हिन्दी व्यंग्य को कुछ और समृद्ध करने में सहायक होगी।

सुरक्षा और अन्य कहानियां

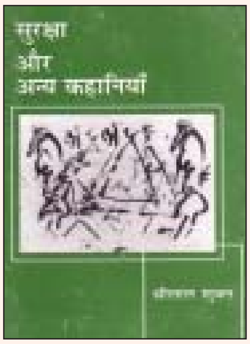

हिन्दी साहित्य में श्रीलाल शुक्ल का नाम आज किसी परिचय का मोहताज नहीं है। राग दरबारी, सीमाएं टूटती हैं तथा पहला पड़ाव आदि उपन्यासों और अंगद का पांव, यहां से वहां तथा उमरावनगर में कुछ दिन आदि व्यंग्य-संग्रहों के माध्यम से उन्होंने अपने पाठकों के साथ जो तादात्म्य स्थापित किया है, वह हिन्दी साहित्य की एक विरल घटना है।

सुरक्षा और अन्य कहानियां शुक्लजी की चर्चित कहानियों का महत्त्वपूर्ण संकलन है। सामाजिक सरोकारों से सुगुंफित ये कहानियां हमें भावोद्वेलित ही नहीं करतीं, सामाजिक विद्रूपताओं से रू-ब-रू भी कराती हैं।

श्रीलाल जी अभी तक उपन्यासकार और व्यंग्यकार के रूप में ही जाने जाते रहे हैं, किन्तु यह कहानी-संग्रह शुक्लजी को एक सशक्त कहानीकार के रूप में भी सभादृत करता है।

बिस्रामपुर का सन्त

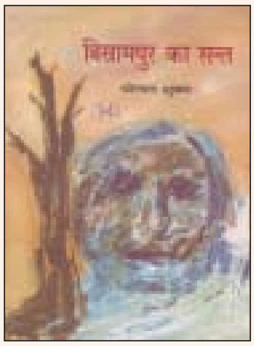

'बिस्रामपुर का संत' समकालीन जीवन की ऐसी महागाथा है जिसका फलक बड़ा विस्तीर्ण है और जो एक साथ कई स्तरों पर चलती है।

एक ओर यह भूदान आन्दोलन की पृष्ठभूमि में स्वातंत्र्योत्तर भारत में सत्ता व्याकरण और उसी क्रम में हमारी लोकतांत्रिक त्रासदी की सूक्ष्म पड़ताल करती है, वहीं दूसरी ओर एक भूतपूर्व ताल्लुकेदार और राज्यपाल कुंवर जयंती प्रसाद सिंह की अंतर्कथा के रूप में महत्त्वाकांक्षा, आत्मछल, अतृप्ति, कुंठा आदि की जकड़ में उलझी हुई जिंदगी को पर्त-दर-पर्त खोलती है। फिर भी इसमें सामंती प्रवृत्तियों की हासोन्मुखी कथा भर नहीं है, उसी के बहाने जीवन में सार्थकता के तंतुओं की खोज के सशक्त संकेत भी हैं।

यह और बात है कि कथा में एक अप्रत्याशित मोड़ के कारण, जैसा कि प्राय: होता है, यह खोज अधूरी रह जाती है।

'राग दरबारी' के सुप्रसिद्ध लेखक श्रीलाल शुक्ल की यह नवीनतम कृति, कई आलोचकों की निगाह में, उनका सर्वोत्तम उपन्यास है।

राग विराग

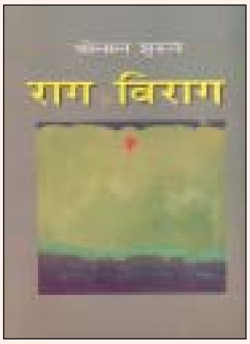

सुप्रसिद्ध कथाकार श्रीलाल शुक्ल की रचनाशीलता का नव्यतम और विशिष्ट पड़ाव है– 'राग दरबारी'। प्रेमकथा के ताने-बाने से बुना गया यह लघु उपन्यास सामाजिक जीवन की अनेक जटिलताओं से टकराते हुए जाति, वर्ग, संस्कृति, बाजारवाद आदि के अनेक धूसर-चटख रंग उपस्थित करता है। संभवत: 'राग दरबारी' हिन्दी का पहला ऐसा उपन्यास है, जो प्रेमकथा के जरिए हमारे ऊबड़-खाबड़ राष्ट्रीय यथार्थ का पाठ प्रस्तुत करता है। इसीलिए प्रेमकथा की रूढ़ियों को जबरदस्त ढंग से ध्वस्त करती हुई यह रचना प्रेमकथा की नई संभावनाओं और सामर्थ्य का दृष्टांत बन जाती है।

यहां श्रीलाल शुक्ल ने अपनी बहुचर्चित शिल्पगत प्रविधियों को तजकर उपन्यास में नाट्य-लेखन शैली का प्रयोग करते हुए वर्णन और विस्तार को अवकाश जैसा दे दिया है। यथार्थ को विस्तार देने के बजाय विस्तृत यथार्थ' को कथा में स्थान देने का प्रयास उपन्यास को बड़े संदर्भों और गहरी अर्थवत्ता से जोड़ता है।

भावुकता से दूर रहने वाला किन्तु भावप्रवण-कलावादी नुस्खों से बहुत दूर किन्तु कलात्मक यह उपन्यास प्रसन्नता और अवसाद, लगाव और अलगाव, गांव-शहर, देश-परदेस, राग विराग, बेसिक कल्चर और ओढ़ी हुई कल्चर, दारिद्य-अमीरी के फर्क और संघर्ष की कथा है।

मेरे साक्षात्कार : श्रीलाल शुक्ल

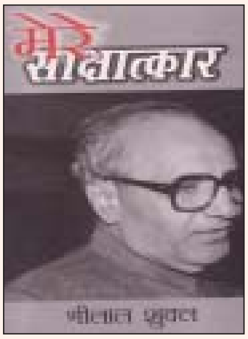

यशस्वी उपन्यासकार श्रीलाल शुक्ल का साहित्यिक परिचय उनके प्रसिद्ध उपन्यासों– 'राग दरबारी', 'मकान', 'पहला पड़ाव' या 'बिस्रामपुर का संत' आदि में ही सीमित नहीं है बल्कि वे एक कुशल व्यंग्यकार के रूप में भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। हिन्दी के उन अग्रणी लेखकों में वे प्रमुख हैं जिनकी उपस्थिति से हिन्दी साहित्य की उच्च रचनात्मकता के प्रति हम आश्वस्त हैं।

किताबघर प्रकाशन की महत्त्वाकांक्षी 'मेरे साक्षात्कार' सीरीज में श्रीलाल शुक्ल की कृति का शामिल होना इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वे निजी जीवन को पाठकों के सामने लाने में संभवत: सकुचाते रहे हैं या फिर संयोगवश वैसा नहीं हो पाया है। इन साक्षात्कारों में अनेक ऐसे निजी प्रश्न हैं जिनका उन्होंने उत्तर देकर अपने जीवन को अंशत: खोला है। अवधारणाएं चाहे जीवन की हों अथवा साहित्य की– उन्होंने सुविचारित रूप से, एक बौद्धिक समाधान प्रश्नकर्ता के समक्ष रखा है। इन साक्षात्कारों को श्रीलाल शुक्ल ने 'मैत्री-प्रेरित साहित्यिक घेरेबंदी का परिणाम' कहा है मगर इनकी चौकस भाषा और संप्रेषणीयता यह बताती है कि विचार और जीवनशैली की साम्यता सेही उत्कृष्ट लेखन की अजस्त्र धारा प्रवाहित हो सकती है जो कि उनके लेखन में अद्यतन देखी जा सकती है।

इन साक्षात्कारों में लेखक मात्र अपनी कृतियों का आस्वाद और जीवन का गूढ़ार्थ बताने ही में नहीं रमा रह जाता, वह व्यापक जीवन दृष्टि का परिचय देते हुए समाज के अन्य क्षेत्रों पर भी विचार प्रकट करता है। अपनी रूचि के लेखकों का नामोल्लेख करने में वह सकुचाता नहीं है बल्कि व्यंग्य शैली को अपनाने वाले लेखकों-भारतेंदु से लेकर उदय प्रकाश तक तथा निराला से लेकर धूमिल तक–का सममान रेखांकित करता है।

व्यंग्य-लेखन पर ऐसी सिद्ध चर्चा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है, जैसी कि इन साक्षात्कारों में गुंथी हुई है। अपने व्यंग्य-लेखन पर श्रीलाल शुक्ल विमुग्ध नजर नहीं आते बल्कि व्यंग्य-लेखन की परंपरा को वे विशिष्ट स्तर पर समकालीन लेखन में समाहित करने की पक्षधरता लेते प्रतीत होते हैं। इन साक्षात्कारों में पाठक को बहुरंगी साहित्यिक परिदृश्य का प्रतिबंब स्पष्टतर दिखाई देगा– इस तथ्य में भी कोई संदेह नहीं।

इस उम्र में

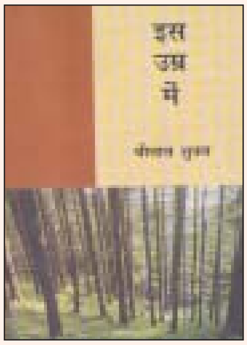

हिन्दी साहित्य के शिखर रचनाकार श्रीलाल शुक्ल की नई कहानियों का संग्रह है 'इस उम्र में'! यह एक अप्रतिम लेखक की अपने सामाजिक यथार्थ पर अचूक पकड़ और उसे बयान करने की उसकी अद्भुत कला का साक्ष्य है। इसकी कहानियां हिन्दी कहानी की रूढ़ियों, फार्मूलों, रवायतों से दूर खड़ी हैं और रचना के संसार में नई निर्मितियां तैयार कर रही हैं।

'इस उम्र में' की कहानियां तीक्ष्ण अन्वीक्षण क्षमता से सम्पन्न होकर भारतीय समाज की गहन मीमांसा करती हैं। इनमें मौजूदा समय में प्रकट हो रहे नये बदलावों की संवेदनात्मक आहटें हैं। यहां तक कि कई समसामयिक घटनाएं, प्रवृत्तियां और रुझान भी दर्ज हैं। न केवल इतना, श्रीलाल शुक्ल ने सामाजिक संरचना में तेजी से उभर

रहीं नई शक्तियों के प्रतिरोध और परिवर्तन को भी पहचान कर उसे प्रकट किया है।

'इस उम्र में' की कहानियों में कई बार पुरानी वास्तविकता को नई जीवनदृष्टि से उलट-पुलट दिया जाता है तो कई बार नई पीड़ाओं, दुखों और क्रूरताओं को पुरानी धारणाओं के प्रहसनात्मक विखंडन के जरिए उजागर किया गया है। श्रीलाल शुक्ल यहां अभिव्यक्ति के नये-पुराने रूपों में ऐसी बेमुरौव्वत तोड़-फोड़ करते हैं, फिर उनका ऐसा अजीब मिलाप कराते हैं कि समाज का चेहरा बदल जाता है।

ये कहानियां अपनी कहन शैली के लिए भी लम्बे समय तक याद की जाएंगी। वातावरण तथा चरित्रों की जैसी सघन पड़ताल और बात कहने के लिए जैसी तिर्यक भाषा 'इस उम्र में' की रचनाओं में सतत मौजूद है, वह हिन्दी कहानी में विरल है।

'इस उम्र में' की कहानियां सुविख्यात कथाशिल्पी श्रीलाल शुक्ल की अनेक कृतियों की तरह गहरी हलचल पैदा करने की सामर्थ्य रखती हैं। वे इस बात का सुराग भी देती हैं कि क्यों श्रीलाल शुक्ल की रचनाओं के प्रति लोगों में हमेशा एक उत्सुकता, इज्जत और अधीर प्रतीक्षा बनी रहती है।

जहालत के पचास साल

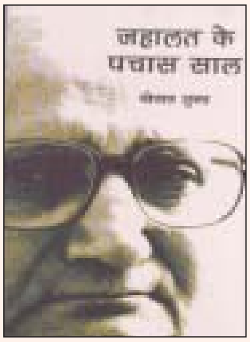

श्रीलाल शुक्ल के रचना संसार की सबसे बड़ी शक्ति है– व्यंग्य। शायद ही कोई दूसरा लेखक हो जिसने व्यंग्य का इतना विपुल, विविध और बहुआयामी उपयोग किया हो। ऐसे अद्वितीय लेखक श्रीलाल शुक्ल के लगभग सभी व्यंग्य निबंधों का संग्रह है– 'जहालत के चास साल'। इस तरह देखें तो इस पुस्तक का प्रकाशन हिन्दी जगत में एक महत्वपूर्ण घटना तो है ही, यह एक अति विशिष्ट लेखक श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य की दुनिया को भली-भाँति जानने, समझने और उसमें सैर करने का दुर्लभ अवसर भी जुटाता है।

'जहालत के पचास साल' की रचनाएं आधुनिक भारत के महान से महान व्यक्तियों, संस्थाओं, अवधारणाओं, घोषणाओं, नारों की भी गल्तियों को नहीं बख्शतीं। समाज, सभ्यता और संस्कृति के किसी भी हिस्से की चूक पर श्रीलाल शुक्ल के व्यंग्य की बेधक मार के निशाने से भरी पड़ी है यह किताब। यह कहने में हर्ज नहीं कि यदि आजादी के बाद के भारत का असली चेहरा देखना हो तो वह समाजशास्त्र और पत्रकारिता से भी ज्यादा प्रामाणिक और चाक्षुष दिखेगा 'जहालत के पचास साल' में।

'जहालत के पचास साल' की रचनात्मक उत्कृष्टता का एक स्त्रोत यह है कि इसके व्यंग्य और हल्क-फुल्केपन के पीछे श्रीलाल शुक्ल का गहन अध्यवसाय, समय की सच्ची समझ और मनुष्यता के प्रति गहरे सरोकार का बल सक्रिय रहता है। इस संग्रह की रचनाएं औसत समाज और औसत व्यंग्य-लेखन– दोनों को–कड़ी चुनौती देती हैं और फटकार लगाती हैं।

संक्षेप में कहा जाए तो 'जहालत के पचास साल' में भारतीय सत्ता और समाज की कारगुजारियों से सीधी भिड़ंत है। इस लड़ाई में भाषा के लिए एक से बढ़कर एक अमोघ अस्त्र तैयार करते हैं श्रीलाल शुक्ल।

दस प्रतिनिधि कहानियां

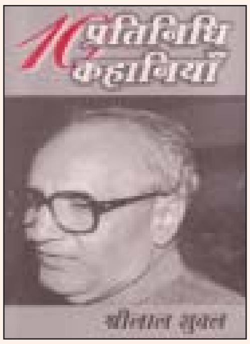

'दस प्रतिनिधि कहानियां' सीरीज 'किताबघर' की एक महत्त्वाकांक्षी कथा-योजना है, जिसमें हिन्दी कथा-जगत् के सभी शीर्षस्थ कथाकारों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस सीरीज में सम्मिलित कहानीकारों से यह अपेक्षा की गई है कि वे अपने संपूर्ण कथा-दौर से उन दस कहानियों का चयन करें जो पाठकों, समीक्षकों तथा संपादकों के लिए मील का पत्थर रही हों तथा ये ऐसी कहानियां भी हों, जिनकी वजह से उन्हें स्वयं को भी कथाकार होने को अहसांस बना रहा हो।

'किताबघर' गौरवान्वित है कि इस सीरीज के लिए अग्रज कथाकारों का उसे सहज सहयोग मिला है। जो सीरीज के अत्यंत महत्वपूर्ण कथाकार श्रीलाल शुक्ल ने प्रस्तुत संकलन में अपनी जिन दस कहानियों का प्रस्तुत किया है, वे हैं : 'इस उम्र में', 'सुखांत', 'संपोला', 'दि ग्रैंड मोटर ड्राइविंग स्कूल', 'शिष्टाचार', 'दंगा', 'सुरक्षा', 'छुटियां', 'यह घर मेरा नहीं' तथा 'अपनी पहचान'।

हमें विश्वास है कि इस सीरीज के माध्यम से पाठक सुविख्यात कथाकार श्रीलाल शुक्ल की प्रतिनिधि कहानियों को एक ही जिल्द में पाकर सुखद संतोष का अनुभव करेंगे।

खबरों की जुगाली

'खबरों की जुगाली' विख्यात रचनाकार श्रीलाल शुक्ल के लेखन का नया आयाम है। यह न केवल व्यंग्य लेखन के नजरिए से महत्त्वपूर्ण है, बल्कि समाज में चतुर्दिक व्याप्त विद्रूपों के उद्घाटन की दृष्टि से भी बेमिसाल है। साठ के दशक में श्रीलाल शुक्ल ने अपनी कालजयी कृति 'राग दरबारी' में जिस समाज के पतन को शब्दबद्ध किया था, वह आज गिरावट की अनेक अगली सीढ़ियां भी लुढ़क चुका है। उसकी इसी

अवनति का आखेट करती हैं 'खबरों की जुगाली' की रचनाएं।

ये रचनाएं वस्तुतः नागरिक के पक्ष से भारतीय लोकतंत्र के धब्बों, जख्मों, अंतर्विरोधों और गड्ढों का आख्यान प्रस्तुत करती हैं। हमारे विकास के मॉडल, चुनाव नौकरशाही, सांस्कृतिक क्षरण, विदेशनीति, आर्थिकनीति आदि अनेक जरूरी मुद्दों की व्यंग्य-विनोद से सम्पन्न भाषा में तल्ख और गम्भीर पड़ताल की है 'खबरों की जुगाली' की रचनाओं ने।

'जुगाली' को स्पष्ट करते हुए श्रीलाल शुक्ल बताते हैं– 'यह जुगाली बहुत हद तक लेखक पाठकों की ओर से, उनकी संभावित शंकाओं और प्रश्नों को देखते हुए कर रहा था। वे प्रश्न और शंकाएं अभी भी हमारा पीछा कर रही हैं।' इस संदर्भ में खास बात यह है कि उन प्रश्नों और शंकाओं के पनपने की वजह मौजूदा सामाजिक व्यवस्था का सतर्क सचेत पीछा कर रही है श्रीलाल शुक्ल की लेखनी।

संचयिता

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज को समझने के लिए जिन रचनाकारों ने अपने तर्क निर्मित किए हैं, उनमें श्रीलाल शुक्ल का महत्त्व अद्वितीय है। विलक्षण गद्यकार श्रीलाल शुक्ल वस्तुतः हमारे समय का विदग्ध भाष्य रचते हैं। उनकी सबसे बड़ी खासियत यह है कि वह जटिल और संशिलष्ट जीवन के प्रति पूर्ण सचेत दिखते हैं। उनका लेखन किसी आन्दोलन या विचारधारा से प्रभावित नहीं रहा, वह भारतीय समाज के आलोचनात्मक परीक्षण का रचनात्मक परिणाम है। राग दरबारी उनकी ऐसी अमर कृति है जिसने हिन्दी रचनाशीलता को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सुयश दिलाया।

इस संचयिता के छह भाग हैं, जिनमें उनके उपन्यास, कहानी, व्यंग्य, निबंध, विनिबंध और आलोचनात्मक रचनाएं समाहित हैं। उन तमाम चीजों को इस पुस्तक में शामिल करने का प्रयास किया गया है, जिनकी सार्थकता सार्वकालिक है।

कुछ साहित्य चर्चा भी

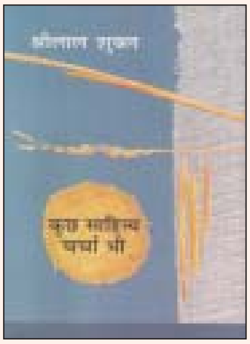

श्रीलाल शुक्ल वरिष्ठ व्यंग्य-लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने व्यंग्य का विपुल, विविध और बहुआयामी उपयोग किया है। आप उन थोड़े से भारतीय लेखकों में हैं, जिन्होंने गद्य को एक नया जीवन दिया है। उनके व्यंग्य से इतर गद्य की श्रेष्ठता का परिचय कराती है– कुछ साहित्य चर्चा भी।

यह पुस्तक तीन खंडों में विभाजित है, जिनमें श्रीलाल शुक्ल के समीक्षात्मक लेख, संभाषण, व्याख्यान और साक्षात्कार संगृहीत हैं। पढ़ीस, कबीर, निराला, यशपाल, अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा, निर्मल वर्मा, रमेशचन्द्र शाह, कुंवर नारायण, गिरिराज किशोर, श्रीराम वर्मा और नासिरा शर्मा के लेखन के बहाने श्रीलाल शुक्ल पूर्व और वर्तमान की सभ्यता-समीक्षा करते चलते हैं। समय और समाज के हर परिवर्तन-परिवर्द्धन पर उनकी दृष्टि जाती है। श्रीलाल शुक्ल की रचनाशीलता आलोचनात्मक विवेक से प्रेरित, संचालित और संयमित रही है। वे खूब पढ़नेवाले और पढ़े हुए पर अपनी राय बनानेवाले लेखकों में माने जाते हैं। उन्हें सुनना भी एक अद्भुत अनुभव होता है। पुस्तक में शामिल संभाषणों और व्याख्यानों से यह अनुमान लगाया जा सकता है।

पुस्तक में शामिल साक्षात्कार में श्रीलाल शुक्ल खुलकर सामने आते हैं और सामाजिक-राजनीतिक विमर्शकार सिद्ध होते हैं। गायिका गिरिजा देवी और कथावाचक पंडित राधेश्याम पर केंद्रित लेखों में जहां लेखक की दूसरी रूचियां भी सामने आती हैं, वहीं राग दरबारी संस्मरण, मेरी कथा यात्रा के कुछ मोड़, साहित्य के लिए मेरी कसौटी आदि आलेखों में श्रीलाल शुक्ल आत्मसमीक्षा करते प्रतीत होते हैं।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की तरह श्रीलाल शुक्ल साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखते हैं। यह पुस्तक उनकी सृजनात्मक दुनिया को भली-भाँति जानने और समझने का अवसर उपलब्ध कराती है।

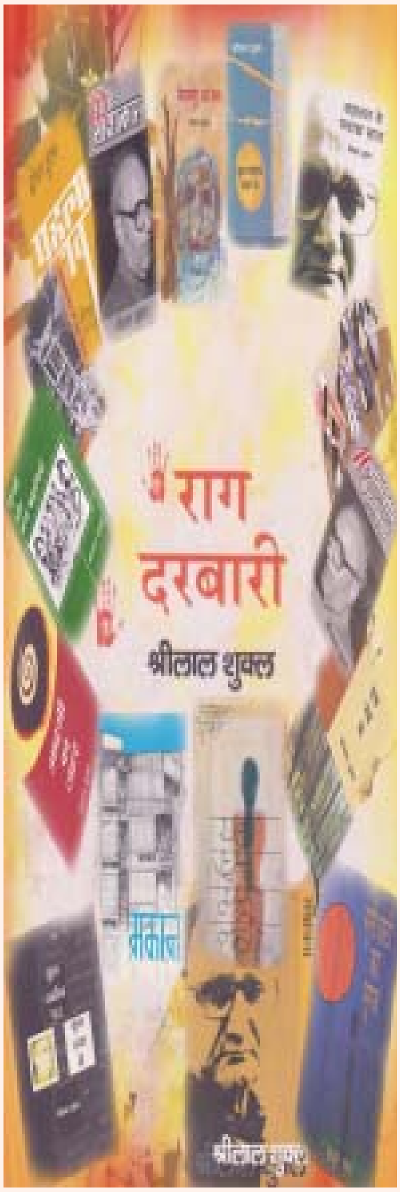

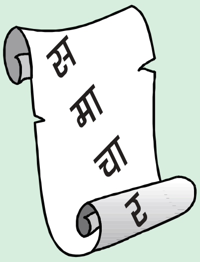

आर्थिक एवं सांस्कृतिक विसंगतियां समाज को प्रदूषित कर रही हैं– प्रेम जनमेजय

'पिछले कुछ वर्षों में इस देश में आर्थिक एवं सांस्कृतिक विसंगतियों में अभूतपूर्व विकास हुआ है। आज साहित्य का दायित्व है कि इन क्षेत्रों में बढ़ते प्रदूषण के खिलाफ वह संघर्ष करें और इस संघर्ष के लिए व्यंग्य सबसे महत्वपूर्ण हथियार है। मेरा विश्वास है कि विसंगतियों का प्रदूषण चाहे कितना सघन हो, व्यंग्य स्खलित नहीं होगा, इस अंधेरे को चीरने के लिए वो अपना प्रकाश निसृत करेगा।' यह उद्‌गार प्रख्यात व्यंग्यकार प्रेम जनमेजय ने कमला गोइन्का फाउंडेशन द्वारा स्थापित 'स्नेहलता गोइन्का व्यंग्यभूषण पुरस्कार-2008' ग्रहण करने के बाद किए। उन्होंने कहा, 'मेरी अनपढ़ मां, जो इस वर्ष जून में दिवंगत हुईं, जब भी मेरी रचना का कोई हिस्सा मुझसे सुनतीं तो कहतीं कि प्रेम तूने लाख टके की बात कहीं है। मुझे लगता है कि यह लाख टके का पुरस्कार उनके लाख को संस्कृत में लक्ष भी कहते हैं और इस लाख से दुर्योधन ने लाक्षागृह भी तैयार किया था। पुरस्कारों का मोह लेखक के लिए लाक्षागृह भी बन सकता है और उसे लक्ष्य से भटका सकता है। आज के बाजारवादी युग में तीन प्रकार के पुरस्कार/सम्मान बाजार में हैं– तयशुदा, व्ययशुदा और वाणिज्यशुदा। यह आपको तय करना है कि आपको बाजार से सम्मान खरीदने हैं या फिर. . .।' प्रेम जनमेजय ने एक महत्वपूर्ण घोषणा करते हुए कहा, 'प्रत्येक बुजुर्ग होती पीढ़ी का कर्तव्य होता है कि युवा पीढ़ी की मात्र आलोचना न करे अपितु उन्हें दिशा देने के प्रयास भी करें। बहुत समय से मन था कि युवाओं में सार्थक व्यंग्य लेखन को बढ़ावा देने के लिए युवा सम्मान आरंभ किया जाए परंतु आर्थिक अभाव आड़े आ जाता थे। गोइन्का फाउंडेशन का आभार कि एक नेक काम के लए उन्होंने एक लाख का आर्थिक आधार दे दिया है और मुझे विश्वास है कि इसे सहारा देने वाले हाथ भी जल्द आ जाएंगे और जल्द ही व्यंग्य के क्षेत्र में युवा पुरस्कार आरंभ किया जा सकेगा।'

सुप्रसिद्ध लेखिका श्रीमती सूर्यबाला को उनके कहानी संग्रह 'इक्कीस कहानियां' के लिए 'रत्नीदेवी गोइन्का वाग्देवी सम्मान 2008' प्रदान किया गया। डॉ. सूर्यबाला ने इस अवसर पर कहा, निष्ठा और सर्मपण के साथ साहित्य का निर्माण किया जाना चाहिए, किसी दबाव में नहीं। उन्होंने कहा– 'मैं कहानियां भी लिखती हूं और व्यंग्य भी परंतु व्यंग्यकार मुझे व्यंग्य लेखिका नहीं मानते हैं और कहानीकार मुझे कथा लेखिका नहीं मानते हैं।'

वरिष्ठ पत्रकार एवं 'नवनीत' के संपादक श्री विश्वनाथ सचदेव की अध्यक्षता में आयोजित इस समारोह में डॉ. प्रेम जनमेजय को पुरस्कार स्वरूप एक लाख रुपए नगद एवं श्रीमती सूर्यबाला को इकत्तीस हजार रुपए नगद के साथ शॉल, स्मृति चिन्ह, श्रीफल तथा पुष्पगुच्छ प्रदान किया गया। समारोह में साहित्यकार वेदराही मुख्य अतिथि तथा प्रसिद्ध मीडियाकर्मी मुकुल उपाध्याय विशिष्ट अतिथि के अतिरिक्त वरिष्ठ पत्रकार एवं 'महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य अकादमी' के कार्यध्यक्ष विशिष्ट अतिथि के अतिरिक्त वरिष्ठ पत्रकार एवं 'महाराष्ट्र राज्य हिंदी साहित्य अकादमी' के कार्याध्यक्ष श्री नंदकिशोर नौटियाल, मुंबई विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्रभारी डॉ. करुणाशरण उपाध्याय, नवभारत के फीचर संपादक शत्रुघ्न प्रसाद, सूर्यभानू गुप्त, यज्ञ शर्मा, सुरेश कांत, हरीश पाठक, अशोक बिंदल, देवमणि पांडेय, किशन शर्मा, राजम पिल्लै, अचल गोइन्का, ललिता गोइन्का, कैलाश जाटवाला, विदित कुंद्रा, नेहा सहित राज्य के अनेक प्रख्यात साहित्यकार मीडियाकर्मी एवं गणमान्य नागरिक उपस्थित थे।

प्रबंध न्यासी श्री श्यामसुंदर गोइन्का ने सबका स्वागत करते हुए तथा संस्था का परिचय देते हुए चार अन्य पुरस्कारों– रागनाथ गोइन्का पत्रकारिता श्रीमणि पुरस्कार, गीतादेवी गोइन्का हिंदी-तेलगू अनुवाद पुरस्कार', 'रमादेवी गोइन्का सारस्वत साहित्य सम्मान' तथा 'डॉ. हिरण्यमय युवा साहित्यकार पुरस्कार' की घोषणा की।

इस अवसर पर वरिष्ठ रचनाकार डॉ. नरेंद्र कोहली को उनके व्यंग्य विधा में विशिष्ट योगदान के लिए 'गोइन्का व्यंग्य साहित्य सारस्वत सम्मान' से सम्मानित किया गया। डॉ. नरेंद्र कोहली ने कहा, 'साहित्य का लक्ष्य है जीवन के महान, उदात्त एवं साहित्यिक पक्ष का चित्रण करना। आज साहित्य अपनी भूमिका विस्मृत कर रहा है।' उन्होंने पुरस्कार प्रदान में प्रदान शब्द पर आपत्ति की और कहा कि आप साहित्यकार को दान नहीं दे सकते हैं। देने वाला तो ऊपरवाला है, मुझे लेना होगा तो मैं उससे लूंगा।' इस अवसर पर डॉ. नरेंद्र कोहली ने डॉ. गिरिजाशंकर त्रिवेदी द्वारा संपादित त्रैमासिक पत्रिका 'हास्यम् व्यंग्यम्' का लोकार्पण भी किया।

समारोह अध्यक्ष श्री विश्वनाथ सचदेव ने कहा, 'साहित्य समाज का दर्पण होता है इसलिए लेखकों को ईमानदारी से अपना कर्तव्य निभाना चाहिए।' श्री वेदराही एवं मुकुल उपाध्याय ने श्री गोइन्का के प्रयासों की प्रशंसा की और कहा कि शहर की अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक संस्थाओं को इससे प्रेरणा लेनी चाहिए।

इस अवसर पर संपत सरल द्वारा संचालित एक व्यंग्य गोष्ठी का आयोजन भी किया गया जिसमें सूर्यभानु गुप्ता, श्यामसुंदर गोइन्का सूर्यबाला, प्रेम जनमेजय, आशकरण अटल आदि ने अपनी रचनाओं का पाठ किया।

पुरस्कार समिति के संयोजक श्री कन्हैयालाल व सराफ ने कार्यक्रम का दक्षतापूर्ण ढंग से संचालन वे अपनी चुटीली व्यंग्य शैली में आभार प्रदर्शन किया।

प्रस्तुति– कैलाश जाटवाला

साठोत्तरी पीढ़ी के महत्वपूर्ण कथाकार हैं रमाकांत : उमाशंकर चौधरी

रमाकांत स्मृति कहानी पुरस्कार को साहित्य जगत और विशेषकर नई पीढ़ी के रचनाकारों से गहरी आत्मीयता मिली है। इसका कारण है कि इसके पीछे कोई प्रतिष्ठान नहीं है। यह रमाकांत की विचारधारा और लेखन को भी सच्ची श्रद्धांजलि है।

यह विचार 11वें रमाकांत स्मृति कहानी पुरस्कार समारोह में राजधानी दिल्ली के गांधी शांति प्रतिष्ठान में 2 दिसंबर को अध्यक्षता कर रहे डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने व्यक्त किए। उन्होंने कहा : 'यह कहानी मैंने कई बार पढ़ी है, और यह इस योग्य है। लेकिन मैं कहना चाहूंगा कि रचनाकार को अपनी प्रशंसा से बचना चाहिए और आलोचना को गंभीरता से लेना चाहिए। 'अयोध्या बाबू सनक गए हैं' उमाशंकर चौधरी की लिखी मूल्यवंचित आम आदमी की कहानी है। उसकी बहुत बड़ी यातना है। इसकी व्याप्ति इतनी है कि इस कहानी की छोटी-छोटी बात पर अलग-अलग कई कहानियां लिखी जा सकती हैं। यह कहानी विक्षुब्ध करती है। मानसिकता को व्यंजित करती है। इधर की अनेक कहानियों में से यह ऐसी रचना है जो विचार करने की सामग्री मुझे देती है। इस पर इसकी अच्छाइयों और कमियों पर एक साथ विचार किया जा सकता है।' डॉ. त्रिपाठी ने कहा कि इधर के कहानीकारों ने बहुत कम समय में कुछ कथा रुढ़ियां बना ली हैं। वे समकालीन इतिहास को कितनी कुशलता से फेंट देते हैं। लेकिन कुछ ऐसा है कि लगता है कुछ और होना चाहिए।

प्रारंभ में संयोजक महेश दर्पण ने रमाकांत कहानी पुरस्कार योजना के बारे में चर्चा करते हुए रमाकांत जी की प्रासंगिकता को रेखांकित किया। रमाकांत के मित्र और आलोचक राजकुमार सैनी ने उन्हे कॉफी हाउस का ऐसा प्रोफेसर बताया जिसकी बातें सुनने के लिए आसपास की मेजों से भी लोग उठकर आ जाया करते थे। उन्होंने कहा कि लेखकों की बस्ती सादतपुर की खोज रमाकांत ने ही की थी।

इस अवसर पर स्मारिका 'कथा पर्व' का लोकार्पण किया डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी ने। इस स्मारिका में पुरस्कृत रचना, पुरस्कार विजेता का वक्तव्य, निर्णायक देवेंद्र राज अंकुर की टिप्पणी और रमाकांत जी पर विष्णु प्रभाकर व हंसराज रहबर के संक्षिप्त उद्गार भी दिए गए हैं। पिछले दस वर्षों के आयोजनों पर आधारित चित्र प्रदर्शनी को भी सराहा गया।

आलोचक देवशंकर नवीन ने अपने गंभीर आलेख में इधर की कहानी पर विचार किया। उनका कहना था कि जितने बड़े पुलक की कहानी 'अयोध्या बाबू सनक गए हैं' है, उसमें बड़ी व्याख्या की गुंजाइश है। वस्तुत: 'इधर की कहानियां' अपनी पाठ-प्रक्रिया के दौरान पाठकों, अभिभावकों और विवेचकों को इसी तरह चिंतन-विश्लेषण की अत्यधिक गुंजाइश देने लगी है।

इस वर्ष के निर्णायक देवेंद्र राज अंकुर ने कहा, 'उमाशंकर चौधरी की इस कहानी के शिल्प और संरचना को मैं कुछ, कुछ उदय प्रकाश और योगेंद्र आहूजा की अगली परंपरा में रखना चाहूंगा। यहां कब कथ्य और संरचना एक-दूसरे में घुल-मिल जाते हैं यह पता ही नहीं चलता। शायद यही इस कहानी का सबसे बड़ा गुण है।'

ग्यारहवां रमाकांत स्मृति कहानी पुरस्कार कथाकार उमाशंकर चौधरी को प्रदान किया वरिष्ठ कथाकार एवं 'नया ज्ञानोदय' क संपादक रवींद्र कालिया ने। उन्होंने कहा, 'मुझे खुशी है कि उस कथाकार को सम्मानित करने का मौका मिला जिसकी पहली ही कहानी मैंने प्रकाशित की थी। 'छुटकी' प्रकाशित हुई। यह पीढ़ी ऐसे लोगों की है जिसने पहली की कहानी से पहचान बना ली है। यह पीढ़ी खास तरह की प्रतिस्पर्धा में भी रहती है। सच लेकिन यह है कि जिस तेजी से हमारा समय बदल रहा है, उतनी तेजी से साहित्य पिछड़ता जा रहा है। बदलते समाज की धड़कन आज की रचनाओं में आनी चाहिए।

कथाकार उमाशंकर चौधरी को शॉल ओढ़ाकर स्मृति चिन्ह और पुरस्कार राशि देकर कालिया जी ने सम्मानित किया तो पूरा हॉल तालियों की आवाज से गूंज उठा। इस अवसर पर चार रमाकांत पुरस्कार विजेता और मौजूद थे। ये थे- योगेंद्र आहूजा, कृपाशंकर, सूरजपाल चौहान और अरविंद कुमार सिंह।

उमाशंकर चौधरी ने अपना विस्तृत वक्तव्य पढ़ा। उन्होंने कहा, 'अभी तक मेरी प्रकाशित कहानियों की संख्या महज पांच है। पुरस्कृत कहानी इस क्रम में दूसरी है। मैंने अपनी पहली कहानी 'छुटकी' को पहले कविता रूप में लिखना शुरू किया था फिर यह अपने आप कहानी में तब्दील हो गई।' अयोध्या बाबू सनक गए हैं, एक सच्ची घटना को आधार भले बनाती हो, परंतु मेरा मूल मकसद एक ऐसे आदमी के चरित्र को खड़ा करना था जो इस पूंजी ओरिएंटेड समाज में अपने तमाम सिद्धांतों और नैतिकताओं के बावजूद लड़खड़ा जाता है और लड़खड़ाना अमानवीयता की हद तक जा पहुंचता है।

उमाशंकर चौधरी ने वक्तव्य से पहले रमाकांतजी को साठोत्तरी पीढ़ी की महत्वपूर्ण कहानीकार बताते हुए 'कार्लो हब्शी का संदूक', 'तेवर' और 'व्यतिक्रम सरीखी कहानियों का उल्लेख किया।'

समारोह में रमाकांत- परिवार के अतिरिक्त राजेंद्र यादव, विष्णु चंद शर्मा, पंकज बिष्ट, विष्णु नागर, प्रेज जनमेजय, हरिपाल त्यागी, द्रोणवीर कोहली, वीरेंद्र जैन, वैभव सिंह, संजीव, रामकुमार कृषक, भगवान दास मोरवाल, सत सोनी, सुरेश शर्मा, जगदीश चंद्रकेश, फजल इमाम मलिक, अशोक मिश्र,

लंदन में अनिल जोशी को अंतरराष्ट्रीय वातायन कविता सम्मान-2008

भारतीय उच्चायोग लंदन के नेहरू सेंटर में 25 अगस्त 2008 को वातायन संस्था द्वारा सुप्रसिद्ध कवि व हिंदी सेवा श्री अनिल शर्मा जोशी को 'अंतरराष्ट्रीय वातायन कविता सम्मान-2008' से सम्मानित किया गया। ब्रिटेन में भारतीय उच्चायुक्त श्री शिवशंकर मुकर्जी ने श्री जोशी को सम्मान चिन्ह प्रदान किया। प्रशस्ति पत्र में मीरा कौशिक (ओ.बी.ई.) ने इनकी कविताओं की भूरी-भूरी प्रशंसा की। वातायन संस्था की संसीपक अध्यक्षा श्रीमती दिव्या माथुर व यू.के. हिंदी समिति के अध्यक्ष डॉ. पद्‌मेश गुप्त ने पांच वर्षों तक यू.के. में हिंदी व संस्कृति अधिकारी के रूप में उनकी सेवाओं का भी उल्लेख किया। यू.के. हिंदी समिति की ओर से हिंदी विद्वान श्री वेद मित्र मोहला को 'हिंदी सेवा सम्मान' से सम्मानित किया गया।

हीरालाल नागर, कृष्ण दत्त पालीवाल, अनुज, अजय नावरिया, हरिसुमन बिष्ट, हरिनारायण, योगेंद्र दत्त शर्मा, श्रीकांत, महेश भारद्वाज, वीरेन्द्र सक्सेना, रूप सिंह चंदेल, राकेश तिवारी, पवन शर्मा और अजय कुमार सहित अनेक रमाकांत प्रेमी व कथारसिक मौजूद थे।

संयोजक ने बताया कि 12वें रमाकांत स्मृति कहानी पुरस्कार के निर्णायक होंगे वरिष्ठ कथाकार- आलोचक डॉ. विजय मोहनसिंह, रमाकांत जी के सुपुत्र अजय श्रीवास्तव और विजय श्रीवास्तव ने क्रमश: स्वागत व धन्यवाद किया।

वरिष्ठ पत्रकार रामशरण जोशी की तीन पुस्तकों का लोकार्पण

आज दिल्ली व समाज विज्ञान का रिश्ता बेहद कमजोर हो गया है। हिंदुस्तान के समाजविज्ञानी अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करने की तमन्ना में हिंदी की बजाय अंग्रेजी में लिखना पसंद करते हैं। यह विचार वरिष्ठ आलोचक मैनेजर पाण्डेय ने साहित्य अकादमी सभागार में सामयिक, प्रकाशन, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित वरिष्ठ पत्रकार रामशरण जोशी की तीन पुस्तकों– 'आदमी, बैल और सपने', 'हस्तक्षेप और चुनौतियों का चक्रव्यूह' के लोकार्पण समारोह में व्यक्त किए।

कार्यक्रम के विशिष्ठ अतिथि सी.पी. आई. के चर्चित राजनेता-चिंतक अतुल अनजान ने इस बात पर गहरा दुख व्यक्त किया कि अमेरिकी समाज का सच आज बड़ी तेजी से भारत का सच बनता जा रहा है। उन्होंने हिंदी के समाजविज्ञान के साथ रिश्ते को मजबूत करने के लिए बंगला व मराठी भाषा की तरह स्वाधीनता आंदोलन के दौरान हिंदी में लिखे इतिहास, अर्थशास्त्र और राजनीति से संबंधित लेखन के गहन विश्लेषण करने की आवश्यकता पर बल दिया। इस अवसर पर उन्होंने श्री जोशी से अपने पुराने दिनों की याद को ताजा किया।

समारोह के मुख्य अतिथि प्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रो. आनंद कुमार ने कहा कि बहुत संभलकर लिखने वाले पत्रकारों की जमात में श्री जोशी स्थिरभाव से सामाजिक सच को लिखते हैं। उनका लेखन हमारे अंदर बेचैनी व गुस्सा बढ़ाता है, कई बार शर्मसार भी करता है। उन्होंने कहा कि आजादी के बाद समृद्धि तो बहुत हुई, पर उसका न्यायपूर्ण वितरण नहीं हुआ जिसकी वजह से सामाजिक विषमता की खाई बढ़ी है।

कार्यक्रम की शुरुआत करते हुए सामयिक प्रकाशन के महेश भारद्वाज ने सभी आंगतुक साहित्यकारों और श्रोताओं का स्वागत किया। उन्होंने बताया कि श्री जोशी से सामायिक प्रकाशन का 2 दशकों का नाता है।

कार्यक्रम का संचालन प्रो. दुर्गाप्रसाद गुप्त ने किया।

इस कार्यक्रम में राजेन्द्र यादव, आलोक मेहता, गंगाप्रसाद विमल, प्रो. नवीन चन्द्र लोहनी, महेश दर्पण, संजीव सहित अनेक गणमान्य साहित्यकार, पत्रकार उपस्थित थे।

कथन' के पुनर्प्रकाशन के दस वर्ष

'साहित्य और भूमंडलीय यथार्थ' पर विचार-गोष्ठी

साहित्य और संस्कृति की त्रैमासिक पत्रिका 'कथन' के पुनर्प्रकाशन के दस वर्ष पूरे होने के अवसर साहित्य अकादमी सभागार में एक भव्य समारोह का आयोजन किया गया। इस अवसर पर रमेश उपाध्याय के पिछले दस वर्ष के संपादकीय लेखों के संकलन 'साहित्य और भूमंडलीय यथार्थ' पर रामशरण जोशी की अध्यक्षता में विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया। गोष्ठी में जवरीमल्ल पारख, शाश्वती मजूमदार, प्रभात रंजन और राजेंद्र चौधरी ने अपने विचार व्यक्त किए।

कार्यक्रम का संचालन करते हुए **राकेश कुमार** ने कहा कि 'कथन' ने अपने समय के यथार्थ को सामने लाते हुए भविष्य के स्वप्नों को आकार देने का महत्त्वपूर्ण काम किया है। इससे पूर्व 'कथन' के इन दस वर्षों की यात्रा के विषय में **प्रज्ञा** ने एक आलेख पढ़ा। इस आलेख में उन्होंने विस्तार से 'कथन' की संपादकीय दृष्टि, पत्रिका द्वारा उठाए गए महत्त्वपूर्ण विषयों, विभिन्न स्तंभों में प्रकाशित की गयी महत्त्वपूर्ण सामग्री आदि की चर्चा करते हुए साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में 'कथन' के उल्लेखनीय योगदान को रेखांकित किया। **शंभुनाथ** ने कहा कि आज के जीवन-विरोधी और रचना-विरोधी माहौल में किसी पत्रिका का निकलना और दस वर्षों तक जारी रहना अपने-आप में बड़ी बात है। **प्रभात रंजन** ने कहा कि संपादकीय लेखों को एक साथ पुस्तक रूप में पढ़ने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'कथन' ने इन दस वर्षों में प्रतिरोध की जमीन तैयार करने का काम किया है। **शाश्वती मजूमदार** ने कहा कि दस साल तक लगातार ऐसी गुणवत्ता वाली पत्रिका निकालना आज के कठिन दौर में बड़ी बात है। **राजेंद्र चौधरी** ने कहा कि 'कथन' साहित्य और ज्ञान के अन्य अनुशासनों को जोड़ने का महत्त्वपूर्ण काम कर रही है।

गोष्ठी के अध्यक्ष रामशरण जोशी ने कहा कि 'कथन' ने निरंतर आशा और उम्मीद का संचार किया है। विकल्प की संभावनाओं के द्वार लगातार इस पत्रिका ने खोले हैं। ज्ञान के साहित्येतर विषयों को केंद्र में लाने में 'कथन' ने ऐतिहासिक भूमिका निभायी है। 'भूमंडलीय यथार्थ' की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि जन-आंदोलनों को भी यह महसूस होने लगा है कि राजनीति को केंद्र में लाए बिना अब आंदोलनों का विस्तार नहीं हो सकता। 'शब्दसंधान प्रकाशन' द्वारा प्रकाशित रमेश उपाध्याय के चर्चित उपन्यास 'दंडद्वीप' के पुनर्लिखित नवीन संस्करण का लोकार्पण भी रामशरण जोशी ने किया।

रमेश उपाध्याय ने गोष्ठी के वक्ताओं और श्रोताओं का आभार व्यक्त करते हुए कहा कि कई लोग यह शिकायत करते हैं कि समाज में साहित्य के लिए जगह नहीं है। लेकिन शिकायत करने के बजाय हमें

समाज में साहित्य की जगह बनानी चाहिए। मैं 'कथन' के संपादन से मुक्त होकर अपने रचनात्मक कार्यों में लगना चाहता हूं। अब से 'कथन' का संपादन संज्ञा उपाध्याय करेंगी।

गोष्ठी में कन्हैयालाल नंदन, द्रोणवीर कोहली, महेश दर्पण, वीरेंद्र जैन, प्रेम जनमेजय, प्रेमपाल शर्मा, रामकुमार कृषक, शरद दत्त, अशोक आंद्रे, हरजेंद्र चौधरी, सत्यकाम, अमरेंद्र कुमार सिंह, सुरेश उनियाल, अजय नावरिया, सहित बड़ी संख्या में साहित्यकार और साहित्यप्रेमी उपस्थित थे।

—**प्रस्तुति : अंकित**

'घोड़ा छाप बाल्टी' पर संगोष्ठी

'आस्वाद' ने विगम 19 अक्टूबर 2008 को वाणी विहार में रमाशंकर श्रीवास्तव के नवीनतम हास्य-व्यंग्य संग्रह- 'घोड़ा छाप बाल्टी' पर एक विचार संगोष्ठी का आयोजन किया जिसमें हिंदी व्यंग्य साहित्य के मूर्धन्य लेखकों एवं साहित्य प्रेमियों ने बड़ी संख्या में भाग लिया।

इस अवसर पर वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. रामदरश मिश्र मुख्य अतिथि के रूप में विराजमान थे। डॉ. प्रेम जनमेजय ने अध्यक्षता की तथा डॉ. हरीश नवल एवं डॉ. लक्ष्मी शंकर वाजपेयी के सान्निध्य में डॉ. लालित्य ललित तथा डॉ. राहुल ने अपना आलेख-पाठ किया।

'घोड़ा छाप बाल्टी' पर अपने विचार प्रकट करने वाले प्रमुख लेखकों में धमेन्द्रनाथ, सुभाषचंदर, प्रेम प्रकाश पांडेय, विनोद बब्बर, रामसुरेश पांडेय, अश्विनी पाराशर एवं रमाकांत शुक्ल थे।

मुख्य अतिथि रामदरश मिश्र ने कहा कि साहित्य में आज व्यंग्य की स्थिति अपरिहार्य है। व्यंग्य का मूल आधार विसंगति है। हर अच्छे व्यंग्य में करूणा का भाव होता है। रमाशंकर श्रीवास्तव के पास विविध अनुभवों का भंडार है। उन्होंने जीवन की विसंगतियों को बड़े ही सहज भाव से पकड़ा है। इनके व्यंग्य आत्मीय हैं। इनमें तीखापन नहीं है।

प्रेम जनमेजय का विचार था कि रमाशंकर ने अपनी रचनाओं में प्रसंगवक्रता को खूबसूरती से विविध आयामों में व्यक्त किया है। फिर भी लेखक को अपनी दृष्टि व्यापक बनाने की आवश्यकता है। परिवार की दुनिया के बाहर बाजारवाद और जीवन-मूल्य को पर्याप्त दर्शाने की आवश्यकता है। आज का व्यंग्य साहित्य बाजारवाद का शिकार होता जा रहा है। इससे विषय का बदलाव भी अपेक्षित है।

हरीश नवल का कथन था कि 'घोड़ा छाप बाल्टी' की राष्ट्रहित में लिखी गई रचनाएं पाठकों में एक उम्मीद जगाती है।

लक्ष्मीशंकर वाजपेयी ने कहा कि जवन की किसी सामान्य-सी प्रक्रिया को भी रचना में डाल देना रमाशंकर श्रीवास्तव कव्यंग्य की विशेषता है। उनके हास्य-व्यंग्य को पढ़कर आनंद की अनुभूति होती है।

प्रेम प्रकाशपांडेय ने हिंदी के पूर्व व्यंग्यकारों और अपने वाराणसी के सम्पर्क का विस्तार से उल्लेख करते हुए व्यंग्य रचनाओं की पठनीयता पर प्रकाश डाला।

लालित्य ललित ने अपने आलेख में व्यंग्य शिल्पी रमाशंकर श्रीवास्तव के बारे में बताया कि उनके व्यंग्य पाठक को गाइड भी करते हैं।

राहुल ने बताया कि रमाशंकर श्रीवास्तव के व्यंग्यों के बारीक बुनावट है। प्रस्तुत हास्य-व्यंग्य संग्रह में समाज, सत्ता, राजनीति, धर्म, शिक्ष और नैतिक मूल्यों के विडम्बनापूर्ण पहलुओं पर व्यंजनार्थी शबदों में जांच-पड़ताल की गई है। लेखक ने आसपास की घटनाओं को प्रभावी ढंग से रूपायित किया है।

सुभाषचन्दर ने शुद्ध हास्य, चुभनभरा हास्य और कहानी में प्रसंगवक्रता इन तीनों की उपस्थिति का उल्लेख किया। विनोद 'बब्बर' ने बताया कि हिंदी साहित्य में व्यंग्य कभी अनुसूचित जाति में परिगणित होता था, लेकिन प्रेम जनमेजय, हरीश नवल के साथ रमाशंकर श्रीवास्तव जी ने इसे सवर्णत्व प्रदान करने में योगदान किया। डॉ. रामसुरेश पांडेय का अभिमत था कि यह एक सफल कृति है और पठनीय है।

महेश प्रसाद श्रीवास्तव की सद्य प्रकाशित पुस्तक 'विदेशी भूमि पर भारतीय स्वाधीनता संग्राम' का लोकार्पण डॉ. रामदरश मिश्र एवं डॉ. प्रेम जनमेजय के हाथों सम्पन्न हुआ। मंच-संचालन किसलय श्रीवास्तव ने किया।

डॉ. विजय बहादुर सिंह भारतीय भाषा परिषद के निदेशक

कोलकाता। भारतीय भाषा परिषद के निदेशक पद का कार्यभार प्रख्यात आलोचक और कवि डॉ. विजय बहादुर सिंह ने संभाल लिया है। आलोचक के रूप में डॉ. विजय बहादुर सिंह की 'नागार्जुन का रचना संसार', 'कविता और संवेदना', 'समकालीनों की नजर में आचार्य रामचंद्र शुक्ल', 'उपन्यास : समय और संवेदना', 'महादेवी के काव्य का नेपथ्य' आदि उनकी प्रमुख कृतियां हैं। उनकी काव्यकृतियों में 'मौसम की चिट्ठी', 'पतझड़ की बांसुरी', 'पृथ्वी का प्रेमगीत', 'शब्द जिन्हें भूल गई भाषा' तथा आख्यानमूलक कविता 'भीम बैठका' प्रमुख हैं। उन्होंने तीन जाने-माने और चर्चित कृतिकारों (भवानीप्रसाद मिश्र, दुष्यंत कुमार और ख्यातिप्राप्त आलोचक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी) की ग्रंथावलियों का संपादन भी किया है। पिछले दिनों प्रकाशित आचार्च नंददुलारे वाजपेयी की जीवनी 'आलोचक का स्वदेश' इन दिनों उनकी सबसे चर्चित कृति है।

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया : स्वर्णिम यात्रा के ५१ वर्ष

पुस्तक-प्रकाशन, पुस्तकोन्नयन तथा पठन-अभिरुचि की दिशा में सक्रिय और सतत कार्यरत नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया ने विगत 1 अगस्त को अपनी स्थापना के 51 वर्ष पूरे किए हैं। एन.बी.टी. के अपने संक्षिप्त नाम से लोकप्रिय यह स्वायत्त संस्था मानव संसाधन विकास मंत्रालय के अधीन कार्यरत है। 1 अगस्त 1957 को देश के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने नेशनल बुक ट्रस्ट की स्थापना की थी। अभी पिछले वर्ष ही एन.बी.टी. ने अपनी स्थापना की

कथा यू.के. गोष्ठी

31 अगस्त 2008 की शाम मुंबई में कथाकार सूरज प्रकाश के घर पर एक अनूठी व्यंग्य संध्या का आयोजन किया गया। कथा यू.के. के बैनर तले आयोजित लगभग चार घंटे तक चली इस गोष्ठी में श्रोताओं ने सुनायी गयी रचनाओं का खूब आनंद लिया।

विशेष रूप से दिल्ली से पधारे प्रसिद्ध व्यंग्यकार डा. प्रेम जनमेजय और डॉ. सूर्य बाला ने अपनी उपस्थिति से गोष्ठी को गरिमा प्रदान की। संयोग से इन दोनों ही रचनाकारों को एक दिन पहले कमला गोयन्का व्यंग्य पुरस्कारों से नवाजा गया था। श्री जनमेजय ने अपनी दो व्यंग्य रचनाएं 'जो जो बूड़े श्याम रंग' और 'प्रभु दौरे पर' सुनायीं और सूर्यबाला जी ने 'दादाजी' और 'बंदर' सुना कर सभी श्रोताओं को गुदगुदाया।

डॉ. प्रेम जनमेजय ने इस अवसर पर व्यंग्य विधाा को लेकर अपनी चिंताएं भी व्यक्त कीं और कहा कि हमारा दुर्भाग्य ही है कि कई वरिष्ठ व्यंग्यकारों द्वारा अरसे से विपुल व्यंग्य साहित्य रचनाएं देने के बावजूद इस विधा को कभी भी गंभीरता से नहीं लिया गया। हमारे आलोचकों के पास व्यंग्य रचनाओं का मूल्यांकन करने के लिए अलग से कोई पैमाने नहीं हैं। उन्होंने अपनी पत्रिका 'व्यंग्य यात्रा' के हवाले से कहा कि ये पत्रिका इस दिशा में उनका विनम्र प्रयास है।

रचनापाठ क्रम को आगे बढ़ाते हुए यज्ञ शर्मा ने अपनी एक सरस रचना 'अंतर्रात्मा का मुजरा' सुनायी जबकि नेहा शरद ने शरद जोशी की रचना 'चक्रवर्ती गीतों का अर्थशास्त्र' का पाठ किया। पुष्पा भारती जी ने भारती जी और कमलेश्वर जी से जुड़े इलाहाबाद के दिनों के कुछ रोचक संस्मरण सुनाये। अशोक बिंदल ने हाल ही में अनूदित पुस्तक में से एक मार्मिक संस्मरण सुनाया। सूरज प्रकाश ने लगभग चार बरस के अंतराल के बाद लिखी अपनी ताजा कहानी करुणा. . . तुम पहले घर जाना का पाठ किया जबकि मधुलता ने मोबाइल और पत्नी को लेकर अपनी दो व्यंग्य कविताएं सुनायीं। देवी नागरानी ने अपनी ग़ज़ल 'वतन की याद' का पाठ किया और धीरेन्द्र अस्थाना ने अपनी कहानी 'ओरांग उटांग' सुनाकर श्रोताओं को अपने लेखन के पुराने दिनों की याद दिलायी।

गोष्ठी में अभिनेता राजेन्द्र गुप्ता, फिल्मकार अतुल तिवारी, कथाकार हरीश पाठक, राजम नटराजम पिल्लै, रत्ना झा, श्रीमती आशा जनमेजय, विदित और नेहा खासतौर पर उपस्थित थे।

–सूरज प्रकाश

स्वर्ण जयंती मनाई है। देश में पुस्तक संस्कृति के विकास और प्रसार के जिस लक्ष्य और सपने को लेकर महान स्वप्नदर्शी नेता पंडित नेहरू ने एन.बी.टी. की स्थापना की थी वह लक्ष्य और सपना बहुत हद तक पूर्ण हुआ है लेकिन अभी मंजिलें और भी हैं।

एन.बी.टी. पुस्तक प्रकाशन के साथ-साथ पुस्तक एवं पठन उन्नयन के क्षेत्र में भी क्रियाशील है। देश के अलावा विदेशों में भी भारतीय पुस्तकों का उन्नयन तथा लेखकों एवं प्रकाशकों की सहायता करना एन.बी.टी. के अन्य उद्देश्यों में है। पुस्तक मेले, पुस्तक प्रदर्शनियां तथा पुस्तकों से जुड़ी ओर भी अन्य गतिविधियां एन.बी.टी. की लक्ष्य प्राप्ति के रास्ते हैं। नई दिल्ली स्थित प्रगति मैदान में हर दो वर्ष पर आयोजित होने वाले नई दिल्ली विश्व पुस्तक मेले से कौन पुस्तक प्रेमी परिचित नहीं हैं? ट्रस्ट के मुखपत्र नेशनल बुल ट्रस्ट संवाद से ट्रस्ट की हर माह की गतिविधियों से अवगत हुआ जा सकता है। इसके अलावा, ट्रस्ट से नेशनल बुक ट्रस्ट साक्षरता संवाद तथा पाठक मंच बुलेटिन नामक दो अन्य मासिक पत्र भी निकलते हैं। पाठक मंच बुलेटिन राष्ट्रीय बाल साहित्य केंद्र की एक द्विभाषी बाल पत्रिका के रूप में है।

पुस्तक प्रकाशन ट्रस्ट की एक प्रमुख गतिविधि है। ट्रस्ट द्वारा हिंदी और अंग्रेजी सहित विभिन्न भारतीय भाषाओं में अब तक 17,000 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं जिनमें मूल, अनुवाद और पुनर्मुद्रण शामिल हैं। प्रत्येक वर्ष ट्रस्ट से लगभग 500 पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। समाज के हर वर्ग और आयु के पाठकों के लिए किफायती मूल्य पर विभिन्न प्रकार की गुणवत्तायुक्त पुस्तकें प्रकाशित करना ट्रस्ट का मुख्य प्रकाशन-उद्देश्य है। एक बहुभाषायी प्रकाशन गृह होने के नाते ट्रस्ट 18 प्रमुख भारतीय भाषाओं में 19 पुस्तकमालाओं में पुस्तकें प्रकाशित करता है। ये भाषाएं हैं: हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, पंजाबी, बांग्ला, ओड़िया, गुजराती, नेपाली, सिंधी, असमिया, मणिपुरी, कश्मीरी, मराठी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम और मैथिली। ट्रस्ट आदिवासी और पूर्वोत्तर की कुछ क्षेत्रीय भाषाओं में भी पुस्तकों का प्रकाशन करता है। पुस्तकों की श्रृंखला बालोपयोगी से लेकर स्त्री विमर्श, साहित्य, कला, विज्ञान, समाज, देश और दुनिया तक है।

वर्ष 2007 में अगस्त मा में अपनी स्थापना के स्वर्ण जयंती समारोह के औपचारिक समापन से पूर्व सालभर तक ट्रस्ट द्वारा देशभर में विशेष पुस्तक प्रदर्शनियों, पुस्तक मेलों, संगोष्ठियों व अन्य साहित्यिक गतिविधियों का आयोजन किया गया। स्थापना के 50 वर्ष पूर्ण होने पर एक विशेष पुस्तकमाला, स्वर्ण जयंती पुस्तकमाला के अंतर्गत 23 भारतीय भाषाओं में स्वाधीनता के बाद की कविता, कथा, नाटक आदि विधाओं में 55 पुस्तकों के प्रकाशन की योजना ट्रस्ट का एक अभिनव व उल्लेखनीय पहल है। इस पुस्तकमाला के अंतर्गत अब तक 23 पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है।

1 अगस्त 2008 को नेहरू भवन, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070 के अपने नए कार्यालय परिसर में ट्रस्ट के 51वें स्थापना दिवस समारोह के अवसर पर ट्रस्ट के अध्यक्ष प्रो. विपिन चंद्रा ने अपने संबोधन में कहा– 'नेशनल बुक ट्रस्ट भारतीय भाषाओं

में पुस्तकों के प्रोन्नयन और भारत में विभिन्न भाषाओं में आम पाठकों के लिए पुस्तकें प्रकाशित करने तथा उपलब्ध कराने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। ट्रस्ट में हमने सिंधी और राजस्थानी भाषाओं को भी शामिल किया है तथा भारतीय साहित्य नाम से एक नई पुस्तकमाला की शुरुआत की है।' उन्होंने कहा कि हम कहानियों, नाटकों आदि को विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवाद करवाकर प्रकाशित करना चाहते हैं।

ट्रस्ट की निदेशक श्रीमती नुज़हत हसन ने ट्रस्ट की उपलब्धियों को रेखांकित करते हुए कहा कि 'पिछले कुछ वर्षों में ट्रस्ट की पुस्तकों की बिक्री में जबरदस्त उछाल आया है– लगभग 1000 प्रतिशत का! इसके साथ ही पिछले दो वर्षों के दरमियान हमने 200 लेखकों की पुस्तकें प्रकाशित की हैं।'

हिमांशु जोशी सम्मानित

पटना। साहित्यिक पत्रिका 'नई धारा' द्वारा साहित्यकार सम्मान तथा उदयराज सिंह स्मृति व्याख्यान का आयोजन किया गया। 'नई धारा' की संचालिका शीला सिन्हा ने प्रख्यात साहित्यकार हिमांशु जोशी को उदयराज सिंह स्मृति सम्मान प्रदान किया। कवि पंकज सिंह, डॉ. रामशोभित सिंह, डॉ. अमरनाथ 'अमर', डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी को 'नई धारा रचना सम्मान' प्रदान किया गया।

'वृहत्तर भारत और विश्व के भारत की देन' विषय पर आयोजित 'उदयराज सिंह स्मृति व्याख्यान' में मुख्य अतिथि के रूप में हिमांशु जोशी ने अपने विचार व्यक्त किए। व्याख्यान की अध्यक्षता डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने की। संचालन 'नई धारा' के संपादक डॉ. शिवनारायण ने किया। अतिथियों का स्वागत प्रथमराज सिंह ने किया।

देवेन्द्र इस्सर का विशेष अंक

नई दिल्ली। हिंदी भवन के सभागार में 'शब्दयोग' त्रैमासिक पत्रिका द्वारा आयोजित समारोह में कथाकार देवेन्द्र इस्सर पर केंद्रित 'शब्दयोग' पत्रिका के 10वें अंक का विमोचन वरिष्ठ कथाकार गोविंद मिश्र द्वारा किया गया। 'शब्दयोग' के संपादक सुभाष पंत ने कहा कि अस्सी वर्षीय देवेन्द्र इस्सर के लेखन में कई व्यक्ति लेखक, आलोचक और चिंतक विद्यमान हैं। इस अवसर पर साजिद जैदी, डॉ. कमल कुमार, नंदकिशोर विक्रम आदि ने देवेन्द्र इस्सर के कृतित्व और व्यक्तित्व पर प्रकाश डाला और उन्हें हिंदी, उर्दू और पंजाबी का गहरा सरोकार रखने वाला गंभीर और पैनी नजर का लेखक बताया।

हिंदी भवन के सचिव गोविंद व्यास ने देवेन्द्र इस्सर का स्वागत करते हुए उन्हें एक निर्भीक आलोचक बताया।

त्रि-दिवसीय संगोष्ठी 'पंत-शैलेश स्मृति' का आयोजन

पिछले दिनों (14-16 नवंबर, 2008) हिंदी के युग-प्रवर्तक कवि सुमित्रानंदन पंत्र तथा कथाशिल्पी शैलेश मटियानी की स्मृति में महादेवी वर्मा सृजन पीठ, कुमाऊं विश्वविद्यालय द्वारा संस्कृति विभाग, उत्तराखण्ड शासन के सहयोग से कौसानी में 'पंत-शैलेश स्मृति' शीर्ष के विमर्श और कविता-पाठ का वृहद् कार्यक्रम आयोजित किया गया। सम्मेलन का उद्घाटन उत्तराखण्ड के राज्यपाल बी.एल. जोशी ने किया। उन्होंने कहा कि उत्तराखण्ड की धरती के ये दोनों रचनाकार अपनी-अपनी विधा के महारथी रहे हैं। विशिष्ट अतिथि उत्तराखण्ड के संस्कृति एवं पर्यटन मंत्री प्रकाश पंत ने संगोष्ठी के प्रतिभागियों का आह्वान किया कि इस गोष्ठी से वे उत्तराखण्ड और हिंदी साहित्य तथा यहां की स्थानीय भाषाओं को राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय मानचित्र पर लाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायेंगे। कुमाऊं विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. सी.पी. बर्थवाल ने इस विचार-विमर्श एवं कविता पाठ को लेकर आशा व्यक्त की कि इससे उत्तराखण्ड में मुख्यधारा की साहित्यिक संस्कृति का परिचय प्राप्त होगा। महादेवी वर्मा सृजन पीठ के निदेशक प्रो. बटरोही ने संगोष्ठी के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कहा कि हिंदीतर भाषाओं में उत्तराखण्ड तथा हिंदी भाषा एवं साहित्य की स्थिति का पता लगाने के लिए इस त्रि-दिवसीय संगोष्ठी में तमिल, तेलुगू, कन्नड़, मलयालम, मराठी, गुजराती, बांग्ला तथा ओड़िया के विशेषज्ञों को आमंत्रित किया गया है। वरिष्ठ कवि लीलाधर जगूड़ी ने अपने आधार व्याख्यान 'उत्तराखण्ड के रचनाकारों के संघर्ष और सौंदर्य की दुनिया' में क्षेत्र के हिंदी एवं उसकी लोकभाषाओं में सृजनरत रचनाकारों के सामने आने वाली चुनौतियों एवं संघर्षों का विस्तार से जिक्र किया।

वीरेंद्र प्रभाकर सम्मानित

नई दिल्ली। अंतर्राष्ट्रीय स्तर की संस्था अमेरिकन बाइग्रोफिकल इंस्टीट्यूट, अमेरिका द्वारा प्रसिद्ध फोटो-पत्रकार वीरेंद्र प्रभाकर को दीर्घकालीन साहित्यिक, संगीत-नृत्य और विविध कलाओं की सेवा के लिए मैन ऑफ दि ईयर 2008-09 अवार्ड दिए जाने की घोषणा की गई है।

'ढोल' का लोकार्पण

प्रशासनिक सुधार आयोग, भारत सरकार के अध्यक्ष और प्रसिद्ध कन्नड़ रचनाकार डॉ. एम. वीरप्पा मोइली के बहुचर्चित उपन्यास 'ढोल' का लोकर्पण 15 सितंबर को दिल्ली में हुआ। लोकार्पण श्री जर्नादन द्विवेदी ने किया। कार्यक्रम की अध्यक्षता प्रो. गंगाप्रसाद विमल ने की और मुख्य अतिथि रहे प्रो. के. डी. पालीवाल। कन्नड़ में 'तेम्बरे' नाम से प्रकाशित यह पुस्तक कन्नड़ साहित्य का एक महत्वपूर्ण उपन्यास है, जो कर्नाटक के तटीय इलाके में रहनेवाले सीमांत समुदाय 'पम्बद' के जीवन की जटिल प्राकृतिक प्रक्रिया 'भूताराधना' की गहरी छानबीन करता है। यह जटिल कृति 'पम्बद' की वंशगत वृत्ति के रूप में प्रचलित है।

व्यंग्य पर सार्थक चर्चा का यादगार आयोजन

गजेन्द्र तिवारी, अधिवक्ता के चतुर्थ व्यंग्य-संग्रह 'ला खर्चा निकाल' का विमोचन विगत दिनों संस्कृति साहित्य परिषद के संगठन मंत्री सूर्यकृष्ण के हाथों संपन्न हुआ। विमोचन के बाद व्यंग्य संग्रह 'ला खर्चा निकाल' पर चर्चा सत्र का आयोजन किया गया जिसमें वक्ताओं के रूप में जयप्रकाश मानस, विनोद शंकर शुक्ल, विनोद साव एवं त्रिभुवन पाण्डेय सहित विशिष्ट अतिथियों रमेश नैयर, बबन प्रसाद मिश्र, वीरेन्द्र पांडे एवं कार्यक्रम अध्यक्ष गोविन्दलाल वोरा ने हिस्सा लिया। इस अवसर पर साहित्य समीक्षक जयप्रकाश मानस ने विमोचित संकलन की रचनाओं का हवाला देते हुए कहा कि श्री तिवारी ने अपनी इन रचनाओं के माध्यम से

समाज की चेतना को झकझोरने की ईमानदार कोशिश की है और वे सफल रहे हैं।

वागीश्वरी पुरस्कार से सम्मानित सुप्रसिद्ध व्यंग्यकार प्रो. विनोद शंकर शुक्ल ने परिचर्चा में भाग लेते हुए कहा कि गजेन्द्र तिवारी समाज की जड़ता तोड़ने के लिए एक सांस्कृतिक क्रांति की आवश्यकता प्रतिपादित करते हैं। उन्होंने कहा कि दूसरी विधाओं के लेखकों के पास दो आंखें होती हैं जबकि व्यंग्यकार के पास तीन आंखें होती हैं। विनोद साव ने कहा कि गजेन्द्र तिवारी समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार और अराजकता के विरुद्ध मजबूती से आवाज उठा रहे हैं। त्रिभुवन पांडे ने गजेन्द्र तिवारी के व्यंग्य लेखन की खूबियों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि उनके व्यंग्य लेखन में जीवन का अनुभव, विसंगतियों से उत्पन्न होने वाला आक्रोश एवं जीवन को बदलने की उनकी कोशिश कम नहीं हुई है। वीरेन्द्र पांडे ने तिवारी के व्यक्तित्व पक्ष पर प्रकाश डालते हुए उनके संघर्षपूर्ण जीवन का वृतांत प्रस्तुत किया और उनके जीवन एवं धैर्यशील व्यक्तित्व की सराहना की। बब्बन प्रसाद मिश्र ने कहा कि वे सन् 1972 में युगधर्म के संपादक बनकर आए थे, उस समय से गजेन्द्र तिवारी का उनके साथ घनिष्ठ परिचय है उनके व्यंग्य कालम नश्तर की उन्होंने प्रशंसा की तथा उनसे जुड़े संस्मरण सुनाए और कहा कि यदि साहित्य न रहे तो सारा संसार श्मशान हो जाएगा। गोविंद बोरा ने कहा कि लेखक को सहज, सरल भाषा में ही लिखना चाहिए ताकि मन में लिखा श्रेष्ठ, समाज को संप्रेषित हो सके तो जो कि सहज, सरल भाषा में ही लिखना चाहिए ताकि मन से लिखा श्रेष्ठ, समाज को संप्रेषित हो सके जो कि श्री तिवारी के लेखन में यह विशेषता मौजूद है। इस अवसर पर प्रतिष्ठित साहित्य संस्था सृजन सम्मान द्वारा शाल एवं श्रीफल भेंट करके श्री तिवारी का सम्मान किया गया। कार्यक्रम का संचालन डॉ. सुधीर शर्मा द्वारा एवं आभार प्रदर्शन वीरेन्द्र तिवारी द्वारा किया गया।

प्रगतिशील लेखक संघ की गोष्ठी

सतना। म.प्र. प्रगतिशील लेखक संघ इकाई-सतना के द्वारा श्री हरिशंकर परसाई के जन्मदिवस के उपलक्ष्य में एक विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसकी अध्यक्षता डॉ. आत्माराम तिवारी ने की। गोष्ठी में प्रमुख रूप से वक्ताओं के द्वारा इस आशय के विचार वयक्त किए गए कि हरिशंकर परसाई गद्यकार के रूप में प्रेमचंद के उत्तराधिकारी के रूप में माने जाते हैं। परसाई के साहित्य के संबंध में यह कहा जाता है कि स्वतंत्रता के पहले का भारत दोना हो तो प्रेमचंद का साहित्य पढ़ा जाना चाहिए और स्वतंत्रता के बाद के भारत को समझने के लिए परसाई का साहित्य पढ़ना चाहिए।

डॉ. अजय तिवारी ने कहा कि परसाई का व्यंग्य समाज को सोचने पर विवश कर देता है। स्वतंत्रता के बाद देश में जितना भ्रष्टाचार फैला है उसे परसाई ने अपनी विशिष्ट शैली में इस ढंग से लिखा जो पाठक को सीधे अपील करता है और कहीं-कहीं पाठक उसे पढ़कर तिलमिला जाता है। विनोद पयासी ने कहा कि आजादी के बाद इस देश की जनता का दोगली अर्थव्यवस्था का मोहभंग हो गया। ऐसे समय में परसाई ने अपनी रचनाओं में इस विषय को अपने लेखन का आधार बनाया।

मोहनलाल वर्मा 'मुकुट' ने कहा कि परसाई व्यंग्य के पुरौधा माने जाते हैं तथा व्यंग्य को विद्या के रूप में प्रतिष्ठित कराने में उनका महत्वपूर्ण योगदान था। दसवें रस (वात्सल्य) के संस्थापक सूरदास थे। निंदा रस को ग्यारहवां रस माना जाना चाहिए और इसमें श्रेय परसाई को दिया जाना चाहिए। मनोज शुक्ला ने कहा कि उनका स्तंभ 'सुनो भाई साधो' अपने समय में बहुत लोकप्रिय था। मनीषी जी जैसे चरित्र का निर्माण करना परसाई के बस की ही बात थी।

चिंतमणि मिश्र ने कहा कि परसाई ने व्यंग्य को अलग पहचान दी। वे बाजार की नब्ज पहचानते थे और उन्होंने विवादग्रस्त विषय पर खुलकर कलम चलाई।

व्यंग्यकार संतोष खरे ने कहा कि परसाई ने हास्य और व्यंग्य की सीमा रेखा स्पष्ट की। परसाई का मानना था कि यह संभव है कि व्यंग्य के साथ हास्य जुड़ा हुआ हो किंतु हास्य व्यंग्य का अभीष्ट नहीं है। परसाई के व्यंग्य के मूल में करूणा होती थी।

गोष्ठी के अध्यक्ष ए.आर. तिवारी ने कहा कि हिंदी साहित्य आजादी के पहले जो प्रेमचंद ने दिया वह आजादी के बाद परसाई ने दिया। परसाई जी कबीर की परम्परा के रचनाकार थे ओर उनकी रचनाओं में कबीर का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। गोष्ठी का संचालन रामनारायण सिंह राना ने किया।

–संतोष खरे

ज्योतिष जोशी हिंदी अकादमी के सचिव

पिछले दिनों ज्योतिष जोशी ने हिंदी अकादमी, दिल्ली के सचिव का पदभार ग्रहण किया देवीशंकर अवस्थी जैसे अनेक पुरस्कारों से सम्मानित ज्योतिष जोशी ने दिल्ली विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर तथा जवारलाल नेहरू विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है। साहित्यिक आलोचना एवं शोध के अलावा ज्योतिष जोशी बहुचर्चित उपन्यास 'सोनबरसा' के माध्यम से अपनी रचनात्मक प्रतिभा का भी परिचय दे चुके हैं। 'व्यंग्य यात्रा' परिवार की बधाई।

प्रवीण शुक्ल के गीत संग्रह का लोकार्पण

12 नवंबर, 2008 को डायमंड बुक्स के तत्वावधान में लोकप्रिय हिंदी कवि प्रवीण शुक्ल के गीत-संग्रह 'तुम्हारी आंख के आंसू' का लोकार्पण हिंदी भवन में किया गया। कार्यक्रम में डॉ. अशोक चक्रधर, सांसद श्री उदय प्रताप सिंह, वरिष्ठ गीतकार श्री बालस्वरूप राही और कवि-आलोचक अनिल जोशी भी उपस्थित थे।

अनामिका और जितेंद्र को केदार सम्मान

बांदा। आर्य कन्या इंटर कॉलेज के सभागार में कवि केदारनाथ स्मृति संस्थान द्वारा 'केदार सम्मान-2007' समकालीन हिंदी कविता की चर्चित कवयित्री अनामिका को उनके कविता संकलन 'खुरदरी हथेलियों' की कविताओं में भारतीय समाज एवं जनजीवन में जो हो रहा है और होने की प्रक्रिया में जो

कुछ खो रहा है उसकी प्रभावी पहचान और अभिव्यक्ति है, जो बहुत कुछ सोचने-विचारने के लिए विवश करती है।

समारोह में डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने युवा आलोचक जितेंद्र श्रीवास्तव को 'डॉ. रामविलास शर्मा आलोचना सम्मान' से सम्मानित किया। संपादन एवं चयन केदार शोध पीठ न्यास के सचिव नरेंद्र पुंडरीक ने किया।

प्रो. परमानंद श्रीवास्तव को उनके घर पर व्यास सम्मान प्रदान

गोरखपुर, के.के. बिड़ला फाउंडेशन का प्रतिष्ठित 'व्यास सम्मान-2006' सुप्रसिद्ध आलोचक प्रो. परमानंद श्रीवास्तव को उनके सूरजकुण्ड स्थित आवास पर फाउंडेशन के प्रतिनिधि के रूप में आए मुकेश जैन ने प्रदान किया। मुकेश जैन ने बताया कि के. के. बिड़ला के निधन के कारण यह सम्मान समारोह दिल्ली में नहीं हो सका। अत: फाउंडेशन की अध्यक्ष श्रीमती शोभना भरतीया और निर्देशक निर्मलकांति भट्टाचार्य के निर्णयानुसार प्रो. श्रीवास्तव को आज उनके निवास पर यह सम्मान दिया जा रहा है।

प्रो. श्रीवास्तव ने कहा कि सम्मानित कृति 'कविता का अर्थात' एक तरह से मेरे अपने काव्यशास्त्र की प्रस्तावना है।

विश्वरंजन की कविता बड़े कवि कुल परंपरा से आने वाली कविता है– विजय बहादुर सिंह

आज जबकि सभी कह रहे हैं कि हम फिजिकली ही नहीं, मेंटली भी फिट हैं ऐसे दौर में विश्वरंजन की कविता देश-समाज-मनुष्य से निरंतर झीजती हुई चेतना को लेकर ईमानदार चिंता की कविता है। मैं यह कतई नहीं मान सकता कि कोई पुलिस में हो तो अच्छी कविता नहीं लिख सकता। अशोक वाजपेयी भी प्रशासन में थे और कविता में भी। यह अलग बात है कि उनकी पहचान कभी प्रशासन नहीं बना। साहित्य ही उनकी पहचान बनता रहा। उन्होंने साहित्य को अधिक प्राथमिकता दी। विश्वरंजन जी ने दोनों को संभालने की कोशिश की है। प्रख्यात आलोचक और कवि विजय बहादुर सिंह, कोलकाता ने विश्वरंजन पर केंद्रित कृति 'एक नई पूरी सुबह' के विमोचन अवसर पर मुख्य अतिथि की आसंदी से कहा कि विश्वरंजन की कविता एक बड़े कवि कुल परंपरा से आने वाली कविता है, जिसके मूल में हैं– महान कवि फ़िराक़ गोरखपुरी। कृति एवं कृति के इंटरनेट के ऑनलाइन संस्करण का विमोचन प्रख्यात कवि एवं उपन्यासकार विनोद कुमार शुक्ल एवं विजय बहादुर सिंह ने किया।

फ़िराक़ गोरखपुरी के नाती, समकालीन कविता के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर तथा छत्तीसगढ़ के पुलिस महानिदेशक विश्वरंजन की कविताओं, आलेखों, डायरी, समीक्षात्मक वक्तव्यों पर अभिकेंद्रित एवं युवा कवि एवं निबंधकार जयप्रकाश मानस द्वारा संपादित इस कृति के विमोचन समारोह की अध्यक्षता करते हुए आलोचक एवं कथाकार प्रभात त्रिपाठी ने कहा कि विश्वरंजन की कविता में समुदाय की मुक्ति और बेहतरी का मौलिक स्वप्न है। इस कार्यक्रम का संचालन भाषाविद् डॉ. चितरंजन कर ने किया।

अखिल भारतीय स्वतंत्र लेखन मंच द्वारा साहित्यकारों का सम्मान

अखिल भारतीय स्वतंत्र लेखक मंच द्वारा 14 नवंबर, 2008 को त्रिवेणी कला संगम, मंडी हाऊस, नई दिल्ली में प्रख्यात साहित्यकार डॉ. शेरजंग गर्ग, प्रख्यात दोहाकार नरेश शांडिल्य व अन्य लेखकों, पत्रकारों, कलाकारों को सम्मानित किया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. श्यामानंद सरस्वती ने की। कार्यक्रम में विशिष्ट अतिथि के रूप में प्रख्यात साहित्यकार डॉ. श्यामसिंह शशि, श्री कुलानंद भारतीय आदि उपस्थित थे। कार्यक्रम का संचालन संस्था के महासचिव व प्रसिद्ध पत्रकार रामानुज सिंह सुंदरम् ने किया।

केदार शोध पीठ (न्यास)

समकालीन हिंदी कविता के विशिष्ट सम्मान 'केदार सम्मान' वर्ष 2008 के लिए रचनाकारों एवं उनके शुभचिंतकों से वर्ष 2006 से 2008 तक के मध्य प्रकाशित कविता-संकलन की दो प्रतियां आमंत्रित हैं। नरेन्द्र पुंडरीक, सचिव, केदार शोध पीठ न्यास, सिविल लाइन, बांदा-210001, संपर्क-9450169568

एस आर हरनोट के कथा संग्रह जीनकाठी का लोकार्पण

कथाकार एस. आर. हरनोट की कथा पुस्तक 'जीनकाठी' का लोकार्पण पिछले दिनों शिमला में सुप्रसिद्ध साहित्यकार डा. गिरिराज किशोर ने श्री बी. के. अग्रवाल, सचिव (कला, भाषा एवं संस्कृति) हि. प्र. व 150 से भी अधिक साहित्यकारों, पत्रकारों व पाठकों की उपस्थिति में किया। 'जीनकाठी तथा अन्य कहानियां' आधार प्रकाशन प्रकाशन प्रा.लि. ने प्रकाशित की है। इस कृति के साथ हरनोट के पांच कहानी संग्रह, एक उपन्यास और पांच पुस्तकें हिमाचल व अन्य विषयों प्रकाशित हो गई हैं।

प्रख्यात साहित्यकार डा. गिरिराज किशोर ने कहा कि सभी भाषाओं के साहित्य की प्रगति पाठकों से होती है लेकिन आज के समय में लेखकों के समक्ष यह संकट गहराता जा रहा है। बच्चे अपनी भाषा के साहित्य को नहीं पढ़ते जो भविष्य के लिए अच्छी बात नहीं है। डॉ. गिरिराज ने प्रसन्नता व्यक्त की कि उन्हें भविष्य के एक बड़े कथाकार के कहानी संग्रह के विस्तरण का शिमला में मौका मिला। उन्होंने शैलेश मटियानी को प्रेमचंद से बड़ा लेखक मानते हुए स्पष्ट किया कि मटियानी ने छोटे से छोटे और बहुत छोटे तपके और विषय पर मार्मिक कहानियां लिखी हैं और इसी तरह हरनोट के पात्र और विषय भी समाज के बहुत निचले पादान से आकर हमारे सामने अनेक चुनौतियां प्रस्तुत करते हैं। हरनोट का विजन एक बड़े कथाकार है।

डॉ. जयवन्ती डिमरी ने हरनोट को बधाई देते हुए कहा कि वह हरनोट की कहानियों और उपन्यास की आद्योपांत पाठिका रही है। किसी लेखक की खूबी यही होती है कि पाठक उसकी रचना को शुरू करे तो

पढ़ता ही जाए और यह खूबी हरनोट की रचनाओं में हैं। डॉ. डिमरी ने हरनोट की कहानियों में स्त्री और दलित विमर्श के साथ बाजारवाद और भूमंडलीकरण के स्वरों के साथ हिमाचल के स्वर मौजूद होने की बात कही। सुन्दर लोहिया ने अपने वक्तव्य में कहा कि हरनोट की कहानियों जिस तरह की सोच और विविधाता आज दिखई दे रही है वह गंभीर बहस मांगती है। हरनोट ने अपनी कहानियों में अनेक सवाल खड़े किए हैं। लोहिया ने हरनोट की कहानियों में पहाड़ी भाषा के शब्दों के प्रयोग को सुखद बताते हुए कहा कि इससे हिन्दी भाषा स्मृद्ध होती है और आज के लेखक जिस भयावह समय में लिख रहे हैं हरनोट ने उसे एक जिम्मेदारी और चुनौती के रूप में स्वीकारा है क्योंकि उनकी कहानियां समाज में एक सामाजिक कार्यवाही है– एक एक्शन है। डॉ. मीनाक्षी एस. पाल ने हरनोट की कहानियों पर सबसे पहले अपना वक्तव्य प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा कि हरनोट जितने सादे, मिलनसार और संवेदनशील लेखक है उनकी रचनाएं भी उतनी ही सरल और सादी है। परन्तु उसके बावजूद भी वे मन की गहराइयों में उतर जाती है। डॉ. वीरभारत तलवार का मानना था संग्रह की दो महत्वपूर्ण कहानियों– 'जीनकाठी' और 'दलित देवता सवर्ण देवता' पर बिना दलित और स्त्री विमर्श के बात नहीं की जा सकती। ये दोनों कहानियां प्रेमचंद की 'ठाकुर का कुआं' और 'दूध का दाम' कहानियों से कहीं आगे जाती है।

लोकार्पण समारोह के अध्यक्ष और कला, भाषा और संस्कृति के सचिव बी.के अग्रवाल जो स्वयं भी साहित्यकार हैं ने हरनोट की कथा पुस्तक के रिलीज होने और इतने भव्य आयोजन पर बधाई दी। उन्होंने हरनोट की कहानियों को आज के समाज की सच्चाईयां बताया और संतोष व्यक्त किया कि हिमाचल जैसे छोटे से पहाड़ी प्रदेश से राष्ट्रीय स्तर पर भी यहां के लेखन का नोटिस लिया जा रहा।

मंच संचालन लेखक और इरावती पत्रिका के संपादक राजेन्द्र राजन ने मुख्य अतिथि, अध्यक्ष और उपस्थिति लेखकों, पाठकों, मीडियाकर्मियों का स्वागत करते हुए हरनोट के व्यक्तित्व और कहानियों पर लम्बी टिप्पणी प्रस्तुत करते हुए किया।

डॉ. अरुणा सीतेश स्मृति दिवस

दिल्ली वि.वि. के इंद्रप्रस्थ महाविद्यालय ने 19 नवंबर 2008 को अपनी भूतपूर्व प्राचार्य डॉ. अरुणा सीतेश की पुण्यतिथि पर एक सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया, जिसकी अध्यक्षता डॉ. रामदरश मिश्र ने की। अनेक वक्ताओं ने अरुणा जी प्रशासक, अध्यापिका, सहयोगी, गृहिणी तथा लेखिका के रूप में बहुमुखी प्रतिभा का उल्लेख किया और उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि दी। डॉ. मिश्र ने लेखिका के रूप में उनके योगदान तथा मानवीय जीवन-मूल्यों के प्रति उनकी आस्था को रेखांकित करते हुए कहा कि वे अच्छी लेखिका होने के साथ ही सहृदय एवं स्नेही स्वभाव की महिला भी थी। तत्पश्चात् उन्होंने डॉ. अरुणा सीतेश की दो सद्य रामचरित मानस' का लोकार्पण किया। अंत में सांस्कृतिक संस्था स्पिकमैके के योगदान स्वरूप सुश्री गीता चंद्रन ने अपनी भरतनाट्यम प्रस्तुति द्वारा दिवंगत आत्मा को श्रद्धांजलि अर्पित की।

साहित्यकार डॉ. कुसुम कुमार के चित्रों की प्रदर्शनी

नई दिल्ली, इंडिया इंटरनेशनल सेंटर की कलादीर्घा में साहित्यकार डॉ. कुसुम कुमार के पैंतीस चित्रों की एकल प्रदर्शनी 'रंगनामा' का आयोजन किया गया। प्रदर्शनी का उद्घाटन वरिष्ठ कथाकार डॉ. नरेन्द्र कोहली ने किया। उन्होंने कुसुम कुमार के विपुल साहित्य की रचना के साथ उनके तूलिका और रंगों से जुड़ाव की चर्चा की।

डॉ. मधुरिमा कोहली तथा पूनम सक्सेना ने इन चित्रों में उपयुक्त विविध माध्यमों, रंगों एवं इनकी विचार-सम्पन्नता को उच्च स्तर का बताया। सुरेश तेंडुलकर, डॉ. लोकेश चन्द्र, केशव मलिक, सुश्री, रंजना कुमारी, हिमांशु जोशी, रक्षत पुरी, दीनानाथ मल्होत्रा, के.आर. केतकर, सीमा सिरोही, जहांगीर बगालिया, आलिया रहमान, नमिता बुटालिया, देवेंद्र इस्सर, सुष्मिता नंदी आदि उद्घाटन के अवसर पर उपस्थित थे, जिन्होंने चित्रों की सराहना की।

'विरासत' : अभिव्यक्ति का नया रूप– डॉ. नरेंद्र मोहन

नई दिल्ली– 'रेडियो धारावाहिक में ध्वनि-बिंब कथा के सरोकार के साथ विचार के सरोकार को भी नाटकीयता के साथ जनमानस तक पहुंचाते हैं। रेडियो पर प्रचलित रूपक, डाक्यूड्रामा, नाटक, धारावाहिक आदि वास्तव में अलग विधाएं नहीं हैं, अपितु एक ही विधा की विविध छवियां हैं। डॉ. रवि शर्मा के रेडियो धारावाहिक 'विरासत' का पुस्तकाकार प्रकाशित होना निश्चय ही अभिव्यक्ति का नया रूप है।' ये शब्द वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. नरेंद्र मोहन ने डॉ. रवि शर्मा द्वारा लिखित 'विरासत' के लोकार्पण के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में कहे।

मुख्य वक्ता दिल्ली दूरदर्शन के कार्यक्रम अधिशासी डॉ. अमरनाथ 'अमर' ने रेडियो की पारंपरिक नाट्य शैली में अपनी बात को सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करने तथा भारतीय विरासत को युवा पीढ़ी तक पहुंचाने के इस प्रयास के लिए डॉ. रवि शर्मा को बधाई दी।

विशिष्ट अतिथि आकाशवाणी, नई दिल्ली के केंद्र निदेशक डॉ. लक्ष्मीशंकर वाजपेयी ने अपने व्यक्तिगत उदाहरण देकर बताया कि रेडियो के लिए लिखा तो बहुत, किंतु कभी प्रकाशित नहीं करवाया। रेडियो धारावाहिक का पुस्तक के रूप में प्रकाशन एक नई विधा की शुरुआत है। उन्होंने कहा कि 'विरासत' शीर्षक यह पुस्तक तो इस दिशा में पहला कदम है।

कार्यक्रम के अध्यक्ष डॉ. नरेंद्र मोहन ने सभी वक्ताओं की बात का समाहार करते हुए 'विरासत' का विस्तृत विश्लेषण-विवेचन किया। उन्होंने रेडियो रूपक, डॉक्यूड्रामा, धारावाहिक आदि के बीच भेद की दीवारें खड़ी करने को शुभ संकेत नहीं माना और कहा कि 'विरासत' में विभिन्न रेडियो नाट्यरूप आपस में गुंथे हुए हैं।

विविध सरोकारों वाली पैनी व्यंग्य रचनाएं : माधव हाड़ा

हिंदी में साहित्यिक सक्रियता इस कदर कथा-कविता एकाग्र रही है कि उसमें कथेतर गद्य विधाओं की कोई खास पहचान नहीं बन पाई। हरिशंकर परसाई, शरद जोशी आदि कुछ रचनाकारों ने अपनी असाधारण प्रतिभा से बीच में व्यंग्य को एक मुक्कमिल साहित्यिक अनुशासन की पहचान दिलवाई, लेकिन यह सिलसिला आगे नहीं बढ़ पाया। लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर मौजूदगी के बावजूद व्यंग्य को आज भी कथा-कविता की तुलना में इसलिए कमतर आंका जाता है, क्योंकि इसके पुस्तकाकार प्रकाशन अपेक्षाकृत कम हैं। इस दिशा में महत्वपूर्ण पहल संपादकद्वय दुर्गाप्रसाद अग्रवाल और यश गोयल ने जमाने का दर्द नामक सद्य प्रकाशित संकलन के माध्यम से की है, जिसमें हमारे समय के महत्वपूर्ण छत्तीस व्यंग्यकारों की रचनाएं शामिल हैं।

हमारे जीवन के हर मोड़-पड़ाव पर मौजूद राजनीति सहित, नौकरशाही, उपभोक्तावाद, अपसंस्कृति, धर्म-अध्यात्म, भ्रष्टाचार, आडंबर आदि कई विषय इन रचनाओं में सरोकार के रूप में मौजूद हैं। राजनीति फिलहाल हमारे जीवन की धुरि है, इसलिए यहां शामिल रचनाओं में से सर्वाधिक इसी पर एकाग्र हैं। अतुल कनक, ईशमधु तलवार, भगवतीलाल व्यास, रमेश खत्री आदि की रचनाएं हमारे समय की राजनीतिक विसंगतियों से बुनी गई हैं। अंग्रेजों से विरासत में मिले हमारे प्रशासनिक ढांचे की गड़बड़ों पर भी इन व्यंग्यकारों की निगाह गई है। अजय अनुरागी, अशोक राही, चंद्रकुमार वरठे, बुलाकी शर्मा, राजेशकुमार व्यास, सुरेन्द्र दुबे और हरदर्शन सहगल के यहां शामिल व्यंग्य हमारे प्रशासन तंत्र की विसंगतियों और अंतर्विरोधों को उभार कर सामने लाते हैं। गत दो-तीन दशकों में भारतीय मध्यवर्ग की धर्म और अध्यात्म में एकाएक दिलचस्पी बहुत बढ़ गई है। धर्म से जुड़े आडंबर और पाखंड पर भी इस संकलन में एकाधिक रचनाएं हैं। अनुराग वाजपेयी, यशवंत व्यास, यश गोयल और हेमेन्द्र चंडालिया के व्यंग्य इसी तरह के हैं। भ्रष्टाचार, अपसंस्कृति, दोहरा आचरण, उपभोक्तावाद जैसी कई बीमारियों ने इसे जकड़ रखा है। आदर्श शर्मा, दुर्गाप्रसाद अग्रवाल, पूरन सरमा, देवेन्द्र इन्द्रेश, भगवान अटलानी, मदन केवलिया, रामविलास जांगिड, लक्ष्मीनारायण नंदवाना, शरद उपाध्याय, शरद केवलिया, देव कोठारी, मनोहर प्रभाकर, संजय कौशिक, बलवीरसिंह भटनागर, प्रभाशंकर उपाध्याय, यशवंत कोठारी और संपत सरल की यहां शामिल रचनाओं में हमारे विसंगतिपूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन के कई रंग मौजूद हैं।

यहां संकलित रचनाओं की खास बात यह है कि इनमें हमारे समय और समाज की धड़कन साफ सुनाई पड़ती है। खास हमारे समय और समाज की विसंगतियां और अंतर्विरोध इनमें उभरकर सामने आते हैं। इन रचनाओं में सरोकारों का वैविध्य है, लेकिन खास बात यह है कि अपने आसपास और दैनंदिन जीवन से इनका रिश्ता बहुत गहरा और अटूट है।

व्यंग्य की धार और पैनापन कमोबेश इन सभी रचनाओं में हैं, लेकिन कहीं रचनाकर इनमें सतह पर साफ दिखाई पड़ने वाली विसंगतियों और अंतर्विरोधों पर ठहर गया है, जबकि कहीं वह इनके लिए सतह के नीचे गहरे में उतरा है। यहां संकलित कुछ रचनाएं सतह पर नहीं दिखाई देने वाली हमारे सांस्कृतिक- सामाजिक जीवन की विसंगतियों को उभारने वाली बहुत अर्थपूर्ण रचनाएं हैं, जिनका निहितार्थ पाठक मन में धीरे-धीरे खुलता है और गहरा असर करता है।

यशवंत व्यास की भगवान बड़ा दयालु है, अनुराग वाजपेयी की फिर नया अवतार, ईशमधु तलवार की वे बाघ हो गए, फारुक आफरीदी की बापू, यहां कुशल मंगल है और बुलाकी शर्मा की प्रकाशक का सुखी सफरनामा आदि रचनाओं में गहराई है। इन व्यंग्यों में रचनाकार कम, रचना ज्यादा है। इन रचनाओं में से भगवान बड़ा दयालु है की मम्मा ने परंपरागत अम्मा होने की चिंता को शाम के क्लब प्रोग्राम के पेपरवेट तले तबाया और बिटिया चली गई, फिर जब संस्कृति का चांद उनकी सदाशयता की चलनी से दिखाई देता है तो पतिव्रता होने का आनंद कितने गुना हो जाता होगा?, अतिरंजना भी व्यंग्य का हथियार है। यहां शामिल कुछ रचनाओं में इसका बखूबी इस्तेमाल हुआ है। मनोहर प्रभाकर की घर-घर चौन चुरैया और आदर्श शर्मा की बाई! जीवन में पहले क्यूं न आई में यह साफ देखा जा सकता है। पुस्तक का प्रकाशन साफ-सुथरा और सुरुचिपूर्ण है।

जमाने का दर्द (श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य संकलन)
विवेक पब्लिशिंग हाउस, धामाणी मार्केट, चौ
जयपुर, प्रथम संस्करण-2008
मूल्य : 175 रुपए, पृष्ठ संख्या: 130

तेरह वर्ष की आयु में अस्मिता गोयनका का पहला उपन्यास

प्रसिद्ध साहित्यकार कमलकिशोर गोयनका बड़े गर्व से बताते हैं कि उनकी पोती ने अंग्रेजी भाषा में 'दी मिस्टिक टेंपल' नाम का पहला उपन्यास लिखा है और ऐसा करने वाली वो संभवत: विश्व की पहली लड़की है।' मोंटफोर्ट स्कूल, अशोक विहार में आठवीं कक्षा की छात्रा को बचपन से ही लेखन में रुचि है। अस्मिता अपने दादा जी से मिले साहित्यिक संस्कारों को अपने लेखन का श्रेय देती है। उसकी छोटी-छोटी आंखों में अनेक स्वप्न हैं पर ग्लोबल वार्मिंग को लेकर उन आंखों में चिंताएं भी अनेक हैं। उसके मन में पर्यावरण को लेकर भी चिंता है। अस्मिता दो अन्य पांडुलिपियों पर काम कर रही है और उसका दूसरा उपन्यास दर्शन पर है। उसमें रहस्य भी है। 'व्यंग्य यात्रा' की इन नन्हें सशक्त हाथों को बधाई एवं शुभकामनाएं।

संत नामदेव तथा संत रविदास तुलनात्मक अध्ययन

प्रत्येक देश में, समाज में धार्मिक सामाजिक, संस्कृतिक, ऐतिहासिक आदि के अलग-अलग रूप देखने को मिलते हैं। अत: प्रत्येक देश और समाज में साहित्य के अध्ययन एवं मूल्यांकन के मापदंड भी भिन्न-भिन्न होंगे।

विभिन्न देशों के साहित्यों के आलोचनात्मक अध्ययन के मापदंडो का परस्पर तुलनात्मक अध्ययन बहुधा होता है लेकिन एक देश के साहित्य के आलोचनात्मक या तुलनात्मक अध्ययन बहुत कम देखने में आता है।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रथम अध्याय में तुलनात्मक अध्ययन के लिए संकल्प विधान को समझाया गया है। इसके लिए गेटे, मैथ्यू आर्नल्ड, हेनरी रैमाक, आर्थर रिचमड मार्श, बेनिडिरो क्रोचे, बैराक, रैमाक, हैसी लेविन, वाईनसटाईन, रासक आदि अमेरिकी, रूसी, जर्मन, फ्रेंच आदि विद्वानों भाषाविदों एवं आलोचकों की आलोचनात्मक मुख्य धारणाओं एवं संकल्पों का चुनाव किया गया है। आगे इन्हीं विद्वानों के आलोचनात्मक मापदंडों के आधार संत नामदेव एवं संत रविदास के काव्य की परस्पर तुलना प्रस्तुत की गई है। भारतीय आलोचना सिद्धांत के स्थान पर पाश्चात्य विद्वानों की संकल्प-संरचना पद्धति को अपनाया गया है।

द्वितीय अध्याय के आरंभ में लेखक द्वारा संकल्प-संरचना की तलाश की बात करते हैं। भारतीय आलोचना सिद्धांत के अनुसार इसे भावपक्ष मान सकते हैं। भारतीय सिद्धांतों के अनुसार मुख्यत: रस मीमांसा के अंतर्गत आता है। लेकिन प्रस्तुत तुलनात्मक अध्ययन में रसों और रस मीमांसा का उल्लेख नहीं किया गया है। इसके लिए लेखक द्वारा पाश्चात्य आलोचना के संकल्प-विधान का उल्लेख करते हैं और सीधे-सीधे विषय वस्तु को लेकर ही दोनों संतों के परस्पर तुलनात्मक अध्ययन को प्रस्तुत करते हैं।

ब्रह्मा का संकल्प, जीवात्मा संकल्प, जगत की अवधारणा, जगत संकल्प, माया की अवधारणा, मोक्ष की अवधारणा, जगत आचार संकल्प, भांति का संकल्प आदि अनेक संकल्पों के प्रति संत नामदेव और संत रविदास की मान्यताओं को दिखाते हुए उक्त विकल्पों के प्रति इनके आपस में सम-विषम विचारों को बताते हुए तुलना की है।

तृतीय अध्याय में अभिव्यक्ति पक्ष को पाश्चात्य विद्वानों के 'संकल्प संरचना की प्रस्तुति का विधि विधान' नाम दिया गया है। पाश्चात्य भाषा वैज्ञानिक सास्यूर, मि. जैकवसन आदि इसमें भाषा का तात्विक रूप और भाषा का विशिष्ट रूप, दो भागों में विभक्त करते हैं।

आलोचना के अध्ययन क्षेत्र में यह शोध-प्रबंध नया प्रयोग है। संभवत: यह कार्य लेखकद्वय, डां. धर्मपाल सिंघल एवं डॉ. बलदेव सिंह बद्दन के लिए अत्यधिक श्रमसाध्य रहा है। संत नामदेव तथा संत रविदास के काव्य को पाश्चात्य मापदंडों पर आधारित तुलनात्मक अध्ययन को पढ़ते समय पाठकों को बहुत कुछ नवीन तरह से काव्य को देखने की जानकारी प्राप्त होगी।

संत नामदेव तथा संत रविदास- तुलनात्मक अध्ययन
डॉ. धर्मपाल सिंघल, डॉ. बलदेव सिंह बद्दन
प्रकाशक- फौ

पंजाब के संत कवि

अनेक विद्वानों ने यायावरों की तरह ग्राम-ग्राम और नगर-नगर घूमकर प्राचीन काव्य साहित्य खोजने का कार्य किया है। लेकिन वर्तमान समय में इस प्रकार के खोजपरक कार्य करने की परंपरा प्राय: समाप्त सी होती जा रही है क्योंकि ऐसे कार्य शारीरिक तथा मानसिक दोनों ही रूप से श्रमसाध्य होते हैं। यायावरों की तरह घूमकर कार्य करने वाले विद्वान अपवाद स्वरूप बने ही रहेंगे।

डॉ. धर्मपाल सिंघल एवं डॉ. बलदेव सिंह बछज ने पंजाब के ग्रामों एवं नगरों के डेरों, मठों, मंदिरों, खनकाहों पुस्तकालयों आदि जाकर पंजाब के हिन्दी के संत कवियों के संबंध में जानकारी और उनके काव्य को संग्रहीत किया है। अपने पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा किए गए इसी प्रकार के खोजपरक कार्यों से भी सहयोग लिया है। पूर्व प्रकाशित अनेक कवि-संग्रहों का अवलोकन भी किया है। लेखकद्वय का कहना है- 'कुछ डेरों ने भी वहां के संतों के वाणी संग्रह प्रकाशित किए हैं जैसे पंडोरीधाम (गुरदासपुर) से भी भगवद्नारायण वचन सुधा, ध्यानपुर (गुरदासपुर) से श्री बाबा लाल दयाल जी की वाणी, पटियाला से बाबा रामदास जी की वाणी, घरायों (संगरूर) से संत फकीरदास जी की वाणी, वैरोके (मोगा) से संत दरबारी दास जी की मांझे आदि कुछ वाणी संग्रह अवश्य प्राप्त हो सके हैं। मगर इनको प्राप्त करना भी सरल नहीं है। हमने उपरोक्त सब स्रोतों से संतवाणी प्राप्त की हैं।'

इस संग्रह में 54 संत कवि हैं। प्रत्येक कवि के जीवन संबंधी जानकारियां उसको काव्य तथा काव्य का आलोचनात्मक परिचय एक साथ दिया गया है। संत कवियों के इस प्रकार के परिचय से ही तत्कालीन पंजाब में विद्यमान निर्मला साधु, उदासीन साधु, सुथरे साधु पंथों के साथ ही नानकशाही, सेवापंथी, गुलाबदासी, अहणदासी, गोरखपंथी, कनपेट साधु, पांच प्यारे, गुग्गापीर, ख्वाजा खिजर, सखी सखर, बारा गजा आदि साधुसमाजों का उल्लेख मिल जाता है।

हिन्दीभाषी क्षेत्र के संत कवियों के काव्य की अपेक्षा इस संग्रह के संत कवियों के काव्य में गुरु महिमा और सूफिमत की अधिकता मिलती है। काव्य भी भाषा में भी पंजाबी क्षेत्र का अपना न्यूनाधिक मात्रा में प्रभाव निहित है। लेकिन संत गुलाब सिंह निर्मला, स्वामी श्री हेमंत जी चिदाकाशी कान्हा भगत, बाबा दयाल आदि ऐसे संत कवि हैं जो भाषा और भाव, दोनों ही दृष्टि से हिन्दी भाषी क्षेत्र के संत कवियों से पीछे नहीं दीखते।

लेखकद्वय का कहना है- 'यहां हमारा यत्न इन वाणीकार संतों की जीवनी एवं वाणी को एक स्थान पर एकत्र करना ही माना जाना चाहिए। यह संत काव्य की आलोचना अथवा मूल्यांकन नहीं है। तेजगति से लुप्त होते जा रहे इस संत साहित्य की साप्र-संभाल ही हमारे संग्रह का एक मात्र लक्ष्य है।'

पंजाब के संत कवि
डॉ. धर्मपाल सिंघल, डॉ. बलदेव सिंह बद्दन
प्रकाशक- फौ
मूल्य: 325 रु0

सृजन स्मरण

अभिव्यक्ति के ख़तरे उठाने ही होंगे
ढहाने ही होंगे मठ और गढ़ सब

गजानन माधव 'मुक्तिबोध'

(1917 - 1964)

दिल्ली सरकार
दिल्ली टीम – स्वप्न करे साकार

सूचना एवं प्रचार निदेशालय

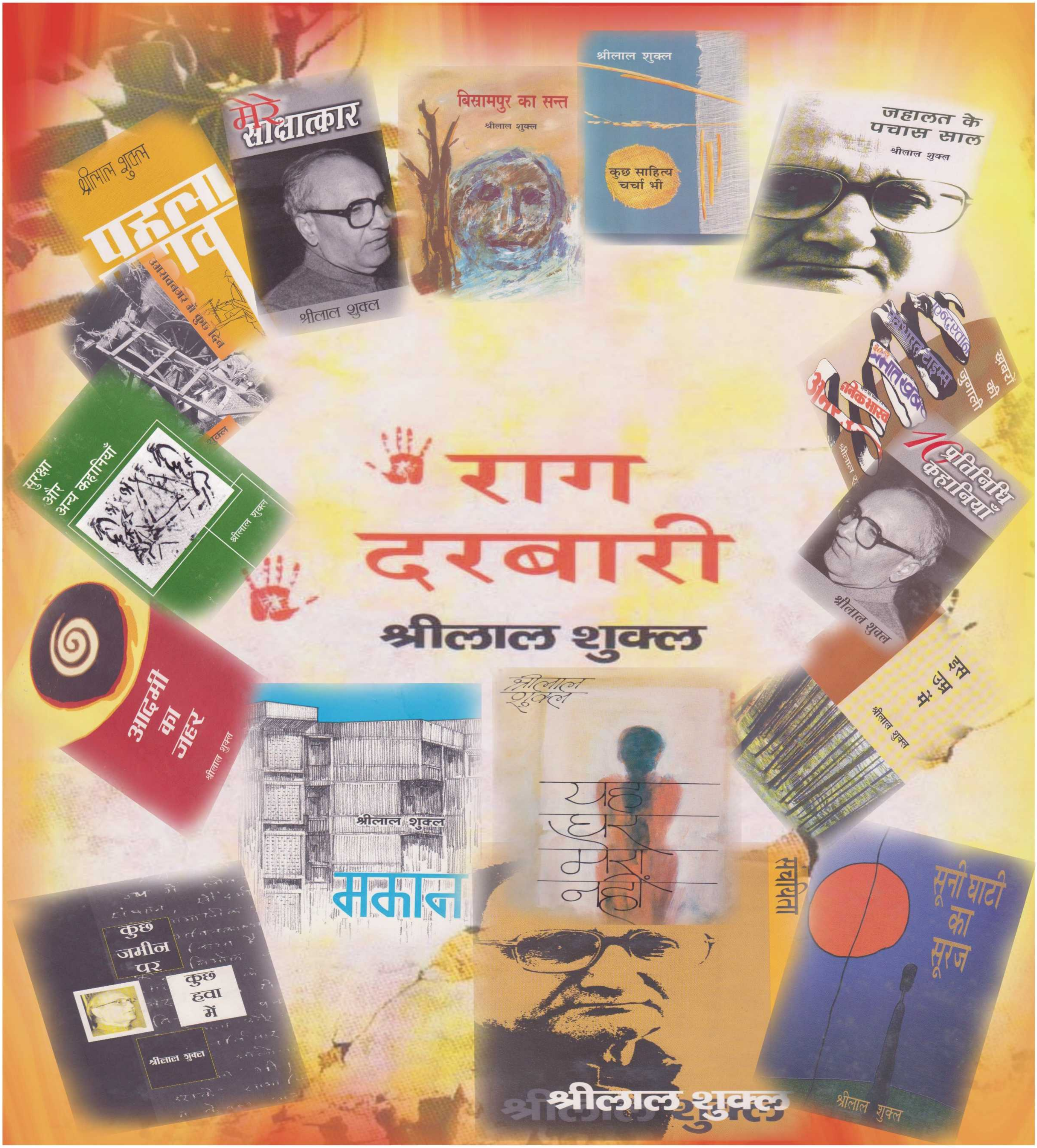

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ॰ प्रेम प्रकाश की ओर से सचदेवा प्रिंट आर्ट्स प्राइवेट लिमिटेड, 44, राजस्थानी उद्योगनगर, जी॰टी॰ करनाल रोड, दिल्ली-110033 द्वारा मुद्रित एवं 73, साक्षर अपार्टमैंट्स, ए-3, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063 से प्रकाशित

संपादक : प्रेम जनमेजय